श्रावकधर्म-दर्शन

[श्रावकधर्म पर गम्भीर विवेचन-विश्लेषण प्रधान प्रवचन]

प्रवचनकार

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

सम्पादक

देवेन्द्र मुनि, शास्त्री

प्रकाशक

श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय

उदयपुर

श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थमाला पुष्प १००
राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन
समारोह के उपलक्ष्य मे प्रकाशित

✡ पुस्तक
श्रावकधर्म-दर्शन

✡ प्रवक्ता
उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

✡ सम्पादक
देवेन्द्र मुनि, शास्त्री

✡ पृष्ठ सख्या ६८८

✡ प्रथमावृत्ति
वीर निर्वाण सवत् २५०५
दीपपर्व (वि० स० २०३५)
अक्टूबर १९७८

✡ मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा ४

✡ मूल्य .
पैंतीस रुपये मात्र
Rs 35/- only

प्रकाशकीय

अपने चिन्तनशील, प्रबुद्ध पाठको के कर-कमलो मे 'श्रावकधर्म-दर्शन' ग्रन्थ-अर्पित करते हुए सात्त्विक गौरव की अनुभूति होती है। श्रावकधर्म पर अतीत काल मे मूर्धन्य मनीषियो ने सस्कृत और प्राकृत भाषा मे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है। किन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी मे श्रावकधर्म पर विस्तार से विश्लेषण करने वाला कोई भी प्रामाणिक ग्रन्थ अब तक नही है। हमे परम आह्लाद है कि परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज ने श्रावकधर्म के प्रत्येक पहलू पर गहराई से अनुचिन्तन किया है, प्रत्येक विषय के तलछट तक पहुँचकर रूपक और दृष्टान्तो के माध्यम से विषय को सरल और सरस बनाया है, जिसे पढते समय उपन्यास की-सी सरसता, और काव्य की-सी मधुरता का सहज आभास होता है। आधुनिक युग के अनेक ज्वलन्त प्रश्नो का तात्त्विक दृष्टि से इसमे समाधान किया है।

भौतिकवाद की चकाचौंध मे पले-पुसे लोग व्रत-ग्रहण करने से कतराते है। गुरुदेवश्री ने विस्तार से व्रत-ग्रहण की महत्ता पर विश्लेषण करते हुए इस बात पर बल दिया है कि जीवन के लिए व्रत की कितनी उपयोगिता व आवश्यकता है। व्रत के पवन से ही जीवन का पुष्प खिलता है, महकता है। बिना व्रत का जीवन बिना तट की नदी के सदृश है। गुरुदेवश्री के प्रवचनो व लेखो मे यह विशेषता है कि न तो पढते हुए पाठक ऊबते हैं और न श्रोता ही बोर होते है। वे अपने प्रवचनो मे ऐसी चुटकियाँ लेते हैं कि श्रोता हँस-हँस के लोट-पोट हो जाता है और लिखते समय भी उनकी वह विशेषता प्रत्येक पृष्ठ पर निहारी जा सकती है।

गुरुदेवश्री के इन प्रवचनो का सपादन किया है उनके प्रधान अन्तेवासी साहित्य मनीषी, कलम कलाधर देवेन्द्र मुनि शास्त्रीजी ने। गुरु के विचारो को एक शिष्य जिस रूप मे व्यक्त कर सकता है उतना दूसरा व्यक्ति नही कर सकता। गुरुदेवश्री के प्रवचनो का यह अभिनव ग्रन्थ पूर्व ग्रन्थो की तरह ही लोकप्रिय होगा, ऐसा हमे पूर्ण विश्वास है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन ऐसे सुनहरे अवसर पर हो रहा है कि समाज गुरुदेवश्री का दीक्षा स्वर्ण जयन्ती महोत्सव मना रहा है। इस महोत्सव के मगल

व पावन प्रसग पर ग्रन्थालय ने साहित्य की विविध विधाओ मे सुन्दर, सरस और मौलिक साहित्य प्रकाशित कर अपना श्रद्धा-स्निग्ध उपहार गुरुदेवश्री के चरणो मे समर्पित किया है।

हमारी विविध कल्पनाएँ है। हम चाहते है कि साहित्य के क्षेत्र मे प्रस्तुत सस्थान एक कीर्तिमान स्थापित करे। वह बालोपयोगी सुन्दर सचित्र साहित्य भी दे और मूर्धन्य मनीषियो के लिए उत्कृष्ट शोध प्रधान तुलनात्मक दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थरत्न भी दे। साथ ही पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा लिखित "जैन कथाएँ" सीरीज के १०८ भाग प्रकाशित हो। आगम व दर्शन के उत्कृष्ट ग्रन्थ निकले। यह तभी सभव है जब उदारमना दानी महानुभावो का हमे अर्थ-सहयोग प्राप्त होगा। हमारी सभी योजनाएँ तभी मूर्त रूप ग्रहण कर सकेंगी। हमे आशा ही, नही अपितु दृढ विश्वास है कि समाज का हमे पूर्ण सहयोग सप्राप्त होगा।

—मत्री
श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

❀ उदार अर्थ-सौजन्य ❀

प्रस्तुत 'श्रावक धर्म दर्शन' के प्रकाशन मे निम्न महानुभावो ने उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान कर हमे उत्साहित किया है। हम इनकी धार्मिक भावना तथा उदारता के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापन करते हुए भविष्य मे इसी प्रकार सहयोग की शुभ कामना करते हैं।

श्रीमान् पारसमलजी जवरीलाल पुगलिया
तिरुवत्तिपुरम, तमिलनाडु

❀

श्रीमान् अमोलकचन्द सज्जनराज सिंघवी
उत्तर मेरूर, जिला चेंगलपेट
तमिलनाडु

❀

श्रीमान् शेषमलजी सकलेचा
मेइन बाजार, उत्तर मेरूर,
जिला चेंगलपेट, तमिलनाडु

प्रकाशकीय

जैन मनीषियो ने साधना के सम्बन्ध मे गहराई से अनुचिन्तन किया है। उन्होने योग्यता के अनुसार साधको को दो भागो मे विभक्त किया है—श्रावक और श्रमण। श्रमण की साधना उत्कृष्ट होती है। पर श्रावक की साधना उतनी उत्कृष्ट नही होती। श्रमण सासारिक प्रपचो से अलग-थलग रहकर आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होकर साधना करता है। किन्तु श्रावक गृहस्थाश्रम मे रहकर साधना करता है।

"आगार" का अर्थ घर है। घर के प्रपचमय जीवन मे रहकर जो साधना की जाती है, वह आगारधर्म की साधना है। श्रावक श्रद्धापूर्वक गुरुजनो से निर्ग्रन्थ प्रवचन को श्रवण करता है। इसलिए वह "श्राद्ध" या "श्रावक" है। वह श्रमण वर्ग की उपासना करने मे तल्लीन रहता है। इसलिए वह 'श्रमणोपासक' या 'उपासक' के नाम से अभिहित किया जाता है। वह एक देश से अणुव्रतो को धारण करता है, इसलिए 'अणुव्रती' 'देशव्रती' 'देशविरत' 'देश सयमी' और 'देश सयति' के नाम से भी सबोधित किया जाता है।

श्वेताम्बर आगम साहित्य मे

जैन आगम साहित्य ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोष है। जीवन-जगत्, आत्मा-परमात्मा, पुद्गल, आदि के सम्बन्ध मे अत्यधिक विस्तार के साथ उसमे विश्लेषण किया गया है। श्रमण जीवन के सम्बन्ध मे भी वहाँ पर विस्तार से उट्टकन हुआ है, क्योकि जैन सस्कृति मे श्रमण जीवन का अत्यधिक महत्त्व रहा है। श्रमण श्रमण-सस्कृति का प्राण-तत्त्व है, अत श्रमण जीवन के सम्बन्ध मे अनेक आगमो मे विचार चर्चा की गई है। उसकी आचार-सहिता पर प्रकाश डाला गया है। जितना श्रमण जीवन के सम्बन्ध मे चिन्तन हुआ है उतना श्रावक जीवन के सम्बन्ध मे चिन्तन नही हुआ। क्योकि जैन सस्कृति का यह वज्र आघोष रहा कि श्रमण जीवन ही साधक का लक्ष्य है। यदि साधक उतनी उत्कृष्ट साधना नही कर पाता है तो वह गृहस्थाश्रम मे रहकर व्रतो का पालन कर सकता है। वैदिक परम्परा की तरह जैनधर्म ने गृहस्थधर्म को प्रमुख धर्म नही माना। आनन्द श्रावक ने व्रत ग्रहण करते समय श्रमण भगवान महा-

वीर से कहा—भगवन् ! मुझे निर्ग्रन्थधर्म पर अपार श्रद्धा है। आपश्री के पावन उपदेश को श्रवण कर अनेक राजा, युवराजा, इम्यसेठ, सेनापति, सार्थवाह मुण्डित होकर गृहस्थाश्रम का परित्याग कर श्रमण बने है, पर मैं श्रमण बनने मे समर्थ नही हूँ।' अत गृहस्थ धर्म को स्वीकार करता हूँ। तात्पर्य यह है कि जैन श्रमणोपासक गृहस्थाश्रम मे रहना अपनी कमजोरी मानता है, पर उसे वैदिक परम्परा की तरह आदर्श नही मानता। यही कारण है कि श्रमण सस्कृति का रुझान श्रमणधर्म की ओर विशेष रहा है। तथापि आगम साहित्य मे अनेक स्थलो पर कही सक्षेप मे और कही विस्तार से उपासको के जीवन के सम्बन्ध मे चिन्तन किया है। और वह चिन्तन इतना महत्त्व पूर्ण है कि उसके पश्चात् निर्मित ग्रन्थो मे उस पर विस्तार से विश्लेपण हुआ है। हम सर्वप्रथम आगम साहित्य मे यत्र-तत्र आये हुए श्रावकधर्म के सम्बन्ध मे चिन्तन को प्रस्तुत करेंगे और उसके पश्चात् उसी चिन्तन पर आधृत स्वतन्त्र ग्रन्थो का परिचय देंगे।

आचारागसूत्र—आगम साहित्य मे इसका स्थान प्रथम है। इस आगम मे आचार का जो विश्लेषण हुआ वह श्रमण जीवन को सलक्ष्य मे रखकर हुआ है, गृहस्थ के जीवन के सम्बन्ध मे किंचित् मात्र भी प्रकाश नही डाला गया है, इसी तरह सूत्रकृतागसूत्र मे भी श्रमणो से सम्बन्धित विषयो पर ही चिन्तन किया है।

स्थानागसूत्र—यह सूत्र किसी एक विषय पर नही लिखा हुआ है। यह कोश शैली मे लिखा हुआ आगमरत्न है। इस आगम मे अनेक स्थलो पर श्रावक धर्म के सम्बन्ध मे चिन्तन सूत्र बिखरे पडे हैं। सर्वप्रथम जहाँ धर्म पर चिन्तन किया गया है वहाँ पर धर्म को दो भागो मे विभक्त किया[२]—१ आगारधर्म और २ अनगार धर्म। आगार धर्म गृहस्थो का है, श्रमणोपासक का है। श्रमणोपासक तीन मनोरथो[3] का चिन्तन करता है।

(१) कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का परित्याग करूगा ?

(२) कब मैं मुण्डित होकर आगार से अनागारत्व मे प्रव्रजित होऊगा ?

(३) कब मैं अपश्चिम मरणातिक सलेखना की आराधना से युक्त होकर, भक्तपान का परित्याग कर प्रायोपगमन अनशन कर मृत्यु की आकाक्षा नही करता हुआ विहरण करूगा ?

श्रमणोपासक के चार प्रकार[४] बताये है। वे इस प्रकार हैं—

(१) कुछ रात्निक श्रमणोपासक महाकर्मा, महाक्रिय, अनातापी (अतपस्वी) और अशमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नही होते।

---

१ उपासकदशाग १-१४ —श्रमणी विद्यापीठ प्रकाशन

२ स्थानाग सूत्र, ४ स्था० सू० २७२

३ स्थानाग ३—४९७

४ स्थानागसूत्र—४ स्था० सू० ३२८

(२) कुछ रात्निक श्रमणोपासक अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, आतापी और शमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते है ।

(३) कुछ अवमरान्तिक श्रमणोपासक महाकर्मा, महाक्रिय, अनातापी और अशमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नही होते ।

(४) कुछ अवमरान्तिक श्रमणोपासक अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, आतापी और शमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते है ।

इसी प्रकार श्रमणोपासिका के सम्बन्ध मे भी चार बातें बताई गई है। आगे चलकर श्रद्धा और वृत्ति के आधार पर श्रमणोपासको के चार प्रकार बताये है । जिन श्रमणोपासको के अन्तर्मानस मे श्रमणो के प्रति अत्यन्त वात्सल्य होता है उन श्रमणोपासको की तुलना माता-पिता के साथ की गई है । वे तत्त्वचर्चा और जीवन-निर्वाह आदि के प्रसगो मे माता-पिता के समान वात्सल्य का परिचय देते है । जिन श्रमणोपासको के अन्तर्मानस मे वात्सल्य और उग्रता दोनो होती है उनकी तुलना भाई के साथ की गई है । वे श्रमणोपासक तत्त्वचर्चा आदि के प्रसगो मे कठोरतापूर्ण व्यवहार भी करते हैं, पर जीवन-निर्वाह का प्रसग आने पर उनके हृदय मे वात्सल्य का पयोधि उछालें मारने लगता है । जिन श्रमणोपासको के अन्तर्मानस मे श्रमणो के प्रति सापेक्ष प्रीति होती है उनकी तुलना सामान्य मित्र से की गई है, यदि सामान्य मित्र से किसी कारणवश प्रीति नष्ट हो जाय तो वे मित्र जो अनुकूलता के समय वात्सल्य का प्रदर्शन करते थे वे प्रतिकूल स्थिति मे श्रमणो की उपेक्षा करते है । कितने ही श्रमणोपासको के अन्तर्मानस मे ईर्ष्या की आग जलती रहती है, वे ईर्ष्या के वशीभूत होकर श्रमणो के दोष ही देखते रहते हैं । उनकी तुलना सौत से की गई है वे किसी भी प्रकार से श्रमणो का हित-चिंतन नही करते ।[५]

श्रमणोपासको की योग्यता और अयोग्यता को सलक्ष्य मे रखकर श्रमणोपासको के चार विभाग किये है । कितने ही श्रमणोपासक दर्पण के समान निर्मल होते है, वे श्रमण के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वनिरूपण को यथार्थ रूप से ग्रहण करते है, उनमे उन तत्त्वो का यथार्थ प्रतिबिंब गिरता है । कितने ही श्रमणोपासको का तत्त्वबोध अनवस्थित होता है, वे किसी भी निश्चित विचारबिन्दु पर अवस्थित नही होते उनकी तुलना ध्वजा से की गई है । कितने ही श्रमणोपासको का अन्तर्मानस शुष्क और नीरस होता है, उनमे किसी भी प्रकार का लचीलापन नही होता, उनमे एक प्रकार का आग्रह होता है, वे किसी के सत्य-तथ्य को स्वीकार नही कर सकते । उनकी तुलना स्थाणु से की गई है । वे स्थाणु की तरह होते है, उनमे सरसता का अभाव होता है ।

---

५ चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता त जहा—
अम्मपिति समाणे, भातिसमाणे, मित्तसमाणे सवत्तिसमाणे ।

—स्थानाग० ४-४-४३०

महावीर पच अस्तिकायो का प्रतिपादन करते है, उनमे एक को जीव और चार को अजीव कहते है। पट्द्रव्य की दृष्टि से एक को रूपी और पाँच को अरूपी कहते है। इस सम्बन्ध मे तुम्हारा क्या विचार है, हम उसे जानना चाहते है। जो भी तुम्हारे पास अस्तिकाय को सिद्ध करने के लिए प्रमाण हो वह प्रस्तुत करो।"

मद्दुक ने कहा—"अस्तिकाय के कार्यो से ही इसका अनुमान किया जा सकता है। ससार के कितने ही पदार्थ दृश्य होते है, कितने ही अदृश्य होते है, जो अनुभव, अनुमान और कार्य से जाने जा सकते है।"

अन्य तीर्थिको ने उपहास करते हुए कहा—"तुम किस प्रकार के श्रमणोपासक हो, जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए द्रव्यो को न जानते हो, न देखते हो, तथापि उसे मानते हो!"

मद्दुक ने कहा—"मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि सनसनाता हुआ पवन चल रहा है, क्या आप उसे देखते है? उसका रग रूप कैसा है?"

अन्यतीर्थिको ने कहा—"हवा सूक्ष्म होने से हम उसके रूप को नही देख पाते।"

मद्दुक ने कहा—"सुगध और दुर्गंध जिसका आप अनुभव करते है, क्या उसके रूप-रग को देखते है? इसी तरह अरणि काष्ठ मे अग्नि रहती है, क्या वह अग्नि आपको दिखाई देती है? देवगण जो दिखाई नही देते है क्या उन्हे आप नही मानते? जो पदार्थ दिखाई न देते हो उन्हे आप अमान्य करेंगे तो आपको अतीत काल की वश-परम्परा को भी अमान्य करना होगा।"

अन्यतीर्थिक मद्दुक के अकाट्य तर्को का उत्तर न दे सके। उसके गभीर ज्ञान की श्रमण भगवान महावीर ने मुक्त कठ से प्रशसा की। एक श्रमणोपासक तत्त्वो का कितना गभीर ज्ञाता होता था जो अन्यतीर्थिको को शास्त्रार्थ मे पराजित कर देता था—यह इस प्रसग से स्पष्ट होता है।[१०]

बारहवें शतक मे भगवान महावीर के परम भक्त शख और पोखली श्रावको का वर्णन है जो श्रावस्ती के निवासी थे, जिन्होने सामूहिक रूप से खा-पीकर पाक्षिक पौषध किया था। और प्रस्तुत शतक मे ही जयन्ती श्रमणोपासिका का उल्लेख है। उसके मकानो मे श्रमण और श्रमणियाँ ठहरती थी, इसलिए वह "शय्यातर" के रूप मे विश्रुत थी।[११] वह तत्त्वो के मर्म की ज्ञाता थी, उसने भगवान महावीर से अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की, उसकी जिज्ञासाएँ जीवन और दर्शन से सम्बन्धित थी। एक श्राविका का उस युग मे तत्त्वविद होना [illegible]। जिस युग मे "न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयेताम्" की मान्यताएँ थी उस युग मे [illegible]।

और उसके सम्बन्ध मे भगवान महावीर से विचारचर्चा करना उसके साहस का स्पष्ट द्योतक है।

भगवतीसूत्र मे कार्तिक श्रेष्ठी के द्वारा एक सौ बार पाँचवी प्रतिमा धारण करने का वर्णन आया है। इस तरह भगवती मे प्रसगानुसार श्रावक जीवन पर चिन्तन किया गया है। उनका आदर्श जीवन जन-जन के लिए प्रेरणादायी है। पर श्रावको के व्रत और प्रतिमाओ पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन नही किया गया है।

ज्ञातासूत्र मे कथाओ के माध्यम से जीवन और दर्शन के गभीर रहस्य सुलझाये गये है। किन्तु उसमे भी पृथक् रूप से श्रावकधर्म के सम्बन्ध मे विश्लेषण नही किया गया है।

उपासकदशागसूत्र मे भगवान महावीरकालीन दस श्रावको का वर्णन है। वे ये है—आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, शकडालपुत्र महाशतक, नन्दिनीपिता और शालिनीपिता। इनमे सर्वप्रथम आनद श्रावक है। उन्होने भगवान महावीर के पावन प्रवचनो को सुनकर श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। बारह व्रतो के नाम अतिचारो के नाम, ११ प्रतिमाओ का उल्लेख और जीवन की सान्ध्यवेला मे सलेखना करने का वर्णन है।[12] प्रस्तुत आगम मे श्रमणोपासको की कठोर परीक्षाएँ भी बताई गई है और वे उन सभी परीक्षाओ मे पूर्ण रूप से खरे उतरे है।

अन्तकृद्दशागसूत्र[13] मे सुदर्शन श्रेष्ठी का वर्णन है। वह श्रमणोपासक था। जीवाजीव का परिज्ञाता था। उसके व्रत ग्रहण करने का उल्लेख प्रस्तुत आगम मे नही है, तथापि एक श्रावक की जिनधर्म के प्रति कितनी गहरी निष्ठा है, उसका सजीव चित्रण इसमे है। भगवान महावीर राजगृह नगर के बाहर पधारे हुए है। अर्जुनमाली जो महाकाल के रूप मे नगर के बाहर घूम रहा है। किन्तु मृत्यु से भी भयभीत न होकर सुदर्शन भगवान के दर्शन के लिए चल पडता है। सुदर्शन की गहरी निष्ठा का इसमे चित्रण हुआ है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र[14] मे श्रावकधर्म की दृष्टि से कोई वर्णन नही है। तथापि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह पर चिन्तन कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। श्रावको के अणुव्रतो के सही स्वरूप को समझने के लिए प्रस्तुत वर्णन सर्चलाइट के समान उपयोगी है।

१२ उपासकदशागसूत्र—अ० १, सूत्र १४ से ७५
—प्रकाशक श्रमणी विद्यापीठ, घाटकोपर, बबई
१३ अनकृ० तीसरा अध्ययन
१४ प्रश्नव्याकरण सूत्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

विपाकसूत्र[१५] के द्वितीय श्रुतस्कध मे सुबाहुकुमार का वर्णन है। वह श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण करता है। तथा भद्रनन्दी सुजात आदि कुमार भी।

राजप्रश्नीयसूत्र[१६] मे राजा प्रदेशी जो उस युग का एक अद्भुत विज्ञान-प्रेमी और तार्किक था, जिसका जीवन पहले बहुत क्रूर था, उसके हाथ रक्त से सने हुए रहते थे। केशी श्रमण के सत्सग से उसके जीवन का रग बदल जाता है। एक दिन वही क्रूर हृदय शासक दयालु श्रावक बन जाता है। और इतना शान्त, विरक्त बन जाता है कि महारानी के द्वारा जहर देने पर भी उसके अन्तर्मानस मे तनिक मात्र भी रोष नही जगता। एक श्रावक का जीवन साधना की दृष्टि से कितना उत्कृष्ट हो सकता है, उसका स्पष्ट चित्र इसमे आया है।

उत्तराध्ययनसूत्र मे गृहस्थ के सम्बन्ध मे विस्तार से चर्चा नही है, पर जो गृहस्थ जीवन को हेय समझते हैं और कहते है कि गृहस्थ का जीवन पाप की कालिमा से लिप्त है, उसका प्रत्येक आचरण पापमय है, किन्तु भगवान् महावीर गृहस्थ श्रावको को 'श्रमणभूत'[१७] शब्द से सम्बोधित करते हैं। उत्तराध्ययन मे स्पष्ट कहा हैं—"कुछ भिक्षुओ की अपेक्षा गृहस्थ सयम की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं और गृहस्थ दशा मे रहते हुए भी साधक सुव्रत हो जाता है।[१८]

दशाश्रुतस्कंध के छठे उद्देशक मे उपासक की ११ प्रतिमाओ का नाम सहित उल्लेख किया गया है।[१९]

आवश्यकसूत्र[२०] मे षडावश्यक की चर्चा करते हुए सम्यक्त्व के साथ १२ व्रतो के अतिचारो का वर्णन किया गया है और साथ ही सलेखना के अतिचारो का भी वर्णन हं।

इस प्रकार आगम साहित्य मे श्रमणोपासको के सम्बन्ध मे यत्र-तत्र चिन्तन किया गया है। आगम साहित्य के व्याख्या-साहित्य, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका ग्रथो मे भी स्थान-स्थान पर श्रावकाचार के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है। विस्तार भय से उन सभी के सम्बन्ध मे मैं यहाँ चिन्तन नही कर रहा हूँ।

आगम और उसके व्याख्या साहित्य के पश्चात् श्वेताम्बर विज्ञो ने श्रावकाचार

---

१५ विपाकसूत्र—द्वितीय श्रुतस्कध—१ से १० अध्ययन तक

१६ राजप्र० द्वितीय विभाग, राजा प्रदेशी अधिकार।

१७ समवायाग ११।

१८ उत्तराध्ययन ५-२०।

१९ दशाश्रुत० छठी दशा—सू० १-२, गा० नि० ११

२० आवश्यक०—छठा आव०

दसवैयालियसुत्त, उत्तराध्ययनसुत्त, आवश्य सुत्त

सपादक—मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर विद्यालय, बवई

पर अत्यधिक विस्तार से लिखा है। दिगम्बर विज्ञ भी पीछे नही रहे है। मूर्धन्य मनीषियो का अभिमत है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर विज्ञो द्वारा लिखा हुआ श्रावकाचार का साहित्य एक लाख श्लोक से भी अधिक परिमाण वाला है। हम यहाँ पर अत्र पहले श्वेताम्बर ग्रन्थो का परिचय देंगे और उसके पश्चात् दिगम्बर ग्रन्थो का, जिससे प्रबुद्ध पाठको को ज्ञात हो सके कि जैनाचार्यो ने श्रावकाचार पर कितना लिखा है।

श्वेताम्बर परम्परा मे

आचार्य उमास्वाति—आचार्य उमास्वाति का जैनदर्शन मे अनूठा स्थान रहा है। "तत्त्वार्थसूत्र" उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, आत्मविद्या, पदार्थ विज्ञान, कर्मशास्त्र प्रभृति अनेक विषयो पर उसमे सुन्दर निरूपण है। तत्त्वार्थ सूत्र के सातवे अध्याय मे बहुत ही सक्षेप मे श्रावको के व्रत, उनके अतिचार, तथा सलेखना के ५ अतिचार का प्रतिपादन किया है। किन्तु श्रावक की ११ प्रतिमाओ का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र मे नही हुआ है।

उमास्वाति की दूसरी कृति 'श्रावक प्रज्ञप्ति' है। इस ग्रन्थ मे चार सौ तीन गाथाएँ हैं। भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे लिखा गया है। इस पर आचार्य हरिभद्र ने टीका लिखी। ग्रन्थ के प्रारभ मे ही "श्रावक" शब्द पर चिन्तन करते हुए आचार्य ने लिखा—"**जो सम्यग्दृष्टि साधुओ के पास उत्कृष्ट समाचारी श्रवण करता है वह "श्रावक" है।**[२१] उसके पश्चात् ग्रन्थ मे श्रावक के द्वादशव्रतो का निरूपण है।

आचार्य उमास्वाति, प० सुखलालजी के अभिमतानुसार वि० स० पहली शताब्दी और तीसरी शताब्दी के बीच मे रहे।

आचार्य हरिभद्र जो वि० स० नौवी शताब्दी के थे, "**धर्मबिन्दु प्रकरण**"[२२] के रचयिता है। इस ग्रन्थ मे श्रमण और श्रावक धर्म की विवेचना की गई है। श्रावक बनने के पूर्व मार्गानुसारी के ३५ गुणो की आवश्यकता है। उन ३५ गुणो का सर्व प्रथम निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया गया है। ये गुण जीवन को निर्मल, पवित्र और व्यावहारिक बनाते हैं।

---

२१ (क) सम्मत्त दसणाई पइदिअह जइजणा सुणेई य।
सामायारी परम जो खलु, त सावग विति।

—श्रावक प्रज्ञप्ति—गाथा ६

(ख) मूल गाथाओ का गुजराती अनुवाद टीका सहित, प्रकाशक वकील केशवलाल प्रेमचद स० १९६१।

(ग) गुजराती भाषानुवाद—ज्ञान प्रचारक मडल, बबई, स० १९६७

२२ आगमोदय समिति, बबई, १९२४

आचार्य हरिभद्र की दूसरी कृति "श्रावकधर्मविधि प्रकरण" है।[२३] यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे निबद्ध है। इसमे १२० गाथाएँ है। इस पर मानदेव सूरि ने टीका रची है।

सुविहित आचार्य जिनेश्वर, जो ११वी शताब्दी के थे, "षट्स्थान प्रकरण"[२४] के रचयिता है। उन्होने १०४ प्राकृत गाथाओ मे इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रंथ का दूसरा नाम "श्रावक वक्तव्यता" है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे वृत्तपरिकर्मत्व, शीलवत्व, गुणवत्त्व ऋजुव्यवहार, गुरुशुश्रूषा और प्रवचन कौशल्य इन छ स्थानो का वर्णन है। श्रावक के जीवन मे ये छ गुण अँगडाइयाँ लेते है। इन षटस्थानको के क्रमश चार, छ, पाँच चार, तीन और छ पाँच प्रभेद किये है। आचार्य जिनप्रति के शिष्य उपाध्याय जिनपाल ने वि० स० १२६२ मे १४६४ श्लोक परिमित भाष्य भी लिखा है।[२५]

देवेन्द्र सूरि जो १४वी सदी के थे, "श्राद्धदिनकृत्यसूत्र"[२६] के रचयिता है। इन्होने इस ग्रन्थ मे ३४३ मूल गाथाएँ लिखी और स्वय ने ही १२८३० श्लोक परिमित टीका लिखी। यह २८ द्वारो मे विभक्त है। गुजराती अनुवादकर्त्ता ने इसे अज्ञात लेखक की कृति माना है, पर आधुनिक शोध से इसके कर्ता देवेन्द्र सूरि थे, यह सिद्ध हुआ है।

जिनेश्वर सूरि ने वि० स० १३१३ मे "श्रावकधर्मविधि"[२७] ग्रन्थ की रचना की। यह मूल ग्रन्थ २४२ श्लोको मे निर्मित है। उपाध्याय लक्ष्मीतिलक ने १५१३३ श्लोक परिमाण सविस्तृत टीका लिखी जो अभी तक अप्रकाशित है।

जिनमण्डलगणी ने जो १५वी शताब्दी के है, "श्राद्धगुण विवरण"[२८] ग्रन्थ

---

२३ श्री आत्मानद सभा, भावनगर स० १९८० सपा० आगम प्रभावक मुनिपुण्यविजय जी गुरु चतुर्विजय।

२४ जिनदत्त सूरि जैन भण्डार स० १९७९

२५ देखिए "जैन साहित्य का बृहत् इतिहास"—भाग चौथा, स० डा० मोहनलाल मेहता, सन् १९६८, पृष्ठ १८४, प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम सस्थान, वाराणसी।

२६ गुजराती भापातरप्रकाशक—श्री जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर स०—१७८६ टीकायुक्त ऋषभदेव केसरीमल सस्थान, रतलाम स०—१९९४-९५—दो भागो मे प्रकाशित।

२७ देखिए (क) जिनवाणी—श्रावक धर्म अक—१९७०, पृ० ४५, अगरचद नाहटा
(ख) जैन सत्य प्रकाश

२८ मुनि सोहनविजय, का हिन्दी अनुवाद

की रचना की। उन्होने इस ग्रथ के प्रारभ मे 'श्रावक' शब्द की व्युत्पत्ति देकर आचार्य हरिभद्र के द्वारा प्रतिपादित ३५ मार्गानुसारी गुणो को सम्यक् प्रकार से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न कथाएँ दी हैं जिससे सहजतया वे गुण हृदयगम हो सकें।

१५वी सदी के आचार्य रत्नशेखर सूरि "श्राद्ध विधि"[२९] ग्रथ के रचयिता हैं। उन्होने वि० स० १५०६ मे "विधि कौमुदि" नामक वृत्ति का निर्माण किया जिस वृत्ति के श्लोक ६७६१ हैं। टीका मे अनेक कथाएँ हैं। ग्रथ के प्रारभ मे श्रावक के लिए चार गुण आवश्यक माने है—भद्रप्रकृति, विशिष्ट निपुणमति, न्यायमार्गीय वृत्ति और दृढनिजप्रतिज्ञास्थिति। प्रस्तुत ग्रन्थ मे छ द्वार है—दिनकृत्य, रात्रिकृत्य, पर्वकृत्य, चातुर्मासिक कृत्य, वर्षकृत्य और जन्मकृत्य। प्रस्तुत ग्रन्थ मे श्रावक के योग्य २१ गुणो का भी वर्णन किया है। वे गुण इस प्रकार हैं—अक्षुद्र, स्वरूपवान्, प्रकृतिसौम्य, लोकप्रिय, अक्रूर, भीरु, अशठ, सदाक्षिण्य, लज्जालु, दयालु, मध्यस्थ, गुणानुरागी, सत्कथा, सुपक्षयुक्त, सुदीर्घदर्शी, विशेपज्ञ, वृद्धानुरागी, विनीत, कृतज्ञ, परहितकारी और लब्धलक्ष्य। प्रस्तुत ग्रथ मे नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप की दृष्टि से श्रावक पर चिंतन करते हुए भावनिक्षेप मे श्रावक के तीन प्रकार बताए हैं—दर्शन श्रावक, व्रतश्रावक और उत्तरगुण श्रावक। इस ग्रथ मे बारह व्रतो के भगो की सख्या १३,८४,१२,२७,२०२ है। श्रावक शब्द पर चिन्तन करते हुए लेखक ने लिखा हैं—जो दान, शील, तप व भाव की आराधना करता हुआ शुभ योगो से अष्ट प्रकार के कर्म निर्जरित करता है, श्रमणो के सन्निकट सम्यक् समाचारी का श्रवण कर उसी प्रकार आचरण करने का प्रयत्न करता है वह श्रावक है।[३०] तथा पूर्वकृत बद्धकर्मों को साधना से न्यून कर और प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रत्याख्यान का आराधन करने मे तल्लीन रहे वह श्रावक है।[३१] जो नौ तत्त्वो पर प्रीति रखकर सिद्धान्त का श्रवण करता है, आत्मस्वरूप का चिंतन करता है, निरन्तर पाप से विरत रहकर श्रमणो की सेवा करता है, वह श्रावक है।[३२]

अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं। प्राचीन कई ग्रन्थो मे श्रावक के द्वादश व्रतो पर

---

२९ वृत्ति—हिन्दी अनुवाद सहित सपादक—तिलक विजय पजाबी। प्रकाशक—श्री आत्मतिलक ग्रथ सोसाइटी, पूना, सन् १९२५

३० "श्रुवति यस्य पापानि पूर्वबद्धाचनेकश।
आवृतश्च व्रतैर्नित्य श्रावक सोऽभिधीयते" ॥१॥

३१ "समत्त दसणाई पइदिअह जई जणासुणे इ य।
सामायारी परम जो खलु त सावग विंति ॥२॥

३२ "श्रद्धालुता श्राति पदार्थ चिंतता, हताति पात्रेपु वपत्यनास।
किरत्यपुण्यानि सुसाधु सेवनादतोपि त श्रावक माहुरुत्तमा, ॥३॥

(

कथाओ के माध्यम से विश्लेषण किया है। देवभद्र सूरि ने 'कथा-कोश' मे, देवगुप्त सूरि ने 'नवपदप्रकरण सटीका' मे, आचार्य हेमचन्द्र ने 'योग-शास्त्र' मे तथा अन्य अनेक श्वेताम्बर आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे कही विस्तार से और कही सक्षेप मे श्रावकधर्म पर चिन्तन किया है और उन्ही ग्रन्थो के आधार से हिन्दी और गुजराती मे भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उसमे आचार्य जवाहरलाल जी महाराज का 'गृहस्थधर्म' और विदुषी महासती उज्ज्वल कुँवर जी की 'श्रावकधर्म' सुन्दर कृतियाँ है।

दिगम्बर परम्परा मे

दिगम्बर परम्परा मे श्रावकधर्म पर चिन्तन करने वाले सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द हैं। उन्होने "चारित्र पाहुड"[33] मे बहुत ही सक्षेप मे केवल छ गाथाओ मे वर्णन किया है। पहले 'सागारसयमाचरण' गृहस्थो मे होता है। उसके पश्चात् ११ प्रतिमाओ के नाम बताये है। उसके पश्चात् सागारसयमाचरण को ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत रूप बताकर उनके नाम बताये है। यहाँ पर अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के नाम का निर्देश है, किन्तु उनके सम्बन्ध मे विशेष चर्चा नही। आचार्य कुन्दकुन्द ने सलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत माना है। पर, उन्होने देशावकाशिक व्रत को न गुणव्रतो मे स्थान दिया है और न शिक्षाव्रतो मे, उनके अभिमतानुसार दिक्परिमाण, अनर्थदण्डवर्जन और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत है, सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सलेखना ये चार शिक्षाव्रत है।

उनके "रयणसार" ग्रन्थ मे भी श्रावकाचार का निरूपण है। ७२ गाथाओ मे श्रावकधर्म पर चिन्तन किया है।

स्वामी कार्तिकेय ने श्रावकधर्म पर प्रत्येक रचना न कर "अनुप्रेक्षा" नामक ग्रन्थ मे धर्म भावना का चिन्तन करते हुए श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने गृहस्थ धर्म के बारह भेद बताये हैं—

सम्यग्दर्शनयुक्त, मद्यादिस्थूलदोषरहित, व्रतधारी, सामायिक, पर्वव्रती, प्रासुकआहारी, रात्रिभोजनविरत, मैथुन-त्यागी, आरम्भत्यागी, सगत्यागी, कार्यानुमोदविरत और उद्दिष्टाहारविरत।[34]

इन बारह नामो मे प्रथम सम्यग्दर्शनयुक्त के अतिरिक्त शेष ग्यारह नाम प्रतिमाओ के है। श्रावक को व्रत धारण करने के पूर्व सम्यग्दर्शनयुक्त होना आवश्यक ही नही अनिवार्य हे। सम्यग्दर्शन के पश्चात् श्रावकधर्म के बारह भेद बताये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपादित तीन गुणव्रतो को इन्होने स्वीकार किया है, पर शिक्षाव्रतो मे कुन्दकुन्द के द्वारा माना हुआ सलेखना को व्रत न मानकर देशावकासिक व्रत को माना है। इन्होने अनर्थदण्ड के पाँच भेद किये हैं। इन्होने शिक्षाव्रत पर चिन्तन

---

३३ 'चारित्र पाहुड'—गाथा २० से २५।
३४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा—३०४ से ३०६।

व्रत के जो अतिचार हैं, वे भोग पर ही घटित होते है, अत उन्होने अन्य पाँच स्वतन्त्र अतिचारो का भी वर्णन किया है।[३८] इसी तरह ब्रह्मचर्य के अतिचारो मे भी इत्वरिका-परिग्रहीतागमन और इत्वरिका—अपरिग्रहीतागमन मे प्रथम को रखकर द्वितीय को विटत्व नामक अतिचार की स्वतन्त्र कल्पना की है।[३९] व्रतो के पश्चात् उन्होने ११ प्रतिमाओ का भी वर्णन किया है।

आचार्य जिनसेन ने 'आदि पुराण' मे ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति बताई है। वहाँ पर उन्होने पक्ष, चर्या और साधन रूप से श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है।[४०] विज्ञो का मानना है कि उनके सामने कोई उपासक सूत्र रहा होगा और उसी के आधार पर उन्होने प्रतिपादन किया। उन्होने १२ व्रतो के नामो मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही किया है, पर मूल आठ गुणो मे मधु के स्थान पर उन्होने द्यूत-त्याग को आवश्यक माना है। यदि द्यूत को अन्य व्यसनो का उपलक्षण माना जाय तो पाक्षिक श्रावक को कम से कम ७ व्यसनो का परित्याग और आठ मूलगुणो को धारण करना होगा। यही कारण है कि बाद मे प० आशाधर जी आदि ने पाक्षिक श्रावक के लिए उक्त कर्तव्य बताये हैं।

जिनसेन ने "हरिवंश पुराण" मे भी श्रावकाचार सम्बन्ध मे ७७ श्लोको मे प्रकाश डाला है। उसमे बारह व्रत, सलेखना आदि के अतिचारो का वर्णन किया है।[४१]

आचार्य सोमदेव के "यशस्तिलकचम्पू" के छठवें-सातवें व आठवें आश्वासो मे श्रावक धर्म पर विस्तार से वर्णन है। उनका मूल आधार 'रत्नकरडक श्रावकाचार' है। उन्होने छठे आश्वास मे अन्य दर्शनो के मन्तव्यो की चर्चा कर उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप पर चिंतन किया और अन्त मे उन सभी का निरसन कर जैनदर्शन द्वारा निरूपित मोक्ष पर चिन्तन किया। उस मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। आप्त के स्वरूप की विस्तार के साथ मीमासा की। और सम्यक्त्व के आठ अगो का नवीन शैली से प्रतिपादन किया। सम्यक्त्व के विभिन्न प्रकार, उनके दोष का वर्णन कर सम्यक्त्व की महत्ता पर प्रकाश डाला। सम्यक्त्व से श्रेष्ठ गति, ज्ञान से कीर्ति, और चारित्र से पूजा, इन तीनो के मिलने से मुक्ति प्राप्त होती

---

३८ विषयविषयोऽनुप्रेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमति तृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमा पच कथ्यते। —रत्न क०—९०

३९ अन्यविवाहकरणानगक्रीडा विटत्व विपुलतृष।
इत्वरिकागमन चास्मरस्य पच व्यतीचारा॥ —रत्न क०—६०

४० आदिपुराण—१४५

४१ हरिवश पुराण सर्ग ५८, श्लोक० ७७

है, केवल उनके नाम गिनाये है। इस ग्रन्थ मे न श्रावको के बारह व्रतो के अतिचारो का वर्णन है और न सप्त व्यसन का ही वर्णन है और न ग्यारह प्रतिमाओ का ही निरूपण किया है। उन्होने श्रावक के लिए पुण्य उपार्जन करना अतीव आवश्यक माना है और उस पर अधिक बल दिया है।

आचार्य अमितगति ने "उपासकाध्यान" नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। वह "अमितगति श्रावकाचार" के नाम से भी विश्रुत है। इसमे १४ परिच्छेदो मे श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन है। पूर्व आचार्यो के द्वारा लिखे हुए विषय को पल्लवित और पुष्पित किया है। उन्होने प्रथम, धर्म का महत्त्व, सम्यक्त्व की महिमा, सप्ततत्त्व, आत्मा की सिद्धि, विश्वसृष्टिकर्तृत्व का खण्डन आदि विषयो का प्रतिपादन किया है।[४७] उसके पश्चात् शील, तप व अनुप्रेक्षाओ का वर्णन है। षडावश्यक के पश्चात् बारह व्रतो का निरूपण किया और ग्यारह प्रतिमाओ का बहुत सक्षेप मे वर्णन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" मे सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का सुन्दर विवेचन किया है। उसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान की आराधना पर बल दिया है, और तदनन्तर सम्यक्चारित्र की व्याख्या करते हुए हिंसादि पापो की निवृत्ति पर प्रकाश डाला है। उन्होने अहिंसा का अनूठा वर्णन किया है। सभी पापो का मूल हिंसा है, अत विविध विकल्पो के द्वारा हिंसा और अहिसा के विवेचन को किया है। इन्होने जो पाँच उदबर फल, मद्य, मास और मधु के त्याग को आवश्यक माना है। जो व्यक्ति इनका परित्याग नही करता उसे महान् हिंसक कहा है। जब तक इनका त्याग नही करता तब तक जैन धर्मावलम्बी नही बन सकता।[४८] आचार्य ने धर्म, देवता या अतिथि के नाम पर होने वाली हिंसा को जो लोग हिंसा नही मानते है उनका अकाट्य तर्को से खण्डन किया है। उन्होने अतिचारयुक्त अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतो का वर्णन किया है।

आचार्य वसुनन्दि ने "श्रावकाचार" ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की भाषा प्राकृत है। श्वेताम्बर आगम साहित्य मे दिगम्बर परम्परा की तरह आठ मूलगुण का कही भी वर्णन नही है। वैसे ही वसुनन्दि के श्रावकाचार मे भी इन आठ गुणो का उल्लेख व वर्णन नही किया गया है। वसुनन्दि ने बारह व्रतो के अतिचारो का भी वर्णन नही किया है। उन्होने ११ प्रतिमाओ को आधार बनाकर श्रावक धर्म का प्रतिपादन

---

४७ (क) अमितगति श्रावकाचार, प्रथम परि० श्लो० १३ से २१।
(ख) देखिए उसी ग्रन्थ का चतुर्थ परिच्छेद।

४८ अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवति पात्राणि शुद्धधिय.॥ —पुरुषार्थ०—७४

गुणभूषण के 'श्रावकाचार" मे तीन उद्देशको मे श्रावक जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

नेमिदत्त के "धर्मोपदेश—पीयूष वर्ष" नामक "श्रावकाचार" मे पाचवे अधिकार मे सम्यक्त्व से लेकर श्रावको के व्रतो का निरूपण किया है। रात्रिभोजन के दोपो पर प्रकाश डाला है, मौन का महत्व वताकर सात स्थानो पर मौन रहने का उपदेश दिया है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ का भी वर्णन है, और सलेखना के स्वरूप पर भी चिन्तन किया है।

"लाटी सहिता" के छ सर्गो मे धर्म के स्वरूप को वताते हुए सम्यक्त्व, उसके आठ अंग, सागार और अनगार धर्म का निरूपण करते हुए प्रत्येक व्रत का महत्व वताते हुए विस्तार से प्रकाश डाला है। सलेखना और ११ प्रतिमाओ का भी निरूपण किया हे। प्रस्तुत ग्रन्थ की भापा सस्कृत है। इस ग्रन्थ के लेखक के सम्वन्ध मे विज्ञगण निश्चित नही कर सके हे कि कौन हे ?

पूज्यपाद कृत "श्रावकाचार" एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमे सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हुए अष्ट मूलगुण, पच अणुव्रत सप्त शीलव्रत, सप्त व्यसनो के त्याग, कन्द-मूल आदि अभक्ष्य पदार्थो के त्याग, मौन धारण करना तथा पर्व दिनो मे उपवास, आदि पर वल दिया गया है। इस ग्रथ मे १०३ श्लोक हैं।

पद्मनन्दि विरचित "श्रावकाचार" मे केवल २१ श्लोको मे श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया है।

"व्रतसार श्रावकाचार" मे २२ श्लोक है। उसमे वहुत ही सक्षेप मे श्रावक धर्म पर चिन्तन किया है। इसके लेखक का नाम विज्ञो को ज्ञात नही हो सका है।

अभ्रदेव विरचित "व्रतोद्योतन श्रावकाचार" मे ५४२ श्लोक ह। इसमे श्रावक के व्रतो के सम्वन्ध मे चिन्तन करने के साथ ही इन्द्रिय और मन के निरोध पर वल दिया है। विस्तार से सम्यक्त्व के स्वरूप पर भी चिन्तन किया हे।

श्री आचार्य प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि कृत 'श्रावकाचार सारोद्धार' ग्रन्थ दो परिच्छेदो मे हे। ग्रन्थ मे राजा श्रेणिक के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर गणधर गौतम के द्वारा धर्म पर चिन्तन करते हुए विस्तार के साथ सम्यग्दर्शन के विविध भेदोपभेद पर प्रकाश डालते हुए विपय के प्रतिपादन हेतु विविध कथानक भी दिये हैं और द्वादश व्रतो पर और उनके अतिचारो पर विस्तृत विवेचन किया गया हैं। सलेखना और उसके अतिचारो पर भी प्रकाश डाला है।

जिनदेव विरचित 'भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन" ग्रन्थ छ परिच्छेद मे है जिसमे ३६५ श्लोक हैं। लेखक ने सर्वप्रथम श्रावकाचार लिखने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर सम्राट श्रेणिक के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर गणधर गौतम के द्वारा श्रावकधर्म का निरूपण किया है। सर्वप्रथम अष्ट मूलगुण, रात्रिभोजन त्याग, सप्तस्थान पर मौन धारण, चर्म पात्र मे घृत-तैल, कन्दमूल आदि अभक्ष्य पदार्थो के त्याग का उपदेश

किया है। सर्वप्रथम दार्शनिक श्रावक को सप्तव्यसन[४९] का त्याग आवश्यक माना है। उन्होंने सप्त व्यसनों के त्याग पर अत्यधिक बल दिया है। १२ व्रत और ११ प्रतिमाओं का वर्णन प्राचीन परम्परा की दृष्टि से किया है।

पं० आशाधर जी ने "सागारधर्मामृत" ग्रन्थ की रचना की। लेखक ने अपने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों का पारायण किया। अत उन्होंने श्रावकधर्म के सभी प्रमुख अंगों का स्पर्श किया है। उनके ग्रन्थ में "नीतिवाक्यामृत" और आचार्य हरिभद्र के "प्रज्ञप्ति" का स्पष्ट प्रभाव है। अतिचारों के वर्णन के लिए उन्होंने श्वेताम्बर साहित्य का उपयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम सप्त व्यसनों के अतिचारों का वर्णन किया गया है। श्रावक की दिनचर्या और उसकी समाधि का सुन्दर चित्रण हुआ है।

"सावयधम्म दोहा" ग्रन्थ में मानव भव की दुर्लभता देव, गुरु तथा धर्म प्रतिमा का स्वरूप, अष्टमूल गुण की प्रेरणा देते हुए सप्त व्यसनों के दोष बताकर उन्हें त्यागने पर बल दिया है। व्रत, प्रतिमा और दान की चर्चा की गई है। इसमें अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। उनको धारण करने से जीवन में किस प्रकार निर्मलता आती है, उसका भी प्रतिपादन है।[५०] प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता कौन हैं, यह अभी तक विज्ञ निश्चय नहीं कर सके हैं। एक स्थान पर 'देवसेन' का नाम आया है।[५१]

मेधावी विरचित "धर्मसंग्रह श्रावकाचार" के प्रथम अधिकार में अठारह दोष रहित को "देव" माना है। उसके पश्चात् आगार और अनगार धर्म का निरूपण करते हुए ग्यारह प्रतिमाओं के नामों का उल्लेख किया है। मिथ्यात्व के भेद-प्रभेदों का और सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों का और सम्यक्त्व का विस्तार से महत्त्व प्रतिपादित किया है। द्वितीय अधिकार में श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद किये हैं और तृतीय अधिकार में व्रतों के नाम-निर्देश और उनका विस्तार से सातवें अधिकार तक निरूपण है।

आचार्य सकलकीर्ति विरचित "प्रश्नोत्तर श्रावकाचार" ग्रन्थ में २४ परिच्छेद के अन्दर २४ तीर्थंकरों के वर्णन के साथ व्रतों पर विस्तार से वर्णन है। भाषा की दृष्टि से यह सस्कृत श्लोकों में निबद्ध है।

---

४९ जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परयार।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥ —वसुनन्दि श्रावकाचार—५९

५० "अणुवय गुणसिक्खावयाइं ताइं जि बारह हुंति।
ने जाइवि णर-सुर-सुहइं लिउ णिव्वाणहु जंति ॥ —सावय० ५८

५१ "इय दोहा बद्धवयधम्म देवसेण उवदिट्ठु।
लहु अक्खरमत्ताहीण मो पय सयण खमंतु ॥—श्रावकाचार संग्रह-भाग-१, पृ० ५०५

गुणभूषण के 'श्रावकाचार" में तीन उद्देशकों में श्रावक जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

नेमिदत्त के "धर्मोपदेश—पीयूष वर्ष" नामक "श्रावकाचार" में पाचवे अधिकार में सम्यक्त्व से लेकर श्रावकों के व्रतों का निरूपण किया है। रात्रिभोजन के दोषों पर प्रकाश डाला है, मौन का महत्व बताकर सात स्थानों पर मौन रहने का उपदेश दिया है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का भी वर्णन है, और सलेखना के स्वरूप पर भी चिन्तन किया है।

"लाटी संहिता" के छ सर्गों में धर्म के स्वरूप को बताते हुए सम्यक्त्व, उसके आठ अंग, सागार और अनगार धर्म का निरूपण करते हुए प्रत्येक व्रत का महत्त्व बताते हुए विस्तार से प्रकाश डाला है। सलेखना और ११ प्रतिमाओं का भी निरूपण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है। इस ग्रन्थ के लेखक के सम्बन्ध में विज्ञगण निश्चित नहीं कर सके हैं कि कौन है?

पूज्यपाद कृत "श्रावकाचार" एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हुए अष्ट मूलगुण, पच अणुव्रत सप्त शीलव्रत, सप्त व्यसनों के त्याग, कन्द-मूल आदि अभक्ष्य पदार्थों के त्याग, मौन धारण करना तथा पर्व दिनों में उपवास, आदि पर बल दिया गया है। इस ग्रंथ में १०३ श्लोक हैं।

पद्मनन्दि विरचित "श्रावकाचार" में केवल २१ श्लोकों में श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया है।

"व्रतसार श्रावकाचार" में २२ श्लोक हैं। इनमें बहुत ही संक्षेप में श्रावक धर्म पर चिन्तन किया है। इसके लेखक का नाम निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है।

अभ्रदेव विरचित "व्रतोद्योतन श्रावकाचार" में ५४२ श्लोक हैं। इसमें श्रावक के व्रतों के सम्बन्ध में चिन्तन करने के साथ ही रात्रि भोजन [illegible] पर

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) नियम, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सचित्त त्याग, (८) आरंभ त्याग, (९) प्रेष्य-परित्याग अथवा परिग्रह परित्याग (१०) उद्दिष्ट भक्त-त्याग, (११) श्रमणभूत ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) सचित्त त्याग, (६) रात्रिभुक्ति त्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भ त्याग, (९) परिग्रह त्याग, (१०) अनुमति त्याग (११) उद्दिष्ट त्याग ।

उद्दिष्ट त्याग क्षुल्लक और ऐलक रूप मे दो प्रकार का है । प्रथम चार प्रतिमाओ के नाम दोनो परम्पराओ मे एक समान है । सचित्त त्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा मे पाँचवाँ है और श्वेताम्बर परम्परा मे सातवाँ है । दिगम्बर परम्परा मे रात्रिभुक्ति त्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है जबकि श्वेताम्बर परम्परा मे पाँचवी प्रतिमा 'नियम' मे उसका समावेश होता है । ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा मे छठा है और दिगम्बर परम्परा मे सातवाँ है । दिगम्बर परम्परा मे 'अनुमति त्याग' का उल्लेख है, वह श्वेताम्बर परम्परा के 'उद्दिष्ट त्याग' मे समाविष्ट हो जाता है, चूँकि इस प्रतिमा मे श्रावक उद्दिष्ट भक्त न ग्रहण करने के साथ अन्य आरभ का भी समर्थन नही करता है । श्वेताम्बर परम्परा मे जो 'श्रमणभूत' प्रतिमा है, उसे ही दिगम्बर परम्परा मे 'उद्दिष्ट त्याग' प्रतिमा कहा है क्योकि इसमे श्रावक का आचार भिक्षु के समान ही होता है ।

दशाश्रुतस्कध मे जो गृहस्थ सम्यग्दर्शन युक्त है किन्तु व्रत, नियम ग्रहण नही कर पाता, तथापि जिनशासन की उन्नति के लिए सदा तत्पर रहता है और चतुर्विध सघ की भक्तिभाव से विभोर होकर सेवा करता है उस अविरत सम्यग्दृष्टि को "प्रभावक श्रावक"[५२] कहा गया है । और जो व्रतो को धारण करते है, प्रतिमाओ की आराधना करते है, वे "पचम गुणस्थानवर्ती श्रावक" कहलाते हैं ।

श्रावक सम्बन्धी साहित्य के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रावको को हम जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट इन तीन विभागो मे विभक्त कर सकते है—

"जघन्य श्रावक" वह है जिनमे तीन बाते आवश्यक है—

(१) मारने की भावना से उत्प्रेरित होकर किसी तरह से जीव हत्या नही करता है ।

(२) मद्य, मास का पूर्ण त्यागी होता है ।

---

५२ "जो अविरओवि सघे, भत्तितित्थुन्नइ सया कुणई ।
अविरयसम्मदिट्ठी, प्रभावगो सावगो सोऽवि ॥

पर वर्णन इसीलिए नही किया गया है कि उन [illegible]
नही होती है ।

ग्रन्थ का सम्पादन करते समय मुझे परम स्नेही [illegible],
पडित प्रवर मुनि श्री नेमीचन्द्रजी का हार्दिक सहयोग मिला है । [illegible]
कारण ग्रन्थ का सम्पादन कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सका है । [illegible]
साधुवाद दूँ उतना ही कम है ।

ग्रन्थ के मुद्रण आदि कार्य मे स्नेह की साक्षात [illegible] श्री श्रीचन्दजी [illegible]
'सरस' का मधुर सहयोग प्राप्त हुआ, जिसके कारण ग्रन्थ आधुनिक [illegible] के
साथ शीघ्र मुद्रित हो सका है ।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसग पर गुरुदेव श्री का
सम्पूर्ण साहित्य जो विविध विधाओ मे लिखा हुआ है, उसे सम्पादित कर प्रस्तुत
करने की मेरी योजना है और उसी योजना के प्रकाश मे 'जैन कथाएं' के ५१ भाग
"जैन धर्म मे दान एक समीक्षात्मक अध्ययन", "धर्म का कल्पवृक्ष जीवन के आगन
मे" "ज्योतिर्धर जैनाचार्य" "विमल विभूतियाँ" प्रभृति ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके । 'अभि-
नन्दन ग्रन्थ' शीघ्र ही प्रकाश्यमान है । अन्य अनेक ग्रन्थो के प्रकाशन की योजना है ।
और वह योजना भी शीघ्र ही मूर्तरूप ग्रहण करेगी ऐसी मगल मनीषा है ।

श्रद्धालु प्रबुद्ध पाठकगण प्रस्तुत ग्रन्थ से जीवन-निर्माण की पवित्र प्रेरणा
प्राप्त कर आचरण के क्षेत्र मे आगे बढेंगे ऐसी हार्दिक भावना है । मेरा दृढ आत्म-
विश्वास है कि श्रद्धेय गुरुदेवश्री का प्रस्तुत उपहार भारती के भण्डार मे वरदान
रूप मे सिद्ध होगा ।

जैन स्थानक
साहूकार पेठ
मद्रास

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

अनुक्रमणिका

✡

अध्याय १

श्रावक-धर्म-दर्शन

व्रत : एक विवेचन

1

मानव-जीवन की विशेषता

☆

भारतीय धर्मशास्त्रो मे एक स्वर से मनुष्य को ज्येष्ठ और सर्वश्रेष्ठ कहा है। इतना ही नही, इन्सान को भगवान महावीर ने 'देवाणुप्पिय' (देवो का प्यारा) कहा है। 'दुल्लहे खलु माणुसे भवे' कहकर मनुष्य जन्म की दुर्लभता बताई है।

प्रश्न होता है कि मानव-जीवन की इस ज्येष्ठता या श्रेष्ठता का मूल आधार क्या है ? कई लोग कहते है कि मनुष्य शरीर ही सबसे बडा वरदान है, इन्सान के लिए। सृष्टि के समस्त प्राणियो से अगर मनुष्य की तुलना करें तो मनुष्य जीवन की उपलब्धियाँ इतनी प्रचुर है कि वैसी उपलब्धियाँ दुनिया मे और किसी प्राणी को प्राप्त नही हैं। अन्य प्राणियो की और मनुष्यो की उपलब्धियो मे जमीन-आसमान जितना अन्तर है। पशुओ को मनुष्यो जैसे उन्नत एव उदार विचार नही मिले। पशुओ को केवल अपने ही पेट भरने और अपनी ही सुख-सुविधा की चिन्ता होती है, उसे दूसरे के दु ख का कोई विचार नही आता। किसी आदमी को भैंस सीग मारकर घायल करदे या कोई कुत्ता काट खाए तो किसी पशु को उस घायल मानव के प्रति हमदर्दी दिखाने या सहानुभूति का विचार नही आता। चार बैल पास-पास मे खडे हैं, उनमे से तीन को चारा डाला जाय और एक भूखा खडा रहे, ऐसी दशा मे उस भूखे बैल का विचार उन तीनो बैलो को नही आता, क्योकि पशु मे विचार का विकास नही होता। जबकि मनुष्य इतना विचार कर सकता है कि कौन पीडित है, कौन घायल है, कौन दु खी है ? किसको मुझे सहायता देनी चाहिए ? इसीलिए आद्य शकराचार्य ने कहा है—

'आहारनिद्रादिसमं शरीरिषु, वैशिष्ट्यमेकं हि नरे विचारणम्'

—"आहार, निद्रा आदि बातें सभी प्राणियो मे प्राय समानरूप से पायी जाती हैं, किन्तु मनुष्य मे अगर कोई विशेषता है तो विचार की है।" जो मनुष्य दूसरो को दु खी देखकर पसीजता नही, जिसकी अन्तश्चेतना मे पीडित को देखकर करुणा का झरना नही फूटता, वह मनुष्य नही, मनुष्य के रूप मे पशु है। उसके हृदय से अभी पशुता गई नही है।

पशुओ को बलपूर्वक काम मे जोत कर कोई उनसे कुछ लाभ भले ही ले ले,

वाणी के अभाव मे दूसरे जीवो को अपनी अभिव्यक्तियाँ भीतर ही भीतर दबाये रखनी पडती है, वे अपनी मनोभावनाएँ दूसरो से व्यक्त नही कर सकते। पशुओ को वह बुद्धि भी प्राप्त नही है जिससे वे अपने श्रम की तुलना मे यथोचित सुविधाएँ भी प्राप्त कर सके। पूरे दिन परिश्रम करके वे अपने पेट भरने मात्र का उपार्जन कर पाते हैं। वेचारे पशु-पक्षियो के पास आत्मरक्षा एवं शरीररक्षा के लिए भी साधन नही हैं। वे नग-धडग रहते हैं, पेड के नीचे, या फिर मालिक की इच्छा हो तो उसे सर्दियो मे कपडा ओढा दिया जाता है और घास-फूँस के छप्पर मे बाँध दिया जाता है। कसाईखानो मे प्रतिदिन लाखो की सख्या मे गाजर-मूली की तरह काटे जाते हैं। पेट भरने और जीवन भर मे दस-बारह बार कामसेवन करने की क्षणिक तृप्ति के अतिरिक्त उनके सन्तोष का और क्या साधन है? पशु-पक्षियो की तुलना मे मनुष्यो को बोलने, गाने, पढने-लिखने, पथ्यकारक स्वादिष्ट एव सुपाच्य भोजन खाने, मकान, पलग, मनोरजन, स्त्री-पुत्र-माता-पिता आदि कौटुम्बिक सम्बन्ध बाँधने आदि के विपुल साधन प्राप्त है।

इम ससार मे पुरुपार्थी, प्रतिभाशाली, धुन के धनी, विद्वान्, वलवान और धनाढ्य व्यक्तियो की कमी नही, परन्तु वे अपनी इन विशेपताओ का उपयोग अपनी भौतिक सुख-समृद्धि वढाने, वासना, तृष्णा एव अहकार की पूर्ति करने तथा ऐश-आराम को बढाने मे ही करते है, तो इसे मानवोचित रीति नही, पाशविक प्रवृत्ति कहना चाहिए। पशु अपनी ही बात सोचते और अपने लिए ही प्रवृत्ति करते हैं। यही भावना स्तर मनुष्यो का भी रहे तो उनमे और पशुओ मे अन्तर ही क्या रह जाएगा?

प्राय मनुष्य दो प्रकार का जीवन जीने का प्रयत्न करते हैं—एक सामान्य, दूसरा विशेप। सामान्य जीवन से तात्पर्य है—जैसा भी ढर्रा चल रहा है, उसे चलने देना। वह गलत हो तो भी उसमे रद्दोवदल करने की बात न सोचना, न करना। लाभ हो गया तो हर्ष से फूल उठे, हानि हो गई तो दु ख मना लिया। प्रसन्नता मिल गई तो खुश हो गए तकलीफ आ पडी तो हाय-तोवा मचाकर सह ली भोजन, आवाम, वस्त्र आदि की सुविधा हो गई तो अपने पुरुषार्थ की डीग हाँकने लगे, और इनकी असुविधा हुई तो भाग्य, भगवान्, समाज और मरकार आदि को कोस लिया और अपने मन को मना लिया। मतलव यह है कि ऐसे लोगो के जीवन का न तो कोई शुद्ध उद्देश्य होता है, न तदनुसार गति-प्रगति या सुव्यवस्था से टढा-मेढा, ऊबड-खावड, उलटा-सीधा जो भी पथ मिल गया, उसी पर चलते जाते हैं। न कभी वे अपना अन्तर्निरीक्षण-परीक्षण करते हैं, न आत्म-विकाम के वारे मे सोचते हैं।

दूमरा जीवन विशेप जीवन होता है। इमका स्वरूप होता है—एक सुनिश्चित व्यवस्था और विधि के साथ उद्देश्यपूर्ण जीवन विताना। ऐसे जीवन मे टर्रे पग चलते रहने का सतोप नही होता, देख-परखकर गलतियो और भूलो का परिमार्जन करते हुए उद्देश्य के अनुसार चलना होता है। ऐसे जीवन मे भी अनुकूल परिस्थितियाँ

मनुष्यो मे भी पाई जाती हैं। इसलिए मनुष्यो मे पशुओ से अगर कोई विशेषता है तो धर्म की ही विशेषता है। धर्म ही मनुष्य को पशु से भिन्न प्रदर्शित करता है। धर्म मर्यादाओ के पालन के कारण ही मनुष्य की अभिव्यक्ति पशु से भिन्न होती है।

जिन मनुष्यो मे धर्म-मर्यादा नही है, जो धर्म के आचरण से रहित हैं, वे पशु के समान है। उनमे और पशुओ मे कोई अन्तर नही है।

निष्कर्ष यह है कि अगर मनुष्य अपने आहार-विहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि पर कोई मर्यादा नही करता है, धर्म का अकुश नही लगाता है, और उच्छृखल ही चलता है तो वह पशु से भी गया-बीता है। धर्माचरण करने पर ही मनुष्य को पशु से भिन्न कहा जा सकता है।

जैसे मनुष्यो को पशुओ से भिन्न करने वाला धर्म है, वैसे ही देवो से मनुष्य को भिन्न करने वाला अगर कोई है तो धर्म ही। देव धर्म के विषय मे चाहे जितना सोच ले, समझ ले, ज्ञान मे भले ही आगे बढ जायँ, परन्तु धर्माचरण मे मनुष्य से बहुत पीछे है। पीछे क्या, धर्माचरण मे बिलकुल शून्य है, वे सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते है, अवधिज्ञान तक ज्ञान की दौड लगा सकते है। लेकिन त्याग, व्रत, नियम, प्रत्यारयान नही कर सकते। भला, भोगो के अवार के बीच रात-दिन रहने वाले त्याग के वातावरण से दूर, त्यागमूर्ति साधु-साध्वियो या तीर्थंकरो से अतिदूर देव कैसे त्याग-प्रत्याख्यान कर सकते है? वे त्याग, तप, व्रत, नियम से युक्त धर्मप्राण मानवे की प्रशसा कर सकते हैं, उसे प्रतिष्ठा दे सकते है, उसे धर्म मे सहायता दे सकते है, उसकी सेवा कर सकते है, पर स्वय त्याग, व्रत आदि ग्रहण नही कर सकते।

तात्पर्य यह है कि पशुओ, पक्षियो तथा देवो से भी बढकर मानव-जीवन है। इसी श्रेष्ठता के कारण मानव ससार का सर्वोत्कृष्ट प्राणी सिद्ध होता है। मनुष्य को अज्ञानान्धकार से निकलकर मोहनिद्रा का त्याग करना चाहिए और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उत्तमोत्तम बनकर, उत्तम कर्तव्य द्वारा सर्वोत्तम परमपद पाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। अपनी विशेपता साबित करने के लिए अपना प्रत्येक विचार, वचन और कार्य धर्माचरण से युक्त, धर्ममर्यादा मे अनुप्राणित करना चाहिए।

परन्तु इसके पहले मानव को अपनी श्रेष्ठता के विषय मे जो भ्रान्तियाँ हैं, उन्हे दूर करना चाहिए। श्रेष्ठता का अहकार भी उसके मन मे नही होना चाहिए। अन्यथा श्रेष्ठता का मद भी जाति, कुल आदि के मद की तरह पतन का कारण बन जाएगा। श्रेष्ठता की रक्षा के लिए उसे धर्मपालन करते हुए सच्चा मनुष्य बनना चाहिए। श्रेष्ठता के दायित्व को निभाने के लिए उसे ससार को स्वर्गोपम सुख-शान्ति का भडार बनाने का पुरुपार्थ करना चाहिए। अत मनुष्य को सर्वप्रथम अपनी श्रेष्ठता का वास्तविक स्वरूप समझने का प्रयास करना चाहिए।

बुद्धि मे बढकर होने से ही श्रेष्ठ नहीं

प्रश्न होता है कि क्या मनुष्य दूसरे प्राणियो की अपेक्षा बुद्धि मे बढकर होने

से ही श्रेष्ठ है ? अपनी प्रखर बुद्धि द्वारा विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने अगणित सुख-सुविधाएँ प्राप्त कर ली है। स्विच दबाते ही कमरा प्रकाश से जगमगा उठता है, पखा फरफर करता हुआ हवा करने लगता है, नल खोलते ही गगा-जमुना आपके चरण-प्रक्षालन के लिए तैयार हो जाती है। धरती पर चलना हो, आकाश मे उडना हो या पानी पर तैरकर चलना हो तो मनुष्य को अपने पैरो को तकलीफ देने की आवश्यकता नही पडती। रसोई बनाने, कपडे धोने, सफाई करने आदि प्रत्येक कार्य के लिए विविध वैज्ञानिक यत्र मनुष्य की सेवा मे उपस्थित रहते हैं। मनुष्य को हाथ-पैर हिलाने की जरूरत नही। परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि इतना सब होते हुए भी जब तक मनुष्य अपनी बुद्धि से कभी यह विचार नही करता कि ससार मे अशान्ति और दु ख क्यो है ? इन दु खो और अशान्ति को दूर करने के लिए मैं क्या कर सकता हूँ ? तब तक मानव को बुद्धि से श्रेष्ठ नही माना जा सकता।

यदि बुद्धिवैभव पाने मात्र से ही मनुष्य को ज्येष्ठ या श्रेष्ठ कहा जाय, तब तो वे वैज्ञानिक, जिन्होने अणुबम बनाए और हिरोशिमा एव नागासाकी पर गिराकर दोनो नगरो के धन-जन को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, वे प्राणी हत्या करने वाले मानव भी श्रेष्ठ ज्येष्ठ कहलाने लगेंगे।

आइस्टाइन एक बहुत बडे वैज्ञानिक हो गए हैं। उनके पास एक बार कुछ पत्र प्रतिनिधि आए और उन्होने उनसे पूछा—"विज्ञानाचार्य ! आप इतने बडे विद्वान् और बुद्धिनिधान हैं, क्या हमे यह बतायेंगे कि ससार मे इतने दु:ख हैं, इतनी अशान्ति है, उसे दूर करने का कोई उपाय है ?"

आइस्टाइन बोले—"हाँ है, और वह केवल एक ही उपाय है कि श्रेष्ठ मनुष्य उत्पन्न किये जाएँ।"

इतने महान् वैज्ञानिक और बुद्धि के धनी ने यह नही कहा कि विज्ञान के अमुक आविष्कारो से सुख-शान्ति हो जाएगी। इसीलिए कि कोरे वैज्ञानिक आविष्कारो या विज्ञान से प्राप्त साधनो से ही सुख मिल जाता तो दुनिया मे आज इतने सघर्ष क्यो होते ? धर्म-सम्प्रदाय, जाति, वर्ग, प्रान्त और राष्ट्र के नाम पर मानव मानव पर कहर क्यो बरसाता ? बल्कि वैज्ञानिक आविष्कारो के बाद मानव उत्तरोत्तर अशान्त और दु खी होता चला गया है। अगर मानव कोरी बुद्धि से ही श्रेष्ठ माना जाता तो ससार मे इतनी पीडा, कलह और दु ख क्यो होते ?

बुद्धि वैभव होते हुए भी विश्व दु खी क्यो ?

वर्तमान विश्व पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमारे सामने मानव जाति का चित्र बहुत ही विचित्र रूप मे आता है। वर्तमान मानव प्राय उच्छृखल, उद्दण्ड, सयमहीन, स्वच्छन्द एव अनियन्त्रित हो गया है। पाश्चात्य देशो के सम्पर्क से भारत-वर्ष जैसे आध्यात्मिक देश मे भी अब पद-पद पर इसी प्रकार की उच्छृखलता, अनु-शासनहीनता, स्वच्छन्दता और सयम नियम के बन्धनो से रहित अनियन्त्रितता एव

अनियमितता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ भी युवक-युवतियो मे पश्चिम की-सी खुली छूट का दौर नजर आता है। क्या रात्रि और क्या दिन कोई अकुश नही, कोई लगाम नही, कोई खटका नही और कोई नकेल नही। मनुष्य आज मृग की तरह बेतहाशा भोगवाद की ओर भागा जा रहा है। इतना सब होने पर भी मनुष्य की भोग-वासना की प्यास बुझी नही है। वह चाहता है, ससार की जितनी भी अच्छी चीजें मिल जायें उनका उपभोग कर लूं। जगत् मे जो भी दुर्व्यसन कहे जा सकते हैं, उनका खुले आम सेवन कर लूं, विश्व के सभी खाद्य और पेय पदार्थों का आस्वादन कर लूं। जितनी भी धोखेबाजी, बेईमानी, चार-सौबीसी, झूठ-फरेब, जालसाजी, शोषण, अन्याय-अनीति हो सकती हो, उतनी करके एक मात्र धन कमा लूं, और फिर उस धन से जितने भी ऊँची से ऊँची सुख की सामग्री, सुविधाओ की चीजें प्राप्त की जा सकें, कर लूं। और चाहे जितनी सूक्ष्महिंसा, शोषण, पीडन, अत्याचार एव अन्याय के रूप मे हो सके, करके भी अपनी प्रभुता, अपनी सत्ता एव अपना आधिपत्य जमाया जा सके, जमा लूं, वस्तुएँ भी ढेर की ढेर सग्रह कर सकूं, उतनी कर लूं, धन भी खूब जमा कर लूं, मकान भी जितने बना सकूं, बना लूं। आखिर यह धन, ये साधन, यह सुख-सामग्री, यह ठाटबाट किस काम का ? इस प्रकार मानव आज भौतिक दिशा मे अधाधुन्ध प्रवृत्ति करता जा रहा है। उसे अवकाश नही है, अपनी आत्मा के सम्बन्ध मे सोचने का। उसे फुरसत नही है, किसी सन्त की बात सुनने और सयम-नियम की बात स्वीकार करने की। और न ही वह आत्म-शक्तियो की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे सोचता है।

अगर बुद्धि के कारण ही मनुष्य ज्येष्ठ-श्रेष्ठ समझा जाता, तो इतना बुद्धि वैभव होते हुए भी वह जगत् को लड-झगडकर अशान्त और दु खमय क्यो बनाता ?

आइन्स्टाइन की भाँति वैज्ञानिक तो नही, किन्तु विज्ञान के एक भक्त थे—मैक्सिम गोर्की। एक जगह भाषण देते हुए उन्होने कहा था—"देखिए ! विज्ञान ने कितने सुखसाधन उत्पन्न कर दिये हैं। पहले एक दीपक जलाने के लिए कितना परिश्रम करना पडता था ? अब सिर्फ बटन दबाने से प्रकाश हो जाता है। महीनो की यात्रा घटो मे और घटो की यात्रा मिनटो मे होने लगी है।" इस प्रकार की और कितनी ही बातें उन्होने बताईं, तभी एक ग्रामीण ने उठकर कहा—"श्रीमान् जी ! यह सब कुछ सच है, लेकिन क्या विज्ञान ने मनुष्य को मनुष्य बनना भी सिखाया है ?'

गोर्की इसका उत्तर न दे सके। विज्ञान ने मनुष्य को मनुष्य बनना सिखाया होता तो ये लडाई-झगडे, दगे-फसाद, युद्ध, लूटपाट, झूठ-फरेब, घृणा, अशान्ति और नाना दु ख न होते। आज विभिन्न राष्ट्रो, जातियो, वर्गों, प्रान्तो तथा धर्म-सम्प्रदायो के लोगो मे प्राय यह होड लग रही है कि कौन दूसरे को दबा सकता है ? कौन दूसरे पर आधिपत्य जमा सकता है ? कौन बाहरी प्रतिस्पर्धा और विज्ञापन मे दूसरे से बाजी मार सकता है ? कौन अपने झण्डे को सबसे ऊँचा फहरा सकता है ? काश ! ये प्रतिस्पर्द्धाएँ या होड मानवता और चरित्र-निर्माण द्वारा विश्व शान्ति स्थापित

प्राय काम करती रही । इन्सानियत का पाठ पढाया होता तो हिन्दुस्तान आपस मे लडकर विदेशी शासको का गुलाम न बनता, विदेशी लोगो की हुकूमत इस पर न होती । जाति-पाँति के भूत ने तो भारत को आपस मे लडा कर कमजोर कर दिया ।

कुछ वर्षो पहले की बात है । केरल मे हिन्दू लोग आपस मे बँटे हुए थे । उनके हृदय मे एक-दूसरे के प्रति मेल-मिलाप की नही, घृणा और परायेपन की भावना थी । वहाँ नम्बूदरी, अय्यर, नायर, तैय्या और न्याडी ये पांच जातियां प्रमुख है । इन्हें एक-दूसरे से बात करनी हो तो सीधे बातचीत नही होती । इन जातियों की कुरूढि यह थी कि यदि कोई नम्बूदरी ब्राह्मण सडक पर जा रहा हो और उसे न्याडी से कोई बात करनी हो तो दोनो मे से कोई भी सीधी बातचीत नहीं कर सकता तथा कोई सीधा उत्तर भी नहीं दे सकता । दोनो अपने बीच मे कोई ईंट पत्थर या मिट्टी का ढेला अथवा और कुछ न मिले तो नम्बूदरी अपना जूता ही रख देता है और उस जूते से पूछता है—"क्यों रे जूते ! तूने मेरे बच्चे का स्कूल जाते हुए देखा है ?" और न्याडी हाथ जोडकर उत्तर देता है—"हां, जनाबजी ! मैने आपके लडके को स्कूल जाते देखा है ।" जहां इस प्रकार से परस्पर घृणा और द्वेष भावना जातियों मे परस्पर भरी हो, वहाँ मानवता आठ-आठ आँसू रोयगी नही तो क्या करेगी ?

सम्प्रदाय भी इन्सान को मानवता का पाठ नहीं पढाते

धर्म-सम्प्रदाय भी मानवता से दूर हटते चले जा रहे हैं । हिन्दुस्तान-पाकिस्तान विभाजन के समय हिन्दू-मुसलमानों ने अपने-अपने क्षेत्रों मे एक-दूसरे के [illegible] की होली खेली है । औरंगजेब ने हिन्दुओं और सिक्खों को जबरन मुसलमान बनाने का निर्णय किया । क्या यह मानवता थी ? केवल मजहबी दीवानेपन के सिवाय और क्या था ?

इसलिए भाइयो, धर्म-सम्प्रदायों का [illegible] का काम [illegible] मनुष्य को मनुष्य बनावें । [illegible]

आन्तरिक है। उसकी आत्म-शक्तियो की अभिव्यक्ति गुणविकास पर अवलम्बित है। आन्तरिक सम्पदाओ के आधार पर ही उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित होती है। भौतिक सम्पदाएँ तुच्छ है, नगण्य है, अल्पकाल तक महानता या बड़प्पन का क्षणिक आभास बताकर वे नष्ट हो जाती हैं।

व्यक्तिगत जीवन मे भी कोई व्यक्ति कितना ही स्वस्थ, रूपवान, विद्वान्, धनवान एव सत्तासम्पन्न क्यो न हो जाय, उससे केवल भौतिक सुख-सुविधाएँ ही उसे मिल सकती हैं, और उनका रस भी तभी तक रहता है, जब तक आकाक्षा एव अतृप्ति बनी रहती है। जहाँ सदा-सर्वदा सुस्वादु व्यजन पड़े रहते हो या मिल जाते हो, वहाँ उसे इन उपलब्धियो मे क्या आनन्द मिलेगा ? वे स्वादिष्ट भोजन भी उसे नीरस एव भाररूप प्रतीत होगे। सन्तानें अधिक होने पर व्यक्ति को नये बच्चे का पैदा होना बुरा लगता है। धन का अभाव न हो, अन्धाधुध पैसा बढ जाय तो उसकी सुरक्षा, ऐयाशी, विद्वेष, दुर्व्यसनो मे व्यय, पतन आदि की अनेक हानिकर समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। अतिसौन्दर्य एव बढा हुआ स्वास्थ्य भी चारित्रिक पतन या अहकार उत्पन्न करता है।

जीवन की सुन्दरता बाह्य वैभव मे नही आन्तरिक वैभव मे है

ऊँची कोठी, सुसज्जित कमरे, सुन्दर वस्त्र, धन से छनाछन करती तिजोरियाँ और रगरूप से भरी मदमाती रगरेलियाँ भले ही दूसरो के लिये आपके जीवन को आकर्षक बना दें, किन्तु ये उपकरण स्वय आप के लिए जीवन की सुन्दरता का सृजन नही कर सकते।

जीवन की सुन्दरता बाहरी चमकदमक या वैभव की झकार मे नही, मनुष्य के आन्तरिक जगत् मे हुआ करती हैं। जिसके जीवन मे जितनी अधिक सात्त्विकता, आत्मशक्तियो का विकास, एव गुणो की प्रचुरता होगी, उसका जीवन उतना ही प्रसन्न, सुन्दर एव आत्मिक स्वास्थ्य का द्योतक होगा। जो व्यक्ति विचार-विवेक से शून्य है, व्यभिचारी है, तृष्णाओ से घिरा है, अनेक अवगुणो एव दुर्व्यसनो से घिरा है, वह कितना ही धनवान्, विद्वान, बुद्धिमान, सत्तावान या शान-शौकत से एव सुन्दर शरीर तथा उच्चस्तरीय रहन-सहन से परिपूर्ण क्यो न हो, सुन्दर जीवन की परिधि मे नही आ सकता। इसके विपरीत जो व्यक्ति सामान्य स्थिति का है, गरीब है, अधिक रूपसम्पन्न भी नही है, फिर भी यदि वह सात्त्विकता, गुणो की प्रचुरता एव आत्मिक शक्तियो के विकास से युक्त है, सभ्य, शिष्ट एव शान्त है, तो उसे अधिक सुन्दर जीवन से सम्पन्न कहा जा सकता है।

मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ?

यह कितने दुःख की बात है कि आज ससार मे अधिकाश लोग खाना, कमाना, विवाह कर लेना, सन्तान पैदा करके उसका पालन-पोषण करना, अपने शरीर को अच्छे वस्त्राभूषणो से सजाना, अच्छे साधनो से अपने घर को सुसज्जित करना, मेक-

अप करके स्वय को अच्छा दिखाना, अपने धन-वैभव का प्रदर्शन करके प्रसिद्धि पा लेना, अपनी दूकान अच्छी जमा लेना, व्यापार-धधा धडल्ले से चलाना, यो किसी तरह से जिदगी के दिन पूरे कर लेना और एक दिन इस ससार से कूच कर जाना ही मानव-जीवन का उद्देश्य समझते है। वे इसी तुच्छ एव अवास्तविक जीवन-प्रयोजन की पूर्ति के लिए रात-दिन इसी हाय-हाय मे पडे रहते है। क्या इसी तुच्छ प्रयोजन के लिए ही उसे इतना उन्नत शरीर, सर्वोत्तम विचारशील मन, तथा भावाभिव्यक्ति के लिए ओजस्वी वचन एव बहुमूल्य, देवदुर्लभ तथा सर्वशक्ति-सम्पन्न मानव-जीवन मिला है? अगर केवल खाना-पीना, कमाना और जैसे तैसे जिंदगी पूरी कर लेना ही मानव जीवन का उद्देश्य होता तो उसमे और पशुपक्षियो मे कोई अन्तर न होता। कीट-पतग, या पशु-पक्षी भी तो यही करते है। कीडे-मकोडे भी खाते पीते, सोते और बच्चे पैदा करते है। पशु-पक्षियो को भी आहार, निवास आदि का प्रबन्ध करना पडता है। वे भी जन्म लेते है, खाते पीते है, जीवनयापन के साधनो को अपनी स्वल्प बुद्धि और क्षमता से किसी भी प्रकार पूरे कर लेते है, और एक दिन मर जाते है। अगर मानव-जीवन का उद्देश्य इतना ही रहा होता तो गोस्वामी तुलसीदास जी न कहते—

> बडे भाग मानुस तन पावा। सुरदुर्लभ ग्रन्थ कोटिन्ह गावा।

उपनिषद् बार-बार पुकार-पुकार कर न कहते—

> "गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि, नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्।"

—'यह गोपनीय तत्त्व तुम्हे कहता हूँ कि मनुष्य जीवन से श्रेष्ठ कोई जीवन नही है।'

मानव-जीवन का अगर इतना ही उद्देश्य होता तो मानव को इतना बुद्धि-वैभव, विवेक या असीम क्षमताएँ प्राप्त न होती, न ही इसे ८४ लाख योनियो मे सर्वश्रेष्ठ योनि कोई शास्त्र कहता, न ही मोक्ष का द्वार इसके लिए खुला रहता। ऐसे तुच्छ जीवनोद्देश्य के होने पर मानव प्रगति, उन्नति, एव विकास की भावना से शून्य होता, ज्ञान गौरव एव आत्म-अस्तित्व या आत्म-विकास की जिज्ञासा उसमे न होती। मानव-जीवन की विलक्षणता तथा मनुष्य के भीतर रही हुई अद्भुत शक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि मानव-जीवन पशुओ की तरह खाने-पीने, किसी तरह जीने और मर जाने के लिए ही नही मिला है। ये सब प्रक्रियाएँ तो जीवन पाने और उसे बनाये रखने के साधन—उपाय है, जीवन का मुख्य उद्देश्य नही। इतनी प्रतिभा और सुविधा मिलने पर भी यदि मानव यदि अपने और अपने से सम्बन्धित व्यक्तियो का जीवन निर्वाह करना ही जीवन लक्ष्य समझता है तो कहना चाहिए उसने अपनी कोई विशेषता सिद्ध नही की।

यह कम खेद का विषय नही है कि वर्तमान युग का मनुष्य प्राय धन कमाना, घर बनवाना, धधा करना या नौकरी करना आदि के सम्बन्ध मे तो इतनी चिन्ता और जिज्ञासा करता है, किन्तु मानव-जीवन और उसके प्रयोजन के सम्बन्ध मे

जानने की, अथवा अपनी आत्मा को सद्‌गुणो से सजाने या आत्मा के असीम वैभव को अभिव्यक्त करने तथा आत्मविकास की सभावनाओ पर सोचने की जरा भी चिन्ता नही है जो कि उसके जीवन का वास्तविक प्रयोजन है।

वास्तव मे देखा जाय तो मनुष्य शरीर व मानव-जीवन जैसा अलभ्य अवसर पाकर भी यदि इसका उद्देश्य नही जाना गया और आत्म-कल्याण की साधना जीवन मे नही की गई तो फिर ऐसा सुरदुर्लभ अवसर मिलना दुष्कर है। श्रीमद्‌भागवत मे बताया है[1]—

मुक्ति के खुले द्वार की तरह जो मनुष्य शरीर को पाकर भी पक्षियो की तरह गार्हस्थ्य के सासारिक या भौतिक घेरो मे बन्द है, उसे उद्देश्य पाने के लिए आरूढ होकर भी उससे भ्रष्ट हुआ समझना चाहिए।

जिसके जीवन का कोई उद्देश्य नही, खाने-कमाने आदि भौतिक साधनो की प्राप्ति तक ही जिसकी गतिविधियाँ सीमित हैं, उस जीवन को बिना पतवार के जहाज की तरह समझना चाहिए, जो हवा के झोको के साथ कही भी, किधर भी भटकता रह सकता है। ऐसा जहाज पानी मे जब तक गतिशीलता पैदा न हो, तब तक किनारे पर एक ही कोने मे पडा रहता है, पर ज्योही कोई तेज आधी या तूफान आ जाता है तो उसका किधर भी चल पडना सभव है और किसी भी विकट परिस्थिति मे फँसकर दुर्घटनाग्रस्त हो जाना भी आसान है। ऐसा जहाज किसी नियत स्थान पर पहुँच सकेगा, इसकी आशा भी रखना निरर्थक है। अत जहाज को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाने के लिए आवश्यक होता है कि बुद्धिमान् मल्लाह नियुक्त हो और चलाने के उपकरण डाड, पतवार आदि सुनियोजित रूप से काम करें। यही बात मानव शरीररूपी नौका और मानवरूपी मल्लाह के बारे मे कही जा सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र मे केशी-गौतम सवाद मे इसका सुन्दर निरूपण किया गया है[2]—

—यह ससाररूपी समुद्र है, इसमे मानव शरीर को जहाज कहा गया है। कुशल मानव इसका मल्लाह है, जो ससार सागर मे उठते हुए भय, प्रलोभन, भ्रम, छलछद्‌म, क्रोध, अभिमान, कपट, लोभरूपी अनेक तूफानो और झझावातो से बचाकर विवेकपूर्वक सकुशल ससार सागर को पार कर जाता है।

इससे दिन के उजाले की तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य ससार समुद्र को पार करके उस पूर्णता, मुक्ति या परमात्मतत्त्व अथवा सिद्धत्व

---

१ य प्राप्य मानुष देह मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युत विदु ॥ —११।६।७४

२ "सरीरमाहु नावित्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो ॥"

यता जितनी अधिक व्यापक होगी, वह उतना ही अधिक महान होगा, उसमे धर्म के तत्त्व उतनी ही अधिक मात्रा मे उतरेंगे।

प्रश्न होता है मानव के साथ शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि लगी हुई है। फिर गृहस्थ जीवन मे परिवार, जाति, समाज, धर्मसघ, प्रान्त और राष्ट्र आदि के प्रति अनेकानेक कर्तव्यो से वह बधा हुआ है। गृहस्थ को व्यापार धधा भी करना होगा, धन भी कमाना होगा, शरीर की तथा परिवार की आवश्यकताओ की पूर्ति भी करनी होगी, इन सब कर्तव्यो को पूर्ण करने मे वह पूरा आत्म-दृष्टि कैसे रख सकेगा ? न ही वह इन कार्यों को छोड सकेगा। इसीलिए तो धर्माचरण की बात कही कि मनुष्य इन सब आवश्यक कार्यो को करे, पर धर्म-मर्यादा मे रहकर करे। मनुष्य धर्ममर्यादा मे रहकर ही सच्चा मानव बना रह सकता है। धर्म-मर्यादा का विवेक छोडा कि वह या तो पशुत्व की ओर झुक जाएगा, या वह राक्षसत्व की ओर चला जाएगा।

धर्ममय जीवन के लिए मानव तन के साथ मन को जोड़े

धर्म-मर्यादा मे जीवन को चलाने के लिए मनुष्य को मानव-तन के साथ मानव-मन को जोडे रखना चाहिए। जिसे भी मानव-तन के साथ मानवीय अन्त करण जब भी मिल जाता है, तब उसके जीवन का हर पहलू आनन्द और उल्लास से खिल उठता है। चन्दन के वृक्ष की तरह वह अपनी सुगन्ध सारे क्षेत्र मे फैला देता है। मानवीय मन से युक्त व्यक्ति सृष्टि के कण-कण मे आनन्द का स्रोत उद्भूत होते देखता है, पग-पग पर ससार को स्वर्गोपम बनाने का स्वप्न देखता है, सारे ससार को वह अपना आत्मीय समझता है। जबकि साधारण नरदेहधारी मनुष्य पाशविक वृत्ति, प्रवृत्ति और दृष्टि रखने के कारण पद-पद पर स्वार्थ, सकीर्णता, द्वेष, क्लेश, स्वत्वमोह, काम-मोह, वैर-विरोध, घृणा आदि के कारण स्वय शोक, सन्ताप, क्षोभ, असन्तोष एव त्रास से घिरा रहता है, और दूसरो को भी त्रस्त, दु खित और पीडित करता रहता है। इसका कारण है—मानव-तन तो मिला, पर मानव-मन के बदले पाशविक मन या राक्षसी मन मिला।

इसीलिए एक सहृदय कवि ने मानवतन मे मानवमन की याचना करते हुए कहा है—

> जय जय जय मानवता माता
> मानवतन मे, मानवमन दे, जो सुख शान्ति विधाता ॥ ध्रुव ॥
> मन की पशुता दूर हटाएं, सयम और विवेक बढाएँ।
> सबके हित मे अपना हित हो, जुडे सभी से नाता ॥ जय ॥ १ ॥

सचमुच कवि की कितनी अन्तर्वेदना मानवतन मे प्रविष्ट पशुमन को हटाने और मानवमन को लाने की है ! क्योकि मानवीय अन्त करण आने पर ही मानव सारे जगत् को व्यापक दृष्टि से देखने लगेगा, सारा जगत् उसे अपना प्रतीत होगा, व्यवस्था

की दृष्टि से भौगोलिक या राजकीय सीमा सूचक भेद रहेंगे, पर मन में सबके साथ अभेद, मैत्री या वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना होगी, ऐसी दशा में धर्म के विभिन्न अंगों का पालन सहजभाव से हो सकेगा। धर्माचरण उसके जीवन का अंग बन जाएगा। धर्म ही एक ऐसा माध्यम है, जो मानव को पूर्णता के शिखर पर क्रमशः ले जा सकता है। परन्तु पूर्णता के शिखर पर पहुँचने के लिए धर्मपालन का पद-पद पर जागृतिपूर्वक पुरुषार्थ करना होगा। तभी मानव-जीवन की श्रेष्ठता, ज्येष्ठता और विशेषता सिद्ध होगी। आप भी इसी पथ पर चलकर मानव-जीवन की श्रेष्ठता और विशेषता को सिद्ध करिए, सफलता आपके चरण चूमेगी। ☆

2

व्रत-ग्रहण : स्वरूप और विश्लेषण

☆

मानव जीवन एक प्रश्न

प्रात काल सूर्य के उदय होते ही जिन्दगी का एक नया दिन शुरू होता है और सूर्यास्त होने तक वह दिन समाप्त हो जाता है। इस तरह प्रतिदिन आयु मे से एक-एक दिन घटता जाता है। जन्म लेने के बाद से ही आयु क्षय का यह क्रम प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु अनेक प्रकार के कार्यभार से बढे हुए विभिन्न क्रिया-कलापो मे लगे रहने के कारण इस व्यतीत हुए समय का पता नही लगता। ऐसे अवसर प्राय प्रतिदिन आते हैं, जब मनुष्य किसी न किसी जीव का जन्म, मृत्यु, बुढापा, विपत्ति, रोग और शोक के कारुणिक एव विचारप्रेरक दृश्य देखता है, किन्तु कितना मदान्ध, अविवेकी और कामनाओ से ग्रस्त है इस धरती का मानव, कि वह यह सब कुछ आँखो से देखते हुए भी विवेक और विचार की आँखो से अधा ही बना हुआ है। मोह और सासारिक प्रमाद मे लिप्त मनुष्य घडी भर एकान्त मे बैठकर इतना भी नही सोचता कि इस कौतुहलपूर्ण नरतनु मे जन्म लेने का उद्देश्य क्या है ? हम कौन हैं ? कहाँ से आए हैं ? और कहाँ जाना है ? किस दिशा मे गति कर रहे है ? श्रीमद् रायचन्दजी के शब्दो मे कहूँ तो—

> हूँ कोण छु क्या थी थयो ? शु स्वरूप छे मारु खरू ?
> कोना सम्बन्धे वलगणा छे, राखु के ए परिहरू ?

मानव के सामने जीवन के ये प्रश्न चिह्न हैं—मैं कौन हूँ, कहाँ से मैं मानव हुआ ? मेरा असली स्वरूप क्या है ? मेरा सम्बन्ध किसके साथ है ? इस सम्बन्ध को मुझे रखना है या छोडना है ?

मानव-जीवन परीक्षा के लिए

चौरासी लाख जीव-योनियो मे परिभ्रमण करने के बाद मनुष्य को अतिदुर्लभ मानव-जीवन मिला है। यह अवसर उसे अपनी जीवन यात्रा की परीक्षा देने के लिए मिला है। विद्यार्थी को सालभर पढाई करने के बाद उसकी परीक्षा देनी पडती है और यह सिद्ध करना पडता है कि उसने पढाई मे पूरा श्रम किया है। यह प्रमाणित कर देने पर उसे उत्तीर्ण होने का सम्मान मिलता है और उसका लाभ भी। किन्तु

दिखाई देता है, तब मन मे भारी पश्चात्ताप, घोर सताप और अशान्ति होती है, पर अब क्या हो सकता है, जब चिडिया चुग गई खेत ! सौदा बिक गया, अब कीमत लगाने से क्या फायदा ?

सदीप्ते भवने तु कूपखनन, प्रत्युद्यम कीदृश ?

महल जल कर खाक हो जाने पर कुँआ खोदने का उद्यम करना कितना हास्यास्पद होता है ?

इसीलिए भगवान् महावीर ने मनुष्यो को सावधान करते हुए कहा—

जरा जाव न पीडेई, वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायति, ताव धम्म समायरे ॥

जब तक बुढापा आकर पीडित नही कर लेता, जब तक शरीर मे किसी प्रकार की व्याधि नही बढे, और जब तक इन्द्रिया क्षीण न हो, तब तक धर्माचरण कर लो । ये तीनो आ जाएँगे तो फिर धर्माचरण होना कठिन है ।

अन्तिम समय मे विशाल वैभव, अपार धनधान्य राशि, अथवा पुत्रकलत्रादि कोई भी साथ नही देता । यह सारा ससार यहां की परिस्थितिया ज्यो की त्यो दिखाई देती है, मगर उस समय वे सब उपयोग से बाहर होती है । अपना शरीर भी उस समय सहायक नही होता । केवल अपने अच्छे-बुरे सस्कारो (पुण्य-पापकर्मो) का बोझ लादे हुए जीव परवश यहां से उठ जाता है । एकमात्र धर्म ही मनुष्य का साथी बनता है अन्तिम समय मे । अगर अपने जीवन मे धर्माचरण किया हो तो उसके कारण अन्तिम समय मे मनुष्य प्रसन्नता से सन्तुष्ट होकर इस ससार से विदा होता है ।

धर्मपालन के लिए व्रतग्रहण आवश्यक

आप उसमे बैठना चाहेगे ? या ऐसी मोटर साइकिल या साइकिल देना चाहे, जिसके ब्रेक न हो तो आप उसे लेना स्वीकार करेंगे ? कदापि नही। और न ही आप ऐसी सवारी पर बैठना पसन्द करेंगे, जिसके लगाम या नकेल न हो। क्यो ? क्योकि विना ब्रेक की कार, मोटर साइकिल या साइकिल, अथवा विना नकेल या लगाम की ऊँट, घोडा आदि की सवारी किसी भी समय एक्सीडेंट (दुर्घटना) कर सकती है, जीवन को खतरे मे डाल सकती है। इसी प्रकार व्रत विहीन जीवन विना ब्रेक की कार, मोटर साइकिल, या साइकिल, अथवा विना नकेल या लगाम की सवारी के समान खतरनाक है, कभी भी जीवन को पतन के खड्डे मे डाल सकती है। इस दृष्टि से व्रत मानव-जीवन के लिए ब्रेक है, लगाम है या नकेल है, जिससे मानव अपने जीवन मे घटित होने वाले अनेक खतरो, विनाशकारी क्षणो, पतनकारी घडियो से बच सकता है, अपने आपको सुरक्षित एव निरापद रख सकता है।

व्रत स्वय स्वीकृत मर्यादा

व्रत मानव-जीवन को स्वय नियन्त्रित करने वाली, स्वेच्छा से स्वीकृत मर्यादा है, जिसमे रहकर मानव अपने आपको पशुता, दानवता, उच्छृखलता, पतन, आत्म-विकास मे अवरोध, असयम आदि से रोक सकता है।

व्रत धर्मपालन का चौका

वास्तव मे व्रत धर्मपालन करने का चौका है। ब्राह्मण वर्ग तो खानपान के लिए रूढिपरम्परावश चौका लगाते है, उस चौके मे तो बिल्ली चूहा आदि घुस सकते है, मास-मदिरा आदि अभक्ष्य वस्तुएँ भी प्रविष्ट हो सकती है, परन्तु व्रत के चौके मे मनुष्य स्वेच्छा से अगीकृत यम-नियमो से विपरीत वस्तुओ, भावो और व्यवहारो को नही घुसने दे सकता। वह चौकन्ना और सतर्क होकर रहता है कि मेरे व्रत के चौके मे कोई भी दोष घुसने न पाए। व्रतस्थ गृहस्थ अपने स्वीकृत व्रतो के चौके की मर्यादा का अतिक्रमण या अतिचरण नही करना चाहता। कदाचित् अन-जाने मे या लाचारी से किसी मर्यादा का अतिक्रमण हो जाता है तो वह उसके प्रति उपेक्षा नही करता, शीघ्र ही पश्चात्तापपूर्वक प्रायश्चित्त या आलोचना आदि से उसकी शुद्धि कर लेता है। वह अपने व्रत के चौके को शुद्ध रखता है।

व्रत आत्मानुशासन

सकता तो समाज, राष्ट्र और विश्व को कैसे बचाया जा सकता है? जैसे दो तटों के बीच मे बहने वाली नदी निर्विघ्नतापूर्वक समुद्र तक पहुँच जाती है, वैसे ही यम-नियम रूप व्रतो के अनुशासन मे चलने वाली आत्मारूपी सरिता परमात्म सिन्धु तक निर्विघ्न पहुँच जाती है। व्रत स्वेच्छा से ग्रहण करने के कारण आत्मानुशासन है। ये जीवन और जगत् मे सुव्यवस्था पैदा करते है। जगत् का विकास, सुरक्षा और प्रगति अनुशासन पर निर्भर है और व्रत जीवन मे अनुशासन पैदा करते है। सूर्य और चन्द्रमा स्वय नियमबद्ध है। वे अनुशासन मे रहते है, नियमानुसार समय पर उदय और अस्त होते है। यदि ये अनुशासन मे न रहे तो बहुत गड़बड़ हो जाए। क्योकि इनसे ससार का कालनिर्णय होता है, और इन्ही से पचागो की रचना की जाती है। इन्होने जगत् मे अपनी ऐसी साख जमा दी है कि ये नियमानुसार उदय और अस्त होते है, इसी से लोग अपने को सुरक्षित पाते है। मूलगत बन्धन के बिना जैसे झाड़ू के तिनके एक-एक करके बिखर जाते है, वैसे ही अनुशासन की शृंखला के बिना सामाजिक जीवन की कड़िया भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। गाड़ी भी अनुशासन से चलती है तभी ठीक समय देती है। यदि रेलगाड़ी पटरियो पर न चलकर अनुशासन से हटकर चल पड़े तो स्वय भी नष्ट होती है और उसमे बैठे हुए यात्री भी मारे जाते है। इसलिए मानव-जीवन मे अथ से इति तक अनुशासन पर चलने की जरूरत है, जो व्रत ग्रहण से ही आ सकती है।

आध्यात्मिक जीवन की नींव व्रत

व्रत एक प्रकार से आध्यात्मिक जीवन की नीव है। बिना नीव का महल चाहे ऊपर से कितना ही सुन्दर, सुदृढ हो, काफी ऊंचा भी हो, वह चिरस्थायी नही होता, इसी प्रकार आध्यात्मिक नीव से रहित जीवन भी सुख-शान्ति, सुव्यवस्था एव सुरक्षा मे स्थायित्व नही ला सकता। अगर आप कोई कीमती रत्न कमा कर लाएँ और आपके घर मे चोर आदि का भय हो तो घर मे रखे हुए रत्न की सुरक्षा के लिए क्या घर के किवाड नही लगाते? अवश्य लगाते हैं। इसी प्रकार आत्मधर्म की सुरक्षा के लिए, जीवन मे अव्रत और प्रमाद रूपी चोर न घुस जाएँ, इस दृष्टि से व्रतरूपी किवाड लगाना ही चाहिए। व्रत लेकर आप सीमा बॅध लेते है।

व्रत का अर्थ स्वय स्वीकार

इन सब बातो पर से आप व्रत का महत्त्व और स्वरूप तो समझ ही गए होगे। आपके मन मे शायद यह शका उथल-पुथल मचा रही होगी कि व्रत से कैसे अनुशासन, सयम, नियन्त्रण या मर्यादा आ जाती है, जबकि कानून की तरह वह भी तो तोडा जा सकता है? इसका समाधान हम अपने स्वानुभव और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यो करते हैं कि कानून के पालन और व्रत के पालन मे महान् अन्तर है। कानून स्वेच्छा से स्वीकृत नही होता, जबकि व्रत स्वेच्छा से स्वीकृत होता है। व्रत का अर्थ ही है—'स्वेच्छा से स्वीकृत'। 'वृञ् वरणे' धातु से व्रत शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—स्वय वरण यानी स्वीकार करना। जब मनुष्य किसी सामा-

जिक मर्यादा को स्वेच्छा से स्वीकार नही करता या उसका पालन नही करता, तब सरकारी कानून बनता है, बलपूर्वक पालन कराने के लिए।

उदाहरण के तौर पर—आज प्रत्येक माता स्वेच्छा से अपने बालक का पालन-पोषण करने के व्रत का पालन करती है, अभी तक किसी भी देश मे ऐसा कोई कानून नही बना कि प्रत्येक माता को अपने बालक का पालन-पोषण करना अनिवार्य होगा, नही तो दण्ड दिया जायेगा। मान लो, कल को कुछ माताएँ अपने बालको के पालन-पोषण करने मे इन्कार कर दें और इस व्रत का पालन न करें तो उस देश की सरकार अवश्य ही ऐसा कानून बना देगी कि प्रत्येक माता को अपने बच्चो का पालन-पोषण करना होगा, जो नही करेगी, उसे इतनी सजा दी जाएगी।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जबरन लादी हुई चीज मे मनुष्य गड़बड़ कर सकता है, परन्तु जो बात स्वेच्छा से स्वीकृत होती है, उसका वह प्राय प्राणप्रण से पालन करता है। व्रत स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है, इसलिए व्रत का पालन प्राय मानव करता ही है।

व्रत एक अटल निश्चय

व्रत लेने का एक अर्थ यह भी होता है कि अटल निश्चय करना। मनुष्य जब तक व्रत नही ले लेता, तब तक उसका मन डांवाडोल रहता है। उसकी बुद्धि निश्चल और स्थिर नही हो पाती। व्रत ग्रहण करने पर मनुष्य का निश्चय अटल हो जाता है।

मेवाड़ के क्षत्रियवीर महाराणा प्रताप के साथ मेवाड़ की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने मे बहुत ही कम साथी थे। बहुत से राजा तो अकबर बादशाह के अधीन हो चुके थे। परन्तु महाराणा प्रताप ने मेवाड़ की स्वातन्त्र्य-सुरक्षा का व्रत ले लिया था। कई विघ्न बाधाएँ आईं। एक बार तो ऐसी भी स्थिति आ गई कि जगलो मे उनके परिवार को रोटी के लाले पड़ गए और महाराणा के [illegible] कुछ [illegible] गए थे, लेकिन राजा पृथ्वीसिंहजी का पत्र पाते ही उनका व्रत-पालन का निश्चय [illegible] हो गया। महामन्त्री भामाशाह ने तन, मन, धन से पूरा सहयोग [illegible] का आश्वासन दिया और महाराणा पुन मेवाड़ की स्वातन्त्र्य सुरक्षा के व्रत पर अटल हो गए।

इसी प्रकार छत्रपति शिवाजी [illegible] से [illegible] थे। [illegible] पर वे अन्त तक अटल रहे।

सकता तो समाज, राष्ट्र और विश्व को कैसे चलाया जा सकता है ? जैसे दो तटो के बीच मे बहने वाली नदी निर्विघ्नतापूर्वक समुद्र तक पहुँच सकती है, वैसे ही यम-नियम रूप व्रतो के अनुशासन मे चलने वाली आत्मारूपी सरिता परमात्म सिन्धु तक निर्विघ्न पहुँच जाती है। व्रत स्वेच्छा से ग्रहण करने के कारण आत्मानुशासन है। ये जीवन और जगत् मे सुव्यवस्था पैदा करते हैं। जगत् का विकास, सुरक्षा और प्रगति अनुशासन पर निर्भर है और व्रत जीवन मे अनुशासन पैदा करते है। सूर्य और चन्द्रमा स्वय नियमबद्ध है। वे अनुशासन मे रहते है, नियमानुसार समय पर उदय और अस्त होते है। यदि ये अनुशासन मे न रहें तो बहुत गडबड हो जाए। क्योकि इनसे ससार का कालनिर्णय होता है, और शुद्ध पचागो की रचना की जाती है। इन्होने जगत् मे अपनी ऐसी साख जमा दी है कि ये नियमानुसार उदय और अस्त होते है, इसी से लोग अपने को सुरक्षित पाते है। शृखलत बन्धन के बिना जैसे झाडू के तिनके एक-एक करके बिखर जाते है, वैसे ही अनुशासन की शृखला के बिना सामाजिक जीवन की कडिया भी छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। घडी भी अनुशासन से चलती है तभी ठीक समय देती है। यदि रेलगाडी पटरियो पर न चलकर अनुशासन से हटकर चल पडे तो स्वय भी नष्ट होती है और उसमे बैठे हुए यात्री भी मारे जाते है। इसलिए मानव-जीवन मे अथ से इति तक अनुशासन पर चलने की जरूरत है, जो व्रत ग्रहण मे ही आ सकती है।

आध्यात्मिक जीवन की नींव व्रत

व्रत एक प्रकार से आध्यात्मिक जीवन की नीव है। बिना नींव का महल चाहे ऊपर से कितना ही सुन्दर, सुदृढ हो, काफी ऊँचा भी हो, वह चिरस्थायी नही होता, इसी प्रकार आध्यात्मिक नीव से रहित जीवन भी सुख-शान्ति, सुव्यवस्था एव सुरक्षा मे स्थायित्व नही ला सकता। अगर आप कोई कीमती रत्न कमा कर लाएँ और आपके घर मे चोर आदि का भय हो तो घर मे रखे हुए रत्न की सुरक्षा के लिए क्या घर के किवाड नही लगाते ? अवश्य लगाते हैं। इसी प्रकार आत्मधर्म की सुरक्षा के लिए, जीवन मे अव्रत और प्रमाद रूपी चोर न घुस जाएँ, इस दृष्टि से व्रतरूपी किवाड लगाना ही चाहिए। व्रत लेकर आप सीमा बँध लेते हैं।

व्रत का अर्थ स्वय स्वीकार

इन सब बातो पर से आप व्रत का महत्त्व और स्वरूप तो समझ ही गए होगे। आपके मन मे शायद यह शका उथल-पुथल मचा रही होगी कि व्रत से कैसे अनुशासन, सयम, नियन्त्रण या मर्यादा आ जाती है, जबकि कानून की तरह वह भी तो तोडा जा सकता है ? इसका समाधान हम अपने स्वानुभव और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यो करते हैं कि कानून के पालन और व्रत के पालन मे महान् अन्तर है। कानून स्वेच्छा से स्वीकृत नही होता, जबकि व्रत स्वेच्छा से स्वीकृत होता है। व्रत का अर्थ ही है—'स्वेच्छा से स्वीकृत'। 'वृञ् वरणे' धातु से व्रत शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—स्वय वरण यानी स्वीकार करना। जब मनुष्य किसी सामा-

जिक मर्यादा को स्वेच्छा से स्वीकार नही करता या उसका पालन नही करता, तब सरकारी कानून बनता है, बलपूर्वक पालन कराने के लिए।

उदाहरण के तौर पर—आज प्रत्येक माता स्वेच्छा से अपने बालक का पालन-पोषण करने के व्रत का पालन करती है, अभी तक किसी भी देश मे ऐसा कोई कानून नही बना कि प्रत्येक माता को अपने बालक का पालन-पोषण करना अनिवार्य होगा, नही तो दण्ड दिया जायेगा। मान लो, कल को कुछ माताएँ अपने बालको के पालन-पोषण करने से इन्कार कर दे और इस व्रत का पालन न करें तो उस देश की सरकार अवश्य ही ऐसा कानून बना देगी कि प्रत्येक माता को अपने बच्चो का पालन-पोषण करना होगा, जो नही करेगी, उसे इतनी सजा दी जाएगी।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जबरन लादी हुई चीज मे मनुष्य गडबड कर सकता है, परन्तु जो बात स्वेच्छा से स्वीकृत होती है, उसका वह प्राय प्राणप्रण से पालन करता है। व्रत स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है, इसलिए व्रत का पालन प्राय मानव करता ही है।

व्रत एक अटल निश्चय

व्रत लेने का एक अर्थ यह भी होता है कि अटल निश्चय करना। मनुष्य जब तक व्रत नही ले लेता, तब तक उसका मन डाँवाडोल रहता है। उसकी बुद्धि निश्चल और स्थिर नही हो पाती। व्रत ग्रहण करने पर मनुष्य का निश्चय अटल हो जाता है।

मेवाड के क्षात्रियवीर महाराणा प्रताप के साथ मेवाड की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने मे बहुत ही कम साथी थे। बहुत-से राजा तो अकबर बादशाह के अधीन हो चुके थे। परन्तु महाराणा प्रताप ने मेवाड की स्वातन्त्र्य-सुरक्षा का व्रत ले लिया था। कई विघ्न बाधाएँ आई। एक बार तो ऐसी भी स्थिति आ गई कि जगलो मे उनके परिवार को रोटी के लाले पड गए और महाराणा के विचार कुछ डगमगा-से गए थे, लेकिन राजा पृथ्वीसिंहजी का पत्र पाते ही उनका व्रत-पालन का निश्चय दृढ हो गया। महामन्त्री भामाशाह ने तन, मन, धन से पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया और महाराणा पुन मेवाड की स्वातन्त्र्य सुरक्षा के व्रत पर अटल हो गए।

इसी प्रकार छत्रपति शिवाजी परस्त्रीगमन से विरत थे। अपने इस शीलव्रत पर वे अन्त तक अडिग रहे।

एक बार जब वे दक्षिण मे औरगजेब की सेना से लोहा ले रहे थे, कई क्षेत्रो मे उन्होने औरगजेब की सेना को परास्त करके अपनी विजय का झडा गाड दिया था। एक जगह शिवाजी के विजयी सैनिक विजय के उन्माद मे औरगजेब के गिरफ्तार किये हुए सिपह-सालार की अनुपम सुन्दरी पत्नी को जबरन पकड कर शिवाजी को भेंट देने के लिए उपस्थित हुए। वह बेचारी शिवाजी के सामने थर-थर कॉप रही थी शिवाजी ने अपने सैनिको से पूछा—"इस महिला को क्यो लाए हो ?"

"आपको विजय के उपलक्ष में यह [illegible] सुन्दरी [illegible] भेंट में [illegible] है?
आप इसे स्वीकार करें।"

शिवाजी ने यह सुनकर और उसकी [illegible] से देखकर कहा — "मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ? अगर मेरी माँ इतनी सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर होता। जाओ, इसको सम्मान सहित इसके पति के पास पहुँचा आओ। मेरी ओर से यह लिखित शुभ सन्देश दे देना।"

उक्त महिला शिवाजी के दृढ़ व्रत को देखकर दंग रह गई। [illegible] और ससम्मान अपने पति के पास पहुँची। शिवाजी के उन्नत चरित्र से वह सिपहसालार अत्यन्त प्रभावित हुआ।

यह है व्रतग्रहण से अटल निश्चय का प्रभाव।

व्रत एक प्रतिज्ञा

व्रत भी एक प्रकार की प्रतिज्ञा है। व्रत ग्रहण करना प्रतिज्ञाबद्ध होना है। विवाह के समय पति-पत्नी दोनो प्रतिज्ञाबद्ध हो जाते है, इसलिए उनको भी परस्पर एक-दूसरे का विश्वास हो जाता है, और समाज को भी उनके जीवन का विश्वास हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति व्रतबद्ध हो जाता है तो वह दृढ प्रतिज्ञ हो जाता है, निश्चल हो जाता है।

व्रत से व्यक्ति विश्वसनीय एव स्थिर

जब कोई व्यक्ति व्रतबद्ध हो जाता है तो परिवार और समाज में वह विश्वसनीय बन जाता है। कोई भी व्यक्ति उसे शका की दृष्टि से नही देख सकता। मान लीजिए, एक व्यक्ति परस्त्रीगमन न करने का व्रत लेकर प्रतिज्ञाबद्ध होता है, तो उसके सम्पर्क मे कोई भी स्त्री नि सकोच आ-जा सकती है। वह विश्वस्त हो जाता है। सारा समाज विश्वास के आधार पर चलता है। आप जब किसी बस मे बैठते है तो आपको विश्वास होता है कि ड्राइवर लाइसेंसशुदा है, वह जान बूझ कर कभी बस को खड्डे मे नही गिराएगा। इसी प्रकार रेलगाडी के इजिन ड्राइवर पर भी आपको विश्वास होता है कि वह गाडी को सकुशल गन्तव्य-स्थान पर ले जाएगा। यही बात मशीनो के इन्जीनियर पर रहती है।

हाँ, तो, मैं कह रहा था कि व्रतबद्ध व्यक्ति समाज के लिए विश्वसनीय हो जाता है। साधु जीवन महाव्रतबद्ध होता है, इसलिए समाज का कोई भी व्यक्ति साधु-साध्वी पर अविश्वास नही करता। लाखो रुपयो की चीजे घर मे पडी रहती हैं, परन्तु साधु-साध्वियो के लिए कही भी, यहाँ तक कि राजमहल एव अन्त पुर मे भी रोक-टोक नही है, क्योकि महाव्रतबद्ध होने से साधु-साध्वी का जीवन पूर्ण रूप से विश्वसनीय है।

महात्मा गांधी के बाल्यकाल मे विदेश जाना अपराध माना जाता था। जब महात्मा गाधी की विदेश जाने की इच्छा हुई तो जाति के अगुओ ने उन्हें यह

चेतावनी दे दी कि अगर मोहनदास करमचन्द गाधी विलायत चला गया तो हम उसे जाति (मोढ वनिया) से वहिष्कृत कर देंगे ।" क्योकि उन्हे यह खतरा था कि विलायत जाने पर व्यक्ति अपने धर्म-कर्म से भ्रष्ट हो जाता है, शराब पीने लगता है, माँस-अडे खाने लगता है और परस्त्रीगामी बन जाता है। मोहनदास गाँधी ने अपनी माताजी के सामने जब अपना विदेश जाने का विचार रखा तो उन्होने कुछ क्षण सोचकर कहा—"बेटा ! अगर तू तीन प्रतिज्ञाएँ ले ले तो मैं तुझे विदेश जाने की अनुमति दे सकती हूँ। फिर मुझे तेरे जाति वहिष्कृत किये जाने की भी कोई परवाह नही होगी।"

गाधीजी ने पूछा—"माताजी ! वे तीन प्रतिज्ञाएं कौन-सी है ?" माता बोली—मैंने सुना है कि विदेश जाने पर लोग शराब पीने लगते है, माँस खाने लगते हैं और परस्त्रीगामी बन जाते है। इसलिए तू इन तीन चीजो का त्याग करके प्रतिज्ञावद्ध हो जा। गाधीजी ने जब माताजी द्वारा कही गई तीनो बातो के त्याग के लिए प्रतिज्ञावद्ध होना स्वीकार किया तो उनकी माता पुतलीबाई वहाँ जैन-उपाश्रय मे विराजमान स्थानकवासी जैन मुनिश्री बेचरजी स्वामी के पास ले गई और उनसे इन तीनो बातो के त्याग की प्रतिज्ञा दिलाई।

ये तीनो नियम एक प्रकार से व्रत थे, जो गाँधीजी ने स्वेच्छा से स्वीकार किये। उनका जीवन परिवार और समाज के लिए विश्वसनीय बन गया, क्योकि वे व्रतवद्ध हो गए थे। जब वे विदेश गए तो वहाँ इन तीनो व्रतो की पूरी कसौटी हुई। महात्मा गाँधीजी ने तीनो प्रतिज्ञाओ की कसौटी होने का उल्लेख अपनी आत्म-कथा मे किया।

यही कारण है कि व्रतबद्ध होने के कारण महात्मा गाँधीजी अपने निश्चय पर अटल रह सके। अगर वे व्रतबद्ध न होते तो वे उन कडी परीक्षाओ मे कभी पास नही हो सकते थे। वे कभी के ढिलमिल होकर फिसल जाते, अपना पतन कर लेते। व्रत-ग्रहण करने के कारण ही गाँधीजी कठोर कसौटियो के समय भी निश्चल रहे। इसलिए जो व्यक्ति व्रतवद्ध नही है, प्रतिज्ञायुक्त नही है, उसका विश्वास कौन कर सकता है, क्योकि वह जरा-सा कष्ट आ पडने पर या असुविधा होने पर अपनी मर्यादा से डिग सकता है। जो आदमी अपने जीवन को व्रतमय या प्रतिज्ञामय नही बनाता, वह कभी स्थिर या निश्चल नही रह सकता।

व्रत : एक प्रकार की दीक्षा

यो देखा जाय तो व्रत-ग्रहण करना एक प्रकार की दीक्षा ग्रहण करना है। जैनधर्म मे दीक्षा लेना साधु-साध्वियो के लिए प्रचलित है। परन्तु वैदिक धर्म मे चारो आश्रमो—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम—के लिए दीक्षा शब्द प्रचलित है। सस्कृत भाषा मे दीक्ष् धातु 'मौण्ड्येज्योपनयन नियम व्रता-

इन्द्रियों पर नियन्त्रण आ जाएगा। क्योंकि हिंसा और असत्य का आचरण करने में, जिस प्रकार मनुष्य स्वच्छन्दतापूर्वक खुलकर अपने हाथ, पैर, वाणी, जीभ, आँख, कान, नाक, मस्तिष्क, मन, बुद्धि एवं हृदय में प्रवृत्ति करता है, वैसे अहिंसा, सत्य आदि पाँचों अणुव्रतों के स्वीकार करने पर इन सबका खुल्लमखुल्ला मनमाना उपयोग नहीं कर सकेगा। विवेकपूर्वक, अहिंसा आदि की मर्यादा में ही इनका उपयोग कर सकेगा। यही तो आत्म संयम है। अतः व्रत इस प्रकार से आत्मसंयम है।

व्रत : आचारसंहिता

बिना आचारसंहिता के कोई भी राष्ट्र या कोई भी समाज व्यवस्थित एवं सुख-शान्तिपूर्वक जी नहीं सकता। मान लीजिए, एक गाँव ऐसा है, जहाँ चोर, उचक्के, उठाईगीरे या ठग ही अधिकांश बसते हों, वहाँ सज्जन आदमी का रहना कितना कठिन, कितना खतरनाक होता है। इसलिए प्रत्येक गाँव, नगर, राष्ट्र, जाति और संघ की आचारसंहिता बताई जाती है, ताकि उस ग्राम, नगर आदि में सुख शान्ति और अमन-चैन हो, सभी लोग बिना किसी खतरे या संकट के जी सकें। व्रत भी आचार-संहिता का काम करते हैं। बल्कि व्रतों को ग्रहण कर लेने के बाद किसी भी देश, समाज, राष्ट्र, जाति या संघ में व्यक्ति बेखटके प्रवेश कर सकता है, सभी मूलभूत बुनियादी बातें किसी भी देश, नगर आदि की आचारसंहिता से टकराती नहीं, खिलाफ नहीं जातीं। इसलिए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि व्रत आचारसंहिता के जाने-देखे बिना ही उसकी पूर्ति कर देते हैं।

व्रतों से जीवन निर्माण

आजकल बहुत-से लोग अपने पुत्र-पुत्रियों की शिकायत हमारे सामने करते हैं कि हमारे लड़के-लड़की पश्चिम के संस्कारों में रंगते जा रहे हैं, भारतीय संस्कृति एवं धर्म-कर्म की बातें उन्हें नहीं सुहातीं। हम लोग चाहते हैं कि हमारी सन्तानों के जीवन का सुन्दर गठन हो। सुन्दर चरित्र निर्माण क्या सिनेमा के [illegible] दृश्यों से हो सकेगा? क्या स्वच्छन्द और मनमाना जीवन बिताने से उनके जीवन का गठन हो सकेगा? कदापि नहीं।

> वर मे अप्पा दंतो, सजमेण तवेण य ।
> माऽह परेहिं दम्मंतो, बंधणेहि वहेहि य । —उत्तराध्ययन

—"अपना आत्मदमन स्वय करना चाहिए, नि सन्देह आत्मदमन दुष्कर है। जो आत्मदमन कर लेता है, वह इस लोक और परलोक मे सुखी होता है। दूसरे लोग मारपीट कर या बन्धन मे डालकर मेरा दमन करें, इससे तो अच्छा यही है कि मैं स्वय अपनी आत्मा का सयम और तप से (व्रतग्रहण से) दमन करूँ।"

कितना स्पष्ट मार्ग-दर्शन भगवान महावीर ने स्वय आत्मदमन के सम्बन्ध मे दिया है।

समस्त ससार का अनुभव इस बात की गवाही देता है कि जब तक व्यक्ति दृढ निश्चयपूर्वक आत्मदमन नही कर लेता, तब तक उसका ढिलमिल मन पतन की ओर जा सकता है। यदि एक बार भी वह पतन की ओर लुढक गया तो फिर उत्थान की ओर मुडना कठिन हो जाएगा। साथ ही अनिश्चित व्यक्ति समाज की नैतिक मर्यादाओ का उल्लघन करेगा तो समाज एव सरकार के द्वारा उसे दण्ड मिलेगा, उसकी बेइज्जती होगी, तथा परलोक मे भी उस अपराध के फलस्वरूप उसे यातना मिलेगी। आत्मदमन से हीन व्यक्ति के लिए यह कितना मँहगा सौदा है? अगर वह पहले से ही व्रतग्रहण द्वारा आत्मदमन कर लेता तो निश्चित, सुखी, समाज मे प्रतिष्ठित और परलोक मे प्राप्त होने वाली यातना से सुरक्षित हो जाता।

व्रत-ग्रहण की आवश्यकता

व्रतो को ग्रहण करने की आवश्यकता तो अडचनो को पार करने के लिए ही होती है। व्रत एक प्रकार का अटल निश्चय है, जिसके द्वारा असुविधा सहने पर भी विचलता नही आती। ऐसे निश्चय के बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर नही उठ सकता। और फिर जो वस्तु पापरूप, एव आत्म-विकास-घातक हो, उसका निश्चय व्रत ही नही कहलाता। वह तो एक प्रकार की आसुरी-वृत्ति का परिणाम है। किसी विशेष वस्तु का निश्चय, जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अन्त मे पापरूप सिद्ध हो, उसको त्याग करने का धर्म अवश्य प्राप्त होता है। परन्तु कोई भी विवेकी एव सम्यग्दृष्टि व्यक्ति ऐसी वस्तु के लिए व्रत नही लेता, और न लेना ही चाहिए।

भगवतीसूत्र मे ऐसे त्याग, प्रत्याख्यान आदि को दुस्त्याग, या दुष्प्रत्याख्यान कहा है, जो अविवेकपूर्वक क्रोध, अभिमान, कपट या लोभ के आवेश मे आकर ग्रहण किया जाता है। जैसे उपवास करना अच्छी चीज है, परन्तु कोई व्यक्ति गृहकलह के वश आमरण उपवास करके बैठ जाय, या लोभ के वश किसी व्रत को दिखावे के लिए ले ले तो उसका वह त्याग, व्रत या प्रत्याख्यान शुभ नही कहलाता।

जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की आपको आदत नही पडी, उसके सम्बन्ध मे व्रत ग्रहण करना चाहिए। जो लोग कहते हैं कि सत्य कहने से किसी की हानि हो जाएगी तो सत्य का अर्थ ही उन्होंने नही समझा। सत्य तो

वही है, जो सब जीवो के लिए हितकर हो। जिस सत्य के साथ अहिंसा नही है, वह सत्य सत्य ही नही है। इसलिए सत्य मे ससार मे किसी की हानि हो ही नही सकती, ऐसा अटल विश्वास सत्यव्रतधारी को होता है। इसीलिए सत्यव्रतधारी की भावना को कवि उत्साहपूर्ण शब्दो मे व्यक्त करता है—

सर जावे तो जावे, मेरा सत्य धर्म ना जावे।
सत्य के खातिर राय युधिष्ठिर राज्य छोड वन जावे, मेरा०
सत्य के खातिर खुश हो सीता, कूद अगन बिच जावे, मेरा०
सत्य के खातिर अकलक राजा, शीष सहर्ष कटावे, मेरा०

मद्यपान के सम्बन्ध मे भी यही बात है। मद्यपान करने से शरीर रहेगा ही, ऐसी कोई गारण्टी नही दी जा सकती। इसलिए मद्यपान त्याग का व्रत अटल निश्चय के साथ करना चाहिए। शराब न पीने से शरीर रहे तो ठीक है, अगर इस मद्यत्याग व्रत के लेने पर शरीर छूटता है, क्या हानि हो गई? धर्मपालन करते-करते शरीर छूट जाय तो इसकी खुशी होनी चाहिए। व्रतधारी को दृढ निश्चय होना चाहिए कि मेरा शरीर जाय या रहे, मुझे इस व्रत (धर्म) का पालन करना ही है। ऐसा भव्य निश्चय करने वाले ही किसी समय परमात्मा की दिव्य झाकी कर सकते हैं।

महात्मा गाधी के जीवन की एक घटना है। वे स्वराज्य आन्दोलन के सिलसिले मे आजमगढ गये थे। वे उस समय एक परिचित सद्गृहस्थ के यहाँ ठहरे, जिनके सुपुत्र बच्चाबाबू आजकल वाराणसी के पास भेलूपुर मे रहते हैं। उक्त परिवार ने गाधीजी की बडी आवभगत की। परन्तु गाधीजी का ध्यान उक्त परिवार के नायक के अफीम खाने की ओर गया। उन्हे उक्त देशसेवा प्रेमी का अफीम खाना बहुत खटका। गाधीजी ने इस ओर उनका ध्यान खीचा, अत शर्मिन्दा होकर उन्होने गाधीजी के सामने अफीम-त्याग का व्रत ले लिया। परिवार के लोगो ने उन्हे बहुत समझाया कि आप एकदम अफीम को छोडेंगे तो आपके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पडेगा, इसके बजाय आप धीरे-धीरे कम करते हुए इसे छोडें तो ठीक रहेगा। परन्तु परिवार के नायक गाधीजी के रग मे रगे हुए थे, इसलिए पत्नी-पुत्र आदि किसी की भी न मानी। गाधीजी और कस्तूरबा आदि दूसरे दिन ही वहाँ से अन्यत्र चल पडे। गाधीजी के जाने के दूसरे दिन ही उक्त परिवार के नायक का शरीर गडबडा गया। सारा शरीर टूटने लगा। वे मछली की तरह तडफडाने लगे। उनकी यह हालत देखकर पत्नी-पुत्र आदि ने उन्हे थोडी-सी अफीम देने की सलाह की। जब परिवार नायक को पता चला, तो उन्होने अफीम लेने से बिलकुल इन्कार कर दिया। मगर उनकी हालत जब तीसरे दिन भी नही सुधरी तो उनकी पत्नी ने महात्मा गाधी को पत्र लिखा कि आपने तो इन्हे अफीम का सदा के लिए सर्वथा त्याग करा दिया, परन्तु अब इनकी मरणासन्न स्थिति है। अगर आप मेरा सुहाग सुरक्षित रखना चाहते हैं तो इन्हें (मेरे पति को) अफीम खाने की छूट दे दें। वरना इनकी परलोक-गमन की तैयारी दीखती है।"

महात्मा गाधी ने पत्र पढा और उन्होने गम्भीरतापूर्ण शब्दो मे उत्तर दिया—

"बहन ! तुम्हारे पतिदेव अफीम छोडने से इतनी मरणासन्न हालत मे पहुँच गए, यह जानकर अफसोस है। लेकिन अफीम वापिस ले लेने से वह ठीक ही हो जायेंगे, ऐसी कोई गारण्टी नही। उनका आयुष्य बलवान नही हुआ तो अफीम क्या, कोई भी चीज उन्हे नही बचा सकती। बल्कि इस (अफीमत्याग व्रत) धर्म का पालन करते-करते वे शरीर छोडेंगे तो उनका वीरतापूर्वक मरण समझा जायगा। कायरता-पूर्वक इन्द्रिय विपयो के गुलाम होकर मरने की अपेक्षा यह मृत्यु ज्यादा श्रेयस्कर है। इसलिए मेरी सलाह है कि उन्हे अफीम अब कतई न दी जाय, ईश्वर के भरोसे छोडा जाय। वे अवश्य ही ठीक होगे, ऐसा मेरा विश्वास है।"

गाधीजी का यह मर्मस्पर्शी पत्र पहुँचा। बहन की आँखो मे चमक और हृदय मे दृढता आ गई। उसने अपने पति को अफीम नही दिया। तीन-चार दिन मे तबियत ठीक होने लगी। एक हफ्ते मे तो स्वास्थ्य बिलकुल ठीक हो गया। सबको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। तब से बच्चा बाबू के पिताजी का स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो गया। वे स्वय वाराणसी आकर रहने लगे। ८०-८५ वर्ष की उम्र मे भी वे ३-४ मील प्रतिदिन घूम लेते थे।

यह है व्रत पालन का रहस्य !

इसलिए व्रत लेना निर्बलता का सूचक नही, अपितु वीरतासूचक है। परमात्मा एव आयुष्य बल पर विश्वास रख कर सकटो का व्रतपालनपूर्वक हँसते-हँसते सामना करना क्या निर्बलतासूचक है ? बल्कि यह व्रतपालक के दृढ निश्चय का द्योतक है। इसके विपरीत, जहाँ तक हो सकेगा, पालन करूगा, व्रत-प्रत्याख्यान नही लूंगा, यह शब्दावली ही कमजोर मन की निशानी है। इसको लेकर लोगो मे यह प्रचार करना कि 'मैं तो व्रत नही लेता', अभिमान का सूचक है, भले ही वह अपने अभिमान को नम्रता कहे। 'जहाँ तक हो सकेगा, वैसे ही पालन करूँगा, व्रत ग्रहण नही करूँगा,' यह शब्दावली ही शुभ निश्चय मे विष के समान घातक है। पतन और फिसलन का रास्ता खोलने वाली है, पहली ही अडचन या विपत्ति के सामने घुटने टेक देना है।

आप तो व्यापारी है। क्या ऐसी हुण्डी या चिट्ठी बैंक मे स्वीकृत की जा सकती है, जिसमे लिखा हो कि यथासम्भव अमुक तारीख को रकम चुका दी जायगी ? कदापि नही। इसी प्रकार 'जहाँ तक हो सकेगा, अमुक व्रत का पालन करूँगा,' ऐसा कहने वालो की हुण्डी भगवान के यहाँ नही सिकरेगी।

व्यापारी एक-दूसरे के प्रति वायदे से बँधे न हो तो व्यापार चल ही नही सकता। पति-पत्नी एक-दूसरे के साथ आजीवन प्रतिज्ञाबद्ध न हो तो भी काम चल नही सकता इसी प्रकार सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन मे भी व्रतबद्धता न हो तो काम चल ही नही

सकता। इसलिए व्रत वन्धन नही, अपितु अपने जीवन के गठन, दृढ निश्चय, वीरता एव समाज विश्वास के लिए स्वेच्छा से स्वीकार है।

मुझे कई आध्यात्मिक लोग ऐसे भी मिले, जिन्होंने कहा—"हमने ब्रह्मचर्य का व्रत नही लिया, फिर भी हम ब्रह्मचारी हैं, हम सत्य आदि व्रत लेकर अपने को नाहक बाँधते नही, हमे सत्य प्रिय है, इसलिए हम उसका पालन करते हैं।" मैंने उनसे कहा—सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन मे समूह की साक्षी से व्रत ग्रहण किये विना समाज एव राष्ट्र को कोई प्रतीति नही होती, व्रत ग्रहण न करने वाले का मन किसी भी समय ढीला हो सकता है। इसलिए लोकप्रतीति के लिए समूह मे व्रत ग्रहण करना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि अगर कोई यह नियम लेता है कि "मैं आखो से देखूंगा, कानो मे सुनूंगा", तो वह अत्यन्त स्वाभाविक होगा, क्योकि मनुष्य आँखो से ही देखता है, कानो से ही सुनता है। अत यह बात नियम रूप नही रहती, सहज बन जाती है। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि आत्मा के सहज स्वाभाविक गुण है, ये सब आत्मा के रूप है, इसलिए ये आत्मा के सहज सिद्ध भाव है, इनका व्रत बन्धन रूप या बोझ रूप नही प्रतीत होता बल्कि कोई व्यक्ति ऐसा व्रत ले, (हालांकि ऐसा व्रत होता नही) कि 'मैं कभी असत्य बोलूंगा, कभी सत्य' तो उसके ऊपर बोझ पडेगा। कब झूठ बोलना है, यह सोचने मे सावधान रहना पडेगा। लेकिन सत्य इतना सहज सरल है कि यह सहज स्वाभाविक रूप से सध जाता है। अत ऐसा कदापि न मानिए कि सत्य, अहिंसा आदि व्रत लेंगे तो अपने को बाँध लेंगे। वास्तव मे देखा जाय तो अहिंसा आदि व्रतो के कारण आपका जीवन अत्यन्त सुरक्षित रहता है, चित्त को चचल होने का मौका ही नही मिलता। इन्द्रियनिग्रह भी विलकुल सहज दालभात जैसी साधारण बात हो जाती है। फिर भी उलझन यह है कि कुछ बुद्धिवादी लोग इन्ही सहज स्वभाव के अनुकूल व्रतो को बन्धन रूप समझते हैं। यह उनकी विकृत मनःस्थिति का परिचायक है। वेद मे सूर्य को नित्य समय पर उदित होने वाला व्रतधारी कहा है पानी मे रहने वाले वरुण को भी धृतव्रत कहा है। गीता मे भी कहा है—

'सतत कीर्तयन्तो मा यतन्तश्च दृढव्रता'

किया। उन्होंने व्रतों का स्वरूप अवश्य समझाया, परन्तु स्वरूप समझने के बाद आनन्द, कामदेव, महाशतक आदि श्रावकों ने अणुव्रत ग्रहण करने या अर्जुनमाली, मेघकुमार, शालिभद्र, धन्ना आदि ने जब स्वयं महाव्रत स्वीकार करने की बात रखी तब भी उन्होंने 'जहासुहं देवाणुप्पिया' कह कर साधक की इच्छा, रुचि और शक्ति पर ही छोड़ दिया। तात्पर्य यह है कि व्रत देने की चीज नहीं, स्वयं लेने की चीज है। जब स्वयं ग्रहण करने की चीज है तो उसमें जबर्दस्ती तो हो ही नहीं सकती। एक बात का विवेक व्रत देने वाले को अवश्य करना है—अणुव्रत या महाव्रत जो ग्रहण करना चाहता है, उसकी योग्यता, क्षमता, वय, पात्रता आदि को अवश्य देखे। जैसे कोई व्यक्ति घर से लड़-झगड़ कर आवेश में आकर किसी साधु-साध्वी से कहे कि मुझे संल्लेखनाव्रत (आजीवन अनशन) करा दीजिए, तो उस समय उक्त साधु-साध्वी को उक्त व्रत ग्रहण कराना उचित नहीं। स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले को सहसा सल्लेखनाव्रत लेना ही नहीं चाहिए, न महाव्रती साधक को उसे ऐसा व्रत दिलाना चाहिए। इसी प्रकार चार साल के बच्चे को ब्रह्मचर्यव्रत की दीक्षा देना उतना ही गलत है, जितना गलत उसका विवाह करना। विवाह क्या है, यह समझने की जैसे उसकी स्थिति नहीं, वैसे ही ब्रह्मचर्य क्या है? इसे समझने की भी उसकी भूमिका नहीं। विवाह का विचार तो चार साल के बच्चे में अंकुरित ही नहीं होता, परन्तु ब्रह्मचर्य आत्मा का सहज स्वभाव है, इसलिए ऐसे बच्चे को ब्रह्मचर्य के सस्कार दिये जा सकते हैं, वे संस्कार क्रमश परिपक्व होते रहेंगे, किन्तु ब्रह्मचर्यव्रत की उसे प्रतिज्ञा देना गलत होगा। इसलिए व्रतग्रहण विचारपूर्वक होना चाहिए।

एक बात और है, जिसे ध्यान में रखा जाय तो प्रत्येक समझदार व्यक्ति व्रत ग्रहण को अनिवार्य मानेगा। भारतीय संस्कृति में पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के कुछ मूल्य हैं, जो अपरिवर्तनीय हैं, सनातन हैं, शाश्वत हैं, उनके विषय में पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पाँच व्रत, जो निर्विवाद हैं, सर्व धर्ममान्य हैं, ऐसे ही मूलभूत एवं अपरिवर्तनीय है। कई जगह तो आश्रमों या उपाश्रयों आदि में प्रतिदिन वे बोले जाते हैं, आध्यात्मिक जीवन का सार इनमें आ जाता है, इसलिए इन्हें व्रत रूप में स्वीकार करने में किसी भी सभ्रान्त व्यक्ति को हिचक नहीं होनी चाहिए।

यह बात अलग है कि भिन्न-भिन्न धर्मों और दर्शनों ने इन मूलव्रतों की सुरक्षा के लिए नियमों, गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों या उपव्रतों के रूप में देशकाल को देखकर विभिन्न योजना की हो, परन्तु हैं वे इन पाँचों के ही सरक्षण-संवर्द्धन तथा विकास के लिए।

व्रत सार्वभौम हैं

कई लोग यह शका उठाते हैं कि ये व्रत भगवान महावीर या भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट हैं, इसलिए जैनों के लिए ही हैं, जैनों को ही इन्हें ग्रहण

करना चाहिए। हम ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, अग्रवाल वैश्य हैं अथवा हरिजन या वैष्णव हैं, हम इन्हे कैसे ग्रहण कर सकते है ?

यह कहने वालो ने धर्म के सार्वजनिक स्वरूप को नही समझा है। अहिंसा, सत्य आदि धर्म के अगो या व्रतो पर किसी की बपौती नही है, किसी एक ही धर्म-सम्प्रदाय का उस पर अधिकार नही है, न किसी एक जाति, कुल, कौम, प्रान्त, राष्ट्र या देश का ही उनके पालन पर प्रतिबन्ध है, और न ही किसी समय या परिस्थिति मे इन व्रतो का पालन असम्भव या ये अग्राह्य हैं। सभी धर्मसम्प्रदायो, तमाम देशो, समस्त जाति-कौमो, सर्व राष्ट्रो, प्रान्तो या क्षेत्रो मे, सम्प्रदायो मे, व्रतो का पालन हो सकता है। जैनधर्म ने महाव्रतो या अणुव्रतो के पालने पर किसी भी व्यक्ति, जाति, देश, काल आदि का प्रतिबन्ध नही लगाया है।

जैनधर्म ने जैसे महाव्रत ग्रहण करने के लिए सभी समय मे सभी धर्मसघ, कौम, जाति, देश के भाई-बहनो के लिए द्वार खुले रखे हैं, बशर्ते कि महाव्रत ग्रहण करने के उम्मीदवार मे तदनुरूप योग्यता और क्षमता हो, वैसे ही अणुव्रत ग्रहण करने के लिए भी सबके लिए द्वार उन्मुक्त रखे हैं। ब्राह्मण आए, क्षत्रिय आए, वैश्य आए, चाहे शूद्र आए, किसी भी देश, धर्म का हो, अगर वह व्रत ग्रहण करने के योग्य है, और ग्रहण करना चाहता है तो कर सकता हैं। महाव्रत ग्रहण करने के सम्बन्ध मे भी जैनधर्म की नीति उदार रही है। यही कारण है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे—ब्राह्मण, मेघकुमार जैसे क्षत्रिय, जम्बूकुमार से वैश्य, तथा अर्जुनमालाकार एव हरिकेशबल जैसे शूद्र जातीय, यहाँ तक कि आर्द्रककुमार जैसे विदेशी साधक भी महाव्रती श्रमण बने हैं, आज भी बनते हैं।

वैदिक धर्म मे व्रत केवल यतियो के लिए सुरक्षित रखे गए थे, और वे भी प्राय ब्राह्मण वर्णीय व्यक्ति के लिए थे। ब्राह्मण को ही प्राय सन्यास का अधिकारी समझा जाता था। महात्मा गाधी ने सबके लिए व्रतो की आवश्यकता बताई। व्रतो को सार्वभौम बताकर उन पर से किसी भी एक जाति, देश, काल, समय आदि का प्रतिबन्ध हटा दिया। महर्षि पतजलि ने कहा—

'जाति-देश-काल-समयाऽनवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्'

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँचो यम हैं, ये किसी जाति, देश, काल एव परिस्थिति या शर्त के प्रतिबन्ध से रहित हैं, सर्वव्यापक हैं, समस्त भूमिकाओ मे पालनीय हैं, महान् व्रत हैं।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि सभी जाति के लोग, यहाँ तक कि सभी वर्ग या कौम के लोग अहिंसादि व्रतो का पालन कर सकते हैं। प्राचीनकाल मे सम्प्रति जैसे कई क्षत्रिय राजाओ ने श्रावकव्रत ग्रहण किये थे, बीच के युग मे कुमारपाल राजा ने आचार्य हेमचन्द्र से श्रावक के १२ व्रत धारण किये थे। यहाँ तक कि हरमन जैकोबी, मेक्समूलर आदि विदेशी लोगो ने भी अणुव्रत ग्रहण किये थे। इसलिए राजा हो, सेठ

हो, सत्ताधीश हो, मन्त्री हो, या अन्य कोई भी व्यक्ति हो श्रावकव्रत के योग्य प्रत्येक व्यक्ति इन व्रतो का पालन कर सकता है।

धार राज्य के एक स्थानकवासी जैन सेठ थे। वे राजमान्य एव वैभव सम्पन्न थे। बापूजी नामक एक महाराष्ट्रीयन उनके मित्र थे। बापूजी राजपरबारीय थे। सेठजी के सम्पर्क से उन्हे जैनधर्म पर श्रद्धा हो गई। साधु-साध्वियो के सम्पर्क से उन्हें अधिक धर्मप्रेम हो गया। उन्होंने श्रावक व्रत ग्रहण कर लिये। राजदरबार मे उनको सभी 'बापूजी ढू ढिया' कहने लगे। वे स्वय कहते कि मैंने वीतराग परमात्मा को ढूंढ लिया है। एक दिन सेठजी ने उनसे कहा—"बापूजी! आपकी धार्मिकता तो मेरे से भी ज्यादा बढ गई है, मैं तो आपसे पीछे रह गया।" इस पर बापूजी बोले—"सेठजी! आप ठहरे वशपरम्परागत धनिक, और मैं ठहरा जन्म से गरीब। गरीब को धन मिलता है तो वह यत्न के साथ रखता है, वश परम्परागत धनिक उपेक्षा कर देता है। यही कारण धर्म के सम्बन्ध मे हुआ है।" उत्तर सुनकर सेठजी ने मन ही मन लज्जित होते हुए कहा—"धन्य है, बापूजी! आपने व्रतग्रहण करके धर्मरूपी धन पा लिया है।"

इसीप्रकार आपको तो यह धर्म रूपी धन वश परम्परा से मिल रहा है, आप भी व्रत ग्रहण करके इसमे वृद्धि कर सकते है।

कई लोग कहते हैं कि इन व्रतो का पालन तो भारतवर्ष मे ही किया जा सकता है, विदेश मे, जहाँ कि वातावरण नही है, इनका कैसे पालन किया जा सकता है? परन्तु यह बात भी यथार्थ नही है। चम्पतराय बैरिस्टर आदि कई लोग अणुव्रती श्रावक थे, विदेश मे रहकर भी अपने व्रतो पर दृढ रहे। महात्मा गाधी ने विदेश मे रहकर व्रतो का पालन किया। इसलिए प्रत्येक देश, प्रान्त या ग्राम-नगर मे इन व्रतो का पालन हो सकता है। इसी प्रकार वैदिक धर्म मे वानप्रस्थाश्रम के बाद ही सन्यास-आश्रम स्वीकार करने का विधान था, किन्तु शकराचार्य के बाद जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन सन्यास लेने का विधान किया गया। जैनधर्म मे तो यह पहले से ही विधान था। कई लोग कहा करते है कि गृहस्थधर्म के व्रतो का ग्रहण भी बुढापे मे होना चाहिए। जैनधर्म कहता है—नही, जब से जागे, तब से सबेरा। बालक, युवक, वृद्ध सभी जैनधर्म का व्रतपालन कर सकते हैं। इसी प्रकार हर परिस्थिति मे व्रत ग्रहण करके उनका पालन किया जाना चाहिए। बल्कि सकट के समय तो दृढतापूर्वक व्रत पालन करना चाहिए। भगवान् महावीर ने श्रमण-श्रमणियो के लिए हर परिस्थिति मे महाव्रत पालन का विधान किया है—[1]वह भिक्षु या भिक्षुणी ग्राम मे हो, या नगर मे, चाहे शून्यवन मे हो, अकेला हो या परिषद् मे हो, सोया हो या जागता हो, सर्वत्र सब परिस्थितियो मे महाव्रतो का आचरण करे। जो

---

१ 'से गामे वा नगरे वा रण्णे वा, एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा'

—दशवैकालिक सूत्र

बात महाव्रतो के पालन के सम्बन्ध मे कही गई है, वही बात अणुव्रतो तथा अन्य उप-व्रतो के पालन के सम्बन्ध मे समझ लेनी चाहिए। इसलिए व्रतो को सार्वभौम कहा गया है।

जीवन मे व्रती श्रावक को भी सदा जागरूक रहकर व्रतो का पालन करना आवश्यक है। समस्त भूमिका के लोग व्रतो का ग्रहण और पालन कर सकते हैं। एक राह चलता भिखारी हो, मजदूर हो, या झोंपडी मे रहने वाला गरीब हो, चाहे एक महलो मे रहने वाला राजा हो, धनकुबेर सेठ हो, या जमीदार हो, सभी इन व्रतो का ग्रहण, आराधन एव पालन कर सकते हैं।

व्रत व्यवहार्य हैं

जितने भी व्रत हैं, वे सभी व्यवहार के योग्य है। यह कोई ऐसा आदर्श नही, जिसे अव्यवहार्य कह कर टाल दिया जाय। सारा व्यवहार इनके साथ टिक और चल सकता है। बल्कि आप यह देखेंगे कि इन व्रतो से आपका व्यवहार पुष्ट बनता है। जीवनक्रम बन्द नही होता, प्रत्युत व्यवस्थित होता है। स्व-शासित समाज या व्यक्ति के लिए व्रत आवश्यक हैं। यह ऐसा अकुश नही है, जो हमारी अन्तश्चेतना को क्षत-विक्षत कर दे। बल्कि यह स्वेच्छिक अकुश है जो हमारी चेतना को स्वस्थ, शक्तिशाली एव विकसित करता है।

व्रतग्रहण के लिए प्रेरणा

व्रतो के स्वरूप, उनकी अनिवार्यता, उपयोगिता, महत्त्व एव लाभ के सम्बन्ध मे मैं काफी विस्तार से कह गया हूँ। आशा है, आपको व्रत ग्रहण के सम्बन्ध मे सभी बातें हृदयगम हो गई होगी। मेरा नम्र सुझाव है कि आप व्रतो के सम्बन्ध मे केवल सुनकर ही न रह जाएँ, चिन्तन-मनन करके, अपनी रुचि, शक्ति और क्षमता देखकर व्रतग्रहण करने का प्रयत्न करें। व्रतो के ग्रहण से आपकी आत्मा मे क्षमता और शक्ति बढेगी। आप मानव-जीवन के लक्ष्य की ओर प्रगति कर सकेंगे। □

3

व्रतनिष्ठा एवं व्रतग्रहण विधि

☆

भारतीय सस्कृति धर्मप्रधान है। यहाँ प्रत्येक वृत्ति, प्रवृत्ति, क्रिया और चेष्टा को शुद्ध धर्म की दृष्टि से नापा-तौला जाता है। मनुष्य के प्रत्येक कदम को धर्मदृष्टि से ही यहाँ की जनता जांचने-परखने की अभ्यस्त है। यहाँ तक कि राजनैतिक क्षेत्र के लोगो के आचरण की भी यहाँ कडी आलोचनाएं हुई है और होती हैं। जीवन को धर्म से ओत-प्रोत करना हो तो उसके लिए व्रतनिष्ठा-आवश्यक है।

विश्व मे सुख-शान्ति के लिए व्रतनिष्ठा आवश्यक

मैंने पिछले प्रवचन मे विभिन्न दृष्टियो से व्रत का स्वरूप, महत्त्व और उसकी उपयोगिता बताई थी। आज व्रत के सम्बन्ध मे कुछ अन्य पहलुओ पर हम विचार करेंगे। आप यह तो भलीभाँति जानते है कि सारे ससार के सामने आज एक ही प्रमुख समस्या उपस्थित है कि मनुष्य जाति सुख-शान्ति से कैसे जीए ? सारे ससार मे अध्यात्मवाद का स्थान प्राय राजनीति ने ले लिया है। वर्तमान राजनीति का झुकाव छल, बल, प्रपच, भौतिकता, सत्तालिप्सा और अर्थ प्राप्ति की ओर ही मुख्यतया रहा है। ऐसी दशा मे सभी राष्ट्रो का ध्यान अपनी हुकूमत जमाने और सत्ता की कशमकश करने की ओर रहता है। धर्म की मर्यादाओ, नैतिकता के नियमो को प्राय ताक मे रखकर ये सब कार्य किये जाते हैं। राजनीतिज्ञो की राय बहुधा भौतिकता-प्रधान होती है। वे राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक क्षेत्र मे अनैतिकता, मर्यादाहीनता आदि के जो रोग लगे हैं, उनके मूल कारणो का विचार करके आध्यात्मिक दृष्टि से उनके निवारण का उपाय नही सोचते। वे रोगो के मूल कारणो का उपचार न करके उनके लक्षणो का उपचार करते हैं, इसी कारण ससार के राष्ट्रो का वातावरण सघर्षमय एव अशान्त बना रहता है। इसी ऊपरी उपचार के कारण पुरानी बीमारियाँ बार बार उभर आती हैं। शस्त्रीकरण मे प्रतिद्वन्द्विता, गुप्त कूटनीति, गुटबदी, युद्ध की विभीपिका आए दिन मँडराती रहती है।

यही कारण है कि राजनीतिज्ञ लोगो के दिये हुए हल से रोग घटने के बजाय बढते ही रहे। अत अध्यात्म प्रधान भारतीय सस्कृति के उन्नायको ने रोगो का सही निदान करके अहिंसा आदि व्रतो की निष्ठा ही उनके निवारण के उपाय के रूप मे

बताया था। अगर आज विभिन्न राष्ट्रो के नेता एव राजनीतिज्ञ व्रतबद्ध हो जायँ और व्रत के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय आचारसहिता को स्वीकार करलें तो विश्वशान्ति के दर्शन निकट भविष्य मे ही हो सकते हैं। व्रताचरण का मार्ग जीवनपथ के रूप मे स्वीकार करने पर व्यर्थ के सघर्ष और अशान्ति की सम्भावना नही रहती। क्योकि अहिंसाव्रत का अर्थ यही है कि प्रत्येक नर-नारी के हित साधन का समान विचार रखा जाय तथा अधिक से अधिक मात्रा मे कारगररूप मे आत्मानुभूति के अवसर प्रदान किये जायँ। इसलिए विश्वव्यवस्था की दृष्टि से व्रतबद्धता बहुत ही आवश्यक है। व्रतबद्धता ही राजनैतिको के लिए नकेल है, जो उन्हे उत्पथ पर जाने से रोक सकती है।

व्रतनिष्ठा से भौतिक विज्ञान पर अकुश लगेगा

आज ससार मे भौतिक विज्ञान का बोलबाला है। विज्ञान ने भौतिक पदार्थों के उत्पादन मे अत्यधिक तरक्की की है। उत्पादन के लिए उसने नये नये यत्र प्रदान किये हैं, जिससे ससार के सभी वर्ग नर-नारियो के लिए भौतिक सुख के साधन सुलभ हो गए, सुरक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्रादि साधन भी प्रचुर मात्रा मे हो गए। किन्तु इतना सब होने के बावजूद भी वितरण व्यवस्था ठीक नही है, मनुष्य मे शोषणवृत्ति स्वार्थ और बेईमानी आगई है। ऐसा होने का क्या कारण हुआ ? इसका उत्तर वैज्ञानिको के पास नही है। वस्तुओ की बहुलता होते हुए भी मनुष्य गरीब है, और आत्म-विकास के अनेक साधन होते हुए भी वह अन्धकार से घिरा है। अध्यात्म-प्रधान धर्म इसका उत्तर यो देता है कि उत्पादन बढने के साथ-साथ उत्पादको और उपभोक्ताओ मे जब तक धर्ममर्यादा और धर्ममर्यादा के आचरण के लिए व्रतनिष्ठा नही आयेगी, तब तक वितरण का सन्तुलन ठीक न होने से विषमता और सघर्ष अवश्यम्भावी होगा। जब दोनो वर्ग के लोग व्रत ग्रहण करके धर्ममर्यादा पर चलेंगे तब यह आपाधापी, सघर्ष और अशान्ति नही रहेगी।

भगवान ऋषभदेव युग की तरह वर्तमान मे भी व्रतबद्धता आवश्यक

युगादि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का युग अकर्मभूमि का था यौगलिक जनता न तो उत्पादन करती थी, न कोई वितरण का प्रश्न था। वह तो प्रकृति पर निर्भर रहती थी। परन्तु जब अकर्मभूमि का युग समाप्त हो गया, यौगलिक जनता मे सन्तान वृद्धि होने लगी, इधर उत्पादन होता ही नही था। इसलिए जीवनयापन की आवश्यक वस्तुओ के लिए आपस मे तू तू-मैं-मैं होने लगी। इस सघर्ष से घबराकर यौगलिक जनता भगवान ऋषभदेव के पास आई और उसने उनसे सुख से जीवनयापन का उपाय पूछा। भगवान ऋषभदेव ने जनता का हित समझकर कलाओ, विद्याओ और शिल्पो की शिक्षा दी। कहा—"अब कर्मभूमि का युग आ गया है, इसलिए श्रम किये बिना कोई चारा नही है। कृषि आदि मे श्रम करके उत्पादन बढाने पर ही जीवनयापन सुख से हो सकेगा।" किन्तु इस शिक्षा के साथ ही भगवान ऋषभदेव ने सोचा कि केवल उत्पादन होने से तो कोई व्यवस्था जमेगी नही, वितरण के समय फिर

तू-तू-मैं-मैं होगी । इसलिए यौगलिक लोगो को गृहस्थधर्म का उपदेश दिया । गृहस्थ-धर्म की मर्यादा का पालन करते हुए वितरण व्यवस्था बताई । क्षत्रिय वर्ग को न्याय और सुरक्षा की बात समझाई । इस प्रकार के उपदेश से उत्पादन, वितरण, न्याय, सुरक्षा आदि सब कार्यों के साथ धर्ममर्यादा आ गई और सघर्ष से होने वाली अव्यवस्था, अशान्ति और बेचैनी समाप्त हो गई ।

इसी प्रकार वर्तमान युग मे भी उत्पादक और उपभोक्ता यदि व्रतबद्ध होकर धर्ममर्यादा का पालन करे तथा मालिक और मजदूर दोनो व्रतमय जीवन बिताने लगें तो सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्र मे हुई अव्यवस्था समाप्त हो सकती है । क्योकि व्रत ग्रहण करने से पशुता पर नियन्त्रण लग जाएगा, जीवन अनुशासन मे चलेगा । इस प्रकार एक-दूसरे के सहयोग से जीवन सुखकर बन जायेगा ।

जैसे भगवान ऋषभदेव ने भूतपूर्व यौगलिक जनता को अनुशासित, नियन्त्रित एव धर्ममर्यादा मे अनुबद्ध करने के लिए स्वय महाव्रती बनने के बाद लोगो को व्रत ग्रहण करने की आवश्यकता बताई, वैसे ही वर्तमान युग मे भी जनता को व्रत ग्रहण करने की आवश्यकता है ।

भारत के जितने भी धर्म हैं, उन सब मे व्रतो-उपव्रतो या यम-नियमो का बहुत बड़ा महत्त्व है । किन्तु जब तक व्रतो के मूल उद्देश्य, उनके आचरण की विधि, अणुव्रतो, गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो का गृहस्थ जीवन के साथ सम्बन्ध आदि का ज्ञान भली-भाँति न हो, व्रतो की निष्ठा न हो, तब तक ऊपर-ऊपर से व्रत ले लेने पर भी मनुष्य उसमे से अपने मतलब की छूट ले ले कर उन्हे भग करता रहेगा । अत व्रतो के सम्बन्ध मे परिपक्व ज्ञान होना बहुत आवश्यक है ।

व्रतो का आदर्श छोटा न बनाओ

महाव्रत हो या अणुव्रत, दोनो का आदर्श चारित्र की पूर्णता तक पहुँचना है । गृहस्थ चाहे अणुव्रतो को ही अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण करता है, लेकिन वह अपने आदर्श को नीचा न गिरने दे । आदर्श को नीचा गिरा देने पर व्रत-पालन मे मनुष्य आगे नही बढ पाता । वह वही का वही रह जाता है । पर्वतारोही चाहे हिमालय की चोटी पर आज का आज ही न चढ सके, परन्तु वह आदर्श तो उसके शिखर को ही बनाता है । भले ही वह अभी हिमालय की तलहटी मे ही क्यो न खडा हो । इसी प्रकार साधना के सर्वोच्च शिखर पर चढने का अभिलाषी साधक भले ही गृहस्थ हो और वह आज का आज ही सर्वोच्च शिखर पर न चढ सके, चाहे वह आज अणुव्रत के पथ पर है, किन्तु उसे आदर्श को नीचा नही गिराना चाहिए, न उसे छोटा करने की जरूरत है । अर्थात् आदर्श को आप क्षीण न करें, न ही निम्न कोटि मे उतारें, न ही प्रत्येक व्रत की व्याख्या अपनी सुविधानुसार हलके रूप मे करें ।

यदि साधक अपनी सुविधा के अनुसार आदर्श को क्षीण कर लेता है यानी उसे निम्न कोटि का बना लेता है तो इसने वह अपनी ही हानि करता है, अपना

मनोबल क्षीण कर लेता है। फिर तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधानुसार व्रत का अर्थ निश्चित करके उसे ही आदर्श मान लेगा। इसप्रकार व्रतो की मूलस्पर्शी आदर्श व्याख्या को कम करके उन्हे मूल स्थान से नीचे उतार देना अपने पतन को न्योता देना है। वैसे देखा जाय तो जो पूर्ण है, वही सत्य है, वह आदर्श है, जो अपूर्ण है, वह आदर्श नही होता। आदर्श का मार्ग सीधा है ऊर्ध्वगामी है, और आदर्श को नीचे गिराने का मार्ग अधोगामी एव टेढामेढा है। उसमे मनुष्य छटकने का द्वार ढूँढता रहता है।

पूर्णता तक पहुँचने का अर्थ ही है—परमात्मा तक पहुँचना। आदर्श आपके लिए ध्रुवतारा होना चाहिए। परमात्म भाव का अनुभव प्राप्त करने के लिए ही सारे व्रत है। इसलिए व्रतो को जितनी अधिक सूक्ष्मता से आप समझ सकते हो, वहाँ तक चढने का प्रयत्न आपको करना चाहिए। आदर्श जितना ऊँचा होगा, आपका प्रयत्न भी उतना ही तीव्र और उत्कृष्ट होगा। उच्च आदर्श को सामने रखने से आपके प्रयत्नो एव कदमो के भी आगे बढने की सम्भावना बढेगी।

तात्पर्य यह है कि आदर्श को छोटा या क्षीण बना लेने पर साधक को गिरते हुए कोई सँभाल नही सकेगा, क्योकि वह अपना मनमाना अर्थ निश्चित करके बार-बार आदर्श को छोटा करता रहेगा। तब उसे सँभालना या उसकी आत्मरक्षा करना कठिन होगा। उदाहरण के लिए सत्यव्रत को लें। सत्य की व्याख्या अपनी सुविधा के अनुसार यदि आप 'सत्य का केवल ज्ञान' ही कर लेते हैं तो यह सत्य की अपूर्ण व्याख्या है, इसमे सत्य का पूर्ण आदर्श गिरा दिया है। इस आसान व्याख्या मे सत्य का आचरण करने की तो बात ही नही है। आदर्श सत्य तो वह है, जिसे जानने के बाद उस पर दृढ निष्ठा के साथ अमल किया जाय। लेकिन इस सुविधावादी व्याख्या के अनुसार सत्य का अर्थ जानकारी तक ही सीमित करने से आपका कल्याण कैसे होगा? फिर कौन सत्य को पतन से सँभालेगा? यही बात अन्य सब व्रतो या उपव्रतो के बारे मे समझ लेनी चाहिए।

इस बात को हृदयगम करने के लिए एक रोचक दृष्टान्त स्मरण आ रहा है—

गुजरात के कुछ पटेल मित्र एक बार अम्बाजी तीर्थ पर गए। उन्होंने वहाँ एक महात्मा का सत्सग किया। महात्मा ने जीवन कल्याण के लिए व्रत और नियम का महत्त्व समझाया और किसी भी व्रत या नियम को ग्रहण करने पर जोर दिया। अत एक मित्र ने तीन महीने तक लड्डू न खाने का नियम महात्माजी से ले लिया।

नियम लेते समय काफी उत्साह था। घर आने पर कुछ दिनो तक उत्साह बना रहा। एक महीने बाद ही एक मित्र के लडके का विवाह था। मित्र ने लडके की बरात मे चलने का खासतौर से आग्रह किया। इस पर मित्र के साथ वह भी बरात मे गया। वहाँ सबकी थाली मे पहले लड्डू परोसे गए, तदनन्तर दाल और पूडी

भी परोसी गई। थाली मे लड्डू आते ही उसकी भीनी-भीनी मनमोहक सुगन्ध से पटेल का मन लड्डू खाने के लिए मचल उठा, पर नियम जो लिया हुआ था, इसके कारण उसका हाथ सहसा रुक गया। पास ही मे बैठे मित्र से उसने अपनी कठिनता बताई कि 'मेरे तो लड्डू न खाने का नियम है, अब क्या करूँ ?' उसके मनचले मित्र ने कहा—"अजी वाह ! इसमे क्या बात है, यह तो बदला भी जा सकता है !"

नियम वाले पटेल ने कहा—'कैसे बदलूँ ? कोई छूट भी तो नही रखी।'

मनचला मित्र बोला—"अरे भाई ! एक मन्त्र पढ ले—

'प्रतिज्ञा मेरी मा, लड्डू से उतर कर दाल पर जा

बस, तुम्हारा नियम लड्डू से उतर जाएगा।"

उक्त पटेल ने चट से यह मन्त्र पढ दिया और लड्डूओ पर हाथ साफ करने लगा। लड्डू खाते-खाते जब वह छक गया तो अब दाल-पूडी खाने की इच्छा हो गई। पास बैठे हुए मनचले मित्र से उसने सलाह ली। उसने वही तरकीब बता दी, मन्त्र पढने की—"प्रतिज्ञा मेरी मा, दाल से उतर कर लड्डू पर जा।" सुविधा-दास उसी प्रकार मन्त्र पढकर दाल और पुडियाँ उडाने लगा।

इसी प्रकार के कई सुविधावादी लोग होते है, जो व्रतो का अपनी सुविधानुसार मनमाना अर्थ करके आत्म-सतोष कर लेते है, परन्तु यह निरी आत्म-वचना है। इससे जीवन मे व्रत एव नियम के पालन की जो दृढता, अविचलता या उत्थान-सम्भावना रहनी चाहिए, वह नही रहती। व्यक्ति चचल मन का हो जाता है, बार-बार व्रत के आदर्श को गिरा देता है। किन्तु जब व्यक्ति प्रत्येक व्रत की पूर्ण (आदर्श) व्याख्या करके वहाँ तक पहुँचने की कोशिश करता है, तो एक न एक दिन उस पूर्णता तक पहुँच सकता है। वह प्रत्येक स्थिति मे उस पूर्ण आदर्श के साथ अपने प्रयत्न का नाप-तौल करता रहेगा। साथ ही वह इस बात का चिन्तन भी करता रहेगा कि आदर्श के अनुपात मे मेरा प्रयत्न कितना हुआ है, कितना हो सकता है और कितना होना चाहिए ? इस प्रकार आत्म-चिन्तन के प्रकाश मे वह तदनुसार अपनी शक्ति को बढा सकेगा। प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने का विधान किस लिए है ? इसीलिए कि साधक अपने गृहीत व्रतो के आदर्श के परिप्रेक्ष्य मे अपना आत्मनिरीक्षण-परीक्षण करता रहे।

'कि मे किच्चं, किं मे किच्चसेसं
किं वा सक्क न समायरामि।'

"मेरे लिए क्या-क्या करणीय है ? मेरे अपने करने योग्य आचरण मे कितना शेष रहा है ? कौन-सा ऐसा आचरण है, जिसे मैं कर सकता हूँ, फिर भी नही कर रहा हूँ ?"

इस प्रकार उच्च आदर्श के साथ आत्म-परीक्षण सतत जारी रहना चाहिए। आदर्श ऊँचा होने पर भी यदि आत्मनिरीक्षण-परीक्षण मद रहा तो प्रयत्न मे शिथिलता आएगी और प्रयत्न मे शिथिलता हुई तो प्रगति नही हो पाएगी।

महात्मा गाँधी यद्यपि साधु नही बने थे, तथापि गृहस्थ जीवन मे रहते हुए भी उन्होने व्रतो का आदर्श समझ लिया था। वे जानते थे कि पूर्ण आदर्श इस जीवन मे अप्राप्य है, लेकिन आदर्श को लेशमात्र भी घटाना उन्हे पसद नही था। बल्कि आदर्श प्राप्ति की सभावना न होने के बावजूद भी भरसक प्रयत्न करने मे वे कभी चूकते नही थे।

इसीलिए मैं आपसे पुन पुन कह रहा हूँ आप अपने आदर्श को छोटा या क्षीण मत बनाइए। आदर्श को छोटा या क्षीण बनाने से क्या नतीजा होता है, इस पर मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है—

एक राजा था, उसके कोई पुत्र नही था। राजा रात-दिन इसी बात से चिन्तित रहता था कि मेरा उत्तराधिकारी कौन बनेगा ? यदि कोई उत्तराधिकारी न हुआ तो अराजकता छा जाएगी। रानी भी रात-दिन चिन्तातुर रहा करती थी कि मैं कितनी अभागिन हूँ कि एक भी पुत्र का मुख न देख सकी। एक दिन राजा ने मन ही मन निश्चय कर लिया कि आज वह निर्जन वन मे जाकर भगवान् से प्रार्थना करेगा, कि या तो वह मुझे पुत्र दे या फिर इस ससार से उठा ले। राजा ने घोर जगल मे एक पेड के नीचे बैठकर ध्यान लगाया। मन ही मन इसी प्रकार से प्रार्थना की। सकल्प मे अपूर्व बल होता है। राजा ने ज्यो ही ध्यान से आँखें खोली, त्यो ही पास ही के एक वृक्ष के नीचे एक नन्हे-से बच्चे को लेटे हुए देखा। राजा पहले तो आश्चर्य से उसकी ओर देखकर सोचने लगा—"यहाँ इस निर्जन जगल मे यह अकेला बालक कहाँ से आ गया ? इसके पास न तो कोई सरक्षक है और न ही इसकी माँ आदि कोई पालक है ?" सोचते-सोचते राजा को याद आया—"अरे ! मैंने भगवान् से प्रार्थना की थी। हो न हो मेरी प्रार्थना भगवान् ने सुन ली हो और मेरे ही भाग्य से यह बालक यहाँ आ गया हो !" राजा ने उस सुन्दर सलौने बच्चे को गोद मे उठा लिया और मन ही मन यह मनोरथ किया कि "मैं इसे ले जाकर रानी को सौंप दूंगा। जब यह बडा हो जायगा, तब इसका विवाह किसी राजकुमारी के साथ कर देंगे, सारा राज्य एव राज्य का खजाना इसे सौप देंगे और हम दोनो परमात्मा का भजन करेंगे।" राजा उस बच्चे को लेकर सीधा अन्त पुर मे पहुचा और उसे रानी को सौपते हुए कहा—"प्रिये ! लो, जिसके लिए तुम वर्षों से चिन्तित थी, उसे मैं ले आया हूँ। इसका पालन-पोषण करो, शिक्षा-दीक्षा और सस्कार दो।" राजा ने रानी के सामने अपने मनोरथों को दोहराया और इस बच्चे की प्राप्ति की कहानी अथ से इति तक सुना दी। रानी बालक को पाकर अत्यन्त प्रसन्न थी। वह बच्चे का वात्सल्य-भाव से पालन पोषण करने लगी। राजा और रानी उसे बेटा कह कर पुकारते थे। बालक के मन मे भी यह सस्कार परिपक्व होते गए कि मैं राजकुमार हूँ। राजकुमार की तरह ही उसे सब विद्याएँ, कलाएँ सिखाई गई। राजा ने उसके सामने कई बार अपने मनोरथ दोहराए थे। उसके मन मे भी यह बात पक्की हो गई कि मैं ही राजा का उत्तराधिकारी बनूँगा।

परन्तु जगत् मे कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो दूसरो की तरक्की को फूटी आँखो से भी नही देख सकते। कुछ राजदरबारी ऐसे ईर्ष्यालु थे, जिनके मन मे यह खटक थी कि हम वर्षों पुराने दरबारी है, हमे राजा कुछ पूछता तक नही और उस अज्ञात लडके को अपना सब राज्य सौपेंगे, जिसके कुल व शील का कोई पता नही। अरे! हटाओ, उस लडके को किसी भी तरह से, तभी राजा हमे पूछेगा। बस, कुछ दरबारियो ने एक प्लान बनाया, डेप्यूटेशन के रूप मे वे तथाकथित राजकुमार के पास पहुँचे और कहा—"हमे आपसे एकान्त मे कुछ बातें करनी हैं।" राजकुमार बोला—"सहर्ष करिये, मैं तैयार हूँ।"

दरबारियो ने उससे पूछा—"आप कौन हैं ?"

उसने तपाक से उत्तर दिया—"मैं राजकुमार हूँ।"

दरबारी बोले—"यह ठीक है कि आप राजकुमार कहलाते हैं। पर आप राजा के असली पुत्र तो नही हैं। आपको तो राजा कही से लाए हैं।"

राजकुमार बोला—"इससे क्या फर्क पड गया ? राजा और रानी मुझे अपना पुत्र मानते हैं, मुझ पर उनका माता-पिता का-सा प्यार है। मैं उनको अपने मा-बाप मानता हूँ, फिर मुझे क्या चिन्ता है कि मैं उनका असली पुत्र हूँ या नही ?"

दरबारी भी बडे चतुर थे। उन्होने पैतरा बदलते हुए कहा—"देखिये, आप पर राजा और रानी आज प्रसन्न हैं, कल को किसी बात पर नाराज हो गए तो आपको निकालते क्या देर लगेगी ? क्योकि आप उनके औरस पुत्र तो हैं नही। राजा, योगी, अग्नि और पानी इनका क्या भरोसा ? जब तक ये सीधे चलते हैं, तब तक तो ठीक है उलटे चलने पर ये किसी के नही होते। हम आपके हितैषी है। इसीलिए आपको सावधान करने आए हैं कि राजा जब तक आप पर प्रसन्न हैं, तब तक आप कोई ऐसा इन्तजाम कर लीजिए, ताकि राजा आपको निकाल भी दें, तब भी आप स्वतन्त्र रूप से जी सकें।"

"आपकी बात तो कुछ-कुछ जचती है, पर मुझे स्वतन्त्ररूप से जीने का प्रबन्ध क्या और कैसे करना चाहिए ?" राजकुमार ने पूछा। दरबारियो ने देखा तीर ठीक निशाने पर लग चुका है। अत उन्होने कहा—"आपको तीन चीजो का इन्तजाम कर लेना चाहिए। आप राजा से रहने के लिए एक स्वतन्त्र मकान माँग लीजिए, जिस पर आपके सिवाय और किसी का अधिकार न हो। दस-बीस हजार रुपये माग लीजिए, जिससे आप अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करके जी सकें। और किसी दासी-वासी के साथ अपनी शादी कर, लीजिए जिससे आप अपने गृहस्थ जीवन से निश्चिन्त हो जाएँ।"

"बस, बस, आपकी बात मेरे दिमाग मे पूरी तरह जच गई है। मैं ऐसा ही करूँगा।"

दरबारी लोग राजकुमार को बरगला कर चले गए, परस्पर कहने लगे—

"अब शीघ्र ही अपने मार्ग का काँटा साफ हो जाएगा।" यद्यपि राजा ने मनोरथ इस लडके के सामने कई बार दोहराया था, किन्तु अब उन दरब बहकावे मे आ जाने से उसकी मति फिर गई। राजा पर से उसका विश्वास गया। और एक दिन मुँह लटकाए हुए वह राजा के पास पहुँचा। राजा ने पुचकारते हुए राजकुमार को बिठाया और पूछा—"कहो बेटा! आज उ हो? क्या किसी ने कुछ कह दिया?"

लडके ने रोनी-सी सूरत बनाकर कहा—"पिताजी! आपकी ओर की मुझ पर बडी कृपा है, मुझे किसी ने कुछ कहा नही है। किन्तु जब भविष्य के बारे मे सोचता हूँ तो मुझे अपना भविष्य धुधला-सा नजर आता

राजा बोला—"निश्चिन्त होकर साफ साफ कहो, तुम्हें क्या च राजकुमार ने कहा—"अब तक मैं आपके अधीन रहा। मैंने अपना स्वत अपना कोई विकास नही किया। अब मैं चाहता हूँ कि मैं स्वतन्त्र रूप व्यवसाय करके अपना भाग्य अजमाऊँ! इसके लिए मुझे दस-बीस हजार रुप जाएँ। फिर मैं स्वतन्त्र मकान में रहकर स्वतन्त्र जीवन-यापन कर सकूँ, इस मुझे एक स्वतन्त्र मकान मिल जाय, और मैं अपना गृहस्थाश्रम स्वतन्त्र रूप से सकू, इसके लिए किसी भी दासी या साधारण कन्या के साथ मेरा विवाह क जाय!"

राजा इस लडके की बात सुनकर स्तब्ध रह गया। सोचने लगा—"मैंने बार इसके सामने अपना मनोरथ दोहराया, फिर भी इस लडके के दिमाग मे न फितूर घुसा है, मालूम होता है, यह किसी के बहकावे मे आकर मेरे प्रति अविश्वास हो गया है। यह माँगता है—एक मकान। मैं तो इसे सारा राजमहल और राज देना चाहता था। यह माँगता है—दस-बीस हजार रुपये, लेकिन मैं तो इसे सार राजकोष सौंपना चाहता था, यह किसी दासी या साधारण लडकी के साथ शादी करना चाहता है, जबकि मैं तो इसकी शादी किसी राजकुमारी के साथ करना चाहत था। हाय! इसने मेरे मनोरथो पर पानी फिरा दिया, अब यह लडका मेरे काम का नही रहा, क्योकि मेरे प्रति इसका विश्वास खत्म हो गया है। इसलिए इसे इसकी मनचाही चीजें देकर अलग कर देना चाहिए।" राजा ने उस लडके की तीनो माँगें पूरी कर दी और उसे पृथक् कर दिया। राजा अब पूर्ववत् अपना राज्य चलाने लगा।

कहानी पूरी हो गई। पर यह कहानी एक महान् तत्त्व की प्रेरणा दे कर जाती है। तथाकथित राजकुमार के सामने महान् आदर्श था जिसे राजा ने कई बार दोहराया था, किन्तु उसे उस आदर्श पर विश्वास न रहा और उसने सुविधावादी बन कर अपने आदर्श को छोटा बना लिया।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने व्रतो से मुक्ति (पूर्णता) पाने यानी मोक्ष का

राज्य, मुक्ति मन्दिर, मुक्ति कन्या एव आत्मगुणो की असीम निधि पाने के आदर्श को छोटा बना लेता है, पता नही, मुक्ति मिलेगी या नही, पूर्णता प्राप्त होगी या नही ? मोक्ष किसने देखा है, स्वर्गादि के सुख ही अच्छे हैं, मोक्ष मे क्या सुख है ? इस प्रकार गलत चिन्तन करके आदर्श को निम्नकोटि का (स्वर्ग पाने का) बना लेता है, अथवा स्वर्गादि के प्रति भी विश्वास न करके इहलौकिक सुख-सुविधा, काम-भोग आदि की वाछा करके एकदम नीचे दर्जे का आदर्श बना लेता है, वह व्यक्ति ऊँचा कैसे उठ सकता है ?

प्रत्येक व्रत की व्याप्ति स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक

प्रत्येक व्रत मूलस्पर्शी होता है, यानी उसका सम्बन्ध मूल तक रहता है। जैसे अहिंसा व्रत है, उसकी मूलस्पर्शी व्याख्या यह कि मन वचन-काया से निषेधात्मक एव विधेयात्मक दोनो रूप मे कृत-कारित अनुमोदित रूप से अहिंसा का पालन करना। उसी का स्थूल व्यवहार सेवा, दया, क्षमा, करुणा, सहानुभूति, सहयोग आदि के रूप मे प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्रत के विषय मे समझ लेना चाहिए। व्रत की व्याप्ति तो स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक रहती है। व्रत का मूल स्वरूप सूक्ष्म है, उसका बाह्य रूप स्थूल। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सभी व्रतो के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप होते हैं, दोनो का पालन करना अत्यावश्यक है। व्रतो की सूक्ष्मता का पालन कठिन होता है। व्रत की सूक्ष्मता को आदर्श कहते है। जैसे अहिंसा का सूक्ष्म रूप सर्वभूतात्मभाव, आत्मौपम्यवृत्ति, ब्रह्मचर्य— पूर्णब्रह्म (शुद्ध आत्मा) मे विचरण करना आदि है। व्रतो के ये सूक्ष्मरूप आदर्श ही व्रतो का स्थूलरूप मे आचरण करने मे पूर्ण सहायक होते है। इन्हे जैनदृष्टि मे निश्चयदृष्टि या भावरूप कहते है। प्रत्येक व्रत के साथ यह सूक्ष्मरूप न हो तो उस व्रत का पालन करने मे दम्भ आने की सम्भावना है, उसके पालन मे शिथिलता या शब्दस्पर्शी वृत्ति आ जाएगी। इसलिए आदर्श की कठिन ऊँची चढाई देखकर वह प्रत्येक व्रत की व्याख्या सुविधानुसार करने पर उतारू हो जाता है, यह अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारना है। इसलिए प्रत्येक व्रत की व्याख्या तो सूक्ष्म (मूल) स्पर्शी आदर्श के अनुरूप ही होनी चाहिए।

निश्चय दृष्टि से व्रतो के आदर्श रूप का चिन्तन हो

जैन-दर्शन निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो को प्रस्तुत करता है। व्रतो का चिन्तन निश्चय दृष्टि से होगा तो व्यवहार रूप तो अपने आप आ ही जाएगा। बल्कि निश्चय दृष्टि से भली-भांति चिन्तन होने से व्यवहार रूप से उस व्रत का आचरण भी यथार्थ रूप से हो जाएगा। परन्तु व्रतो का आदर्श (निश्चय) दृष्टि से जब भी चिन्तन हो, तब देह निरपेक्ष होना चाहिए, देह दृष्टि से, देह को ध्यान मे रखकर नही होना चाहिए, क्योंकि देह को ध्यान मे रखकर चिन्तन करेंगे, प्राणि-मात्र के साथ आत्मैकत्व दृष्टि से अभेद चिन्तन नही होगा, देह की न्यूनाधिकता या सामान्य विशेषत्व के विकल्प आएँगे। इसलिए देह का ध्यान रखकर व्रत के आदर्श का चिन्तन

करने जायेंगे तो वह चिन्तन व्यवहार-दृष्टि से होगा, उसमे अनेक विकल्प खडे हो जाएगे, ऐसे देहसापेक्ष चिन्तन से आदर्श का मर्यादित रूप ही ध्यान मे आएगा, वह निश्चित ही अपूर्ण होगा। इसके विपरीत आत्मा को साक्षी रखते हुए निश्चय दृष्टि से आदर्श का चिन्तन करते हैं तो वह देह-निरपेक्ष चिन्तन होगा, वह अमर्यादित और परिपूर्ण होगा। जैसे अहिंसा व्रत का पालन करने मे देहसापेक्ष चिन्तन करते हैं तो विभिन्न जीव व उनके शरीरादि विकल्प सामने आएगे और 'न मारने' तक का ही आदर्श सामने आएगा, जो अपूर्ण है। सभी आत्माओ को अपनी आत्मा के समान समझना—इस प्रकार का अहिंसा का सर्वभूतात्मभूत पूर्ण आदर्श उस चिन्तन से सामने नही आएगा। यानी देह भिन्न, निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति अथवा समस्त जीव सृष्टि के प्रति परमात्मभावना की दृष्टि अहिंसा का पूर्ण आदर्श है, जो निश्चय दृष्टि देहनिरपेक्ष भाव से आदर्श चिन्तन करने से आएगा। ब्रह्मचर्यव्रत पालन का देहसापेक्ष व्यवहारदृष्टि से चिन्तन करते हैं तो कामवासना पैदा न होना या वीर्य क्षय न होना, इतना मात्र अर्थ सामने आएगा, जो पूर्ण आदर्श रूप नही है। पूर्ण आदर्श रूप चिन्तन देहनिरपेक्ष-आत्मदृष्टि से करने पर ब्रह्मचर्य का अर्थ—शुद्धात्म (ब्रह्म) मे विचरण करना, स्त्री-पुरुष भेद मिटकर सबको आत्मरूप मानना होता है, जो पूर्ण आदर्श है।

व्रतों का उद्देश्य भी ऊंचा और महान् हो

जिस व्यक्ति को ऊचा उठना हो, उसे अपने व्रतो का उद्देश्य भी ऊचा होना चाहिए। रेल का ड्राइवर देखता है कि इजन मे भरे पानी का तापमान अभी २०० डिग्री फारेनहाइट है तो वह उसे स्टार्ट नही करता, क्योकि वह जानता है कि इतने तापमान से भाप बननी प्रारम्भ नही होगी और न इजन चलेगा। २१० डिग्री फारेन-हाइट पर जब पानी उबलकर भाप बनने लगती है तो उस शक्ति से ही विशालकाय मालगाडी हजारो मील की दूरी तय करती हुई जाती है।

रेल के इजन की तरह मनुष्य जीवन को भी शक्ति प्रदान करने वाली सत्ता है—व्रतो का महान् एव उच्च उद्देश्य।

जो अपने व्रतो का उद्देश्य महान् रखता है, उसे जब भी कोई परिस्थिति विवश करती है, तब वह उसके आगे घुटने नही टेकता। वह परिस्थिति से जूझता है, उत्साहपूर्वक यथा प्राप्त साधनो से जुट पडता है।

उपासकदशागसूत्र मे कामदेव श्रावक एव चुल्लणीपिया श्रावक को अपने व्रत से डिगाने के लिए और उनके व्रत की परीक्षा करने के लिए एक देव विकराल रूप बनाकर आता है, किन्तु उनके व्रतो का उद्देश्य महान् था, उनका सकल्प वज्रमय था। उनका मन भी प्रचण्ड था, इसलिए वे सहसा अपने व्रत से विचलित नही हुए।

गाधीजी ने व्रतो का उद्देश्य महान् और उच्च रखा था। इसलिए ब्रिटिश सरकार द्वारा कितने ही अत्याचार ढहाए जाने पर भी, जीवन मे कितने ही झझावात

आने पर तथा उनकी कटु आलोचना और उन पर मिथ्या दोषारोपण होने पर भी वे अपने व्रतों में विचलित नहीं हुए।

संसार में जितने भी प्रमुख राजनीतिज्ञ, सामाजिक क्रान्तिकारी या धर्म-प्रवर्तक या धर्म तीर्थंकर हुए हैं, उदाहरणार्थ—अब्राहम लिंकन, नेपोलियन बोनापार्ट, लोकमान्य तिलक, महर्षि कर्वे, दयानन्द सरस्वती, भगवान महावीर आदि, उन सबने जो सफलतायें पाई हैं, उनका रहस्य भी यही है कि उन्होंने अपने व्रतों का उद्देश्य उच्च, महान्, ज्वलन्त एवं प्रचण्ड बना लिया था, फलस्वरूप उनमें वह प्रचण्ड शक्ति आ गई थी, जो कोटि-कोटि विघ्न-बाधाओं को पददलित करती चली गई और वे अपने निश्चय को मूर्तरूप देने में सफल हुए।

व्रतों का उद्देश्य उच्च और महान् रखने वाले व्यक्ति का मन भी प्रचण्ड हो जाता है। व्रतों का पालनकर्ता, अपनी केन्द्रित शक्ति से महान् उद्देश्य की पूर्ति में लगता है तो सफलता स्वतः दौड़ी आती है। ढीले और पुरुषार्थरहित संकल्प और प्रयत्न होते हैं तो उद्देश्य की पूर्ति में सजीवता नहीं आती, उनके परिणाम भी तुच्छ और स्वत्वहीन होते हैं। जैनशास्त्रों में जहाँ भी किसी साधक की किसी व्रत या नियम में सफलता या कार्यसिद्धि का वर्णन आता है, वहाँ मुख्य कारण शुभ और विशुद्ध तीव्र अध्यवसाय (तीव्र भाव) को ही बताया गया है। यहाँ अन्तिम मंजिल तक पहुँचने के लिए व्रतों के महान् उद्देश्य के साथ-साथ तीव्रतम अध्यवसाय का होना जरूरी है। गीता में स्पष्ट बताया गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

—हे अर्जुन! इस संसार में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही प्रकार की होती है, जिससे हर कार्य में सफलता मिलती है। परन्तु जो लोग अनिश्चयी हैं, उनकी बुद्धियाँ चंचल होकर अनेक शाखाओं वाली बन जाती हैं, उनका कभी अन्त नहीं आता।

अतः व्रतों के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए आप जो भी कार्य करें, पूर्ण उत्साह से तथा तन, मन और साधना की पूर्ण शक्ति के साथ उसमें जुट पड़ें। आपको सफलता निश्चित ही मिलेगी।

व्रतों का उद्देश्य कर्मों की निर्जरा, आत्मशुद्धि, परमात्मप्राप्ति या वीतरागताप्राप्ति होना चाहिए, कोई लौकिक, सामाजिकप्रतिष्ठा, स्वार्थ, भय, प्रलोभन या कृपा यश का उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

दशवैकालिक सूत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है—

"न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न कित्ति-वण्ण-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा।'

—न इहलौकिक प्रयोजन से धर्माचरण करे, न पारलौकिक प्रयोजन से धर्माचरण करे, और न कीर्ति, प्रशसा, प्रशस्ति आदि की आकाक्षा से धर्माचरण करे, केवल आर्हत्पद (वीतराग-परमात्म पद) की प्राप्ति के कारणो से धर्माचरण करे।"

यही व्रताचरण के विषय मे समझना चाहिए। भय से, लोभ से या अन्य किसी सासारिक प्रयोजन से व्रत-पालन करना उचित नही है। आत्मा मे शान्ति, समता या वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही व्रतपालन श्रेयस्कर है।

व्रतसाधना का सरल उपाय

अत आँखो के सामने व्रतो का पूर्ण आदर्श तभी रह सकेगा, जब देह का ख्याल न करके हम चिन्तन करेगे और आत्मा के साक्षित्व मे—या वीतराग परमात्मा की साक्षी से—पूर्ण प्रयत्न का सकल्प करेंगे।

पूर्ण आदर्श दृष्टिगत रखकर उसे आचरण मे लाने के प्रयत्न मे आपको अपनी सारी शक्ति, समस्त सामर्थ्य समर्पित कर देनी चाहिए। '**अप्पाण वोसिरामि**' का रहस्य भी यही है, कि हम वीतराग परमात्मा की साक्षी से—व्रत का सकल्प लें, अपने समस्त विकारो को—या सावद्यकार्यों से आत्मा को हटाकर प्रभुचरणो मे समर्पित करते हैं। व्रती साधक के लिए यही शोभास्पद पुरुषार्थ है। क्योकि मोक्ष रूपी अन्तिम पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए व्रतो का पूर्ण आदर्श सामने रखकर व्रतसाधना करना ही एकमात्र सरल उपाय है। इसलिए व्रतसाधना को ही धर्मपुरुषार्थ माना गया है, जो मोक्ष पुरुषार्थ रूप फल के लिए साधन है।

आपमे से कई महानुभाव यह पूछेंगे कि हम अभी अपूर्ण है, बल्कि पचम गुणस्थानवर्ती है, साधु के गुणस्थान से भी नीचे है। ऐसी दशा मे हम व्रतो का पूर्ण आदर्श सामने रख कर प्रयत्न करने लगेंगे तो हमारा प्रयत्न पूर्ण या सफल कब और कैसे होगा ? हमारो व्रत साधना सफल होगी या नही ? इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि आप अपनी दृष्टि मे प्रत्येक व्रत का आदर्श तो पूर्ण ही रखें, और अपना प्रयत्न भी पूर्णतया जारी रखें। आपके अपूर्ण प्रयत्न की पूर्ति करने वाला, प्रयत्न को सफल करने वाला पुरुप—आत्मदेवता—शुद्धात्म देव—परमात्मा देह रूपी नगरी मे विराजमान है। वही आपकी आत्मा को अखण्ड आदर्श की सतत प्रेरणा देने वाला रहेगा। प्रयत्न आपका होगा, बल देने वाला निमित्त वह बनेगा। आपको हर क्षण परमात्मा के साक्षित्व का भान रखना चाहिए, ताकि आप व्रतो की मर्यादा को खण्डित न होने दें। वह शुद्ध-आत्मा (परमात्मा) आपकी प्रत्येक क्रिया को सतत देख रहा है, इस बात का आपको सदैव भान रखना चाहिए। उसकी प्रेरणा (जिसे शुद्ध आत्मा की आवाज भी कह सकते हैं) के विरुद्ध कभी नही जाना चाहिए। इतनी प्रामाणिकता से यदि आप प्रयत्न करते है तो आपकी अपूर्णता भी एक न एक दिन दूर होकर आपको प्रयत्न मे सफलता मिलेगी ही। सम्भव है, आपको अपनी सारी जिन्दगी के प्रामाणिक प्रयत्न की सफलता अन्तिम

समय मे सल्लेखनाव्रत (आजीवन सथारा—अनशन) के समय अठारह पाप-स्थानको एव चतुर्विध आहार का सर्वथा त्याग करने पर एकमात्र आत्मरमणता के समय मिले। आचारागसूत्र मे इसे ही आत्मवाद कहा गया है। यही दैववाद और पुरुषार्थवाद दोनो का समन्वय है।

व्रतग्रहण के बाद सतत प्रयत्न और सावधानी

यह नही समझ लेना चाहिए कि व्रत जिस क्षण लिया, तभी से उसका पूर्णतया पालन होने लगेगा। सकल्प तो व्रतग्रहण के समय भरसक पालन का लिया जाता है, किन्तु सकल्प के बाद उसके पालन का प्रयत्न करना पडता है। आप कही जाने का सकल्प करते ही क्या फौरन वहाँ पहुँच जाते है ? नही, आप पहले जाने की तैयारी करते है, सवारी का प्रबन्ध करते है, चल पडते है, तब जाकर गन्तव्य स्थान पर पहुँचते है। इसी प्रकार व्रत लेने का अर्थ है—सकल्प करना, फिर उसके पालन का प्रयत्न करना, जो शेष है। इसीलिए व्रत लेने का अर्थ यही है कि एक बार व्रत ले लेने के बाद उसके पालन का सतत प्रयत्न करना। इसीलिए इसे 'गतिशील' कहा गया है। गतिशील के मानी है—प्रयत्न को गति मिले, वह बढता ही रहे, मजिल पर पहुँचे बिना—यानी व्रत सिद्धि के बिना—बीच मे वह रुके नही। आप जब से व्रत ले, तब से उसकी पूर्णता तक सतत उसके पालन मे सतर्क रहे। व्रत ले चुकने के बाद मृत्युपर्यन्त उसके पालन का प्रयत्न मन, वचन और काया से करते रहना चाहिए। जितनी शक्ति और जितने साधन आपके पास है, वह सारी की सारी शक्ति और समस्त साधन प्रयत्न मे लगा दे। लेशमात्र भी ढिलाई व्रत-पालन मे न आने दे।

निष्कर्ष यह है कि व्रतग्रहण से पहले आप उस विषय मे ढिलाई बरतते होगे, व्रतपालन नियमित और सतत करते रहने के निश्चय पर दृढ नही रहते होगे, जरा-सा बहाना मिला कि व्रतपालन से चूक जाते होंगे, उसकी खटक भी आपके मन मे नही होती होगी, लेकिन व्रतग्रहण के बाद तुरन्त ही आप व्रतपालन के साथ पूरे बँध जायेंगे, उससे अलग नही हो सकेंगे। यानी व्रत लेते ही आप गतिशील हो गए, फिर उसके पालन मे सतत सावधानी रखेंगे, प्रत्येक अडचन का सामना करेंगे। हर हालत मे आप व्रतपालन करने पर दृढ रहेंगे। आपके निश्चय और प्रयत्न मे सातत्य रहेगा, जो मृत्युपर्यन्त टिका रहेगा।

कुछ लोग उत्साह मे आकर व्रत ले लेते है, लेकिन जब वह नित्य की वस्तु बन जाती है, तब उसके प्रति उत्साह नही रह पाता। फिर भी चूँकि व्रत लिया है, इसलिए शर्माशर्मी ऊपर-ऊपर से उसका पालन करते है। मन का सहयोग उत्तम नही होता कभी-कभी तो उसमे दम्भ और दिखावा भी होने लगता है। कुछ लोग यह भी कहने लगते है कि मन से तो व्रत का पालन कर ही रहे है, तब बाहर मे पालन की आवश्यकता क्या है ? लेकिन एक बार व्रत ले लिया, तब उसके पालन मे शिथिलता नही आने देनी चाहिए, जब तक शरीर है, तब तक वह व्रत छोडना नही चाहिए।

इस प्रकार व्रतपालन के लिए सतत गतिशील रहने एव अन्त तक निरन्तर प्रयत्न करते रहने मे ही व्रत की सार्थकता है।

व्रती बनने की योग्यता

अब आपको यह भलीभाँति समझ लेना है कि व्रतधारी कौन हो सकता है ? कोई साधक चाहे महाव्रत ग्रहण करे, चाहे अणुव्रत, उसके लिए सर्वप्रथम तीन प्रकार के शल्यो का त्याग करना जरूरी है। शल्य तीखे काँटे या तीर को कहते है। तीक्ष्ण काँटा या तीर की नोक जब शरीर मे चुभ जाती है तो प्राणान्तक पीडा देती रहती है, इसी प्रकार व्रत ग्रहण करने वाले को ये तीनो प्रकार के शल्य जिन्दगी भर पीडा देते रहते हैं, उसकी आत्मा को शान्ति प्राप्त नही होने देते, न आत्मा का विकास होने देते है। इतने खतरनाक ये शल्य हैं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने व्रती साधक के लिए सर्वप्रथम शर्त रखी है—'नि शल्यो व्रती' अर्थात् व्रती साधक को सर्वप्रथम शल्य-रहित होना चाहिए। शल्य तीन प्रकार के है—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्या-दर्शनशल्य।

मायाशल्य त्याग का तात्पर्य है—व्रतधारी जिस भाव से, जिस महान् उद्देश्य से व्रत ग्रहण करता है, उसके साथ माया (कपट) रूपी शल्य नही होना चाहिए। लोगो मे दिखावे के लिए व्रतग्रहण कर ले, किन्तु अन्दर ही अन्दर गुप्तरूप से व्रत भग करता रहे, अथवा लोगो के सामने व्रतधारी होने का स्वाग रचे, और छिपे-छिपे अना-चार-सेवन करता रहे। इससे स्वय की आत्मा निर्बल एव मलिन तो होती ही है, समाज मे जब भी उसका भडाफोड होता है, उसकी पोल खुलती है सारी प्रतिष्ठा मटियामेट हो जाती है, लोक श्रद्धा खत्म हो जाती है। ऐसे दम्भी और मायाचारी लोग दूसरो को भी व्रत लेने से निरुत्साहित कर देते है।

व्रती मे दूसरे निदानशल्य का भी त्याग होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि व्रतपालन निष्कांक्ष भाव से करना चाहिए। व्रत-पालन के पीछे किसी प्रकार की इहलौकिक या पारलौकिक कामना, नामना, एषणा या तृष्णा नही होनी चाहिए। खासतौर से फलाकांक्षा नही होनी चाहिए। व्रत-पालन का फल स्वर्गादि सुख या इह-लौकिक सुख चाहना, एक प्रकार की सौदेबाजी है। सौदा भी घाटे का है। जिस व्रत-पालन रूप विशुद्ध धर्माचरण से जन्म-जन्म के बन्धन कट सकते थे, कर्मों से मुक्ति प्राप्त हो सकती थी और नही तो पुण्यवृद्धि के फलस्वरूप वैमानिक देवलोक तक मे स्वभावत व्रती जा सकता था, उसके बदले तुच्छफल की कामना या वाछा करके व्यक्ति ससार परिभ्रमण मे वृद्धि कर लेता है। यह कितनी दयनीय स्थिति है निदान (नियाणा) कर्ता साधक की। इसलिए व्रतो का पालन किसी भी धन, सन्तान, विजय, सत्ता, स्त्री या अन्य सासारिक वस्तु की प्राप्ति या स्वर्गादि सुख, देवागना आदि की लिप्सा मे करना साधक के लिए उचित नही है।

व्रती मे तीसरे मिथ्यादर्शन शल्य का भी त्याग होना आवश्यक है। जब तक

मिथ्यात्व रहता है, तब तक व्रती का ज्ञान भी सम्यक् नही कहलाता, और न उसका चारित्र ही सम्यक् कहलाता है। व्रतधारी बनने के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व का परित्याग करना और सम्यक्त्व को धारण करना आवश्यक है। वास्तव मे मिथ्यात्व का त्याग ही एक प्रकार से सम्यक्त्व का ग्रहण करना है। जैसे सूर्योदय का होना और अन्धकार का मिटना, एक ही बात है। फिर भी व्यवहार दृष्टि से दोनो अलग-अलग माने जाते है। मिथ्यात्व त्याग करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ही जाती है।

मिथ्यात्व का अर्थ 'न जानना' नही है, अपितु 'उल्टा जानना' है।

मिथ्यात्व के सक्षेप मे १० प्रकार बताये गये है—जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व है, तथा अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व है। धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व है, तथैव अधर्म को धर्म समझना मिथ्यात्व है। इसी प्रकार साधु को असाधु मानना मिथ्यात्व है, तथा असाधु को साधु समझना मिथ्यात्व है। आठ कर्मो से मुक्त (सिद्ध) को अमुक्त (ससारी) समझना तथैव अमुक्त को मुक्त मानना मिथ्यात्व है, वीतरागदेव को कुदेव समझे, कुदेव को वीतरागदेव समझे तो मिथ्यात्व है।

इस प्रकार का मिथ्याश्रदान—मिथ्यात्व रहने पर व्रती हमेशा सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय मे पडकर सच्चा ज्ञान तथा सम्यग् श्रद्धा नही कर सकता, वह सशय के झूले मे झूलता रहता है, या विपरीत पूर्वाग्रहवश किसी वस्तु का उलटा स्वरूप पकड लेता है, या किसी वस्तुतत्त्व का यथार्थ निर्णय नही कर पाता। सम्यक्त्व आत्मा के विकास का कारण है, जबकि मिथ्यात्व पतन का।

जब व्रती मिथ्यात्व त्याग देता है तो उसमे सम्यग्दर्शन आ जाता है। सम्यक्-दृष्टि के ५ चिन्ह है, जिनसे उसकी पहचान की जा सकती है। वे हैं—शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था। इनका अर्थ स्पष्ट है। सम्यक्त्व के ८ अग भी ह, जिन्हे अपनाकर व्यक्ति आत्मविकास के पथ मे आगे बढता है—नि शकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टित्व, उपबृहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

शम का अर्थ है—कषायो की मन्दता होना। ससार वन्दीखाने जैसा मालूम होना, ससार से घृणाभाव रहना और इस जन्ममरण-रूप ससार-चक्र से बाहर निकलने की भावना रहना सवेग कहलाता है। मोक्ष की अभिलाषापूर्वक मोक्ष के लिए किया जाने वाला तीव्र प्रयत्न भी सवेग कहलाता है। आरम्भ परिग्रह से निवृत्त होने की अभिलाषा होना तथा सासारिक भोगविलासो के प्रति अनासक्ति एव विरक्ति का भाव रहना निर्वेद कहलाता है। अपनी ओर से किसी भी प्राणी को भय या कष्ट न पहुँचाना और दूसरे से भय या कष्ट पाते हुए जीव को उसमे मुक्त करने का प्रयत्न करना अनुकम्पा है। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना तथा परलोक, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप को मानना आस्तिक्य कहलाता है।

वीतराग प्ररूपित तत्त्वो के विषय मे सर्वत या देशत शका न होना नि शकितता है। परदर्शन या सासारिक फल की काक्षा न करना निष्काक्षिता है। धर्म-फल मे सन्देह न करना निर्विचिकित्सा है। गुणीजनो के गुणो के प्रति प्रमोदभाव रखना उपबृहण है। धर्म से डिगते हुए को स्थिर करना स्थिरीकरण है। देवगुरुधर्म एव शास्त्र के विषय मे मूढता न रखना अमूढदृष्टित्व है। साधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव रखना वात्सल्य कहलाता है। धर्मशासन के प्रति लोकश्रद्धा बढाने के लिए प्रभावना सूचक कार्य करना प्रभावना है।

इसी प्रकार सम्यक्त्व के पाँच अतिचारो—शका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशसा और अन्यदृष्टिसस्तव, इन पाँच दोषो से भी श्रावक को बचना आवश्यक है। इस प्रकार व्रती बनने के लिए इन तीन शल्यो का त्याग आवश्यक है।

निष्कर्ष यह है कि श्रावक चाहे मूलगुणधारी हो या उत्तरगुणधारी अथवा सम्यक्त्वधारी हो, सबमे सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है। सम्यक्त्व के अभाव मे श्रावकत्व नही रह सकता। जैसे मनुष्यो मे कोई राजा होता है, कोई मन्त्री, कोई सन्त और कोई व्यापारी आदि सामान्य मानव, परन्तु उस सबमे मनुष्यत्व का होना अनिवार्य है, इसी प्रकार कोई भी श्रावक चाहे पच अणुव्रतधारी हो, तीन गुणव्रतधारी हो या चार शिक्षाव्रत धारक, सबमे सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है।

दो धर्म और दोनो के व्रत

ससार मे सभी प्राणी एक सरीखे नही होते। मनुष्यो मे भी सभी मनुष्य एक सरीखी योग्यता, कोटि या भूमिका के नही होते। जैसे एक विद्यालय मे सभी लडके एक ही कक्षा के नही होते, इसलिए जो विद्यार्थी जिस कक्षा के योग्य होता है, उसे उसी कक्षा मे भर्ती किया जाता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे सभी साधक एक सरीखी भूमिका, कक्षा और योग्यता के नही होते। इसी दृष्टि से श्रमणशिरोमणि भगवान महावीर ने सारे साधको को दृष्टिगत रखकर मुख्यतया दो प्रकार के धर्म बताए—आगार-धर्म और अनगार-धर्म। इन दोनो धर्मो के पालन करने वालो मे से एक को आगारी और दूसरे को अनगारी बताया है। अनगार-धर्म उनके लिए है जो घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति एव जमीन-जायदाद आदि सब पर से ममत्व छोडकर श्रमण, मुनि या साधु-साध्वी बनते है। अनगार-धर्म मे भी कई श्रेणियाँ हैं—जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, भिक्षुप्रतिमाधारी, पुलाक, बकुश, कषायकुशील, निर्ग्रन्थ एव स्नातक आदि। परन्तु यहाँ मुझे इस सम्बन्ध मे विवेचन नही करना है। मुझे यहाँ आगार-धर्म के सम्बन्ध मे आपको बताना है। आगार-धर्म मे भी कई श्रेणियाँ हैं, उनका विवेचन यथासमय किया जायेगा।

हाँ, तो मैंने बताया कि धर्म का पालन करने के लिए व्रत ग्रहण करना आवश्यक है।

जब व्रतग्रहण करने की बात आई तो सहसा ये सवाल उपस्थित होते है कि किस धर्म के कौन-से व्रत है ? उनका ग्रहण किस प्रकार किया जाय ? उनमे परस्पर क्या अन्तर है ?

भगवान महावीर ने जिस प्रकार मुख्य दो धर्म बताये हैं, वैसे ही दोनो धर्मों के व्रत भी अलग-अलग कोटि के बताये है । अनगार-धर्म के व्रतो को महाव्रत कहते है और आगार-धर्म के व्रतो को अणुव्रत । अणुव्रतो का मूल्य बढाने वाले तीन गुणव्रत है और चार शिक्षाव्रत हैं । महाव्रतो का पालन साधना की ऊँची उडान भरने वाले साधु-साध्वी, मुनि या श्रमण आदि ही कर सकते है, गृहस्थ-धर्म—आगार-धर्म का पालन करने वाला गृहस्थ इतनी उच्च साधना कर नही सकता । इसलिए मैं आपको महाव्रतो के सम्बन्ध मे विशेष न बताकर अणुव्रतो के सम्बन्ध मे ही विस्तृत रूप से चर्चा करूँगा ।

भगवान महावीर ने श्रमणो के लिए पाँच महाव्रतो का विधान किया है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । साधु-साध्वियो को इन पाँच महाव्रतो का मन-वचन-काया से कृतकारित और अनुमोदन रूप से पूर्णत पालन करना पडता है । जिन व्रतो का पालन श्रमणो को पूर्णत करना पडता है, गृहस्थ उनका आशिक रूप से ही पालन कर सकता है । गृहस्थ के लिए भगवान महावीर ने बारह व्रतो का विधान किया है । इन बारह व्रतो में साधु के पाँच महाव्रतो का समावेश भी हो जाता है । परन्तु गृहस्थ ससारी होता है, घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि रखता है, इसलिए इन व्रतो का पालन करने के लिए आवश्यक रूप से छूट रख लेता है ।

गृहस्थ के लिए जिन बारह व्रतो का विधान किया गया है, वे तीन भागो मे विभक्त हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत । पाँच अणुव्रतो का रूप इस प्रकार है—स्थूल प्राणातिपात-विरमण (अहिंसाणुव्रत), स्थूलमृषावादविरमण (सत्याणुव्रत), स्थूल अदत्तादानविरमण (अस्तेयाणुव्रत), स्वदार-सतोष-परदारविरमण-व्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) एव परिग्रहपरिमाणव्रत (अपरिग्रहाणुव्रत) ।

अणुव्रतो और महाव्रतो का सम्बन्ध

वैसे तो पाँच महाव्रतो और पाँच अणुव्रतो के नाम मे साम्य है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये ही नाम महाव्रत के है, ये ही अणुव्रत के हैं । परन्तु इनके पालन मे बहुत ही अन्तर है । महाव्रतो मे अहिंसा आदि का पूर्णरूप से पालन करना होता है, जबकि अणुव्रतो मे अहिंसा आदि का आशिक रूप से पालन किया जाता है । इसीलिए व्रतो के नाम की दृष्टि से अणुव्रत और महाव्रत मे कोई अन्तर नही है, दोनो ही मोक्ष-यात्रा के लिए अपने-अपने स्थान पर अनिवार्य है ।

एक सन्त ने उपस्थित श्रोताओ से पूछा—"दिल्ली से लाहौर जाने के कितने रास्ते है और कितने प्रकार के यात्री है ?"

श्रोता प्रश्न सुनते ही पहले तो चकराए। फिर एक श्रावक ने कहा—"महाराज ! यहाँ से लाहौर जाने का रास्ता तो एक ही है, उसी दिशा से जाना पडता है और यात्री कई प्रकार के हो सकते हैं—कोई यात्री रेलगाडी से जाता है और कोई हवाई जहाज से। पहुँचते दोनो ही लाहौर है। एक देर से पहुँचता है, दूसरा तीव्र-गति से पहुँचता है।"

"भाइयो ! इसी तरह मोक्ष जाने का रास्ता तो अहिंसा आदि व्रतो का एक ही है। सभी मोक्षपथ के पथिक अन्त मे मोक्ष पहुँचते है। एक द्रुतगति से मोक्ष पहुँचता है, दूसरा धीमी गति से पहुँचता है। मोक्ष-यात्री दोनो ही हैं, पर दो किस्म के हें। एक विमान यात्री की तरह तीव्रगामी यात्री है, दूसरा रेलयात्री की तरह मन्द-गामी यात्री है। इसी प्रकार महाव्रती और अणुव्रती को समझो।" सन्त ने रहस्य खोलते हुए कहा।

अणुव्रत और महाव्रत का भी सापेक्ष सम्बन्ध है। इस बात को मैं एक उदाहरण देकर समझाता हूँ—

किसी जगह कुछ लडके खेल रहे थे। उनमे मन्त्री का भी एक लडका था। बादशाह ने लडको को खेलते हुए देखा और उनकी बुद्धि की परीक्षा के लिए उन्होने लकडी से एक लकीर खीच दी। सब लडके बादशाह को प्रणाम करके चारो ओर खडे हो गए। बादशाह ने उन सब लडको को सम्बोधित करते हुए कहा—"बच्चो ! क्या तुममे से कोई लडका इस लकीर को बिना मिटाए छोटी कर सकता है ?"

यह सुनकर सब लडके आश्चर्य और विचार मे पड गए। सोचने लगे—"यह लकीर मिटाने से तो छोटी हो सकती है, परन्तु बिना मिटाये कैसे छोटी हो ?" तभी मन्त्री का लडका आगे आया और बादशाह से कहा—"मैं इस लकीर को बिना मिटाए छोटी कर सकता हूँ। आप मुझे अपनी लकडी दीजिए।" बादशाह ने मन्त्री-पुत्र को अपनी लकडी दे दी। उसने चट से उस लकीर के पास ही एक बडी लकीर और खीच दी और बादशाह से कहा—"लीजिए, हुजूर ! आपकी खीची हुई लकीर छोटी हो गई है।" मन्त्री के लडके ने जब बादशाह की खीची हुई लकीर के पास ही उससे बडी लकीर खीच दी तो स्वाभाविक ही वह लकीर छोटी हो गई। अत बादशाह ने लडके की पीठ थपथपाते हुए कहा—"शाबाश, बेटे ! बाप का सस्कार बेटे मे आता ही है।"

जैसे दो लकीरो मे छोटापन और बडापन सापेक्ष था, अर्थात् बडी लकीर होने से दूसरी छोटी कहलाई, और छोटी होने से दूसरी बडी कहलाई। इसी प्रकार महाव्रत अणुव्रत की अपेक्षा बडे होने से महाव्रत कहलाते हैं और महाव्रतो की अपेक्षा अणुव्रत छोटे होने से अणुव्रत कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि अणुव्रत तभी कहलाएँगे, जब महाव्रत होंगे और महाव्रत भी तभी महाव्रत कहलाएँगे, जब अणुव्रत होगे।

अणुव्रत और महाव्रत · परस्पर पूरक

दूसरी दृष्टि से देखे तो अणुव्रत और महाव्रत एक-दूसरे के पूरक है। जैसे जल के अभाव मे कमल नही टिक सकता, उसी प्रकार श्रावकधर्मपालक अणुव्रती के अभाव मे साधुधर्मपालक महाव्रती टिक नही सकता। अणुव्रत रूपी जल की विद्यमानता मे ही महाव्रत रूपी कमल विद्यमान रह सकता है। बहुत-से लोग यह सोचते है कि हम अपने आप ही अणुव्रतो से आगे बढ जाएँगे, हमे महाव्रती की क्या अपेक्षा है? परन्तु यह भी अदूरदर्शिता का फल है। महाव्रती के आदर्श तथा मार्गदर्शन के विना अणुव्रतपालन भी यथार्थ रूप से नही हो सकता। महाव्रती समय-समय पर अणुव्रती के अणुव्रत-पालन मे आने वाली कठिनाइयो एव विघ्नवाधाओ से मुक्त होने का उपाय वताता है। क्योकि महाव्रती को इस मार्ग का गहरा अनुभव होता है, वह यह वता देता हे कि कहाँ-कहाँ क्या-क्या खतरे आते है? क्या-क्या अडचने उपस्थित होती है? साथ ही यदि अणुव्रती कही गलती या भूल कर रहा हो तो महाव्रती उसे सावधान करके उसकी गलती को सुधरवा देता है।

श्रावक को जो भी व्रत लेना हो, उस सम्बन्ध मे पहले महाव्रती साधु से परामर्श कर लेना चाहिए। उसके सभी पहलुओ, स्थूल-सूक्ष्म व्याख्याओ को समझ लेना चाहिए क्योकि महाव्रती साधु व्रतो के विषय मे गृहस्थो से अधिक अनुभवी होते है, आगे बढे हुए होते है। इसलिए उनसे ही व्रत ग्रहण करना ठीक रहता है। वे व्रतो के सम्बन्ध मे कोई भूल होती होगी तो उससे सावधान कर देंगे। व्रतो का उद्देश्य भी वता देंगे। उनसे व्रत ले लेने के वाद श्रावक को उनके पालन का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

व्रतो का परस्पर सम्बन्ध

वैसे देखा जाय तो श्रावकधर्म के अन्तर्गत कुल वारह ही व्रत आ जाते है। परन्तु जैसे सभी मिठाइयाँ चीनी या शक्कर से वनी होने पर भी उनके खरीदने के सम्बन्ध मे विभिन्न ग्राहको की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती है, वैसे ही सभी व्रत धर्मरूप होने पर भी व्रत ग्रहण करने वाले की रुचि, योग्यता और शक्ति पृथक्-पृथक् होती है। इसी कारण श्रावक व्रत के वारह भेद वताए है। पाँच अणुव्रत तो मूल है। वे तो प्रत्येक गृहस्थ श्रावक को व्रती वनते समय ग्रहण करने होते है। किन्तु तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का ग्रहण अणुव्रती की रुचि, शक्ति और योग्यता पर निर्भर है।

पाँच अणुव्रतो का परस्पर एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि सब व्रतो का स्वरूप भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, व्रत सम्बन्धी कल्पनाएँ भी पृथक्-पृथक् प्रकार की दिखाई देती है। फिर भी सबका अर्थ एक ही है, यानी सब व्रतो का हेतु एक ही है। वह है—देहाध्यास क्षीण करके, आत्मा के साथ लगे हुए हिंसा आदि विकारो को दूर करके अद्वैत-अभेद का अनुभव करना। अद्वैत का अनुभव करने का अर्थ है—आत्मौपम्य का अनुभव करना। जैसी आत्मा चीटी मे है, वैसी ही हाथी, घोडे, गाय और मनुष्य मे है। मेरे प्रति हिंसा आदि मे जैसे मुझे दुख होता है, वैसे

इनके ४९ भगो[1] मे से श्रावक त्याग की मर्यादा की अपेक्षा ८ प्रकार के होते ह—

(१) दो करण तीन योग से हिंसादि का त्यागी
(२) दो करण दो योग से ,, ,, ,,
(३) दो करण एक योग से ,, ,, ,,
(४) एक करण तीन योग से हिंसादि का त्यागी ।
(५) एक करण दो योग से ,, ,, ,,
(६) एक करण एक याग से ,, ,, ,,
(७) उत्तरगुणधारी श्रावक जिसमे भग नही है ।
(८) अव्रती श्रावक, जो व्रत ग्रहण नही करता, केवल सम्यक्त्वी रहता है ।

---

१ ४९ भगों (विकल्पो) का चार्ट इस प्रकार है—

अक	भग	क	यो	विवरण
११	९	१	१	करू नही मनसा, करू नही वचसा, करू नही कायेन
				कराऊँ नही ,, कराऊ ,, ,, कराऊ ,, ,,
				अनुमोदू ,, ,, अनुमोदू ,, ,, अनुमोदू ,, ,,
१२	९	१	२	करू नही मनसा वचसा, वचसा कायेन, मनसा कायेन
				कराऊ नही ,, ,, ,, ,, ,, ,,
				अनुमोदू नही ,, ,, ,, ,, ,, ,,
१३	३	१	३	करू नही, मनसा, वचसा, कायेन
				कराऊ नही ,, ,, ,,
				अनुमोदू ,, ,, ,, ,,
२१	९	२	१	करू नही कराऊ नही मनसा, वचसा, कायेन
				करू ,, अनुमोदू ,, ,, ,, ,, ,,
				कराऊ ,, ,, ,, ,, ,, ,,
२२	९	२	२	करू नही कराऊ नही मनसा वचसा, वचसा कायेन, मनसा कायेन
				करू नही अनुमोदू ,, ,, ,, ,,
				कराऊ नही ,, ,, ,, ,, ,,
२३	३	२		करू नही, कराऊ नही मनसा, वचसा कायेन
				करू नही अनुमोदू नही ,, ,, ,,
				कराऊ नही ,, ,, ,, ,, ,,
३१	३	३		करू नही, कराऊ नही अनुमोदू नही मनसा, वचसा, कायेन
३२	३	३	२	करू नही, कराऊ नही, अनुमोदू नही, मनसा वचसा, मनसा कायेन, वचसा कायेन
३३	१	३	३	करू नही, कराऊ नही, अनुमोदू नही, मनसा, वचसा, कायेन

श्रावक के ये आठ मूलभेद है, शास्त्रकारो ने एव आचार्यो ने इन्ही ८ भेदो के ३२ भेद बतलाए है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण, ये पाँच अणुव्रत हे। विभिन्न रुचि के अनुसार अधिकाश श्रावक इन पाँचो अणुव्रतो का स्वीकार एव पालन करते है, कतिपय श्रावक कम ज्यादा का। और फिर पाँचो व्रत लेने वाले भी सब समान रूप से नही लेते। किन्तु ऊपर बताए हुए ६ भगो मे से विभिन्न भगो से लेते है। कई पाँचो व्रत पहले भग के अनुसार, कोई दूसरे भग के अनुसार और कोई तीसरे, चौथे, पाँचवें या छठे भग के अनुसार लेते है। यो पूर्वोक्त छह भगो के आधार पर पचाणुव्रत ग्रहणकर्ता श्रावको के छह भेद हुए। इसी तरह ही छह भेद चार व्रत लेने वाले के, छह भेद तीन व्रत लेने वाले के, छह भेद दो व्रत लेने वाले के और छह भेद एक व्रत लेने वाले के होते है। यो कुल मिलाकर तीस भेद हुए। इकत्तीसवा भेद उत्तर गुणव्रतधारक का और बत्तीसवा भेद अव्रती श्रावक का। इस प्रकार कुल योग करने से श्रावक के ३२ भेद हुए।

यद्यपि व्रती श्रावक के लिए ४६ भग अणुव्रत ग्रहण करने हेतु बताए है, और ३२ भेद भी बताए है, किन्तु वर्तमान मे दो करण तीन योग से ही पापो का त्याग गृहस्थ श्रावक करता है, वह उच्च श्रावक कहलाता है। यद्यपि प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक तीन करण और तीन योग से भी अणुव्रतो का ग्रहण एव पालन करते है, मगर वे विरले ही होते है। उनकी सी त्याग विधि समस्त गृहस्थ श्रावको के लिए अपनाना अनिवार्य नही है।

कोई यह कह सकता है कि श्रावक के व्रतग्रहण करने के हेतु ४६ भग (विकल्प) है, उनमे तीन करण तीन योग से भी व्रतग्रहण का एक भग है, फिर सिर्फ दो करण तीन योग से व्रतग्रहण करने वाले को ही उच्च श्रावक क्यो माना जाय? क्या यह शास्त्र विरुद्ध कथन नही है?

इसका समाधान मैं पहले कर चुका हूँ। जो गार्हस्थ्य जीवन की जिम्मेवारी से हटकर प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक की जिम्मेवारी ले लेता है, वह तीन करण तीन योग से व्रतग्रहण कर सकता है। पर जिस पर अभी गृहस्थाश्रम की जिम्मेवारी है, वह इस प्रकार के विकल्प से त्याग नही कर सकता। हाँ, वह स्वयम्भूरमण समुद्र के मत्स्य वध का तीन करण तीन योग से त्याग कर सकता है, क्योकि वहाँ तक कोई मनुष्य पहुँच ही नही सकता। अन्य स्थितियो मे आम श्रावक दो करण तीन योग से ही हिंसा, असत्य आदि पापो का त्याग कर सकता है। अनुमोदना का त्याग वह कर नही सकता, क्योकि उसे कई ऐसे लोगो से भी अपना नाता-रिश्ता रखना पडता है, जो मासाहारी हो, अथवा अन्य पापो का त्याग न किये हुए हो। उसके परिवार मे भी कोई ऐसा व्यक्ति हो तो उसके साथ उसे रहना पडता है। इसलिए सवासानुमति और मनसानुमति दोनो प्रकार की अनुमति की छूट वह रखता है। हालाकि वह अपने

सम्बन्धी को वचन से और काया से किसी पाप की अनुमति नही देता, किन्तु उसके साथ रहने, परिचित होने या उसके सम्बन्धी होने के नाते उसकी मूक अनुमति तो हो ही जाती है। वह स्वय स्थूल हिंसा आदि नही करता, दूसरो से भी नही कराता, किन्तु गार्हस्थ्य त्यागी न होने के कारण उसने अपने परिवार से ममत्व भाव का छेदन नही किया है, अत परिवार मे पुत्र-पौत्र या और कोई परिजन हिंसादिकर्ता हो तो वह उसे न तो सहसा स्वय छोड सकता है, न उसके साथ परिचय का भी सहसा त्याग कर सकता है।

यद्यपि गृहस्थ श्रावक अपने साथ रहने वाले पुत्र-पौत्रादि को हिंसादि करने को कहता नही, न हिंसादि करवाता है, तथापि उनके साथ रहने के कारण उनके द्वारा की हुई हिंसादि से ससर्गदोप ही नही लगता , कभी-कभी उसे गृहस्थ कार्य के लिए प्रेरणा भी देनी पडती है। उदाहरणार्थ—दो करण तीन योग से व्रत स्वीकार करने वाले ने किसी से कहा—उठो, भोजन कर लो। किन्तु खाने वाला राज्याधिकारी है, और अभक्ष्यभोजी है, उसे वह सात्त्विक भोजन खिलाकर अपनी ओर मोड भी सकता है। इसी प्रकार कोई राज्याधिकारी है, वह उक्त श्रावक के यहाँ ठहरा है, भोजन करने के लिए वह स्वय होटल मे जाकर अभक्ष्य पदार्थ खाता है, या अपेय पदार्थ पीता है, अब अगर वह श्रावक उसके साथ सर्वथा सम्बन्ध तोड ही देता है तो क्लेश वृद्धि की सम्भावना है। सम्बन्ध रखकर तो उसे सन्मार्ग पर लाया भी जा सकता है। सम्बन्ध तोड देने पर तो उसका अधिक पापी होना सम्भव है।

राजिया वाजिया सेठ कच्छ के बहुत बडे सामुद्रिक जैन व्यापारी व श्रावक थे। उनका माल दूर-दूर तक ईरान, जावा, सुमात्रा, आदि देशो मे जहाजो के द्वारा जाता था। उनके जहाजो मे कई नाविक ऐसे भी थे, जो परम्परागत मासाहारी थे। श्रावक राजिया वाजिया के प्रति वे पूर्ण वफादार थे, कुशल नाविक थे। समुद्र मे कई बार समुद्री लुटेरो से भी उनका वास्ता पड जाता था। मगर वे प्राणप्रण से सेठजी के जहाजो मे लदे हुए माल की सुरक्षा करते थे।

मान लो, राजिया वाजिया श्रावक उन्हे नौकर न रखते तो काम कैसे चलता ? अनुमोदन का पाप तो लगता, लेकिन दो करण तीन योग से लिए हुए हिंसादि त्याग के व्रत मे कोई आँच नही आती। बल्कि सेठ राजिया वाजिया के सम्पर्क से उन्होने आगे चल कर मासाहार का त्याग कर दिया। एक बार एक समुद्री लुटेरे 'चोल खोजगी' ने राजिया वाजिया सेठ के जहाज पर हमला कर दिया, तब बडी बहादुरी से उन नाविको ने लड कर उसे गिरफ्तार कर लिया। वाजिया सेठ के सामने उपस्थित किया। वाजिया सेठ के पहरेदार नगी तलवार लिये, चोल खोजगी को मृत्यु दण्ड देने हेतु उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा मे खडे थे। चोल खोजगी उनसे प्राणो की भिक्षा माग रहा था। पर्युषण के दिन थे। वाजिया सेठ ने चोल खोजगी को वचन बद्ध कराकर अभयदान दे दिया। और उसे एक जहाज के कप्तान के नीचे नौकर रख लिया।

अव क्या था, उसने उसी दिन से समुद्री लुटेरापन छोड दिया । सेठ का कार्य भी वफादारी से करने लगा ।

इस प्रकार अनुमोदन का त्याग करने मे श्रावक के लिए अडचन तो आती है, लेकिन व्यावहारिक कार्य रुकते नही और अहिंसक श्रावक के सम्पर्क मे हिंसक व्यक्ति भी सुधर जाता है ।

मगध के महामत्री अभयकुमार ने कालसौकरिक के पुत्र से मित्रता का सम्बन्ध जोडा था । अभयकुमार श्रावक था, वह जानता था कि इसका पिता कसाई है, और कसाईपन छोड नही सकता, फिर भी कालसौकरिक के पुत्र मे जीवन-सुधार की लगन देखकर उससे सम्बन्ध कायम रखा । परिणामस्वरूप उसका जीवन सुधर गया ।

उपासकदशागसूत्र मे महाशतक श्रावक का वर्णन है । उसकी तेरह पत्नियो मे से रेवती अत्यन्त क्रूर थी, उसने अपनी सौतो को विषप्रयोग और शस्त्रप्रयोग से मार डाला था । उन सौतो के जेवर, धन, गोकुल आदि सब पर कब्जा जमा कर वह मालकिन वन वैठी ।

रेवती जैसी स्त्री मिल जाने पर श्रावकव्रतधारक पुरुष क्या कर सकता है ? जरा गहराई से सोचिए । वर्तमान युग मे प्राय अविवेकी लोग ऐसी स्त्री को या तो मार डालते है या घर से वाहर निकाल देते है या उसे जाति वहिष्कृत कर देते हैं । फिर चाहे वह विधर्मी वन कर या दुराचारिणी वन कर उससे भी अधिक पापकर्म क्यो न कमाए । मगर महाशतक दूरदर्शी श्रावक था । उसे रेवती की करतूतो का पता न चला हो, ऐसा तो असम्भव है । महाशतक श्रावक ने उस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार न तो उसे मारा और न उसे घर से वाहर निकाला । सम्भव है, उससे कहा-सुनी तो की होगी । उस समय के लोग हिंसा की अपेक्षा व्यभिचार को वहुत अधिक बुरा मानते थे । इसलिए सम्भव है—महाशतक ने यह सोचा होगा कि रेवती हिंसक होते हुए भी व्यभिचारिणी नही है, मेरे प्रति इसकी भक्ति है । मैं इसका वध तो कर ही नही सकता, क्योकि मैंने दो करण तीन योग से हिंसा का त्याग किया है । अगर इसे घर से निकाल दिया गया तो सम्भव है व्यभिचारिणी वन जाय और अधिक हिंसक भी वन जाय । तव तो दोनो कुलो को वदनाम करेगी । शायद इस विचार मे महाशतक ने रेवती को घर से न निकाला होगा । स्वय ही उससे विरक्त होकर श्रावक प्रतिमा ग्रहण कर ली । फिर भी वे गृहस्थाश्रम को त्याग न सके, रेवती के साथ रहने से संवासानुमोदन पाप से वे वच नही सकते थे । इसलिए दो करण तीन योग से ही उन्होने व्रत लिये । इस प्रकार सामान्य गृहस्थ श्रावक अनु-मोदन जनित पाप का भागी होने से वह तीन करण तीन योग से व्रतग्रहण नहीं करता ।

गृहस्थ श्रावक अपनी जाति से सर्वथा सम्वन्ध विच्छेद नही कर सकता ।

जाति के अधिकाश लोग स्थूलहिंसा न करेंगे, न करायेंगे, इस बात का तो वह ठेका ले सकता है, लेकिन जो जातीय लोग हिंसा करते-कराते है, उनके साथ सम्बन्ध रखने से अनुमोदनजनित हिंसा से वह बच नही सकता। इस बात को लक्ष्य मे रखकर ही गृहस्थ श्रावक के लिए कहा गया कि वह किसी भी जाति मे रहकर स्थूलहिंसा का दो करण तीन योग से त्याग कर सकता और श्रावकत्व निभा सकता है। इस प्रकार की त्याग विधि से उसके ससार व्यवहार मे कोई रुकावट नही आती।

कई लोग यह कहा करते हैं कि जैनधर्म के इन अणुव्रतो का पालन कोई विरक्त गृहस्थ, एकाकी लोकसेवक या विधवा भले ही कर ले, धनिक, सत्ताधारी, विद्वान् भरे-पूरे परिवार वाले गृहस्थ इन व्रतो का पालन नही कर सकते। वे चारो ओर से नियमो मे जकड जाने के कारण इन व्रतो को निभा नही सकते। परन्तु समझने-समझाने की कमी के कारण ही ऐसा कहा जाता है। जिस गृहस्थ को अपनी आत्मा का उत्थान करना है, देह और देह से सम्बन्धित पदार्थों पर से आसक्ति हटा-कर शुद्ध आत्मभाव मे रमण करना है, उसे इस विधि से व्रत लेकर अभ्यास किये विना कोई चारा नही है। जिसकी भावना भवभ्रमण से छूटने की एव आत्मजागृति की है, उसे आत्म-कल्याण, परमार्थ, परमात्मा की उपासना अपनी गार्हस्थ्य मर्यादा मे रहकर करने के लिए इस विधि से व्रत ग्रहण करने पर उसके पालन मे कोई अड-चन नही आती। हाँ, व्यर्थ की पापजनक बातो, दुर्व्यसनो, अनावश्यक आरम्भ-समा-रम्भो, निरर्थक सग्रह, चोरी, बेईमानी आदि से धनोपार्जन, असत्याचरण से सुख-सुविधा प्राप्ति आदि का पाप-कार्यो का तो त्याग करना ही होगा। पर अभ्यास हो जाने पर उसे कोई भी व्रतपालन अटपटा नही लगेगा।

मैंने व्रतो के ग्रहण करने के सम्बन्ध मे प्राय सभी बातें स्पष्ट कर दी है। मैं चाहता हूँ कि आप व्रतग्रहण करने की भावना बनाएँ और अपनी आत्मा पर आए हुए विकारो को दूर करके उसे शुद्ध, उज्ज्वल एव पवित्र बनाएँ।

4

अणुव्रती, श्रमणोपासक और श्रावक

मानवजीवन का लक्ष्य उस परिपूर्णता को प्राप्त करना है, जिसे मुक्ति, शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति, परमात्मपद की उपलब्धि कहते हैं। परन्तु इस पूर्णता तक पहुँचना सचमुच बहुत ही कठिन है। बुद्धिमान, समत्वयोगी, महाव्रती श्रमण इस परम गोपनीय तत्त्व को प्राप्त कर अपनी मुक्ति के भागी तो बनते ही है, साथ ही हजारो अन्य मुमुक्षुओ को आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर करने मे भी वे समर्थ होते हैं।

एक बात निश्चित है कि अणुव्रत के अधिकारी भी वही सद्गृहस्थ भाई-बहन हो सकते है, जो महाव्रतियो मे इस विषय का अनुभव ग्रहण करते है, उनके प्रति जिनमे श्रद्धा, विश्वास और जिज्ञासा होती है। सद्गृहस्थ की केवल जिज्ञासा ही उसे अधिकारी नही बना देती, वरन् अणुव्रत के तत्त्वो मे अवगाहन की उसमे पात्रता भी होनी आवश्यक है। अधिकारी व्यक्ति ही अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत ग्रहण कर सकते है। जो भय और मोह की स्थिति मे डगमगाएँ नही, जिनमे इतनी दृढता, गम्भीरता और कठिनाइयो को सहन करने की भी क्षमता हो कि वे साधनाकाल की ऊँची-नीची, टेढी-तिरछी परिस्थितियो मे भी अपने व्रतो पर अडिग रह सके। वस्तुत वही अणुव्रत ग्रहण करने के अधिकारी होते है।

अणुव्रती श्रावक जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए इस बात को भली-भाँति हृदयगम कर लेना है कि मुझे रोजी-रोटी कमाने और शरीर यात्रा को ढोते रहने मे ही अपनी सारी शक्ति को समाप्त नही कर देना है। यदि वह उस सीमा मे सकुचित बना रहा, लक्ष्य के अनुसार आगे न बढ सका तो फिर वह जो कुछ कार्य करेगा, वह तुच्छ स्वार्थ एव क्षणिक लाभ के लिए ही होगा। सत्कर्मो के पीछे भी भौतिक लाभ की आकाक्षा छिपी रहेगी। श्रमणो की उपासना भी वह तुच्छ स्वार्थ की पूर्ति की दृष्टि से करेगा। श्रेष्ठ कार्य निष्काम या निखालिस हृदय से करने का साहस ही उसमे उत्पन्न न होगा।

इसीलिए तीर्थंकरो और महान् आचार्यो ने बताया है कि यदि अणुव्रती सद्गृहस्थ अपना आत्म-विकास पूर्णतया करना चाहता है तो आत्म-विकास के पथ पर आगे बढे हुए महाव्रती साधु-साध्वियो की शरण मे जाकर उनसे उसे यथार्थ अनुभव प्राप्त करना चाहिए।

वर्तमान मे कई श्रावक नामधारी अणुव्रतो को जानते ही नही, और न जानने का प्रयत्न ही करते है। कई जानबूझकर भी श्रावकधर्म के आचरण के प्रति उदासीन है। अगर अणुव्रती श्रावक विवेकी और समझदार हो तो महाव्रती श्रमण अपनी साधना यथार्थ रूप से कर सकता है, अन्यथा महाव्रती साधु-साध्वियो को शुद्ध सात्त्विक आहार मिलने मे बडी कठिनाई होती है। अणुव्रती श्रावक अविवेकी बनकर रजोगुणी और तमोगुणी भोजन करने लगें तो महाव्रती साधुओ को सात्त्विक भोजन कहाँ से प्राप्त होगा ? इसलिए अणुव्रतरूप श्रावकधर्म और महाव्रतरूप साधुधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अणुव्रती श्रावक मे विवेक होगा तो साधुवर्ग भी अपने महाव्रतो का यथार्थ रूप मे पालन कर सकेगा। 'श्रमणोपासक' पद भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। श्रमणोपासक को अपना जीवन, खान-पान और रहन-सहन भी सात्त्विक बनाना पडता है। यो तो श्रमण-श्रमणी वर्ग ऐसे सभी घरो से भी आहार ले सकते है, जो श्रमणोपासक का न हो, फिर भी श्रमणोपासक को पूर्ण विवेक और विचार खान-पान, रहन-सहन आदि मे रखना चाहिए। कई श्रमणोपासक आजकल देखा-देखी या पाश्चात्य लोगो के सम्पर्क मे आकर मद्य, मास, अडे आदि अभक्ष्य वस्तुओ का सेवन करने लग गए हैं, कई श्रमणोपासक नामधारी तो कॉडलिवर ऑइल, माल्ट, हेमोग्लोबिन आदि अभक्ष्य दवाइयो का भी सेवन करने लगे है। एक कवि ने ऐसे नामधारी श्रावको की चर्या पर तीखा और वास्तविक कटाक्ष किया है—

> श्रावको ने अपना सब गौरव गँवाया इन दिनो।
> उच्चतम जीवन निरा पामर बनाया इन दिनों॥
> शास्त्र का व्याख्यान अब क्यो कर भला आए पसद ?
> भैरवी की बहार मे आनन्द पाया, इन दिनो॥
> छान कर पीते हैं पानी, स्थावरों की है दया।
> कठ पर दीनो के झट खजर चलाया इन दिनो॥

तात्पर्य यह है कि श्रमणोपासक बनने के लिए तदनुरूप जो व्रत बताए गए है, उनका निष्ठापूर्वक मन-वचन-काया मे पालन करने पर ही कोई व्यक्ति श्रमणोपासक कहला सकता है।

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि मेरा जन्म श्रमणोपासक या श्रावक के घर मे हुआ है, इसलिए मैं भी श्रमणोपासक हूँ, यह गलत है। डॉक्टर के घर मे जन्म लेने से किसी को डाक्टर नही कहा जा सकता, जब वह डॉक्टरी परीक्षा पास कर लेता है तभी उसे डॉक्टर कहा जाता है। इसी तरह वकील का पुत्र होने से कोई उसे वकील नही कह सकता। वकील तो वह तभी कहलाएगा, जब वकालत पास कर लेगा। महात्मा गाधी जी बैरिस्टर थे, तो क्या उनके लडको को कोई बैरिस्टर कहता है ? कदापि नही। इसी प्रकार कोई व्यक्ति श्रमणोपासक के व्रतो का पालन न करे और स्वय का श्रमणोपासक का पुत्र होने के नाते श्रमणोपासक कहे तो शास्त्रीय एव व्यावहारिक

दोनो दृष्टियो से यह बात गलत है। जीवन मे अणुव्रत न हो तो कोई भी व्यक्ति उसे अणुव्रती नही कह सकता। उपासकदशागसूत्र मे आनन्द, कामदेव, महाशतक आदि श्रमणोपासको (श्रावको) के जीवन का वर्णन किया गया है, वहाँ पर आनन्द आदि को जैसे श्रमणोपासक कहा है, वैसे उनके पुत्रो को श्रमणोपासक नही कहा है, बल्कि महाशतक श्रमणोपासक की पत्नी रेवती को भी वहाँ श्रमणोपासिका नही बताया है, क्योकि उसके जीवन मे श्रमणोपासिका के व्रत नही थे।

परन्तु वर्तमान मे इस विषय मे अन्धाधुधी चल रही है। जिनमे श्रमणोपासक के व्रत नही हैं, न श्रमणोपासक के अनुरूप आचार-विचार है, उन्हे भी कितने ही सत्ता-धारी, धनाढ्य या श्रमणोपासक के पुत्र होने के नाते धर्मात्मा, धर्मवीर, बडा आदमी, पुण्यवान, भाग्यशाली, श्रावक या श्रमणोपासक आदि पदो से सम्बोधित करते हैं या उनकी तदनुरूप प्रशसा आमसभा मे कर देते है, श्रमणोपासक के गुण न होते हुए भी उन्हे श्रमणोपासक जानते-मानते हैं।

वास्तव मे देखा जाय तो जब तक किसी व्यक्ति का व्यावहारिक जीवन सुधरा हुआ न हो, तब तक वह अणुव्रतादि ग्रहण करने के योग्य नही होता और अणुव्रतादि ग्रहण किये बिना कोई भी व्रती श्रावक नही कहला सकता। क्या कोई व्यक्ति एक कागज पर दस सेर कलाकद और बीस सेर पूडी लिख दे तो उससे किसी एक भी व्यक्ति का पेट भर सकता है ?

'कदापि नही'। यह तो कागज पर लिखी सूचना मात्र है। पेट तो तभी भर सकता है, जब इन चीजो को कोई लाएगा और खाएगा। इसी प्रकार शास्त्र मे श्रावक के आचार-विचार का वर्णन है, उसके अनुसार कोई पालन करेगा तभी श्रावक या श्रमणोपासक बन सकेगा।

अणुव्रती को श्रमणोपासक क्यो कहा गया ?

अणुव्रती और महाव्रती का घनिष्ठ सम्पर्क और परस्पर साहचर्य शास्त्र मे बताया गया है। एक-दूसरे के व्रतो को विशुद्ध रखने का कर्त्तव्य और दायित्व भी शास्त्रकारो ने दोनो पर डाला है। खासतौर से महाव्रती श्रमण पर अणुव्रती श्रमणोपासक के जीवन को विशुद्ध और व्रतो से अनुबद्ध रखने की जिम्मेवारी डाली गई है। यही कारण है कि अणुव्रती सद्गृहस्थ को श्रमणोपासक कहा गया है।

श्रमणोपासक और श्रमण की पहचान

श्रमणोपासक शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रमणोपासक का सामान्यतया अर्थ होता है—श्रमणो की उपासना करने वाला। श्रमणोपासक जब श्रमण की उपासना करना अपना लक्ष्य बना लेता है तो उसे सर्वप्रथम श्रमण का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। इस भूमडल पर साधुनामधारी विविध वेष मे सुसज्जित मुनि श्रमण या

भार उठाने वालों की कमी नहीं है। आधुनिकता में भी साधुवृत्ति के विविध प्रकार के भाव थे, और आज भी हैं। अतएव किसी वेश या क्रियाकाण्ड से साधु या श्रमण कहलाने मात्र से किसी व्यक्ति को साधु नहीं माना। इसी दृष्टि से जैनशास्त्रों में साधु या श्रमण की सम्यक् रूप से पहचान भी बताई गई है। सामान्यतया पंच महाव्रतों (हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-ममत्व का नवधा तीन करण तीन योग से त्याग करना) का पालन करने वाला ही श्रमण या साधु कहलाता है। परन्तु इन पांच महाव्रतों को स्वीकार कर लेने मात्र से कोई भी व्यक्ति श्रमण या साधु नहीं कहलाता। और न ही पंच महाव्रतों के स्वीकार मात्र से ही या वेश एवं क्रियाकाण्ड से ही किसी व्यक्ति को साधु या श्रमण के रूप में जाना-पहिचाना जा सकता है। साधु की कुछ कसौटियाँ बताई गई हैं—उत्तराध्ययन सूत्र के १९वें अध्ययन में—

लाभालाभे सुहे-दुक्खे जीविए-मरणे तहा।
समो णिंदा पसंसासु तहा माणावमाणओ॥

अर्थात्—भिक्षा आदि के लाभ में और अलाभ में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में और निन्दा-प्रशंसा में तथा मान और अपमान में साधु समभावी होता है।

कैसी भी विषम परिस्थिति हो, कैसा भी विकट वातावरण हो श्रमण विषम-भाव में प्रवेश नहीं करता। सुख में हो या दुःख में, जीवित रहे या मृत्यु आ जाए, निन्दा हो या प्रशंसा, सम्मान हो या अपमान, किसी भी हालत में श्रमण हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करता।

[1]श्रमण का अर्थ है, अपने उत्थान या विकास के लिए दूसरों पर निर्भर न रहकर स्वयं श्रम करने वाला, तप करने वाला। कोई भी दूसरा व्यक्ति या शक्ति किसी दूसरे को सुखी या दुःखी नहीं बना सकती, अपने उत्थान-पतन के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है।

इसी प्रकार 'समण' का एक अर्थ यह भी होता है—[2]"जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार समस्त जीवों के लिए समझता है, अतः जो न किसी की हिंसा करता या कराता है, बल्कि सभी प्राणियों के प्रति समानभाव से 'अणति' अर्थात् व्यवहार करता है।

इसका एक और भी रूप बनता है—'सममन' या 'समन' उसका अर्थ होता है—[3]श्रमण वह है, जिसके लिए न कोई अप्रिय है और न ही कोई प्रिय, जिसके लिए

---

१ श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः।

२ जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ, न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो॥

३ णत्थि य से कोइ वेसो, पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नोवि पज्जाओ॥

चीटी और हाथी सब समान है। इसी प्रकार 'सुमन' रूप भी बनता है, जिसका अभिप्राय यह है कि जो [1]पाप-मना न हो, जिसके मन के किसी कोने मे पाप का निवास न हो, तथा जो स्वजन-परजन के प्रति सम हो, वही श्रमण है।

श्रमण का एक रूप 'शमन' भी होता है। [2]शमन का अर्थ है—जो अपने पापो का शमन करता हो, मन के विकारो तथा चित्तवृत्तियो को शान्त करता हो।

वास्तव मे श्रमण के इन विभिन्न गुणो पर विचार करने से ज्ञात होता है कि व्यक्ति और समाज यदि श्रमण के इन गुणो का अनुसरण करे या इन गुणो की उपासना करे अथवा इनकी छाया मे रहे तो उसका कल्याण निश्चित है। और श्रमण मे ये गुण सहजभाव मे प्रस्फुटित होते है।

श्रमणोपासक इन्ही गुणो से सम्पन्न श्रमण की उपासना करता है। जिन श्रमण-श्रमणियो मे ये गुण नही होते, जो केवल इन गुणो की व्याख्या करते है, वे ग्वाले की तरह पराई गायो की रखवाली या गिनती करने वाले लोगो की तरह श्रमणत्व के गुणो से हीन है। श्रमणोपासक श्रमण के वेप या क्रियाकाण्ड की उपासना नही करता।

श्रमण के गुणो की उपासना करने से श्रमणोपासक को लाभ

यहाँ प्रश्न यह होता है कि श्रमण के गुणो की केवल उपासना करने से श्रमणोपासक को क्या लाभ मिल सकता है? इसके उत्तर मे शास्त्र कहते है कि जो जिस गुण को प्राप्त करना चाहता है, उसे उस गुण के उच्च शिखर पर आरोहण करने वाले या आरूढ व्यक्ति को आदर्श के रूप मे सामने रखना होता है, उसे उपास्य मानना पडता है, तभी वे गुण उसमे आ सकेंगे। श्रमणोपासक श्रमण के पूर्वोक्त गुणो को प्राप्त करना चाहता है, वह श्रमण के समभाव एव उच्च आचार को उपलब्ध करना चाहता है, इसलिए वह श्रमण की उपासना करता है।

गुलिस्तॉ मे एक कहानी आती है कि एक बादशाह अपने स्नानागार मे गया। वहाँ पडी हुई मिट्टी मे से बहुत ही उत्कृष्ट सुगन्ध आ रही थी। बादशाह का दिल इस खुशबू से बाग-बाग हो गया। उसने अपने नौकरो से पूछा—"इस मिट्टी मे ऐसी सुगन्ध कहाँ से आ गई?"

नौकरो ने कहा—"हजूर! यह मिट्टी फुलवाडी की है। इस मिट्टी पर गुलाब के पौधे लगे हुए थे। वहाँ से इस मिट्टी को खोदकर यहाँ लाया गया है। इसलिए गुलाब के फूलो की खुशबू इस मिट्टी मे बसी हुई है।"

---

१ तो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु॥

२ यो च समेति पापानि अणुथूलानि सव्वसो।
समितत्ताहि पापान, समणोत्ति पवुच्चई॥

यह सुनकर बादशाह हर्ष से उछल पड़ा और कहने लगा —"वाह रे गुलाब के फूल ! तूने अपनी सुगन्ध इस मिट्टी में डाल दी।"

जिस प्रकार गुलाब की सेवा से मिट्टी में सुगन्ध आ गई, उसी प्रकार श्रमणों की सेवा में, उनके सान्निध्य से श्रमणोपासक में समभाव, प्रशमभाव, आत्मश्रमभाव स्वाभाविक रूप से आ जाता है।

सासारिक पदार्थों के उपासक श्रमणोपासक नहीं

आप में से कई लोग शायद यह सवाल उठाएँ कि "महाराज ! हम तो गृहस्थ हैं, हम में कहाँ समभाव आ गया है या हम कहाँ ऐसा समभाव चाहते हैं कि सोने और पत्थर को एक समान समझें। ऐसा समभाव तो श्रमणों में ही आ सकता है, और वे इस प्रकार के समभाव की साधना करना भी चाहते हैं। हम तो ऐसा समभाव नहीं चाहते, हमें तो धन की चाह है, पुत्र की चाह है, सासारिक सुखों की चाह है। फिर हम इनकी पूर्ति के लिए श्रमणों की उपासना क्या करें ? ऐसी कल्पना मानव-जीवन का सच्चा उद्देश्य न समझने वाले या गृहस्थ-जीवन के आदर्श को भूल जाने वाले ही प्राय किया करते हैं। सच्चा श्रमणोपासक श्रमणों की उपासना धनादि की प्राप्ति के लिए नही करता, अपितु जीवन के उच्च आदर्शों व श्रमण के गुणों की प्राप्ति के लिए ही वह श्रमणोपासना करता है। सच्चे श्रमणोपासक के हृदय में श्रमणोचित समभाव एव गुणों को प्राप्त करने की आकाक्षा रहती है। श्रमणोपासक (श्रावक) के तीन मनोरथ भी इसी बात के द्योतक हैं। वे तीन मनोरथ इस प्रकार हैं—

१ कब वह दिन धन्य दिन होगा, जब मैं घरबार आदि छोडकर अनगारवृत्ति धारण करूँगा।

२ कब वह सुदिन होगा, जब मैं बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से सर्वथा मुक्त होऊँगा।

३ कब वह सुदिन होगा, जिस दिन मैं आरम्भ से सर्वथा मुक्त बनूँगा।

तात्पर्य यह है कि श्रमणों की उपासना का उद्देश्य धन, सन्तान, सासारिक सुख आदि की प्राप्ति नही होती। ये वस्तुएँ तो श्रमणों की उपासना तथा देव, गुरु, धर्म पर दृढ श्रद्धा व आचरण से पुण्यवृद्धि होने पर अनायास ही प्राप्त हो सकती हैं। सच्चे श्रमणोपासक की भावना श्रमणों की उपासना करके उसी ध्येय पर पहुँचने की होती है। वह चाहता है कि मैं भी एक दिन श्रमणों की तरह सोने और पाषाण को समान समझूँ और ऐसे ही सतों की उपासना करूँ।

वस्तुत श्रमणोपासक श्रमण के वेष, क्रिया या व्यक्ति विशेष का उपासक नही होता, वह श्रमणत्व या साधुत्व का उपासक होता है।

श्रमणों की पहचान कैसे हो ?

कई लोग यह शका उठाते हैं कि जब वेष, क्रिया या व्यक्ति विशेष से श्रमण की पहिचान नही हो सकती तो श्रमण में श्रमणत्व या साधुत्व की पहिचान कैसे होगी ? क्योंकि श्रमणत्व तो एक प्रकार का भाव है, और भाव अन्तर् की वस्तु है।

इसका समाधान यह है कि वास्तव मे श्रमण के मनोभावो को हर एक व्यक्ति पहिचान नही सकता, लेकिन श्रमण के द्वारा पच महाव्रत के पालन को, समाज के साथ होने वाले उसके व्यवहार को देख-परख कर कोई भी श्रमण के श्रमणत्व को पहिचान सकता है।

दूसरी बात यह है कि जिसे जिसको गुरु मानकर उसकी उपासना करनी है, उसकी शरण मे जाना है, वह निरुद्देश्य प्रवृत्ति नही करेगा, आप अगर अपनी प्रवृत्ति किसी प्रयोजन से करते है तो उसमे असफलता मिलने का तो कोई प्रश्न ही नही है। देर-सबेर उस प्रवृत्ति मे सफलता मिल ही जाती है। अगर आप समभाव रखने वाले, पचमहाव्रती गुरु के पास पहुँचने के लिए प्रवृत्त होते है, तो ऐसे गुरु को एक न एक दिन पा ही लेंगे।

अर्हन्तोपासक क्यो नहीं ?

कई लोगो का कहना है कि ऐसे व्रतधारी सद्गृहस्थ को श्रमणोपासक कहने के बजाय 'अरिहन्तोपासक' कहना चाहिए क्योकि 'अरिहन्त' निर्दोष होते है, राग-द्वेषरहित भी होते हैं उन्हे झटपट पहचाना भी जा सकता है, और पूर्णता पर पहुँचे हुए की उपासना करने मे किसी को सकोच भी नही होता। श्रमणो की पहिचान करने मे तो कदाचित् भूल-चूक भी हो सकती है, सामान्य श्रमण छद्मस्थ होने के कारण समत्व, शमत्व एव श्रमत्व आदि गुणो मे स्वय भी भूल कर सकता है, इन गुणो मे गृहस्थ से भी पीछे हो सकता है इसलिए व्रती गृहस्थ को अरिहन्तोपासक कहा जाता तो कोई झझट ही नही रहता।

स्कार करेगा। सच्चा श्रमणोपासक केवल वेष का सिर नहीं झुकाएगा, वह गुणों को देखेगा, तभी उनके सामने नतमस्तक होगा, उपासना करेगा।

आवश्यक निर्युक्ति में कहा है—

कि पुच्छसि साहूण, तव च नियम च, बम्भचेर च।

किसी साधु ने एक श्रमणोपासक से पूछा—"साधु के बारे में तुम क्या पूछ रहे हो? उसके तप को, नियम को और ब्रह्मचर्य को देखो। उसके वेष और क्रिया-काण्ड को मत देखो।" कहा भी है—

'भेष देख भूलो मती, ओलखजो आचार'

श्रमणोपासक ने कहा—जी हाँ, यही बात है। मैं केवल वेष ही नहीं, आचार भी देखता हूँ। क्रियाकाण्ड और श्रमणों का व्यवहार भी देखता हूँ।

श्रमण वर्ग की उपासना के प्रकार

अब प्रश्न यह है कि श्रमणोपासक श्रमणवर्ग की उपासना कैसे करेगा? क्योंकि श्रमणोपासक उत्सर्गमार्ग में हाथ-पैर दबा कर तो श्रमण की सेवा या उपासना नही कर सकता, तब फिर कौन-सा उपाय है, जिससे जरिये श्रमणोपासक श्रमणों की सेवा कर सके?

इसका समाधान यह है कि श्रमणोपासना केवल शरीर से ही हो सकती हो ऐसी बात नही है। मन, वचन, तन और धन आदि कई साधन हैं, जिनसे श्रमणों की सेवा उनकी साध्वाचार-मर्यादा के अनुकूल हो सकती है।

शरीर से श्रमण वर्ग की सेवा के कई प्रकार हैं, उदाहरण के तौर पर श्रमणोपासक साधु-साध्वी को स्वय आहार-पानी आदि देकर सेवा करेगा। वह उनके आचार मर्यादाओ को ध्यान मे रखते हुए उनके अनुकूल सात्त्विक आहार पानी देकर सेवा का प्रतिलाभ उठाएगा। साधु-साध्वियो को योग्य आहार-पानी देने के लिए वह अपना खानपान भी ऐसा शुद्ध एव सात्त्विक रखेगा, जिससे साधु-साध्वियो को उसके यहाँ से आहार-पानी लेने मे कोई सकोच न हो।

अगर वह पके फल आदि गुठली सहित ही चूस लेता है या बीज निकाल कर खाने का विवेक नही रखता तो साधु को उसे अचित्त पके फल आदि देने का लाभ नही मिल सकता।

दूसरी बात यह है कि मान लीजिए, साधु-साध्वी ऐसे क्षेत्र मे विचरण कर रहे हैं, जहाँ बिलकुल अपरिचित और साधु-साध्वियो के प्रति भक्ति रखने वाले लोग नहीं है। अगर उस क्षेत्र मे या आसपास श्रमणोपासक होगा तो वह साधु-साध्वियो को अपने साथ ले जाकर उन्हे भिक्षाचर्या के लिए घर बताएगा, शुद्ध निर्दोष आहार-पानी दिलाएगा, धर्मदलाली करेगा, वहाँ साधु-साध्वियो के व्याख्यानो का आयोजन करा कर या लोक-सम्पर्क करवा कर धर्मसघ की महिमा बढाएगा।

कई जगह अपरिचित लोगो को जैन साधु-साध्वी का परिचय देकर धर्म-महिमा बढाएगा। सम्प्रति राजा पूर्वजन्म मे एक सामान्य दरिद्र व्यक्ति था, किन्तु आचार्य सुहस्तिगिरि के सम्पर्क मे आकर उसने धर्मोपदेश सुना, ससार मे विरक्ति हुई और आचार्यश्री के चरणो मे मुनिधर्म की दीक्षा ले ली, किन्तु दीक्षा लेने के दिन ही उसे विसूचिका की भयकर व्याधि हुई, वही उसके लिए प्राणघातक बनी। किन्तु अन्तिम समय मे उक्त नवदीक्षित की भावना शुभ थी, इसलिए वह मर कर उज्जैन के सम्राट् कुणाल के पुत्र के रूप मे सम्प्रति राजकुमार बना। सम्राट् के बाद सम्प्रति ही उत्तराधिकारी बना।

सम्राट् सम्प्रति एक दिन अपने महल के झरोखे मे बैठा था, तभी आचार्य सुहस्तिगिरि उज्जयिनी मे खूब धूमधाम से स्वागतपूर्वक प्रवेश कर रहे थे। सम्राट् सम्प्रति ने उन्हे देखा तो उनके त्याग, वैराग्य एव भव्य आकर्षक व्यक्तित्व से सहज रूप से वह प्रभावित हुआ। इस अनोखे त्यागी महानुभाव के प्रति खिंचाव क्यो हुआ ? इस पर गहराई से विचार करते-करते सम्राट् सम्प्रति को अपने पूर्वजन्म की मधुर स्मृति हो आई। अरे ! मैं पूर्वजन्म मे इन्ही आचार्य का शिष्य बना था, और एक ही दिन के साधुत्व-पालन से मैं उज्जैन के साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। सचमुच आचार्य मेरे कितने उपकारी है ? इनके उपकार का बदला कैसे चुकाऊँ ?

यो विचार करके सम्राट् सम्प्रति सहसा महल से नीचे उतर कर आया। आचार्यश्री के चरणो मे विधिपूर्वक वन्दन किया और अपने प्रति उनके द्वारा किये गए महान् उपकारो का उल्लेख करते हुए सम्प्रति ने कहा—"गुरुदेव ! आपने मुझ पर महान् उपकार किया है, उसके यत्किञ्चित् प्रतिदान के रूप मे आप मेरा यह सारा राज्य ग्रहण करके मुझ पर अनुग्रह कीजिए।"

आचार्यश्री ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—"राजन् ! यह उपकार मेरा नहीं धर्म का है। जिस धर्म के प्रताप से तुम्हे यह राज्य मिला है, उस धर्म की सेवा करो। धर्म की सेवा ही हमारी सेवा है। और फिर हम घरबार जमीन-जायदाद एव धन-सम्पत्ति सब कुछ छोड-छाड कर निर्ग्रन्थ श्रमण बने है, हम जिस राज्यादि का त्याग कर चुके है, उस राज्य को पुन ग्रहण कैसे कर सकते है ।"

सम्राट् सम्प्रति ने कहा—"गुरुदेव ! मैं समझ गया, आप निर्ग्रन्थ श्रमण होने के नाते राज्य ग्रहण नहीं कर सकते। अब मुझे धर्म और धर्मात्मा श्रमणों की सेवा करनी है। इसके लिए सर्वप्रथम तो आप मुझे [illegible] श्रमणोपासक बनाइए। तत्पश्चात् मुझे निर्देश दीजिए कि धर्म एव श्रमणो की सेवा के लिए मुझे क्या करना चाहिए ?'

स आचार्यश्री ने कहा—"अगर तुम्हें धर्म और श्रमणों की सेवा करनी है तो जहाँ अनार्यदेश में श्रमणों का विचरण सुलभ नहीं, जहाँ के लोग धर्म से विमुख हैं, उन्हें धर्म के प्राथमिक आचरण के सम्मुख करने के लिए तुम उन क्षेत्रों और उन क्षेत्रों के निवासियों को धर्म और श्रमण का परिचय देकर सुलभ कर सको तो यह एक महान् सेवा होगी।"

"गुरुदेव! मुझे स्वीकार है। ऐसा ही करूँगा।" सम्प्रति ने कहा। इसके पश्चात् आन्ध्र आदि अनार्यदेशों में, जहाँ के लोग धर्म से विमुख एवं साधुओं से बिलकुल अपरिचित थे, सम्राट् सम्प्रति ने अपने सुभटों को साधुवेश में भेजा और वहाँ के लोगों को उन साधुवेषी सुभटों ने श्रमणों के आचार-विचार से परिचित कराकर तथा उन्हें साधुओं को शुद्ध आहार-पानी देने से अभ्यस्त कर दिया। इस प्रकार अनार्यदेशीय लोगों को सुलभ बनाकर वे सभी वापिस उज्जैन लौटे। उन्होंने सम्राट सम्प्रति को आन्ध्रादि अनार्यदेशों के लोगों को सुलभ बनाने की कहानी अथ से इति तक सुनाई। सम्राट् सम्प्रति ने आचार्यश्री से उन सुलभ देशों में पधारने की प्रार्थना की। आचार्यश्री वहाँ पधारे और वहाँ के लोगों को धर्माचरण के मार्ग पर लगाया। बहुत से लोगों को व्रतबद्ध किया।

जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल सकते हैं, वैसे ही श्रमणोपासक का कर्तव्य है, स्वयं श्रमणोपासक बने और अनेक सद्गृहस्थों के जीवन में प्रेरणा देकर श्रमणोपासना का दीपक जलाए।

यह है मन, वचन, काया से श्रमणोपासना की विधि! इसके अतिरिक्त श्रमणोपासना का एक और प्रकार है, श्रमणोपासक के लिए, वह यह है कि श्रमण और श्रमणोपासक दोनों का जोड़ा है, दोनों का उपास्य-उपासक सम्बन्ध है, इसी प्रकार एक-दूसरे के साथ साहचर्य सम्बन्ध भी है। श्रमण जैसे श्रमणोपासक की आचार-विचार की शुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है, वैसे ही श्रमणोपासक भी श्रमण की आचार-विचारशुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहे। इसीलिए एक ओर शास्त्रों में जहाँ श्रमणों को प्राणिमात्र (षट्जीवनिकाय) के रक्षक एवं माता-पिता कहा है, वहाँ श्रावक-श्राविकाओं को भी श्रमणों के **'अम्मापिउसमाणा'** (माता-पिता के समान) बताया है। श्रमणों का आचार विचार शुद्ध रहे, उनका तप, संयम, महाव्रत उज्ज्वल रहे, इसके लिए श्रमणोपासक वर्ग को हर समय प्रयत्नशील रहना चाहिए। श्रमणवर्ग के तप, संयम एवं महाव्रतों को उज्ज्वल रखना भी एक तरह से उसकी महती सेवा है।

गुजरात के एक गाँव की घटना है। वहाँ के उपाश्रय में एक जैन सन्त ठहरे हुए थे। वे सन्तवेष में तो थे, लेकिन श्रमण आचार-विचार से बहुत ही शिथिल और स्वच्छन्द हो गए थे। एक दिन सौराष्ट्र की एक रियासत के दीवान श्री शान्तु मेहता उस गाँव में आए हुए थे। उन्होंने सुना कि यहाँ के उपाश्रय में एक जैन सन्त विराजे हुए हैं। वे अपने श्रद्धाशील स्वभाव के कारण सहसा उनके दर्शनार्थ उपाश्रय में आए।

किन्तु उन्होने वहाँ आकर जो कुछ दृश्य देखा, उससे आश्चर्यचकित होकर अपनी आँखे मूँद ली और सन्त को वन्दन करने लगे। बात यह थी कि जिस समय शान्तु मेहता आए थे, उस समय उपाश्रय मे एक वारागना आई हुई थी, जिसके कन्धे पर सन्त ने हाथ रखा हुआ था। शान्तु मेहता को देखते ही वह एकदम सहम गई और हटकर एक ओर खडी हो गई। परन्तु शान्तु मेहता की चतुर आँखो से यह सब छिपा न रह सका। मगर वे इस श्रमण का यह अनाचार देखकर भी चुपचाप रहे। वन्दना करके उन्होने सुख-शान्ति पूछी और उलटे पैरो लौट गए। परन्तु उस तथा-कथित श्रमण के मन मे पश्चात्ताप होने लगा। सोचा—"आज शान्तु मेहता ने कहा कुछ नही, लेकिन वे मेरी पाखण्डलीला को भली-भाँति जान गए हैं। धिक्कार है मुझे ! इस महान् श्रमणोपासक से वन्दना लेते हुए मुझ पतित को शर्म नही आई ! अब तो यही अच्छा है कि मैं अपने गुरुदेव के पास जाकर अपने इस अनाचीर्ण की आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करूँ और अपनी आत्म-शुद्धि करूँ।"

यो पश्चात्तापपूर्वक वे अपने गुरुदेव के पास पहुँचे। गुरुदेव के समक्ष सारी घटित घटना हूबहू प्रस्तुत की। गुरुवर हेमचन्द्राचार्य ने उन्हे यथोचित प्रायश्चित्त दिया और उनकी शुद्धि की।

एक बार शान्तु मेहता शत्रुञ्जयपर्वत पर तीर्थयात्रा के उद्देश्य से आरोहण कर रहे थे, तभी शत्रुञ्जयगिरि (पालीताणा) से नीचे उतरते हुए वे ही मुनि मिल गए। शान्तु मेहता ने उन्हे देखा और उन्हे कुछ-कुछ स्मृति हो आई कि यह वही मुनि हैं, फिर भी श्रद्धापूर्वक वन्दन करके उन्होने पूछा—"महाराज साहब ! आपके गुरु कौन है ?" वे मुनि भी दीवान शान्तु मेहता को पहचान गए और बोले—"मेरे गुरु है—शान्तु मेहता !"

"महाराज ! मैं तो एक सामान्य श्रावक हूँ। आप महान् पद पर हैं। मैं आप का गुरु कैसे ?" शान्तु मेहता ने कहा।

मुनि—"मेरे दीक्षा गुरु तो हेमचन्द्राचार्य है, परन्तु प्रेरणागुरु—मेरे जीवन मे आचारशुद्धि के प्रेरक तो आप ही है।"

शान्तु मेहता ने कहा—"मैंने आपको क्या प्रेरणा दी ? मैं क्या प्रेरणा दे सकता हूँ आपको ?"

मुनि—"भले ही आप न माने, लेकिन मेरा साध्वाचार से विपरीत निकृष्ट आचरण देखकर एक शब्द भी नही कहा, श्रद्धा से मस्तक झुकाकर आ गए। लेकिन आपका वही व्यवहार मेरे लिए प्रेरणादायक बन गया। उसी समय से मेरे हृदय मे पश्चात्ताप चलने लगा। मैंने अपने अनाचार की आलोचना की और आत्म-शुद्धि करके आ रहा था, तभी आप मिल गए। वास्तव मे आपने श्रमणोपासक का 'अम्मापिउ-समाणा' का विरुद निभाकर मेरी महान् सेवा की है।"

किन्तु मन्त्री ने अपनी नम्रता प्रगट करते हुए कहा—"महाराज ! मैंने तो श्रमणोपासक का कर्तव्य निभाया है, जो मुझे निभाना चाहिए था। इससे बढ़कर और कुछ नही किया।"

मुनि ने कहा—"अगर आप उस दिन न सभालते तो मेरी दशा न जाने क्या होती। इसलिए आपने तो मुझे नया सयमी जीवन दिया है। आपका उपकार जितना माना जाय, उतना ही कम है।"

यह है श्रमणोपासक द्वारा श्रमणोपासना का एक प्रकार।

श्रमणोपासक द्वारा श्रमणोपासना का महान् उद्देश्य

मैं पहले कह चुका हूँ कि सच्चा श्रमणोपासक श्रमणवर्ग की उपासना किसी सासारिक आकाक्षा या स्वार्थ की पूर्ति के लिए नही करता। उसके द्वारा श्रमणोपासना का उद्देश्य जैसे श्रमणो के गुणो को अपनाना है, वैसे ही व्रतो के आचरण-पथ पर चलते समय जाने-अजाने कोई त्रुटि, असावधानी या गलती हो जाय तो श्रमणो द्वारा मार्गदर्शन, सावधानी या सुझाव प्राप्त करके उक्त त्रुटि या गलती को सुधारना भी होता है। इस प्रकार श्रमणोपासना का एक महान् उद्देश्य श्रमणोपासक की अपनी आत्मशुद्धि भी है। कई बार श्रमणोपासक को स्वय अपनी गलती महसूस नही होती, स्वय को पता भी नही चलता कि मेरी कोई भूल हुई है, लेकिन श्रमण अहिंसादि व्रतो के मार्ग मे आगे बढे होने के कारण श्रमणोपासक को उस गलती या भूल से सावधान कर देते है और पुन सत्पथ पर चढा देते है।

श्रमण भगवान महावीर का एक उपासक महाशतक बारह व्रतधारक तो था ही, किन्तु जीवन की सन्ध्यावेला मे वह श्रावक की प्रतिमा धारण करके प्रतिमाधारी बन चुका था। इधर महाशतक श्रमणोपासक की पत्नी रेवती, जो भौतिक सुखो मे आकण्ठ डूबी हुई थी, महाशतक के इस परिवर्तन को देखकर खिन्न हो उठी। उसने सोचा—"पति को अपने व्रत-नियम से विचलित करके पुन गृहस्थी के सासारिक सुख भोगूं।"

महाशतक श्रावक अपनी पौषधशाला मे धर्मध्यान मे मग्न था। उसके मन मे सासारिक विषयसुखो से उपरति हो चुकी थी। अपने आप मे वह आत्मतृप्त था। उसने श्रावक प्रतिमा धारण करने के बाद आजीवन अनशनरूप सलेखना-सथारा भी ग्रहण कर लिया था। इसी दौरान महाशतक को शुभ अध्यवसाय एव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था। रेवती कामान्ध बनकर निलज्जता से महाशतक के पास आई और उसने कहा—"वाह ! यह क्या धर्म का ढोग रचा रखा है ? यदि ऐसा करना था तो आपने मेरे साथ विवाह ही क्यो किया ? घर चलो और सभी प्रकार के सुखो का उपभोग करो। जब आपको सभी प्रकार की सुख-सामग्री प्राप्त है, तब इस प्रकार से खानपान और भोगविलास को छोडकर क्यो अपनी जिन्दगी बर्बाद कर रहे हो ?"

यद्यपि रेवती का यह आग्रह विवेकहीन था। परन्तु उसे तो सिवाय भोगविलास

के और कुछ सूझता ही नही था, जबकि महाशतक भोगो की नि सारता को समझ चुका था। इसीलिए अपना जीवन सफल करने के लिए उसने सलेखनाव्रत धारण किया था। रेवती ने तीन बार अपनी इसी बात को दोहराया, तब तक उसने कुछ भी उत्तर न दिया। वह रेवती को दयापात्र समझकर क्षमाशील रहा। फिर भी रेवती नही मानी और महाशतक को झकझोर कर घर चलने की प्रेरणा करती ही रही। तब महाशतक ने सोचा—"इसके और मेरे विचारो मे रात-दिन का अन्तर है। मेरे साथ इसका मेल अब नही खा सकता।" इसके पश्चात् उसने अपने अवधिज्ञान का उपयोग किया तो उसे ज्ञात हुआ कि रेवती मरकर रत्नप्रभा नामक नरकभूमि मे ८४ हजार वर्ष के लिए जाएगी। अत महाशतक ने कहा—"तू मुझे क्यो तग करती है। तुझे पता नही है, आज से सातवे दिन अलस रोग से पीडित होकर तू मरकर ८४ हजार वर्ष तक नरक-वास करेगी।" यद्यपि यह कथन सत्य था, फिर भी रेवती के हृदय को आघात पहुँचाने वाला होने से हिंसाजनक था। रेवती अपने पति के मुख से यह भयजनक बात सुनकर बहुत घबराई। उसने समझा—पति ने मुझे क्रुद्ध होकर श्राप दे दिया है। अत वह भय से कांपती हुई वहाँ से चली गई।

श्रमण भगवान महावीर ने अपने केवलज्ञान के प्रकाश मे इस घटना को जान-कर अपने पट्टधर शिष्य से कहा—"गौतम ! आज तो गजब हो गया।"

गौतम ने साश्चर्य पूछा—"भगवन् ! ऐसा क्या अंधेर हो गया ?" भगवान ने कहा—"गौतम ! बात यह है कि महाशतक श्रावक ने सलेखनाव्रत लिया है। उसने किसी भी प्राणी को जरा-सा भी कष्ट न देने की तथा अठारह पापस्थान को त्यागकर प्राणिमात्र को मित्र मानने की प्रतिज्ञा की है। एक तो प्रतिमाधारी श्रमणोपासक, तिस पर यह सलेखनाव्रत किसी भी पाप के लिए इसमे गुजाइश को स्थान नही है। फिर भी उसकी पत्नी रेवती जब उसे धर्म से विचलित करने के लिए आई, तब उसने प्राप्त अवधिज्ञान का उपयोग करके रेवती को प्रथम नरकवास का भय दिखाकर प्रकम्पित कर दिया, उसके हृदय को गहरा आघात पहुँचाया है।" भगवान महावीर ने गौतम को सारी घटना आद्योपान्त सुनाकर आदेश दिया—"गौतम ! तुम जाओ और महा-शतक को मेरी ओर से यह सन्देश दो कि श्रमणोपासक के लिए प्रतिमा धारण करने और सलेखनाव्रत ग्रहण करने के बाद इस प्रकार का आघातजनक वचन कहना अकल्पनीय—अनुचित है। अत अपने इस दोष (अतिचार) जनक कृत्य की आलोचना करो, पश्चात्ताप (आत्मनिन्दा) करो, पापो से गर्हा करो, तभी तुम्हारी आत्मा शुद्ध होगी।"

भगवान महावीर का यह आदेश पाते ही गौतमस्वामी, जो किसी नरेन्द्र के यहाँ भी बुलाने से नही जाते, महाशतक श्रावक को सावधान करने हेतु पौषधशाला मे पहुँचे।

महाशतक ने गौतम गणधर को अपनी पौषधशाला मे सहसा पधारे देखकर

वन्दना-नमस्कार किया और सविनय पूछा—"भगवन् ! आज मेरा अहोभाग्य है कि आपने यहाँ पधार कर मुझे दर्शन दिये । बड़ी कृपा की मुझ पर ! कहिये, मेरे लिए क्या आदेश है ?" गौतम स्वामी बोले—"महाशतक जी ! भगवान महावीर ने मुझे एक सन्देश देकर आपको सावधान करने के लिए भेजा है।"

महाशतक ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—"भगवन् ! क्या सन्देश है, प्रभु महावीर का ?"

गौतमस्वामी ने कहा—"आपने अपने सलेखनाव्रत मे दोष लगाया है। बात यह है कि एक तो आप प्रतिमाधारी श्रावक बने है, फिर आपने सलेखनाव्रत ग्रहण किया है। इस व्रत मे किसी के हृदय को आघातजनक बात कहना मर्यादाविरुद्ध है। आपने अपनी पत्नी को नरकगमन का भय दिखाकर आघात पहुँचाया है। अत इस दोष की आलोचना एव आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) करके आत्मशुद्धि कर लो।"

गौतमस्वामी के द्वारा भगवान महावीर का अमृततुल्य सन्देश मानकर महाशतक श्रावक ने आलोचना आदि करके आत्मशुद्धि की।

तात्पर्य यह है कि ऐसे अनेक विकट प्रसगो मे जहाँ श्रमणोपासक की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, कोई मार्ग नही सूझता, आँखो के आगे अँधेरा आ जाता है, असावधानी से उत्पथ पर चल पडता है, वहाँ प्रकाशस्तम्भ की तरह श्रमण का मार्गदर्शन, सुझाव, चेतावनी, या सन्देश उसको सत्पथ पर लाने मे अत्यन्त सहायक होता है। यह एक प्रबल कारण है, श्रमणोपासक के लिए श्रमण वर्ग की उपासना का।

अणुव्रती के अन्य पर्यायवाची नाम

शास्त्रो मे अणुव्रती सद्गृहस्थ के लिए जैसे श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ 'श्रावक' शब्द भी अत्यधिक प्रचलित है। कई अन्य अप्रचलित नाम भी शास्त्रो मे मिलते हैं—जैसे सागारी, गृहस्थधर्मी, उपासक, सयमासयमी, व्रताव्रती, विरताविरति, देशविरति श्रावक।

श्रावक शब्द मे निहित कर्तव्य बोध

श्रावक शब्द अणुव्रती सद्गृहस्थ के लिए श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनो परम्पराओ के शास्त्रो एव धर्मग्रन्थो मे पाया जाता है। कई धर्मग्रन्थ भी दिगम्बर सम्प्रदाय मे इस नाम से प्रचलित है। जैसे—रत्नकरण्डश्रावकाचार, वसुनन्दीश्रावकाचार, सावयधम्मदोहा आदि। आप कहेंगे कि श्रावक तो सुनने वाले को कहते हैं। सुनने वाले तो दुनिया मे बहुत-से हो सकते हैं। क्या व्रत-ग्रहण न करके श्रोता बनने मात्र मे कोई व्यक्ति श्रावक कहला सकता है ? यदि इस प्रकार श्रावकत्व सस्ता कर दिया गया तो हर व्यक्ति अपने आपको श्रावक कहने लगेगा ? श्रमण भगवान महावीर ने श्रावक पद इतना सस्ता कैसे कर दिया ?

इसका समाधान यह है कि श्रावक-पद जितना आप समझते हैं, उतना आसान

या सकता नही है। केवल सुनने वाला ही श्रावक नही कहलाता और न ही श्रावक का पुत्र होने से ही कोई व्यक्ति श्रावक कहला सकता है, अपितु श्रावक-धर्म—व्रता-चरण करने वाला ही वास्तव मे श्रावक है। श्रावक कहलाने वाले पर कुछ विशेष दायित्व है, कुछ विशिष्ट कर्तव्य है। 'श्रावक' शब्द के विशेष अर्थ को स्पष्ट करते हुए एक आचार्य कहते है—

श्रद्धालुता श्राति, शृणोति शासनम्।
दान वपेदाशु वृणोति दर्शनम्॥
कृन्तत्यपुण्यानि करोति सयमम्।
त श्रावक प्राहुरमो विचक्षणा॥

श्रावक शब्द मे 'श्रा' 'व' और 'क' ये तीन अक्षर है। इन तीनो से श्रावक के अलग-अलग कर्तव्यो का बोध होता है। प्रथम 'श्रा' अक्षर से यह अर्थ द्योतित होता है कि जो जिन-प्रवचन पर दृढ श्रद्धा रखता है, तथा जो साधु-समाचारी एव श्रावक समाचारी दोनो पर पूर्ण विश्वास करता हो। 'श्रा' अक्षर से एक अर्थ और ध्वनित होता है, वह यह है कि जो श्रद्धापूर्वक जिनवाणी का श्रवण करता है।

श्रवण दो प्रकार से होता है—मन से और विना मन से। इसी प्रकार एक व्यक्ति श्रद्धापूर्वक रुचि से, वस्तुतत्त्व को समझने की दृष्टि से सुनता है, जबकि दूसरा सुनता है—मनोरजन की दृष्टि से या द्वेषबुद्धि से प्रेरित होकर। जो दोष दृष्टि से छिद्रान्वेषी होकर सुनता है, वह प्राय उसी ताक मे रहता है कि वक्ता कहाँ चूकता है ? कहाँ पकड मे आता है ? कई श्रोता ऐसे भी होते है, जो जिस वक्ता की बात सुनते है, उसी की ओर झुक जाते है। उनका अपना सोचने का दिमाग नही होता, जहाँ जाते है, वहाँ बुद्धि पर ताला लगाकर जाते है, उन्ही के अनुयायी बन जाते है। वे गगा गये तो गगादास और जमुना गये तो जमुनादास हो जाते है।

चार प्रकार के श्रावक

स्थानागसूत्र मे श्रमणशिरोमणि भगवान महावीर ने चार प्रकार के श्रावको का उल्लेख किया है—अद्धागसमाणा, पडागसमाणा, ठाणुसमाणा, खरकटय-समाणा अर्थात् कई श्रावक पथ की तरह सीधे सरल एव जिज्ञासु होते है, वे विवेकी भी होते है। कई श्रावक पताका के समान होते है, वे जिधर की हवा बहती है, उधर ही चल पडते है। उनका कोई एक निश्चित ध्येय या सिद्धान्त नही होता। वे जहाँ भी जाते है, वहाँ के गुणगान करने लगते है। तीसरे श्रावक ठूंठ के समान अक्खड होते है, वे किसी के सामने झुकते नही, उनमे जिज्ञासा या नम्रता नही होती। ऐसे श्रावक अपने आपको बहुत बडा आदमी मान बैठते है और श्रमणो से कुछ सुनने सीखने, पाने या समाधान करने की दृष्टि न होने से वे अक्खड और अज्ञ ही रह जाते है। और चौथे प्रकार के श्रावक तो इनसे भी कठोर होते है। वे तीखे काटे के समान चुभने और दुख देने वाले होते है। वे सदा इसी फिराक मे रहते है कि कब श्रमणो

हुए कहा—"राजन् ! आप क्यो नही जाते हे ? आपकी मिथिला नगरी, महल और अन्त पुर सब धू-धू करके जल रहे है।"

इस पर राजा जनक ने जो उत्तर दिया, वह पक्के श्रावक का उत्तर था, अनुभव की आँच मे तपा हुआ वचन था वह—

मिथिलाया दह्यमानाया न मे दहति किंचन[1]

"मिथिला जल रही है, इसमे मेरा कुछ नही जल रहा है। मेरा अपना जो कुछ है, वह तो मेरे पास है। मिथिला के जल जाने से मेरा कुछ भी नही बिगडता।"

वास्तव मे यह सच्चे श्रावक का-सा सिद्धान्तसगत उत्तर था। ऋषिगण श्रोता तो थे, पर वे सिद्धान्त की गहराई मे डूबे नही थे। वे ऊपर-ऊपर तैर रहे थे। अनुभव और व्यवहार से शून्य थे। इसीलिए वे प्रवचन मे से उठकर भागे-भागे गए, परन्तु वहाँ जाकर उन्होने जो कुछ देखा, उससे वे स्तब्ध हो गए। वहाँ तो कुछ भी नही जल रहा था। न मिथिला जल रही थी, न उनकी कुटिया। वह तो कोई देवमाया थी, जिससे ऐसा प्रतीत होता था। अत सभी ऋषि पश्चात्ताप करते हुए एक-एक करके पवचन सभा मे पुन आकर बैठे। उनके मुख लज्जा से अवनत हो रहे थे। याज्ञवल्क्य ने सबसे पूछा—"क्यो प्रणवानन्दजी ! आप सब ऋषियो की कुटिया तो सही-सलामत है न ? कहिये तो सही, क्या-क्या जल गया ?"

ऋषियो ने कहा—"भगवन् ! हमने आज महामूर्खता की। वहाँ न तो मिथिला जल रही थी और न ही हमारी कुटिया। हमारा ही भ्रम था। हमने मूढतावश आप पर अपकट रूप मे दोषारोपण किया और प्रवचन भी छोडा। आप हमे क्षमा कीजिए।" याज्ञवल्क्य बोले—"आप अपने को सर्वोत्तम श्रोता मानते थे, लेकिन जनक राजा के सामने तो मिथिला, अन्त पुर, महल और राज्य सभी कुछ जलते नजर आ रहे थे, लेकिन मेरे अनुरोध करने पर भी वह यहाँ से बिलकुल भी नही उठे। बताइए, कौन-सा श्रोता श्रेष्ठ है ? इसी कारण तो मैं प्रवचन प्रारम्भ करने के लिए जनक राजा की प्रतीक्षा करता था।" सभी ऋषियो ने एक स्वर से अपनी गलती स्वीकार की।

सच्चा श्रावक पवचन श्रवण के समय दुनियादारी की बातो मे अपने मन को नही उलझाता, वह उस समय अन्य सब सासारिक प्रपचो का निषेध (निसीहि-निसीहि) करके ही उपाश्रय मे शास्त्र-श्रवणार्थ आता है।

दिल्ली मे एक श्रावक थे। वे प्रतिदिन नियमानुसार धर्मस्थानक मे सामायिक करने आते और कोई सन्त विराजमान होते तो प्रवचन भी सुनते थे।

एक दिन उनका इकलौता पुत्र मर गया। वे उसको अन्त्येष्टि क्रिया करके

---

१ इसी से मिलती-जुलती गाथा उत्तराध्ययनसूत्र के नमिराजर्षि अध्ययन मे मिलती है—

'मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण'

लौटे और अन्य कार्यों को छोड़कर सीधे धर्मस्थान में पहुँचे। प्रवचन का समय हो रहा था। वहाँ विराजित सन्त उन्हें भली-भाँति पहचानते थे। उन्होंने पूछा—"श्रावकजी! आज इतना विलम्ब कैसे हो गया?"

श्रावक बोले—"महाराज! आज एक मेहमान को विदा करने गया था। इस कारण इतनी देर हो गई।" किसी ने सन्त से जब कहा कि आज इनका इकलौता लड़का गुजर गया है। तब सन्त ने पूछा—"श्रावकजी! वह मेहमान क्या आपका लड़का ही था? अगर ऐसा था तो आपको घर पर ही रहना था।"

श्रावक ने सधी हुई वाणी से कहा—"मैंने उसके प्रति अपना कर्तव्य अदा कर दिया। वह अब वापिस लौटकर आने का रहा। फिर उसके पीछे व्यर्थ ही रोने-धोने से क्या होता? इसलिए मैं मरघट से सीधा ही धर्मस्थान में आ रहा हूँ। अब भगवद् वाणी सुनूंगा तो मेरे कान पवित्र होंगे, मेरा समय सत्संग एवं धर्मस्थान में कटेगा।"

यह है पक्के श्रावक का ज्वलन्त जीवन, जिसमें श्रवण के साथ मनन और आचरण भी होता है।

श्रावक शब्द में दूसरा अर्थ 'व' है, जिसमें से एक अर्थ ध्वनित होता है कि वह सुपात्र, अनुकम्पापात्र तथा मध्यमपात्र आदि को पुण्यकार्य में दान देने में जरा भी विलम्ब नहीं करता, नहीं हिचकता। आजकल अधिकांश लोग कीर्ति एवं वाहवाही मिलती हो, वहाँ तो अनाप-सनाप द्रव्य खर्च कर डालते हैं, भले ही वह घातक कुरूढि एवं कुप्रथा हो या व्यर्थ का आडम्बर हो। लेकिन जब किसी धर्मकार्य या पुण्यकार्य में खर्च करने का अवसर आता है तो बगलें झांकने लगते हैं, बहाना बना लेते हैं या यह कहते हैं—सब करें तो मैं करूँ! यह मेरे अकेले का काम नहीं है।

मगर श्रावक इतना उदार होता है कि वह आवश्यकतानुसार निःस्वार्थभाव से, बिना किसी प्रसिद्धि या आडम्बर के अपने धन और साधनों को लुटाता रहता है। कभी-कभी तो वह स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों को दान देता है। प्राणियों को अभयदान देने में भी वह किसी से पीछे नहीं रहता। 'व' में से एक अर्थ यह भी द्योतित होता है कि जो दर्शन यथार्थ वस्तु स्वरूप का वरण-स्वीकार करे। श्रावक इतना मिथ्याग्रही या जिद्दी नहीं होता कि वह पकड़ी हुई बात को मिथ्या सिद्ध होने पर भी न छोड़े। एक वस्तु या प्रथा एक समय में हितकर थी, किन्तु समय बीत जाने पर वही वस्तु उसके व समाज के लिए अहितकर हो तो उसे सच्ची वस्तु बता देने या समझ में आ जाने पर वह उस सत्य को स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाता।

श्रावक में तीसरा अक्षर 'क' है जिसके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि जो पाप को काटता है, दूसरा यह है कि जो हर प्रवृत्ति में संयम या संवर करता है। श्रावक इतना विवेकशील होता है कि वह किसी भी पापकार्य में भाग नहीं लेता। अगर किसी ऐसे पेचीदा कार्य में वह फँस जाता है या उसे जबरन फँसा दिया जाता है तो वह उसमें से अपनी विवेकबुद्धि से बच निकलता है।

जयपुर राज्य के एक जैन दीवान थे—श्रावक अमरचन्दजी। वे श्रावक के पाँचो अणुव्रतो का पालन करते थे। अहिंसा के तो वे परम उपासक थे। उनकी सत्यता के कारण राज्य के अन्य अधिकारी उनसे जलते थे। वे चाहते थे कि किसी तरह दीवान अमरचन्दजी को हिंसा के कार्य करने के लिए विवश किया जाय। ईर्ष्यालु अधिकारियो ने राजा के कान भरे कि "यह दीवान तो अहिंसक है, यह आपके किसी काम का नही। अनाज के दानो मे जीव मानता है, समय आने पर यह दुष्काल-पीडित लोगो को भूखा मारेगा। अगर आपको विश्वास न हो तो सिंह को खिलाने का काम इन्हे सौप कर देख-परख लीजिए।"

राजा कान का कच्चा था। अधिकारियो की बातो मे आकर उसने दीवान श्री अमरचन्दजी को सिंह को खिलाने का कार्य सौपा। दीवानजी राजा के सामने एकदम तो इन्कार कर ही नही सकते थे। अत उन्हे सिंह को खिलाने का काम अपने पर लेना पडा। सिंह तो मासाहारी ही होता है, यह तो सर्वविदित है। अत दीवान अमरचन्दजी को विचार करना पडा—"सिंह तो दूसरे जानवर का मास खाता है। मैं अहिंसक हूँ, अत दूसरे जानवर को मार कर या मरवाकर उसका मास इसे कैसे खिला सकता हूँ ? फिर क्या अन्य कोई उपाय नही है, इसकी भूख मिटाने का ?" दीवानजी की अन्तरात्मा मे से स्वर फूट पडा—'है, उपाय अवश्य है! अहिंसक श्रावक के लिए ऐसे मौके पर भी कोई न कोई उपाय निकल ही आता है। सिंह को भी अहिंसक सात्त्विक भोजन दो।' बस, दीवानजी ने मन ही मन निश्चय कर लिया कि सिंह के लिए मिठाइयाँ थाल मे परोसकर ले जाऊँ। अगर वह किसी सूरत मे नही खाएगा तो फिर मैं अपने शरीर को उसके आगे समर्पण कर दूँगा। वह खाना चाहेगा तो खा लेगा। दीवानजी ठीक समय पर मिठाइयो से थाल भरकर पिंजरे मे बन्द सिंह के सामने ले गए। सिंह ने कुछ देर तक इधर-उधर देखा और फिर चुपचाप मुँह फेर लिया। दूसरे दिन भी दीवानजी ने मिठाइयो का थाल सिंह के सामने रखते हुए कहा—"भाई सिंह! मेरे पास तो ये मिठाइयाँ है, ये चाहो तो और भी दे सकता हूँ। पर मास तो मैं हर्गिज नही दे सकता।" दूसरे दिन भी सिंह पूर्ववत मिठाइयो की ओर देखकर वापस चला गया। तीसरे दिन भी दीवानजी ने सिंह के सामने मिठाइयो का थाल रखा और निवेदन किया—"प्रिय मित्र! खाना हो तो ये मिठाइयाँ तुम्हारे सामने प्रस्तुत है। अगर अब भी तुम नही मानते हो, और मास खाने का ही तुम्हारा आग्रह हो तो मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ, मेरा मास खा सकते हो।" यो कहकर दीवान अमरचन्दजी ने सिंह का पिंजरा खोल दिया और अपने आपको सिंह के आगे प्रस्तुत कर दिया। यद्यपि सिंह तीन दिन का भूखा था, झपटना चाहता तो अमरचन्दजी पर झपट सकता था, लेकिन उसने अमरचन्दजी की आँखो मे वात्सल्य बरसता देखा। सिंह मे इतना ज्ञान होता है कि वह मनुष्य की आकृति पर से पहचान लेता है कि यह मेरा शत्रु है या मित्र ? उस सिंह को भी न जाने क्या सूझी कि वह श्री अमरचन्दजी पर बिलकुल नही झपटा और फौरन मिठाइयाँ खाने लगा।

अमरचन्दजी के अहिंसाव्रत की विजय हुई। नगरनिवासी लोगों के मुँह बन्द हो गए। राजा भी दीवान अमरचन्दजी के द्वारा अहिंसाव्रत पालन की दृढ़ता पर प्रसन्न हो उठा।

इसी प्रकार व्रती श्रावक पापकर्म से अपने को बचाता रहता है। जब भी पुण्य-कार्य का अवसर आता है तो वह उसे नहीं चूकता। साथ ही श्रावक अपने पूर्वकृत पापकर्मो को काटने के लिए दान, शील, तप और भाव का आचरण करता रहता है। वह अपने जीवन मे हर बात पर सयम रखता है। खान-पान, पहनना-ओढ़ना, वस्तुओ का उपयोग करने मे कम से कम आवश्यकताओ से वह अपना काम चला लेता है। सकट आ पडने पर वह भूखा-प्यासा रहकर उपवास करके अपना जीवन बिता देता है। मोटे और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रो से गुजारा कर लेता है। परन्तु अन्याय, अनीति अधर्म और पाप के पथ पर कदम नही रखता।

आगार छूट (रियायत) को कहते है। गृहस्थ व्रती अपने व्रतो मे कुछ आगार रखता है, इसलिए उसे आगारी भी कहते है। घरबार, कुटुम्ब-कबीले आदि के साथ रहकर वह अपने जीवन को अणुव्रतो से सुसज्जित करता है, इसलिए व्रती श्रावक को गृहस्थधर्मी भी कहते है। उपासक नाम भी 'उपासकदशाग सूत्र', 'उपासकाध्ययन' आदि शास्त्रो मे प्रयुक्त हुआ है।

श्रावक सर्वथा अविरती, असयमी, अव्रती नहीं

इसके अतिरिक्त महाव्रतो की अपेक्षा से कुछ अशो मे हिंसा आदि से विरत, और कुछ अशो मे अविरत होने के कारण देशविरति श्रावक भी कहते है, विरता-विरती भी कहते है। कुछ अशो मे हिंसा आदि प्रवृत्तियो मे सयम और कुछ अशो मे असयम होने के कारण सयमासयमी अथवा महाव्रत की अपेक्षा आशिक रूप मे व्रत और आशिक रूप से अव्रत होने के कारण इसे व्रताव्रती भी कहते है।

कुछ लोगो का कहना है कि श्रावक तो सर्वथा अव्रती, असयमी, अविरती है, वह जहर का कटोरा है, उसकी सेवा करना, उसे दान देना या उसके प्रति दया करना उसके अव्रत का पोषण करना है, परन्तु यह बात शास्त्रो से विपरीत और श्रावक के उपर्युक्त पर्यायवाची शब्दो से असगत है। यदि श्रावक सर्वथा अव्रती या असयमी होता तो उसे व्रताव्रती या सयमासयमी न कहा जाता।

उनके कथनानुसार श्रावक को अव्रत या अप्रत्याख्यान की क्रिया लगनी चाहिए, लेकिन वह नही लगती। इसी तरह व्रती श्रावक मे अप्रत्याख्यानी कषाय भी होना चाहिए तथा चौथे गुणस्थान से आगे का पचम देशविरति श्रावक नामक गुण-स्थान नही होना चाहिए, परन्तु यह दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओ से सिद्धान्त सम्मत सिद्ध है। आचार्य समन्तभद्र ने तो श्रावक को 'रत्नकरण्डक' (रत्नो का पिटारा) कहा है। गुणरत्नो की खान होने के कारण ही श्रावक को रत्नो का पिटारा कहा जाता है। सूत्रकृतागसूत्र मे तो गृहस्थ श्रावक के लिए स्पष्ट कहा है—

"एस ठाणे आरिए, जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगतसम्मे साहू।"

जिन्होने हिंसा और अहिंसा आदि के वन्धन कुछ अशो मे तोड डाले है, जो अहिंसा और सत्य को हितकर समझकर हिंसा आदि के वन्धनो को पूर्णतया तोडने की उच्च भावना रखते है, और क्रमश तोडते भी है, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य है, उनका मार्ग भी समस्त दु खो को नष्ट करने वाला मोक्ष का मार्ग है, एकान्त सम्यक् है, साधु के समान वे भी आर्य भूमिका पर है। इसके विपरीत जो मिथ्यात्व एव अविरति आदि मे पडे है, वे आर्य-जीवन वाले नही है। इस दृष्टि से देखा जाय तो भी मिथ्यात्व और हिंसा आदि अविरति की दीवारो को लाघकर जो सम्यक्त्वी और व्रती वना है, वह विरताविरति या व्रताव्रती अनार्य नही, आर्य ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार मैंने आपके सामने व्रती सद्गृहस्थ की श्रमणोपासक, श्रावक, अणुव्रती, व्रताव्रती, सयमासयमी या देशविरति आदि के रूप मे मर्यादाएँ और कर्तव्य-धाराएँ स्पष्ट कर दी है। इससे आपके मन-मस्तिष्क मे व्रती सद्गृहस्थ की भूमिका का स्पष्ट दर्शन हो जाएगा, ऐसे श्रमणोपासक के जीवन का स्पष्ट चित्र आपकी आँखो के सामने आ जाएगा। और आप भी अपनी आत्मा को टटोलकर, अपने जीवन का एक्सरे लेकर, अपनी शक्ति और क्षमता का यथार्थ मूल्याकन करके व्रती श्रावक के पथ को अपनाएँगे।

व्रती श्रावक के पथ पर चलने के लिए किन-किन व्रतो का स्वीकार करना आवश्यक है, उनका स्वरूप तथा उनकी मर्यादाएँ क्या-क्या है ? यह हम अगले अध्याय मे स्पष्ट करेंगे।

☆

1

अहिंसा का सार्वभौम रूप

अहिंसा विश्वव्यापी है

विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा का वर्णन एक या दूसरे प्रकार से किया है, सभी दर्शनों ने अहिंसा पर विराट् चिन्तन दिया है। सभी जातियों, समाजों और राष्ट्रों में अहिंसा को किसी न किसी रूप में स्थान दिया गया है। पारिवारिक जीवन में पद-पद पर अहिंसा की झाँकी दिखाई देती है। मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में— फिर चाहे वह वैयक्तिक क्षेत्र ही क्यों न हो, चाहे पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र हो, सर्वत्र अहिंसा की गूंज उस क्षेत्र के लोकमानस में रही है और बार-बार उसके प्रयोग भी होते देखे गए हैं। इस प्रकार अहिंसा विश्वव्यापी है, मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। जैसे गंगा नदी की प्रत्येक लहर में जल व्याप्त है, उसी प्रकार मानव-मानस की प्रत्येक लहर में अहिंसा व्याप्त होकर रही है। अहिंसा के बिना मानव का कार्य एक दिन भी नहीं चलता और न चला है। जहाँ भी कोई पारिवारिक समस्या आई, जहाँ भी किसी सामाजिक प्रश्न ने सिर उठाया, जब भी किसी राजनैतिक संघर्ष की आहट हुई, जिस दिन कोई आर्थिक मसला आया, जिस घड़ी कोई धार्मिक झगड़ा पैदा हुआ, उस घड़ी उन सबके निपटारे या समाधान के लिए मानव ने अहिंसा का ही दरवाजा खटखटाया है। उस समय निर्णय करने के लिए मनुष्य ने अहिंसा का ही आह्वान किया है, अहिंसा को ही न्यायाधीश का आसन दिया है। कदम-कदम पर मनुष्य अहिंसा देवी की मनौती करके अपने जीवन की सुरक्षा करता रहा है, पद-पद पर अहिंसा-महादेवी को हृदय-सिंहासन पर बैठाकर मनुष्य ने अपने जीवन का वरदान पाया है, बात-बात में अहिंसामाता की वत्सलता से मनुष्य ने अपने दिल-दिमाग के सन्तुलन को बनाए रखा है, क्षण-क्षण में अध्यात्मसाधक ने अहिंसा भगवती की चरणरज सिर पर चढ़ाई है। तभी प्रश्नव्याकरणसूत्रकार को कहना पड़ा—"अहिंसा भगवती है, यह भयभीतों को अभयदान देने वाली है, त्रस्तों को त्राण देने वाली है, आश्रितों को शरण देने वाली है। मानवजाति के लिए संजीवनी बूटी है।"[1]

---

१ एसा सा भगवई अहिंसा, जा सा भीयाणमिव सरण — प्रश्न० संवरद्वार

अणुव्रत : एक विश्लेषण

- अहिंसा का सार्वभौम रूप
- श्रावक की अहिंसा-मर्यादा
- अहिंसा की मंजिल . श्रावक की दौड
- सत्य जीवन का सम्बल
- श्रावक की सत्य-मर्यादा
- अस्तेयव्रत स्वरूप और साधना
- श्रावक जीवन मे अस्तेय-मर्यादा
- ब्रह्मचर्य की सार्वभौम उपयोगिता
- श्रावक जीवन मे ब्रह्मचर्य-मर्यादा
- इच्छा का सरोवर संतोष की पाल
- परिग्रह हानि परिमाण विधि अतिचार

1

अहिसा का सार्वभौम रूप

☆

अहिंसा विश्वव्यापी है

विश्व के सभी धर्मो ने अहिंसा का वर्णन एक या दूसरे प्रकार से किया ह, सभी दर्शनो ने अहिंसा पर विराट् चिन्तन दिया है। सभी जातियो, समाजो और राष्ट्रो मे अहिंसा को किसी न किसी रूप मे स्थान दिया गया है। पारिवारिक जीवन मे पद-पद पर अहिंसा की झाँकी दिखाई देती है। मानव-जीवन के सभी क्षेत्रो मे—फिर चाहे वह वैयक्तिक क्षेत्र ही क्यो न हो, चाहे पारिवारिक, सामाजिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एव आध्यात्मिक क्षेत्र हो, सर्वत्र अहिंसा की गूँज उस क्षेत्र के लोकमानस मे रही है और बार-बार उसके प्रयोग भी होते देखे गए है। इस प्रकार अहिंसा विश्वव्यापी है, मानव-जीवन के सभी क्षेत्रो मे व्याप्त है। जैसे गगा नदी की प्रत्येक लहर मे जल व्याप्त है, उसी प्रकार मानव-मानस की प्रत्येक लहर मे अहिंसा व्याप्त होकर रही है। अहिंसा के बिना मानव का कार्य एक दिन भी नही चलता और न चला है। जहाँ भी कोई पारिवारिक समस्या आई, जहाँ भी किसी सामाजिक प्रश्न ने सिर उठाया, जब भी किसी राजनैतिक सघर्ष की आहट हुई, जिस दिन कोई आर्थिक मसला आया, जिस घडी कोई धार्मिक झगडा पैदा हुआ, उस घडी उन सबके निपटारे या समाधान के लिए मानव ने अहिंसा का ही दरवाजा खटखटाया है। उस समय निर्णय करने के लिए मनुष्य ने अहिंसा का ही आह्वान किया है, अहिसा को ही न्यायाधीश का आसन दिया हे। कदम-कदम पर मनुष्य अहिंसा देवी की मनौती करके अपने जीवन की सुरक्षा करता रहा है, पद-पद पर अहिंसा-महादेवी को हृदय-सिहासन पर बैठाकर मनुष्य ने अपने जीवन का वरदान पाया हे, बात-बात मे अहिंसामाता की वत्सलता से मनुष्य ने अपने दिल-दिमाग के सन्तुलन को बनाए रखा है, क्षण-क्षण मे अध्यात्मसाधक ने अहिसा भगवती की चरणरज सिर पर चढाई है। तभी प्रश्नव्याकरणसूत्रकार को कहना पडा—"अहिंसा भगवती है, यह भयभीतो को अभयदान देने वाली है, त्रस्तो को त्राण देने वाली है, आश्रितो को शरण देने वाली है। मानवजाति के लिए सजीवनी बूटी ह।"[१]

---

१ एसा सा भगवई अहिंसा, जा सा भीयाणमिव सरण — प्रश्न० सवरद्वार

मनुष्येतर प्राणी अहिंसा का अर्थ, व्याख्या या विश्लेषण न समझते हो, परन्तु दूसरे प्राणियो की अपने बच्चो के प्रति ममता तो होती ही है। कोई भी प्राणी अपनी सन्तान को मारता नही। दूसरे प्राणियो मे कई बार कोमलता भी देखी जाती है। इसलिए व्रत के रूप मे न सही, किन्तु जीवन की सुरक्षा के रूप मे दूसरे प्राणी भी जाने-अनजाने अहिंसा का-सा व्यवहार किया करते हे। इसके सिवाय मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे, प्रत्येक प्रवृत्ति मे, प्रत्येक कार्य, त्याग, नियम, व्रत प्रत्याख्यान आदि मे अहिंसा को ही प्राथमिकता दी जाती है, इसलिए अहिंसा परमधर्म है।

सभी व्रतो के साथ अहिंसा की धारा आवश्यक

जैनधर्म का तो अहिंसा प्राण है। बल्कि यो कहा जा सकता है कि अहिंसा और जैनधर्म एकीभूत से प्रतीत होते है। अहिंसा के विना जैनधर्म का छोटे से छोटा साधक एक डग भी नही भर सकता। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह आदि सभी व्रतो का समावेश अहिंसा मे हो जाता है। श्रमण सस्कृति का मूल स्वरूप अहिंसा है, सत्य आदि उसका ही विस्तार है, ब्रह्मचर्य उसकी सयम साधना हे। अस्तेय और अपरिग्रह उसका तप हे। इसीलिए जैनधर्म के एक महान् आचार्य ने कहा —'अवसेसा तस्स रक्खट्ठा'—शेप सभी व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए है। धन को सुरक्षित रखने के लिए लोहे की तिजोरी होती है, उसी प्रकार अहिंसा रूपी धन को सुरक्षित रखने के लिए दूसरे व्रत तिजोरी के समान है। वैसे अहिंसा के ग्रहण से पाँचो महाव्रतो का ग्रहण हो जाता है।[1]

निष्कर्प यह है कि अहिंसा के अतिरिक्त जितने भी व्रत हे, वे सब अहिंसा के ही पोपक है, अहिंसा से ओतप्रोत होते हैं। यो तो सभी व्रत महान् एव उपादेय हे, किन्तु सबके मूल मे अहिंसा भगवती विराजमान रहती है। यदि सत्यव्रत मे अहिंसा है तो वह सत्य टिकेगा, अस्तेय मे भी अहिंसा व्रत है तो अस्तेय की भावना आसन जमाएगी। यदि ब्रह्मचर्य के साथ भी अहिंसा है तो ब्रह्मचर्य की साधना तेजस्वी होगी, और अगर अपरिग्रह के साथ भी अहिंसा की धारा है तो अपरिग्रहवृत्ति जीवन मे आ पाएगी।

भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है कि वह सत्य भी सत्य नही है, जो दूसरो के जीवन के साथ खिलवाड करता हो, किसी की आत्मा को कष्ट पहुँचाने वाला हो। जिस सत्य से हिंसा और वैर की ज्वाला फूट निकलती हो, वह सत्य कभी सत्य नही हो सकता। किसी पर सकट का पहाड टूट पडता हो, उस सत्य को सत्य नही कहा जाता।

मान लीजिए, एक सत्य का साधक मार्ग मे चला जा रहा हो, सामने से कोई

---

१ अहिंसाग्गहणे पचमहव्वयाणि गहियाणि भवति'

—दशवैकालिक चूर्णि १, अध्ययन

शिकारी अपने शिकार का पीछा करता आ रहा हो, इस प्रकार की स्थिति में यदि शिकारी उस सत्य-पालक गृहस्थ से पूछता है—"क्या तुमने किसी पशु को इधर जाते देखा है ?" इसी प्रकार कोई गुण्डा किसी सती-साध्वी का पीछा कर रहा है अथवा कुछ लुटेरे निरपराध यात्रियों को लूटने की फिराक में हैं और सत्यपालक से पूछते हैं—"क्या इधर किसी महिला को जाते हुए देखा है ? अथवा यात्रियों के दल को देखा है ?" ऐसी स्थिति में अगर सत्यपालक शिकारी, गुण्डे या लुटेरे को सत्य-सत्य कह देता है, तो उक्त पशु, सतीसाध्वी या यात्री दल पर घोर संकट आ सकता है, उनका जीवन घोर संकट में पड़ सकता है। अतः अहिंसा की जहाँ रक्षा न हो, वहाँ बोला गया सत्य वास्तव में सत्य नहीं कहलाता। शास्त्रकार कहते हैं—या तो ऐसी परिस्थिति में सत्यवादी मौन रहे, या उपेक्षा भाव से उत्तर दे। किसी का दिल दुखाने के लिए सत्य बोलना अहिंसा से अनुप्राणित न होने के कारण असत्य की कोटि में है।

यही बात अचौर्यव्रत के सम्बन्ध में है—एक हत्यारा या पागल अचौर्यव्रती से आकर तलवार पिस्तौल या अन्य कोई शस्त्र मांगता है, अगर वह उस समय उस शस्त्र को नहीं छिपाता, और दे देता है तो ऐसा अचौर्य पालन हिंसाजनक होने से अचौर्य नहीं कहला सकता।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य का सर्वथा पालन तो नहीं कर सकता, लेकिन अपनी निर्दोष पत्नी को तंग करके घर से निकालने या आत्महत्या के लिए विवश करने की दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन करने का दिखावा करता है तो उसका यह ब्रह्मचर्यपालन अहिंसा की हत्या करके होने से यथार्थ ब्रह्मचर्य नहीं है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति अपने परिवार के भरण-पोषण न कर सकने, या अपनी पत्नी या माता-पिता अथवा भाई के साथ झगड़ा होने पर उनसे रूठकर उनके भरण-पोषण का आगा-पीछा विचार किये बिना ही उनको छिटका कर, अपनी धन-सम्पत्ति, घरबार को छोड़कर अन्य कोई प्रबन्ध किये बिना ही, साधु बन जाने की सोचता है—अपरिग्रही हो जाना चाहता है, परन्तु उसका यह अपरिग्रह अहिंसा से अनुप्राणित न होने के कारण सच्चा अपरिग्रह नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि जिस सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या अपरिग्रह के साथ अहिंसा नहीं है, वहाँ वह सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या अपरिग्रह निष्प्राण है, औपचारिक है, दिखावटी है।

जैनधर्म की प्रत्येक साधना, चाहे वह छोटी हो या बड़ी हो, उसके साथ अहिंसा का जीवन संगीत चलता है। जीवन विकास के लिए जितने भी ऊँचे-ऊँचे नियम हैं, त्याग हैं, व्रत-प्रत्याख्यान हैं, तप आदि हैं, उन सबमें अहिंसा की धारा का होना अनिवार्य है। अहिंसा के बिना न नैतिकता जीवित रह सकती है और न ही आध्यात्मिकता। आध्यात्मिक जीवन निर्माण हेतु लिए जाने वाले तमाम व्रतों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। साधक चाहे गृहस्थ हो, या साधु सर्वप्रथम अहिंसा की

ही पतिज्ञा लेता है। चाहे गृहस्थ और साधु के अहिंसा-पालन मे अन्तर हो, परन्तु अहिंसा को पथम धर्म, प्रथम व्रत मानने मे कोई अन्तर नही है। इसीलिए एक कवि ने अहिंसा का मार्मिक चित्र खीचा है—

अहिंसा ही है पहिला धर्म।
कर्त्तव्यो की यही कसौटी, यही धर्म का मर्म॥
मानवमात्र कुटुम्ब बनाओ, जियो और जीने दो।
कण-कण मे रस भरा हुआ है, पियो और पीने दो॥
पशु-पक्षी भी बनें कुटुम्बी, हृदय बना लो नर्म॥ अहिंसा ॥
हिंसा से क्यो नरक बनाते, दिखलाते शैतानी ?
मानवता क्यो लजा रहे हो, दिखलाकर हैवानी॥
मानवता खोई हिंसक ने, बन करके बेशर्म॥ अहिंसा ॥

सचमुच अहिंसा मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रथम कर्त्तव्य है, स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन की प्रथम पक्रिया है, पबुद्ध पारिवारिक जीवन का पहला धर्म है, और आध्यात्मिक जीवन का प्रथम पाठ है। मानव सभ्यता का यथार्थ नापतौल अहिंसा के बांटो से ही किया जा सकता है। हिंसा, सघर्ष विनाश, अधिकारलिप्सा, सत्ता की छीना-झपटी, स्वार्थान्धता एव असहिष्णुता से पीडित ससार के लिए अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ अमृतमयी शरणदायिनी है। अहिंसा माता की गोद मे बैठकर ही मनुष्य सुख की सास ले सकता है। अहिंसा न होती तो मनुष्य न स्वय अपने को जानता और न ही दूसरो को ही। पशुता से ऊपर उठकर मनुष्यता को अपनाने के लिए अहिंसा का अवलम्बन लेना अनिवार्य है।

धर्म की परख · अहिंसा से

धर्म की जड क्या है ? किस तत्त्व से धर्म की जड मजबूत होती है ? यह पश्न आज से ही नही पाचीनकाल से ही भारतीय सस्कृति एव धर्मों के तत्त्वविदो मे पूछा गया था। धर्म जब चेतना के विकास के लिए आवश्यक है तब उसका मूल केन्द्र तो कोई न कोई पदार्थ होना ही चाहिए। भारतीय सस्कृति और धर्म के महान् व्याख्याताओ ने इसका उत्तर दिया है, उस समय की पचलित सस्कृत भाषा मे। उस उत्तर से आप अहिंसा की गरिमा का अदाजा लगा सकेंगे। उन्होने कहा—

अहिंसा-लक्षणो धर्मः अधर्मः प्राणिना वधः।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोके कर्त्तव्या प्राणिना दया॥

इसका अर्थ यह है कि धर्म का लक्षण, स्वरूप, मूल या आधार क्या है, यह पूछे जाने पर धर्म के व्याख्याकारो ने कहा—'अहिंसालक्षणो धर्मः' धर्म का लक्षण स्वरूप आधार या मूल केन्द्र जो कुछ भी कहे अहिंसा है।

ससार में जितने भी धर्म, पथ, सम्प्रदाय या मत है, वे सच्चे माने मे धर्म है या नही उनमे धर्म का अस्तित्व है भी या नहीं ? उनमे धर्म का आत्मा है या नही ?

जितनी भी परम्पराएँ या मान्यताएँ हैं, या धर्म संस्थाएँ हैं, वे भी धर्म से अनुप्राणित हैं या नहीं ? इन सबकी पहिचान या कसौटी अहिंसा है। आचार्य ने कहा—धर्म का यथार्थ लक्षण यही है कि उसमें अहिंसा का भाव है या नहीं ?

अहिंसा का भाव कम है या ज्यादा है, यह प्रश्न अलग है। कहाँ अहिंसा को कितना स्थान दिया गया है ? किसने कितनी बड़ी चर्चा की है अहिंसा की, या कौन कितनी दूर तक अहिंसा के रहस्यों को जान सका है ? यह प्रश्न यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह बताया गया है कि अगर धर्म, मत या पंथ में अहिंसा की भावना अठखेलियाँ नहीं कर रही हैं तो वह धर्म नहीं है। यहाँ पर तो मैंने मानव-मानस में रही हुई कोमल भावनाओं का विश्लेषण किया है, वही वास्तव में धर्म है। इस संसार में वह चाहे जिस नाम से पुकारा जाता हो, उसका कुछ भी नाम हो, वह धर्म की कोटि में आ जाता है। उस मत, पंथ या सम्प्रदाय में यदि मनुष्य में निहित स्वाभाविक करुणा, दया, सेवा, सहानुभूति आदि कोमल भावों को अंकुरित होने की प्रेरणा है तो समझ लो, वहाँ धर्म की आत्मा सोलह कलाओं में खिल रही है, उसमें धर्म के प्राण प्रतिष्ठित हैं।

इसी प्रकार सभ्यता, संस्कृति, परम्परा, मान्यता, धर्मसंस्था आदि सबकी यथार्थता को परखने के लिए हमारे यहाँ एक ही थर्मामीटर है—अहिंसा का। आपने उस वैद्य की कहानी सुनी होगी, जो सभी रोगों के निवारण के लिए एक ही दवा देता था—जमालघोटा। कोई भी रोगी उसके पास आता, वह उसे जमालघोटे की गोली दे देता था। चाहे आँख में पीड़ा हो, चाहे पेट में दर्द, बुखार हो या अतिसार, उसे विश्वास था कि सभी रोग पेट की खराबी से होते हैं, इसलिए वह सबको जमालघोटे की गोली बेखटके दे देता था। और सचमुच उससे रोग मिट जाता था। यद्यपि आम जनता ऐसे वैद्य को अनाड़ी वैद्य कहती है। लेकिन धर्म के व्याख्याता आचार्य भी उन्हीं वैद्यों में से एक हैं, उन्हें यह विश्वास था कि संसार के सभी सामाजिक या राष्ट्रीय रोग हिंसा से प्रादुर्भूत होते हैं, इसलिए सभी धर्मों, संस्कृतियों, मतों, पंथों या सम्प्रदायों की सच्चाई की परख यही है कि उनमें हिंसा न हो, अहिंसा हो। जमाल-घोटे वाले वैद्य की तरह उनके पास भी परखने की एक ही कसौटी है, और वह है—अहिंसा की।

अहिंसा का श्रीगणेश

मानव विकास के इतिहास का बारीकी से अध्ययन किया जाय तो समझ में आएगा कि मानव अपने विकास के आदिकाल में अकेला था, वैयक्तिक सुख-दुःख की सीमा में घिरा हुआ था। उस युग में न कोई पिता था, न माता थी, न पुत्र था, न पुत्री थी, न भाई था और न बहन। पति और पत्नी भी नहीं थे। देह सम्बन्ध की दृष्टि से ये सब सम्बन्ध थे। उनमें कोई सामाजिकता नहीं थी। यही कारण है कि उस युग में एकमात्र नर-मादा का सम्बन्ध था। सुख-दुःख में एक-दूसरे के प्रति लगाव या

सहयोग का दायित्व उस युग मे नही था। इसलिए नही था कि मानव चेतना ने विराट् रूप ग्रहण नही किया था। मानव अपने क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थ के घेरे मे बन्द था। एक दिन वह आया, जब मानव इस क्षुद्र सीमा से बाहर निकला। केवल अपने सम्बन्ध मे ही नही, अपितु दूसरो के सम्बन्ध मे भी उसने कुछ सोचना शुरू किया। सम्भवत इसका श्रीगणेश उस समय हुआ होगा, जब उसने अपनी वन्यावस्था को छोडकर समूहो मे रहना सीखा। यही समय मानवधर्म का शिशुकाल कहा जा सकता है। जैन परिभाषा मे इसे अकर्मभूमि या यौगलिक धर्म कहते है। समूहो मे रहने से मनुष्यो मे सर्वप्रथम जो गुण जगे, वे थे—सहिष्णुता, सहयोग एव सहकार की भावना। इस सहृदयता और सद्भावना की ज्योति अन्तर्मन मे जगी और मानव परस्पर सहयोग से दायित्वो को प्रसन्न मन से वहन करने को तैयार हो गया। यही अहिंसा का प्रारम्भिक रूप था। अहिंसा के बिना मनुष्य का पारिवारिक जीवन चलना असम्भव था। पारिवारिक जीवन की पूरी कल्पना अहिंसा के क्रान्तिकारी स्वरूप का द्योतक है। परिवार मे रहने वाले पुरुष और स्त्री दोनो के सम्बन्धो मे से अथवा माता-पिता और बालक-बालिकाओ के बीच मे से अहिंसा को हटा दिया जाय तो परिवार जैसी वस्तु असम्भव हो जायगी। परिवार बन जाने से ही माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि सभी सम्बन्धो का आविर्भाव हो गया। इस प्रकार पारिवारिक भावना के साथ समूहबद्ध मानव ने एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकारा परस्पर सहयोग की भावना उद्बुद्ध हुई। यही से अहिंसा (प्रेम) का बीज जो अभी तक अनुर्वरक भूमि मे पडा था, प्रस्फुटित हुआ। अहिंसा की सर्वप्रथम कल्पना कब प्रादुर्भूत हुई थी ? यह कहना कठिन है। यह इतिहासकारो के शोध का विषय है। किन्तु यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि मानव के सर्वांगीण जीवन को सुखद, सरल, आनन्दमय एव निश्चिन्ततापूर्वक बिताने के लिए ही अहिंसा को स्वीकार किया गया था। प्रारम्भ मे थोडे-से सिद्धान्त स्थिर किये होगे, लेकिन आगे चलकर पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक एव सास्कृतिक जीवन मे कई उलझने पैदा हुई होगी, कई नए सघर्ष भी उपस्थित हुए होगे और तब हिंसा-अहिंसा की मर्यादाएँ, उनका स्वरूप और त्रिविध परिस्थितियो मे विविध देश, काल और पात्र के अनुसार उनके विभिन्न प्रयोग भी सुनिश्चित किये गये होगे।

अत कालक्रम मे मानव का विवेक आगे बढा, अधिक विकास हुआ। फिर तो परिवार से ग्राम, नगर और राष्ट्र तक बने, मानव की अहिंसा भी विकसित होती गई।

असफल हो गये तब ऋषभदेव ने मानव समूह को अहिंसात्मक पथ का उत्तम बोध दिया—जिस प्रकार तुम्हे सुख और शान्ति का जीवन प्रिय है, उसी प्रकार विश्व के समस्त प्राणी सुख और शान्ति का जीवन चाहते है। जिस तरह तुम अपना अहित पसद नही करते, उसी तरह विश्व का कोई भी प्राणी अपने लिए दुःख, पीडा या अहित नही चाहता। जीवन सात्त्विक वृत्ति से भी जिया जा सकता है, तामसवृत्ति से भी।

मानव-जीवन के विकास का इतिहास पुकार-पुकार कर कह रहा है कि मानव सस्कृति के सूत्रधार ऋषभदेव तीर्थंकर ने मानव को अहिंसा के द्वारा सुख-शान्ति पूर्वक जीने का महामन्त्र दिया।

आत्मदर्शन का मूल : अहिंसा

हाँ तो, मैं आपसे कह रहा था कि अहिंसा आत्मदर्शन का मूल है। जब तक भगवान महावीर द्वारा निरूपित **'एगे आया'** आत्मा एकरूप है, एक समान है, तथा **'अप्पसम मन्निज छप्पिकाए'** अपनी आत्मा के समान विश्व के प्राणिमात्र (पट्जीव-निकाय) को समझो। यह सिद्धान्त नही अपनाया जाता, तब तक अहिंसा व्यवहार मे उतर नही सकती। चैतन्य के जाति, कुल, समाज, राष्ट्र, प्रान्त, ग्राम, नगर, स्त्री, पुरुष आदि के रूप मे जितने भी भेद है, वे सब आरोपित भेद है, शरीर को लेकर भेद है, ये सब बाह्य निमित्तो की दृष्टि से परिकल्पत मिथ्याभेद है। आत्मा का कोई भेद नही है। विभिन्न आत्माओ के मूलस्वरूप मे कोई भेद नही है। जब इस प्रकार प्राणिमात्र को अभेद भावना से देखा जाएगा तो फिर किसी भी प्राणी के प्रति घृणाभाव, द्वेपबुद्धि, स्वार्थदृष्टि या वैर-भाव कैसा ? फिर कलह और विग्रह को कोई स्थान नही रहेगा।

वर्तमान मे सर्वोदय के प्रमुख नेता सन्त विनोबा भावे ने जो 'जय जगत्' का नारा लगाया है, उसे मूर्तरूप तभी मिल सकता है, जब अहिंसा को अपनाया जाय। अहिंसा के सिवाय और कोई आधार नही है, जो खण्ड-खण्ड होती हुई मानव-जाति को एकरूपता दे सके या एक सूत्र मे ग्रथित कर सके। विश्व के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा की गारण्टी, सृजनात्मक स्वातन्त्र्य का विश्वास आत्मौपम्य दृष्टिमूलक अहिंसा ही दिला सकती है। प्राणिमात्र के साथ मनुष्य द्वारा कल्पित इन औपचारिक भेदो को मिटा कर अभेदभावना स्थापित करना अहिंसा का ही कार्य है।

जब इस प्रकार की अभेद भावना आत्मा-आत्मा के बीच स्थापित हो जाएगी, तब सम्पूर्ण विश्व को अपनी आत्मा मे और अपनी आत्मा को सम्पूर्ण विश्व मे देखना आसान हो जाएगा। जब मनुष्य समस्त प्राणियो का प्रतिबिम्ब अपनी आत्मा मे देखेगा, तब उसके मन मे घृणा, द्वेप, अपने-परायेपन एव स्वार्थ की भावना कहाँ रहेगी ? फिर तो प्रत्येक मनुष्य की आत्मा मे विश्व की आत्माओ के प्रति सहानुभूति, समवेदना और आत्मौपम्यभावना सहज ही प्रस्फुटित होगी और सबके जीने की

आकाक्षा और मृत्यु के प्रति अनिच्छा की अनुभूति अपने अन्दर जगेगा। फिर तो भगवान महावीर की इस अनुभवपूर्ण प्रेरणा को वह आत्मसात् कर लेगा—

'सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ'[१]

"सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउ कामा, सव्वेसि जीविय पिय।"[२]

सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। सभी को अपनी जिन्दगी के प्रति प्यार, आदर व आकाक्षा है। सभी अपनी सुख-सुविधा के लिए सतत प्रयत्नशील है, अपने अस्तित्व के लिए सभी सघर्ष कर रहे है। जैसा तू है, वैसे ही सब प्राणी है।

'ससार भर के प्राणियो को अपनी आत्मा के समान समझो', यही अहिंसा की श्रेष्ठ व्याख्या है, इस एक सूत्र को समझ लेने पर अहिंसा की सारी उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ जाती है। इसमे 'जियो और जीने दो' के महामन्त्र से भी आगे बढ कर 'दूसरो को जिलाओ और जीओ' का महामन्त्र गर्भित है। जिस दिन इस प्रकार की आन्तरिक अहिंसा हृदय मे बैठ जाती है, तब मनुष्य अपने आप मे जो जीने का अधिकार लेकर बैठा है, वही अधिकार वह सहजभाव मे दूसरो को भी देगा। यहाँ तक कि दूसरो को दु ख मे तडफते देखकर उसके हृदय मे आत्मौपम्य-मूलक करुणा जगेगी और वह अपने को तिल-तिल करके भी उसके दु ख निवारण के लिए प्रयत्नशील होगा, स्वय की परवाह न करके, अपनी सुख-सुविधाओ को होम कर भी वह उनकी सेवा मे जुट पडेगा। उसके दु ख से वह अनुकम्पित हो उठेगा। वह अहिंसा की इसी दिव्य ज्ञानदृष्टि से देखेगा कि ये सब प्राणी उसके ही आत्मीय है, जो चीज उसे प्रिय है, वही इनको भी प्रिय है। यही अहिंसापूर्ण हृदय की कसौटी है। दूसरो के दर्द की अनुभूति अपने दर्द की तरह व्यक्ति के हृदय मे होने लगे तभी मानना चाहिए कि अहिंसा उसके भीतर विराजमान है।

जिसके हृदय मे प्राणिमात्र के प्रति ऐसी अभेद भावना नही होगी, वह यही सोचेगा—'मेरे लगी सो दिल मे और दूसरो के लगी सो दीवार मे।' यानी चोट लगने पर जैसा दर्द मुझे होता है, वैसा ही दूसरो को होता है, यह भावना नही आई तो समझ लेना चाहिए, अभी तक इस हृदय मे अहिंसा भगवती विराजमान नही हुई। वस्तुत हिंसा से कभी सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त नही होती। एक अनुभवी पाश्चात्य विद्वान् ने लिखा है—'The violence done to us by others is often less painful than that, which we do to others' अर्थात्—दूसरो के द्वारा दिया गया कष्ट हमे कम दु खदायी महसूस होता है, बजाय उस कष्ट के जो कि हम दूसरो

—

१ दशवैकालिकसूत्र ६/११
२ आचारागसूत्र १,२,६२-६३

को देते है, जो उन्हे अधिक पीडाकारक प्रतीत होता है। इसलिए अहिंसा के साधक को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरे निमित्त से किसी को कष्ट न हो।

अहिंसा की उपयोगिता

प्रश्न होता है कि जब सभी प्राणियो का जीवन सघर्ष से व्यतीत होता है, जीवन जीने के लिए, कमाने, खाने और अन्य सुख-सुविधाएँ जुटाने के लिए व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक सघर्ष करना पडता है, 'जीवो जीवस्य भक्षणम्' एक जीव दूसरे जीव को निगल कर अपना जीवनयापन करता है, छोटी मछली को खाकर बडी मछली जिन्दा रहती है, इस सघर्षमय हिंसा से जब जिन्दगी व्यतीत होती है, तब अहिंसा को कैसे अपनाया जा सकता है ?

इसके उत्तर मे हमे यही कहना है कि किसी भी प्राणी का सारा जीवन सघर्ष मे नही गुजरता। उसे बचपन मे अपनी जन्मदात्री माता व सरक्षक पिता का सहयोग लेना पडता है। माता बच्चे को आत्मीय समझ कर उसे अपना दूध या अन्य खाद्य स्वय खिलाती-पिलाती है, मानव शिशु को उसकी माँ नहलाती, धुलाती है, स्वय कष्ट सहकर, भूखे रहकर बालक का सवर्द्धन करती है। स्वय गीले मे सो कर बच्चे को सूखे मे सुलाती है। बच्चे के प्रत्येक कष्ट एव पीडा को माता अपना कष्ट व अपनी पीडा समझती है। बालक की सेवा वह प्राणप्रण से, निरहकार भाव से, अपना दायित्व समझ कर करती है। बडे होने पर भी बालक को शिक्षा-दीक्षा, सस्कार दिलाये जाते है, उसको अर्थोपार्जन के लिए सहयोग दिया जाता है, उसके विवाह के लिए सभी तरह से माता-पिता द्वारा प्रयत्न किया जाता है। यहाँ तक कि लडके की सन्तान की परवरिश तक का प्रयत्न माता-पिता द्वारा किया जाता है। क्या ये सब प्रवृत्तियाँ सघर्ष के आधार पर होती है ? नही, ये सब प्रवृत्तियाँ सहयोग के आधार पर होती है। यही नही जिस प्रकार पुत्र ने अपने माता-पिता से भरसक सहयोग लिया है, इसी प्रकार वह भी अपनी सन्तान और सन्तान की सन्तान तक पूर्वोक्त सहयोग देकर इस परम्परा को जारी रखता है। इसीलिए तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने कहा—

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'

—जीवो का स्वभाव परस्पर एक-दूसरे का उपकारक होना है।

यही कारण है कि कई पशु और पक्षी भी मनुष्य के सहयोगी बनते है, जिन्दगी के अन्त तक वे अपने स्वामी के परिवार को भरसक सहयोग देते हैं, आजीविका के कार्यो मे पूरे शरीर से जुट कर मालिक के प्रति कर्तव्य अदा करते है। महाराणा प्रताप का चेतक घोडा, बनजारे का कुत्ता, महावत का हाथी आदि पशुओ की स्वामिभक्ति इतिहास मे प्रसिद्ध है। दूसरे मनुष्य भी अपनी जीवन-रक्षा व स्वतन्त्रता के लिए प्राणो की बलि देकर भी जुटे हैं, जुट जाते हैं। देश एव समाज के जीवन की सुरक्षा,

पूर्ण नही हो सकेगा। वह हिंसा चाहे—बन्दूक और तलवार से न हो, या मारपीट व लाठियो के प्रहार से न हो, परन्तु वाचिक या मानसिक अधिक होती है।

यदि आप चाहते है कि कोई भी प्राणी आपको शारीरिक या मानसिक कष्ट न दे, आपको कटुवचन न कहे, आपके साथ धोखा, बेईमानी और विश्वासघात न करे, आपका अपमान न करे, आपकी बहन-बेटियो की इज्जत करे तथा आपसे अच्छा व्यवहार करे तो आपको भी चाहिए कि आप भी किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक कष्ट न दे, कटुवचन न कहे, दूसरे के साथ धोखेबाजी, बेईमानी एव विश्वासघात न करे, दूसरे का अपमान न करे, दूसरे की बहन-बेटियो की इज्जत करे, दूसरो से अच्छा व्यवहार करें। यही हिंसा से बचने और अहिंसा को अनिवार्य रूप से जीवन मे लाने का सूत्र है। जिसके लिए जैनाचार्यो ने कहा—

ज इच्छसि अप्पणतो, ज च न इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि, एत्तियग्ग जिणसासणम॥

जिस दयामय व्यवहार को तुम अपने लिए पसन्द करते हो, उसे दूसरे भी पसन्द करते है, जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए नही चाहते, उसे दूसरा भी नही चाहता, यही जिनशासन का सार है। सभी धर्मो का भी यही सार है।

यही कारण हे कि आदिमकाल के मानव ने अपने ही स्वार्थपूर्ण दायरे मे न जीवन की रक्षा समझी और न ही सुख-शान्तिसम्पन्नता। मानव हितैषी कुलकरो के उपदेशो से वचित लोगो ने यह समझ लिया था कि जीने या जिन्दगी की रक्षा के लिए मरने से बचना होता है और इसके लिए दूसरे को मारना भी होता है। किन्तु इस सघर्षमय जीवन से न तो जिन्दगी की रक्षा होती है और न सुख-शान्ति की प्राप्ति। अत सभ्यता और सस्कृति के बहुत ही प्रारम्भिक काल मे उसने यह जान लिया कि दूसरो के साथ समूह रूप मे मिलकर रहने, दूसरो की जिन्दगी की रक्षा और सुख-शान्ति के कार्यो मे सहयोग देने, दूसरो के दु ख-दर्दो मे, आफत और सकट मे हमदर्दी दिखाने से ही स्वय के जीवन की रक्षा और सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। इसी विचार मे से अहिंसा की उपयोगिता मनुष्य ने जानी। मानव-जाति के मूर्धन्य विचारको द्वारा अहिंसा को अपनाने और हिंसा को छोडने का यही मूल कारण था।

इसीलिए अहिंसा की शक्ति और महत्ता का गुणगान करते हुए एक कवि के हृत्तत्री के सुकुमार तार झनझना उठे है—

अहिंसा ही दुनिया मे सबसे प्रवर है,
नहीं मित्रो! इसमे जरा भी कसर है।
अहिंसा के आगे झुके विश्व सारा, अहिंसा मे कैसा निराला असर है।
अहिंसा से मिलती है, सुख-शान्ति सच्ची, अहिंसा ही मुक्ति की सीधी डगर हे।
अहिंसा से बल आत्मा का बढा दो, अहिंसक ही दुनिया मे रहता निडर है।

सताना, तग करना, डराना-धमकाना, गुलाम बनाना या जिनका मैं अपमान करना चाहता हूँ। मतलब यह है कि जिस समय तू दूसरो के साथ गलत व्यवहार करना चाहता हे, उस समय यही सोच कि वह भी तेरे जैसा ही सुख-दु ख का अनुभव करने वाला प्राणी हे ।

आत्मौपम्य की साधना : अहिंसा की चाबी

कहने को तो आत्मौपम्य के इस सिद्धान्त का सभी भारतीय धर्मों ने प्रतिपादन किया है, लेकिन इसे आचरण मे लाने के लिए जैनधर्म ने कुछ विशेष बाते बताई है । भगवान महावीर से जब प्रश्न किया गया कि हम किस प्रकार का आचरण करे, जिससे अपने जीवन की सभी प्रवृत्तियाँ करते हुए पाप-कर्म के बन्धन से बच सके ? तब उन्होने सूत्ररूप मे उत्तर दिया—

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम भूयाइ पस्सओ ।
पिहिआसवस्स दतस्स, पावकम्म न बधई ॥

जो साधक सर्वभूतात्मभूत बन जाता है, विश्व की समस्त आत्माओ को अपने समान समझता हे, आस्रवो (कर्मों के प्रवेश) को रोक लेता है और इन्द्रिय एव मन का निग्रह कर लेता है, वह पाप-कर्म का बन्ध नही करता ।

मतलब यह है कि अहिंसा के साधक के हृदय मे जैसा प्रेम, स्नेह या वात्सल्य अपने पुत्र-पुत्री या परिवार के प्रति है, वैसा ही प्रेम, स्नेह या वात्सल्य विभिन्न जातियो, धर्म-सम्प्रदायो, राष्ट्रो, प्रान्तो, नगरो-ग्रामो या परिवारो मे बँटी हुई समग्र मानव-जाति के प्रति हो, इतना ही नही, समस्त पशु-पक्षी जगत् तक समष्टि के रूप मे फैलता जाएगा, तभी वह अहिंसा का यथार्थ साधक बनेगा ।

इसके लिए उसे अपने-पराये का भेद मन मे से निकालना होगा । शरीर के काले-गोरे या अमुक जाति, प्रान्त, राष्ट्र एव धर्म के भेदो को दूर हटाकर सिर्फ आत्मा को देखने का प्रयत्न करना होगा । इसके लिए उसको इन्द्रियो और मन पर निग्रह करना होगा, कर्म-बन्धन के कारणभूत राग-द्वेष-मोह से दूर रहना होगा । तभी अहिंसा भगवती उसके हृदय मे विराजमान होगी ।

विचार कीजिए घर मे आपके पुत्र-पौत्रादि हैं, सहोदर भाइयो के भी बाल-बच्चे ह । अपनी एव भाइयो की पत्नियाँ हैं । घर मे एक परिवार होते हुए भी आपके मन की सृष्टि मे अपने-पराये की भावना है, अलग-अलग खाने आपके दिल-दिमाग मे है, तो इस प्रकार एक परिवार मे भी इन्सान टुकडे-टुकडे होकर चलता है, तब दूसरे परिवार, पडोसी, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एव धर्म-सम्प्रदाय के लोगो के साथ आत्मीयता कैसे साध सकेगा ?

एक छोटा-सा परिवार था । जिसमे माँ, उसके दो पुत्र, बडे बेटे की बहू और उसका एकमा त्र बेटा—इस प्रकार परिवार मे कुल पाँच सदस्य थे । बडे आनन्द से

जीवनचर्या चल रही थी। एक दिन पुत्रवधू अपने बेटे और बेटे के समवयस्क देवर को दूध पिला रही थी। दोनों को आधा-आधा गिलास दूध उसने पिलाया। परन्तु देवर ने अपनी माँ से भाभी की शिकायत कर दी। वह बोला—"माँ! भाभी जी अपने बेटे को आधा गिलास भरा दूध पिलाती है और मुझे आधा गिलास खाली।" यह सुनकर माँ को तुरन्त गुस्सा आ गया। इसी बात पर उसने बहू से जवाबतलब किया। काफी कहासुनी हुई। बहू ने बड़ी नम्रता से निवेदन किया—"माताजी! यह आप क्या कह रही है? मेरे मन में ऐसे खोटे विचार कभी नहीं रहे। ये बच्चे मेरे क्या, आपके ही है।" किन्तु माँ कब मानने लगी। बात बहुत बढ़ गई। क्रोध के कारण किसी ने यह नही सोचा कि दोनों गिलासों में दूध का परिमाण तो बराबर ही था। नतीजा यह हुआ कि एक ही परिवार मे विघटन हो गया। अलग-अलग दो चूल्हे हो गए। एक तरफ माँ और छोटा बेटा, दूसरी तरफ बड़ा बेटा, बहू और उसका पुत्र।

इस प्रकार बहुत से लोग आवेश मे आकर आत्मौपम्य को खो बैठते है। जहाँ आत्मौपम्य भाव आ जाता है, वहाँ ये क्षुद्र घेरे टूट जाते है। वहाँ परिवार मे बूढे माँ-बाप है, भाई-बहन भी है, कोई रोगी और कोई पीड़ित भी है। कोई ऐसा भी है कि न कुछ कमा सकता है और न ही श्रम कर सकता है। ऐसी स्थिति मे आत्मौपम्य साधक के मन मे कभी ऐसी भावना नही उठती कि—'मैं अकेला कमाता हूँ। ये सब लोग मेरी ही कमाई खाते है, सबके सब बेकार पड़े है। अनाज के शत्रु बन रहे है, काम कुछ नही करते। बूढा और बुढिया भी अब तक भगवान की शरण मे क्यो नही पहुँच जाते। बीमारी है तो क्या है, छोडो इस शरीर के मोह को।' इस प्रकार अपने स्वार्थ और सुख के घेरे मे बन्द होकर वह हृदय की क्षुद्रता प्रगट नही करता। ऐसा व्यक्ति सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रान्तवाद आदि कैचियो से अपने दिल को नही काटता। मानवता के टुकडे नही करता। भारतीय संस्कृति मे तो साँपो, कौओ, कुत्तो, गाय-बछडो, गधो, यहाँ तक कि पीपल आदि वृक्षो को भी पूजा जाता है, आदर के साथ उन्हे खिलाया-पिलाया जाता है। इसलिए मानवजाति के प्रति हृदय की सकीर्णता को यहाँ कोई स्थान नही है।

अहिंसा का साधक किसी पशु-पक्षी को कष्ट नहीं दे सकता

जब आत्मौपम्य दृष्टि अहिंसा के साधक की सहचरी है, तब सहसा उसके मन मे यह विचार आता है कि मैं अपने खाने-पीने के लिए या अपने मौज-शौक के लिए दूसरे किसी भी प्राणी का वध कैसे कर सकता हूँ। अपनी क्षुधातृप्ति जब अन्न एव शाकाहार, फल आदि से हो जाती है तो मुझे दूसरे प्राणियो के प्राण लेने का क्या अधिकार है। प्राणियो का मास, अण्डा या अवयव खाना भी बहुत बडा अपराध है। दूसरो को मारना तो दूर रहा, किसी भी प्रकार से कष्ट पहुँचाना, उन्हे अपने अधिकारो से वचित करना, भूखा-प्यासा रखना, उन पर बलबूते से अधिक बोझ लादना,

उनके अवयवो को गाढ बन्धन से बाँधकर पटक देना, उन्हे बेरहमी से पीटना, धमकी देना, डराना, उनकी चमडी उधेड देना भी बहुत बडा गुनाह है, अहिंसक के लिए।

इसीलिए विवाह, उत्सवो, खुशी के अवसरो अथवा देवी-देवताओ के आगे पशु-पक्षियो का वध करने की कुप्रथा जैनधर्म के महान तीर्थंकरो ने बन्द करवाई। यहाँ विवाह मे पशु-पक्षियो के मास का भोज बरातियो को दिया जाता था, किन्तु यदुकुमार अरिष्टनेमि ने यादवजाति मे प्रचलित इस भयकर हिंसाजनक कुप्रथा को समाप्त करवाया।

इसी प्रकार भगवान पार्श्वनाथ ने कर्मकाण्ड के नाम पर लक्कड जलाने और धूनी तापने वाले तापस कमठ को प्रतिबोध देकर जलते हुए सर्प को बाहर निकाला और उसकी रक्षा की। इस प्रकार हिंसाजन्य अज्ञान तप की जडें भगवान पार्श्वनाथ ने उखाड डाली।

भगवान महावीर और उनके साधुओ ने यज्ञो मे दी जाने वाली पशुबलि का घोर विरोध किया और बहुत-से क्षत्रिय राजाओ को इन हिंसक यज्ञो से विरत किया। बडे-बडे दिग्गज ब्राह्मण पण्डितो को यज्ञ का वास्तविक रहस्य समझाकर हिंसाजन्य यज्ञ की प्रथा भी समाप्त करवाई।

इस प्रकार आत्मौपम्यवृत्ति से प्रेरित होने से प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा की भावना मानवजाति मे जड जमा चुकी थी। क्षत्रियो मे निर्दोष पशुओ का शिकार करने की जो प्रथा थी, उसे भी जैन आचार्यों एव मुनियो ने जगह-जगह उपदेश देकर बन्द करवाया।

आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र मे अहिंसा

महात्मा गाँधीजी ने अहिंसा को एक नया मोड दिया। अहिंसा की शक्ति पर जग लग गया था, वह कुण्ठित होकर केवल धर्मक्षेत्र मे ही रुकी हुई थी। गाँधीजी ने देखा कि एक ओर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का उच्चारण किया जा रहा है, दूसरी ओर समाज मे अनेक प्रकार के वर्गभेद चल रहे हैं। एक वर्ग दूसरे के श्रम का शोषण करता है, श्रम का बदला उसे पूरा नही मिलता, उसके श्रम को हलकी नजर से देखा जाता है, एक छूत एक अछूत है, एक नीचा एक ऊँचा है, एक जाति से नीचा है, दूसरा ऊँचा है, ये गलत मान्यताएँ समाज मे प्रचलित थी, जो अपने ही स्वार्थ और सुख-दु ख का विचार करती थी। उन्होने पुन अहिंसा की आत्मौपम्यदृष्टि से इस विषमता और उसके कारण होने वाले राग-द्वेष को मिटाने का बीडा उठाया। सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र मे गाधीजी ने हिंसाजनक विषमता एव भेदभावो को हटाकर अहिंसा के नये मूल्य स्थापित किए।

राजनैतिक क्षेत्र मे अहिंसा

राजनैतिक क्षेत्र मे भी अहिंसा का जबर्दस्त प्रभाव रहा है। प्राचीनकाल मे जबर्दस्त मानव हिंसात्मक उपायो से कुछ आदमियो को इकट्ठा करके कुछ हथियार

राजनैतिक क्षेत्र मे पचशील अहिंसा के ही अशो से अनुप्राणित है, उनसे स्थायी विश्वशान्ति स्थापित हो सकती है। वे पचशील ये हैं—(१) अखण्डता, (२) प्रभुसत्ता, (३) अहस्तक्षेप, (४) सह-अस्तित्व और (५) सहयोग।

अखण्डता का अर्थ है—प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सीमा का अतिक्रमण न करे। उसकी स्वतत्रता को दबाए व हथियाए नही। उस पर किसी प्रकार का दबाव न डाले। प्रभुसत्ता के मानी हैं—प्रत्येक राष्ट्र की अपने ही प्रभुत्व की सत्ता है। उसकी स्वतत्रता मे दूसरा राष्ट्र बाधा न डाले। अहस्तक्षेप का अर्थ है—दूसरे राष्ट्र किसी राष्ट्र के आन्तरिक या बाह्य सम्बन्धो मे हस्तक्षेप न करे। सहअस्तित्व का अर्थ है—सब राष्ट्रो को अपना विकास करते हुए सम्मानपूर्वक जीने एव अपनी सस्कृति, सिद्धान्तो एव मान्यताओ के साथ जीने का अधिकार है। किसी राष्ट्र का अस्तित्व समाप्त करके उस पर अपने सिद्धान्त या व्यवस्था लादने का प्रयास न किया जाय। और पाँचवा सहयोग है, जिसका अर्थ है—सब राष्ट्र एक दूसरे के प्रति सहयोग और सहकार की भावना रखें।

इस पचशील के प्रयोग से सारे विश्व मे भारत का अहिंसात्मक रवैया चमक उठा। यद्यपि बडे-बडे राष्ट्र इस पचशील की मर्यादाओ का उल्लघन कर देते है, तथापि उन्हे भी अहिंसात्मक पचशील सूत्रो को माने बिना कोई चारा नही।

विज्ञान और अहिंसा

विज्ञान ने नित नये आविष्कार करके भौतिक सुख-सुविधाओ का अत्यधिक विकास किया है, नये-नये अद्यतन साधन प्रस्तुत करके मानव के बाह्य जीवन-स्तर को तो ऊपर उठाया है, लेकिन साथ ही विज्ञान ने मनुष्य की हाथ-पैरो से काम करने की शक्ति कम कर दी, मनुष्य विज्ञान का सहारा लेकर आलसी और परावलम्बी बन गया।

विज्ञान ने सहारक अस्त्र-शस्त्रो और युद्ध के उपकरणो का आविष्कार करके विश्व मे शान्ति को बहुत दूर धकेल दिया है। मनुष्य शान्ति के लिए प्रयत्न कर रहा है और विज्ञान अशान्ति और सघर्ष बढाने का। क्योकि शस्त्रास्त्र होगे तो मनुष्य उन्हे चलाने और प्रयोग करने का प्रयत्न करेगा ही। इस कारण सघर्ष बढे बिना नही रहेगा।

वैज्ञानिको की चोटी बडे-बडे राजनीतिज्ञो के हाथ मे है। अगर उन राजनीतिज्ञो को काबू मे किया जाय, उन पर नियत्रण रखा जाय, तभी विश्वशान्ति हो सकती है। अन्यथा विज्ञान तो निरकुश सिंह है, जो सहार करेगा ही। हिरोशिमा और नागासाकी जैसे सुन्दर शहरो का अणुबम द्वारा तहस-नहस करने का कार्य विज्ञान के कारण ही हुआ है। अत विज्ञान जैसे राजनीतिज्ञो के हाथ की कठपुतली बना हुआ है, वैसे ही उन राजनीतिज्ञो पर अहिंसा का अकुश होना चाहिए। मानव आज समझ

गया है कि विनाश के कगार पर खड़ी मानवता को बचाना है तो अहिंसा का ही सहारा लेना होगा। सर्वोदयी संत विनोबाजी ने अपने एक प्रवचन में कहा था—

"यदि अहिंसा के साथ विज्ञान की शक्ति जुड़ जायगी तो दुनिया में स्वर्ग राज की जो बात ईसामसीह ने कही है, उस स्वर्ग को हम साकार कर सकेंगे। अगर यह शक्ति विरोधियों के हाथ में रही तो, भले ही उसका यहीं जन्म हुआ हो, वह इस दुनिया को खत्म कर देगी।"

अतः विज्ञान के विनाशकारी तत्त्व को नियन्त्रित करने के लिए अहिंसा की रफ्तार भी उतनी ही तेज करनी होगी। अन्यथा, विज्ञान अपनी दौड़ में आगे बढ़ जाएगा और अहिंसा बहुत पीछे रह जायगी। अहिंसा को विज्ञान की सहचरी बनाया जाएगा, तभी वह विज्ञान को नियन्त्रण में रखकर इस मानवजाति का उपकारक बना सकेगी।

पथ का चुनाव

इस प्रकार मनुष्य के सामने हिंसा और अहिंसा दोनो की शक्तियो का दृश्य प्रत्यक्ष है। मनुष्य को विचारशील और दूरदर्शी बनकर दोनो मे से एक पथ चुनना है। वह अगर सुख शान्ति चाहता है तो दुःख और अशान्ति की जन्मदात्री हिंसा को छोडे और अहिंसा को अपनाए। अहिंसा को अपनाने पर ही उसकी और विश्व के समस्त प्राणियो की सुरक्षा हो सकती है। क्योकि अहिंसा मे समस्त आतको, भयो एव मुसीबतो को दूर करने की शक्ति है। अहिंसा के सहारे ही मनुष्य स्वय जीकर दूसरो को जिला सकता है। आपके सामने हिंसा और अहिंसा दोनो पथ खुले है। आपको दोनो मे से अहिंसा को ही चुनना होगा, तभी आपके मनोरथ पूर्ण हो सकेंगे।

अहिंसा का प्रेम, करुणा, दया एव सेवा के रूप मे प्रयोग करने वाले को आनन्द मिलता है, हृदय मे प्रसन्नता की अनुभूति होती है, अनेको लोगो के आशीर्वाद मिलते है। हिंसा मनुष्य जाति मे वैर, विरोध, द्वेष और घृणा को जन्म देती है। हिंसा से मनुष्य का हृदय कुण्ठित, अप्रसन्न अव भयभीत रहता है। हिंसा का सहारा लेकर कोई भी स्थायी रूप से सुख-शान्ति और जीवन सुरक्षा नही पा सकता। अत अहिंसा ही सर्वतोभावेन मनुष्य के लिए ग्राह्य है।

आप अहिंसा भगवती के इस विराट रूप को पहिचानिए, उसकी विस्तृत शक्ति और व्यापक प्रभाव का अनुभव कीजिए। आपको स्वयमेव अहिंसा का पथ सर्वोत्कृष्ट लगेगा और आप उसी पथ पर चलकर अपना अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। इसीलिए आदर्श गृहस्थाश्रम का जीवन जीने के लिए सर्वप्रथम अहिंसाव्रत को स्वीकार करना आवश्यक बताया गया है। अहिंसाव्रत को स्वीकार करने वाले को अहिंसा का स्वरूप, उसकी मर्यादा, उसके प्रयोग की विधि आदि का ज्ञान तो सर्वप्रथम कर ही लेना चाहिए तभी वह अहिंसा की विराट् शक्ति का अनुभव कर सकेगा।

2

श्रावक की अहिंसा-मर्यादा

☆

अहिंसा मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन की पद्धति है। विश्व का कोई भी मानव उसका पालन करके लाभ उठा सकता है, फिर वह चाहे जिस देश, समाज, परिवार, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या प्रान्त का ही क्यो न हो। परन्तु एक बात निश्चित है कि अहिंसा जब इतनी विराट है तो इसकी विराटता को पूर्णरूप से छूने मे सभी व्यक्ति समर्थ नही हो सकते। तीर्थंकर सरीखे कुछ व्यक्ति ही इसके शिखर पर आरूढ हैं, पचमहाव्रती साधु-साध्वी इसकी पूर्णता को पाने के लिए प्रयत्नशील है, साधना मे रत है और श्रावक-श्राविकावर्ग इसका आशिकरूप से पालन कर पाते हैं। और मार्गानुसारी की भूमिका वाले कई लोग इसका बहुत ही कम पालन कर पाते हैं। वे अहिंसा के सर्वथा निम्न श्रेणी के पालक हैं। यद्यपि साधु श्रावक और मार्गानुसारी के जीवन मे भी अहिंसा की कई डिग्रियाँ है, कई प्रकार के उत्सर्ग-अपवाद है। जीवन मे कई प्रकार के उतार-चढाव आते है, उस समय विवेकपूर्वक ही अहिंसा के परिप्रेक्ष्य मे साधक को अपना मार्ग तय करना पडता है। इसका तात्पर्य यह है कि अहिंसा कोई अव्यावहारिक या आदर्श की ही वस्तु नही है, कि जिसके ग्रहण कर लेने पर मानव-जीवन चारो तरफ से जकड जाय, कही से ही रास्ता न मिले। अहिंसा का विवेकशील साधक विकट सकटो के बीच भी कोई न कोई राह निकाल लेता है।

प्रश्न यह है कि जब अहिंसा की मजिल, उसका उद्देश्य और आदर्श एक ही है, तो उसकी राहे अलग-अलग क्यो है ? मजिल को पाने की राह एक ही होनी चाहिए ? परन्तु अहिंसा कोई यान्त्रिक वस्तु नही है कि वह एक ही साँचे मे ढल कर एक ही सरीखा मॉडल तैयार करती हो। वह तो मानव-मात्र के लिए पालनीय और व्यवहार्य वस्तु है। ऐसी दशा मे सभी मानव एक सरीखी रुचि, शक्ति, क्षमता, विवेक-बुद्धि, उत्साह, क्षेत्र, काल और परिस्थिति के नही होते। रुचि आदि की भिन्नता, परिस्थिति और शक्ति आदि की पृथक्ता के कारण अहिंसा की विभिन्न श्रेणियाँ हैं, जिनका पालन अमुक-अमुक श्रेणी के साधक को करना अनिवार्य होता है।

साधुवर्ग के लिए हिंसा का तीन करण तीन योग से त्याग और अहिंसा का

तीन करण तीन योग से पालन करना विहित है। अर्थात् मन, वचन, काया से कृत कारित और अनुमोदित तीनों प्रकार से हिंसा का सर्वथा त्याग और अहिंसा का सर्वथा पालन साधुवर्ग के लिए अभीष्ट है। परन्तु संसार में सभी लोग इतनी उत्कृ-ष्टता के साधक नहीं बन सकते जो गृहस्थाश्रम में हैं। जिन पर परिवार, कुटुम्ब-परिवार अथवा समाज या राष्ट्र की जिम्मेदारियाँ हैं, जिन्हें निभाने के लिए उन्हें धन सम्पत्ति, जमीन-जायदाद एवं साधन सामग्री जुटानी पड़ती है। आजीविका के लिए कोई न कोई व्यवसाय या धंधा चुनना पड़ता है, अपने एवं अपने परिवार की जान-माल की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, तथा अपने तथा परिवार के सुखपूर्वक जीवनयापन के लिए भोजन, पकाने आदि कामों में आरम्भ-समारम्भ करना पड़ता है। ऐसी दशा में वह गृहस्थ पूर्णरूप से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। उसे अपने जीवन को ठीक ढंग से चलाने के लिए कुछ मर्यादाएँ स्वीकार करके चलना पड़ता है। वे मर्यादाएँ कौन-सी हैं, उनका स्पष्टीकरण आपके समक्ष आज मैं करूँगा।

उपासकदशांग, आवश्यकसूत्र आदि आगम साहित्य में श्रावक के अहिंसा आदि अणुव्रतों की पालन विधि का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परा के रत्न-करण्डश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, वसुनन्दिश्रावकाचार आदि में तथा तत्त्वार्थसूत्र आदि सर्वमान्य धर्मग्रन्थों में श्रावक के अहिंसाणुव्रत की विशद व्याख्या मिलती है। चाहे श्वेताम्बर परम्परा हो, चाहे दिगम्बर परम्परा हो, व्रती श्रावक की अहिंसा की मर्यादाएँ दोनों में एक-सी ही बताई गई हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं है। उपासकदशांगसूत्र एवं आवश्यकसूत्र में बताया गया है कि श्रावक सर्वप्रथम स्थूल प्राणातिपात (हिंसा) का त्याग करता है, वह इस प्रकार है—

थूलग पाणाइवाइय समणोवासओ पच्चक्खाई।

से पाणाइवाइए दुविहे पण्णत्ते, त जहा—सकप्पओ य आरभओ य। तत्थ समणोवासओ, सकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाई, नो आरभओ।

तप्पढमयाए थूलग पाणाइवाइय पच्चक्खाई दुविहं तिविहेण, न करेमि, न कारवेमि, मणसा-वयसा-कायसा।

श्रमणोपासक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है। वह स्थूल प्राणातिपात दो प्रकार से होता है—सकल्प से और आरम्भ से। इनमें से श्रमणोपासक सकल्प से जीवनभर के लिए प्राणातिपात (हिंसा) का त्याग करता है, किन्तु आरम्भ से नहीं।

सर्वप्रथम श्रावक स्थूलप्राणातिपात का त्याग दो करण, तीन योग से करता है, अर्थात्—मैं प्राणातिपात (सकल्पी हिंसा) मन, वचन, काया से न करूँगा, न कराऊँगा।

शास्त्रीय दृष्टि से श्रावक की अहिंसा की मर्यादाएँ क्या-क्या है? यह बात इस पाठ से स्पष्ट हो जाती है।

प्राणातिपात शब्द का अर्थ और व्याख्या इससे पहले मैं कर चुका हूँ। प्राणातिपात शब्द हिंसा का ही पर्यायवाची है। शास्त्रीय पाठ मे स्थूल हिंसा के त्याग की वात कही गई है अत प्रश्न होता है कि वह स्थूल हिंसा कौन-सी है ? जव स्थूल हिंसा की वात आई है तो सूक्ष्म हिंसा की भी जिज्ञासा होती है। इस विपय मे हमे आचार्यो का मन्तव्य जान लेना चाहिए। इस पाठ से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि श्रावक स्थूल हिंसा का ही त्याग करता है, सूक्ष्म हिंसा का त्याग वह नही कर सकता। स्थूल शब्द यहाँ दो अर्थो मे प्रयुक्त किया गया है। शास्त्रीय दृष्टि मे और लौकिक दृष्टि से। जिनको सर्वसाधारण स्थूल दृष्टि वाले लोग भी जीव कहते है, तथा जिनकी हिंसा लोक मे भी हिंसा कहलाती है, यानी समस्त आवालगोपाल-प्रसिद्ध हलन-चलन करने वाले जो द्वीन्द्रियादि (त्रस) जीव है, उनकी हिंसा लौकिक दृष्टि से स्थूल हिंसा है। और आम लोगो की अपेक्षा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के रूप मे जो एकेन्द्रिय जीव है, वे शास्त्रीय दृष्टि से जीव माने गए हैं, परन्तु सर्वसाधारण लोकदृष्टि मे वे (स्थावर जीव) जीव रूप से प्रसिद्ध नही है। क्योकि मिट्टी खोदने वाले, सचित्त जल पीने वाले, फल या साग-सब्जी तोडने वाले व्यक्ति को आमतौर पर कोई नही कहता कि यह हत्यारा है, इसने जीव को मारा है, यह हिंसक है या पापी है। जबकि शास्त्रीय दृष्टि से इनमे जीव माना है, तथा इनकी हिंसा को सूक्ष्म हिंसा कहा गया है। अत शास्त्रीय दृष्टि से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के रूप मे स्थावर जीवो की सूक्ष्म हिंसा के अतिरिक्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय के रूप मे त्रसजीवो की हिंसा करना स्थूल हिंसा है। श्रमणोपासक स्थूल हिंसा से ही निवृत्त हो सकता है, सूक्ष्म हिंसा से नही। हाँ, वह सूक्ष्म हिंसा को भी हिंसा समझता है और उस हिंसा से भी वचने का प्रयत्न करता है, वह भरसक कोशिश करता है कि अपने जीवन मे सूक्ष्म हिंसा भी कम से कम हो, परन्तु ससार व्यवहार मे फँसा होने के कारण सूक्ष्म हिंसा का सर्वथा त्याग नही कर सकता। वह आगे के व्रतो मे उसकी मर्यादा करता जाता है, और ऐसे दिन भी नियत करता है, जिन दिनो मे वह सूक्ष्म हिंसा का भी सर्वथा त्याग करने का अभ्यास करता है।

स्थूल और सूक्ष्म जीवो का स्वरूप

स्थूल और सूक्ष्म जीवो के लिए शास्त्रीय परिभाषा मे त्रस और स्थावर दो शब्द मिलते है। त्रस जीव वे है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक गति करते है, आँखो मे दिखाई दे सकते है, अपनी गति या स्वतन्त्रता मे बाधा पहुँचाने पर जिन्हे त्रास (दु ख) होता है, जिनकी चेतना क्रमश विकसित है। ऐसे द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के प्राणी त्रस कहलाते है। त्रस जीवो मे जिनकी गणना की जाती है वे दो इन्द्रियो वाले, तीन इन्द्रियो वाले, चार इन्द्रियो वाले एव पाँच इन्द्रियो वाले प्राणी है।

द्वीन्द्रिय वे जीव है, जिनके स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) और रसनेन्द्रिय (जीभ) हो,

जाऊ हो, उस जल से उपज नही हो सकती, क्योकि वह पानी जीवनरहित हो जाता है। वैज्ञानिको ने यह भी सिद्ध करके बता दिया है कि तनिक-सी गीली मिट्टी को अत्यन्त बारीकी से देखने पर बहुत-से सूक्ष्म जीव रेंगते हुए दिखाई देते है, सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र से देखने पर उस भूमि मे और भी सूक्ष्म जीव दिखाई देते है। वनस्पति भी उसी भूमि मे उग सकती है, जो भूमि सजीव हो। जली हुई, सूर्य से तप्त रेतीली जीवन-रहित भूमि पर चाहे जितना पानी सीचने पर भी उपज नही होती। इसी प्रकार उपजाऊ मिट्टी वाला कोई गमला साधारण जल से सीचकर हवा बन्द (Airtight) बोतल मे रख देने और उसकी सारी हवा निकाल देने पर उस गमले मे अकुर नही फूटते, क्योकि वहाँ जीवनसहित वायु का अभाव है। इन प्रयोगो से यह सिद्ध है कि मिट्टी, पानी और हवा मे भी जीवन है।

वनस्पति मे भी जीव वनस्पतिविज्ञानवेत्ताओ ने, खासकर विज्ञानाचार्य श्री जगदीशचन्द्र बोस ने सिद्ध कर दिया है। उन्होने कई वर्षो पहले बम्बई मे वनस्पति पर प्रयोग करके उनमे चेतना होने की बात सिद्ध कर बताई थी। उन्होने कुछ गमलो मे विभिन्न पौधे रखे। उनके आगे कांच के बडे-बडे तख्त लगा दिये, फिर सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र को योग्य स्थान पर फिट करके उपस्थित जनसमूह से कहा—"मैं इन पौधो को खुश करता हूँ। इन पौधो पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, देखिए।" यो कह-कर उन्होने हर्षोत्पादक शब्दो मे पौधो को सम्बोधित किया, जिससे वे सब प्रशसा पाकर खुशी से फूलने लगे, फिर जब वे पौधो को अपशब्द कहने लगे तो सबके सब पौधे मुरझाने लगे। दर्शको को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उन्हे विश्वास हो गया कि वनस्पति पेड-पौधो मे भी जीव होता है।

वर्तमान भौतिक विज्ञान अभी शोध की पूर्णता तक नही पहुँचा है, अभी तो उसने आशिक शोध की है। सम्भव है, कुछ वर्षों बाद वनस्पति और जल की तरह अग्नि, वायु आदि मे भी जीव सिद्ध कर दे। परन्तु हमारे वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरो ने तो हजारो वर्षो पहले आत्मिकविज्ञान द्वारा इन स्थावरजीवो मे चेतना, शरीर, अवगाहना, कषाय, सज्ञा, लेश्या, वेद, ज्ञान, योग, स्थिति, गति-आगति आदि का विश्लेषण कर दिया है।

व्रती श्रावक स्थूल हिंसा का ही त्यागी, सूक्ष्म हिंसा का नहीं

हाँ, तो मैं कह रहा था कि व्रतीश्रावक स्थूल-हिंसा का ही त्याग कर सकता है, इन स्थावरजीवो की सूक्ष्म हिंसा का नही। यहाँ शका की जा सकती है कि श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है, तब भी सूक्ष्म हिंसा का त्याग तो शेष रह जाता है, उसका भी त्याग क्यो नही कर देता ?

इसका समाधान यह है कि श्रावक सूक्ष्म हिंसा को हिंसा ही मानता है, अगर वह हिंसा को हिंसा न माने, तब तो वह सम्यग्दृष्टि भी नही रहता, तब तो उसकी गणना मिथ्यात्वी मे ही होती। सूक्ष्महिंसा के भी त्याग की वह भावना रखता है, लेकिन

मानता है, किन्तु उनकी हिंसा का त्याग करने मे अपनी लाचारी प्रगट करता है।[१] जीवन सघर्ष मे अपने जीवन को टिकाने तथा लोक-कल्याण के लिए जहाँ-जहाँ सूक्ष्म जीवो की अहिंसा का पालन शक्य न हो, वहाँ अहिंसा के उस उच्च आदर्श पर श्रद्धा लाए, जितनी शक्ति हो, उतना पालन करे।

स्थूल हिंसा में भी सकल्पजा हिंसा त्याज्य

श्रावक की अहिंसा की मर्यादा मे जब स्थूल हिंसा का त्याग अभीष्ट है, तब पुन प्रश्न होता है, स्थूल हिंसा का भी श्रावक के द्वारा सर्वथा त्याग होना दु शक्य है, क्योकि श्रावक को अपने भोजन बनाने, मकान बनाने, आजीविका के कार्य करने, कृषि, गोपालन आदि करने तथा न्याय के लिए दण्ड आदि देने, सामाजिक कार्यो मे किसी अनिष्टकर्ता को हटाने, अपने जानमाल की चोरी-डकैती आदि से रक्षा करने आदि अनेक अनिवार्य कार्यो मे त्रसजीवो की पूर्णतया हिंसा से बचना कठिन है। कई बार कीडे-मकोडे, चूहे आदि मर जाते है, मनुष्यो को भी प्राणदण्ड देना पडता है, उपद्रवकारी का सशस्त्र सामना करने मे भी कई लोग मारे जाते है। ऐसी दशा मे श्रावक स्थूल हिंसा का पूर्णत त्याग भी कैसे कर सकता है? यही कारण है कि शास्त्रकारो ने श्रावक को अहिंसा-पालन मे किसी प्रकार की अडचन न हो, इस दृष्टि से स्थूल हिंसा भी दो प्रकार की बताई है—सकल्पजा और आरम्भजा। इन दोनो मे स्थूल जीवो की सकल्पजा हिंसा तो श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है, आरम्भजा हिंसा का वह पूर्णत त्याग नही कर पाता।

मारने की भावना से, समझ-बूझकर मास, हड्डी, चमडी, नख, केश, दाँत आदि के लिए, किसी निर्दोष-निरपराध त्रस प्राणी की निष्प्रयोजन हिंसा करना, सकल्पजा हिंसा है।

मकान बनवाने, पृथ्वी खोदने, हल जोतने आदि विविध आरम्भ के कार्यों मे त्रस जीवो की हिंसा हो जाना, आरम्भजा हिंसा है। आरम्भजा हिंसा मे हिंसा करने का सकल्प नही होता, अर्थात् किसी त्रसजीवो का घात करने, नुकसान पहुँचाने, अगभग करने, व्यथित एव भयभीत करने की भावना नही होती।

मान लीजिए, एक व्यक्ति निशाना लगाना सीखने के लिए गोली चलाता है, सयोगवश उस गोली से कोई आदमी मारा जाता है, तो यह गोली चलाने वाले का अपराध तो है, वह दण्ड का पात्र भी है लेकिन ऐसा दण्डपात्र नही जैसा कि मारने के इरादे से गोली चलाने वाला। सरकारी दण्डविधान मे भी अपराधी से पूछा जाता है कि अमुक व्यक्ति को मारते समय तुम्हारा क्या इरादा था? अगर उसका अपराध जानबूझकर इरादतन हत्या करने का सिद्ध हो जाता है, तब तो उसे भारी दण्ड

---

१ ज सक्कइ त कीरइ, ज च न सक्कइ, त च सद्दहण।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अयरामर ठाण॥

मिलता है, अगर वह कहता है कि मारने का मेरा कोई इरादा नही था, अथवा यह मुझे मारने की नीयत से आ रहा था, इसलिए मैंने इसे मारा था, तब तो अपराधी होते हुए भी उसे इतना दण्ड नही दिया जाता।

प्रश्न किया जा सकता है कि एक व्यक्ति श्रावक के जानमाल पर या उसकी बहू-बेटियो पर शस्त्रास्त्र लेकर आक्रमण करने आता है, उस समय उसका सामना करने के लिए उसे शस्त्रास्त्र से प्रहार भी करना पडता है, उस प्रहार से आक्रमणकारी मर भी जाता है, यह सकल्पजा हिंसा है या आरम्भजा ? सकल्पजा मे तो इसे गिना नही जा सकता, अतएव सकल्पजा हिंसा के साथ दो परिष्कार और किये गये—निरपराधी व निरपेक्ष (निष्प्रयोजन) हिंसा करना सकल्पजा है। इसके सिवाय किसी भी प्राणी को मारने की नीयत न रखते हुए भी, कार्य करते समय प्राणियो का मर जाना, आरम्भजा हिंसा है।

द्विविध हिंसा मे से चार प्रकार स्पष्टीकरण के लिए

यद्यपि यहाँ दो प्रकार की हिंसाओ मे से श्रावक के लिए त्याज्य और अत्याज्य कौन-सी हिंसा है, यह मालूम हो जाता है, फिर भी सकल्पजा हिंसा के साथ निर-पराध और निरपेक्ष, आकुट्टिकी बुद्धि ये शब्द और जोडे जाने पर ही उसका सर्वांग-पूर्ण अर्थ स्पष्ट होता है। इसी प्रकार आरम्भजा हिंसा सिर्फ गृहकार्य के आरम्भ-समा-रम्भ मे होने वाली हिंसा ध्वनित होती है, आजीविका उद्योग-धधे मे तथा आक्रमणकारी या विरोधी का सामना करने मे जो हिंसा होती है, वह सकल्पजा खाते मे जाएगी या आरम्भजा खाते मे ? यह स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नही होता। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने काफी सूक्ष्म चिन्तन के बाद श्रावक की अहिंसा की मर्यादा को स्पष्टत समझाने के लिए हिंसा के चार भेद किये हैं—सकल्पी, आरम्भी, उद्योगिनी, विरो-धिनी। इन चारो हिंसाओ मे से सिर्फ सकल्पी हिंसा श्रावक के लिए त्याज्य है, बाकी की तीन हिंसाएँ—आरम्भी, उद्योगिनी, विरोधिनी को वह चाहते हुए भी सर्वथा छोड नही सकता, इनमे विवेक व मर्यादा कर सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक के लिए सकल्पी हिंसा को त्याज्य बताया है—

पगुकुष्टिकुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफल सुधी।
निरागस्त्रसजन्तूना हिंसा सकल्पतस्त्यजेत्॥

पगुपन, कोढीपन और कुणित्व (टोटापन) आदि हिंसा के फलो को देखकर विवेकवान् पुरुष (कम से कम) मारने की बुद्धि से निरपराध त्रसजीवो की सकल्पी हिंसा का अवश्य त्याग करे।

सकल्पी हिंसा : स्वरूप और विश्लेषण

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करते समय सकल्पी हिंसा का त्याग करेगा। वह बिना प्रयोजन, निरपराधी की, मारने की बुद्धि से किसी की हिंसा नही करेगा। मान लीजिए, एक गृहस्थ श्रावक

है, वह किसान है। खेती करता है तो उसमे कई जीव, चीटी, चूहे आदि त्रस जीव भी मर जाते है, परन्तु अगर कोई उसे कहे कि 'यह चीटी मार दो, मैं तुम्हे हजार रुपये दूंगा,' तो क्या वह उसे मार देगा ? कदापि नही। क्योकि मारने के सकल्प मे अगर वह एक भी स्थूल जीव को मारता है, सताता है, पीडा देता है, तो वहाँ सकल्पी हिंसा हो जाएगी।

गुजरात मे वनराज चावडा बहुत ही बहादुर व्यक्ति था। एक बार वह जा रहा था, सामने से चापा मेहता आता दिखायी दिया। चापा मेहता जैन वणिक् था, और बाणविद्या मे पारगत था। वनराज ने उसे हैरान करके लूटना चाहा, और बाण चलाया। चापा मेहता ने तुरत उस बाण को काट दिया, दूसरा तीर आया उसे भी काट डाला। तीसरा तीर वनराज ने छोडा तब भी चापा मेहता ने कुशलता से उसे काट दिया। वनराज चापा मेहता की दक्षता पर मुग्ध हुआ। वह घोडे से नीचे उतरा और चापा को पास बुलाया। वनराज के पास अब तरकश समाप्त थे। अत चापा के पास भी एक तरकस बचा था, उसे तोडकर फेंक दिया।

वनराज ने कहा—"चापा ! तुम बडे ही बाण विद्या कुशल हो, इस चिडिया पर बाण चलाकर बींध दो, तब मैं जानूं।"

चापा ने कहा—"यह नही हो सकता मुझसे।"

"क्यो, क्या तुम बाण-विद्या मे पारगत नही हो ?" वनराज ने पूछा।

"हूं जरूर, पर किसी निर्दोष पशु-पक्षी पर बाण चलाना मेरी अहिंसा की मर्यादा के खिलाफ है। बेचारी चिडिया ने मेरा क्या बिगाडा है ?" चापा ने उत्तर दिया।

वनराज ने कहा—"तुमने मेरे पर बाण कैसे चलाये थे ?"

चापा ने उत्तर दिया—"आप अपराधी थे, मुझ पर आक्रमण करने के इरादे से आपने बाण चलाये थे इसलिए मैंने प्रत्याक्रमण के रूप मे बाण चलाकर आपके बाण काट डाले।"

वनराज बहुत प्रसन्न हुआ और प्रसन्नता के साथ चापा मेहता को मित्र किया।

कई लोग यह कहा करते ह कि[1] सिह, चीते, वाघ, भेडिये, साँप आदि प्राणी हिंसक हैं, अगर ये जीवित रहेगे तो अनेक जीवो को मारेंगे, इसलिए क्या यह बेहतर नही होगा कि इनमे से एक को भी मार दिया जायगा तो अनेक जीवो की रक्षा हो जाएगी ? दूसरी बात यह है कि बहुत-से प्राणियो को मारने वाले ये जीव जीते रहेगे तो भयकर पाप उपार्जन करेंगे, इससे अच्छा यह है कि इन बेचारो को मार दिया जाए, ताकि वे घोर पापकर्मो का उपार्जन करके भविष्य मे उनके फलस्वरूप दु खी न हो। क्या इस प्रकार की अनुकम्पा करना बेहतर न होगा ?

इसका उत्तर यह है कि जो सिह आदि श्रावक पर आक्रमण कर रहा हो, उस समय वह अपराधी है, उसकी बात तो अलग है, क्योकि श्रावक निरपराधी की हिंसा का त्यागी है, सापराधी की हिंसा का नही। लेकिन उस पर से सारी ही सिंह, चीते, वाघ, सर्प, भेडिये आदि की जाति को जोकि निरपराध है, मार डालने का निर्णय करना सरासर अपराध है, घोर सकल्पी हिंसा है, अन्याय-अत्याचार है। मान लो, सिंह आदि सब मिलकर ऐसा निर्णय कर लें कि मनुष्य जाति हमारी नम्बर एक की दुश्मन हैं, हम सबको सगठित होकर उसे समाप्त कर देना चाहिए। तो क्या उनका यह निर्णय आपको अच्छा लगेगा ? आज तो वे बेचारे वाचाहीन हे, असगठित हैं, विचार करने मे समर्थ नही हैं, इसलिए सब प्राणियो मे विवेकशील बुद्धिमान मनुष्य ऐसा विचार करे, यह अच्छा नही है। इस प्रकार वन के सिंह, किन्तु निर्दोष प्राणियो का अनेक जीवो की रक्षा के विचार से मार डालना सकल्पी हिंसा है। न उन पर अनुकम्पा लाकर उनके पापोपार्जन को कम करने की नीयत से उन्हे मार डालना अच्छा है, क्योकि मरने का नाम भी किसी को अच्छा नही लगता, मारना तो बहुत ही भयकर चीज है। पापोपार्जन किसी को मार डालने से थोडे ही कम हो जाएँगे ? जब तक कोई भी प्राणी अपनी इच्छा से, भावनापूर्वक पापोपार्जन कम नही करेगा, तब तक दूसरे से जबरन उसके प्राण लेने से पाप बन्द नही हो जाएँगे। और फिर वह हिंस्र प्राणी भी स्वय मरना चाहे तब न ? स्वय कौन मरना चाहेगा ? तथा दूसरी योनि भी मरते समय आर्तध्यान के फलस्वरूप और भी खराब मिली तो इस जन्म से भी अधिक पाप वह अगले जन्म मे कमायेगा।

पहले जो तर्क उठाया गया था कि एक हिंस्र जीव के मारने से अनेक जीवो की रक्षा होगी, वह भी धारणा निर्मूल है। यह कोई ज्ञात नही है कि अनेक जीवो को वह

---

१ रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्य न हिंसन हिंस्रसत्वानाम्॥
बहुसत्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पा कृत्वा न हिंसनीया शरीरिणो हिंस्रा॥

जिन्दा रहेगा तो मारेगा ही। मार ना, उन जीवों का आयुष्य समाप्त हुआ हो तो हिंस्र जीव लाख प्रयत्न करने, उन्हें नहीं मार सकता। सदा उनको मार डालता नहीं। अगर उन जीवों का आयुष्य प्रबल न हुआ तो दूसरा कोई भी हिंस्र जीव उन्हें मार डालेगा, या वे किसी भी निमित्त से मारे जाएँगे। इसी प्रकार मारने वाला भी अगर पुन उसी योनि में जन्मा तो फिर हिंसा करेगा। इसलिए यह मानना भी अच्छा नहीं है कि एक हिंस्र जीव को मारने से अनेक जीवों की रक्षा हो जाएगी।

कई लोग साँप या बिच्छू को देखते ही उन्हें अपने जन्मजात वैर भाव या क्रूरता के संस्कारवश झट से उन्हें मार डालते हैं। यह तो सरासर संकल्पी हिंसा है, जो श्रावक के लिए कथमपि ग्राह्य नहीं है। ये साप, बिच्छू, ततैया आदि जीव तो तभी काटते हैं, जब उन्हे छेड़ा जाता है, या उन पर पैर पड़ जाता है। यदि मनुष्य ऐसे जीवों को यह बहाना बनाकर मारने लगें कि वे हिंसक हैं तो मनुष्य उनसे भी बडे हिंसक सिद्ध होंगे। फिर उन मनुष्यों का न्याय कौन करेगा? ये जीव तो केवल लाचारीवश ही मनुष्य पर आक्रमण करते हैं, लेकिन मनुष्य तो अपनी जीभ के स्वाद के लिए, अपने शरीर को सजाने एव मनोरजन के लिए मूक प्राणियों की सामूहिक हत्या करता है। नीरो रोम का अत्यन्त क्रूर स्वभाव का सम्राट् था। एक बार उसकी सेना का पडाव एक ऊँचे पर्वत पर था। वहाँ से बहुत नीचे एक गहरी खाई थी। उसके हाथियो मे से एक हाथी महावत की असावधानीवश दूसरी ओर चला गया उसका पैर फिसल गया और वह उस गहरी खाई मे जा गिरा। भयकर चोट लग जाने से वह बहुत करुणता से चिंघाड रहा था। नीरो, ने जब यह आवाज सुनी तो उसने महावत को बुलाया। वेचारा महावत सहमता हुआ हाथ जोडकर नीरो के सामने हाजिर हुआ। बोला—हुजूर! मुझसे बहुत बडी गलती हो गई, माफ करें। एक हाथी खाई मे गिर गया है।" नीरो ने अफसोस प्रगट करने के बजाय खुशी प्रगट करते हुए कहा—"हमारे पास जितने हाथी हो, उन्हे एक-एक करके इसी प्रकार खाई मे डालो। मुझे उनकी आवाज बडी सुरीली लगती है।" महावत ने कहा—"इससे क्या लाभ होगा, सम्राट्? बेचारे तडफ-तडफ कर मरेंगे।" नीरो ने कहा—"तर्क मत करो। मैं कहता हूं, वही करो।" बेचारे महावत को क्रूर नीरो के आदेशानुसार तमाम हाथियो को उसके मनोरजन के लिए खाई मे डालना पडा। बेचारे हाथी चिंघाड रहे थे, नीरो खुशी से फीडल बजाता था। इसलिए आज देखा जाय तो मनुष्य इन सिंह, साँप, बाघ, चीते और भेडियो आदि से भी भयकर व जहरीला बना हुआ है। ये सिंह आदि कम से कम अपनी जाति पर तो कहर नही बरसाते, जबकि मानव आज दानव बनकर अपनी ही जाति पर बम वर्षा करके सत्यानाश कर डालता है। जिस आम जनता का दूसरे राष्ट्र से कोई द्वेप नही है, कोई विरोध नहीं है, कोई दोप भी नही है, उस पर अचानक बमवर्षा कर देना क्या है? किन्तु खेद की बात है कि बडे-बडे राष्ट्रो के मान्धाता आज आँखें मूंद कर भयकर हिंसा को प्रश्रय दे रहे हैं। लाखो निरपराध व्यक्ति गाजर-मूली की तरह काटकर समाप्त किये जाते है। किसी की आँखें निकाली जा रही हैं, किसी

के हाथ-पैर काटे जा रहे है, तो किसी को जिन्दा ही जलाया जा रहा है। किसी को सगीनो पर उछाला जाता है। घायलो की मर्मान्तिक चीत्कारे दिल को हिला देती है, हजारो घर लूटे जाते है, जलाये जाते है। मौत नगी होकर नाच रही है। कुमारी कन्याओ और सती-सुहागनो के साथ खुलेआम बलात्कार किये जाते हैं, फिर उन्हे गोलियो से भून दिया जाता है, छातियाँ काट डाली जाती है, गुप्तागो मे सगीनें भोक दी जाती हे। खुलेआम हत्याकाण्ड, लूटपाट, आगजनी आदि करके मनुष्य अपनी मानवता की हत्या कर रहा है। इन्सान शैतान हो जाता है, शैतान को भी शर्मिन्दा करने वाला।

बगलादेश मे पाकिस्तान के क्रूर व हिंसक व्यक्तियो द्वारा कितना अमानुषिक कृत्य किया गया था। इसीलिए मैं कहता हूँ इन हिंस्र पशुओ से भी वर्तमान मानव बाजी मार गया है। हिंसा मे ये मनुष्य से बहुत पीछे है। हिंस्रपशु तो सामने आकर प्रत्यक्ष मे किसी पर आक्रमण करता है, ये नर-पिशाच तो अनजाने ही सोते मे अचानक हमला करके समाप्त कर देते हैं।

मनुष्य आज अपने स्वार्थो का कैदी बना हुआ है। अपनी दुष्ट इच्छाओ के प्रवाह मे बहकर बेटा बाप को, भाई-भाई को मार डालने के लिए तैयार हो जाता है। उसे अपनी ही भूख-प्यास, स्वार्थ, वासना, सुख-सुविधाएँ नजर आती है। स्वार्थ का गहरे रग का चश्मा लगाकर वह सारे ससार को देखता है। इस क्षुद्र स्वार्थ भावना का ही शिकार बने है—कूणिक, औरगजेब आदि। राज्य सिंहासन के लिए उन्होने अपने प्रियजनो का सफाया करने मे कोई कोरकसर नही रखी।

एक बार कुछ अँग्रेज एक चिडियाघर देखने आए। वे शेर, चीते, भेडिये आदि को देख रहे थे और आपस मे बातचीत कर रहे थे कि इन शेर, चीते और भेडियो ने सदियो पहले जिस साँचे मे अपने जीवन को ढाला था, आज भी वे अपने ढर्रे पर चल रहे हैं, कोई सुधार नही किया। मनुष्य ने कितना विकास कर लिया, पर ये आज भी वही के वही है। इतने ही मे वे घूमते हुए चिडियाघर से बाहर निकले जब कोई चीज खरीदने के लिए जेबें टटोली तो साफ! एक भी पैसा नही। जेबकतरे जेबें साफ कर गए। उन्होने अफसोस प्रगट करते हुए कहा—हम सोचते थे, मनुष्य ने बहुत विकास कर लिया है, लेकिन मनुष्य की अपेक्षा ये भेडिये वगैरह ही अच्छे है, जिन्होने इस प्रकार जेब काटना और वह भी अपनी जाति के प्राणी की, नही सीखा। मनुष्य अभी तक इन जानवरो से भी ज्यादा खूँख्वार बना हुआ है। आज मनुष्य को मनुष्य से ही अधिक खतरा पैदा हो गया है। अगर हिंसक होने के कारण सिंह जाति का सहार करना उचित हो तो सिंह जाति की हिंसा करने वाली मनुष्यजाति का सहार भी क्यो उचित नही माना जाएगा ?

वास्तव मे, इस विशाल धरती पर जैसे मनुष्य जाति को रहने का अधिकार है, वैसे ही सिंह आदि को भी रहने का अधिकार है। इस ससार मे जो योग्यतम था

साधन सम्पन्न है, वही जी सकता है, वही रह सकता है, अगर पश्चिम के इस Survival of the fittest के सिद्धान्त को माना जाएगा तो दुनिया में फिर निर्बलों का जीना ही मुश्किल हो जाएगा। जो अपने को आज सबल मानता है, कल को उससे भी सबल आकर उसे मार गिराएगा। फिर उससे भी कोई सबल हुआ तो वह उसे मार गिराएगा, इस प्रकार 'मत्स्यगलागल' न्याय से दुनिया में कभी शान्ति स्थापित नहीं हो सकेगी।

इसलिए हिंस्रप्राणियों को मारने की अपेक्षा उनकी हिंसावृत्ति सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे गाय, कुत्ता, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि पहले जंगली और खूंखार जानवर थे, किन्तु मनुष्य ने प्रेम से ही उन्हें अपनाया, और धीरे-धीरे उन्हें अपने साथी और सहायक पालतू जानवर बना लिया, वैसे ही आज अगर मनुष्य चाहे और प्रयत्न करे तो सिंह आदि क्रूर जानवरों को भी पालतू और अहिंसक बना सकता है, इनके संस्कार बदल कर।

सुना है, जैनेन्द्र गुरुकुल पचकूला में एक वैदिक सन्यासी दो सिंह शावकों को लेकर आए थे, उन्होंने बतलाया कि ये दोनों सिंह के बच्चे जन्म से ही दूध पिलाकर पाले गए हैं। अतः अब ये मांस बिलकुल नहीं खाते, दूध पीते हैं और कुत्ते की तरह पालतू बन गए हैं। ये किसी पर हमला नहीं करते और न गुर्राते हैं।

अतः यह समझना भी भूल है कि सिंह आदि एकान्तरूप से हिंसक ही होते हैं, उन्हें सुधारा नहीं जा सकता। कई सिंह तो ऐसे उपकारी, कृतज्ञ और दयालु होते हैं कि वैसे मनुष्य भी नहीं होते।

गया। उसको सिंह के पिंजरे मे छोडा गया, सिंह अपने उपकारी को पहचान गया। तीन दिन का भूखा होने पर भी उसने उसे नही खाया, बल्कि पूर्ववत् उसके पैर चाटने लगा। लोग चकित रह गए। ऐंड्रू को बादशाह के सामने पेश किया गया बादशाह ने जब उससे सारी बाते पूछी तो उसने सभी बाते सच-सच बता दी। बादशाह को गुलाम का वृत्तान्त सुन कर दया आई। उसने उसी दिन से गुलामो को न सताने का कानून बनाया और उस गुलाम का अपराध क्षमा कर दिया गया।

तात्पर्य यह है कि हिंस्रपशुओ को मार डालना या मारने का विचार करना उचित नही। हिंस्र पशु भी तभी हमला करता है, जब उसे सताने या मारने की भावना हृदय मे हो। निर्वैर और निर्भय हृदय हो तो सिंह या साप सामने से निकल जाने पर भी कुछ नही कहता। सर्प भी इसी प्रकार की प्रकृति का है। कहते है— रमण महर्षि के आश्रम 'अरुणाचलम्' मे बहुत से सापो ने जगल मे से आकर अपना डेरा जमा लिया था। रमण महर्षि न उन्हे कभी छेडते थे और न वे ही कभी रमण-महर्षि को काटते थे। दोनो निर्भय और निर्वैर थे। अभी-अभी कुछ दिनो पहले अखबार मे एक घटना पढी थी, एक महिला सापो के साथ प्रेम करने लगी। सॉपो को हर समय गले मे डाले फिरती, रात को भी साप उसके बिस्तर पर लेट जाते है, सापो का ही तकिया बनाकर सोती है, सापो के साथ ही वह नाचती है। आज तक कभी उसे साँपो ने नही काटा।

एक आस्ट्रेलियन ने सर्कस कपनी से एक सिंह खरीद लिया। उसे वह हरदम अपने पास रखने लगा। सिंह भी उसका प्रेम देखकर अहिंसक बनकर रहता है।

पशु-पक्षियो की सख्या घटाने के लिए वध करना मूर्खता है

कुछ व्यक्ति यह तर्क करते हैं कि यदि इन पशु-पक्षियो का वध नही किया जाएगा तो इनकी सख्या इतनी बढ जाएगी कि मनुष्यो को ससार मे रहने के लिए स्थान मिलना कठिन हो जाएगा। भोजन के लिए खाद्य पदार्थ मिलना भी दुर्लभ हो जायेगा। इसका समाधान यह कि सख्यावृद्धि की शका निर्मूल है, क्योकि प्रकृति स्वय इनकी सख्या पर नियत्रण करती है। सर्दी, गर्मी, सूखा, वर्षा आदि प्राकृतिक कारणो से इनकी सख्या सीमित रहती है। आज तो मनुष्य स्वय ही उनका मास प्राप्त करने के लिए कृत्रिम सख्या बढा रहा है। अपने स्वार्थ के लिए पहले तो पशु-पक्षियो की सख्या बढाना, फिर उनका घात करना यह कहाँ तक न्यायोचित है ?

यदि ये मनुष्य सचमुच मानव-जाति की भलाई करना चाहते है, तो उसमे फैले हुए रोग, अभाव, युद्ध, घृणा, सघर्ष आदि से छुटकारा दिलाएँ। वे इन मूक पशुओ की हत्या के बजाय अपना समय तथा चिन्तन सर्वस्व मानवजाति के दु ख, अज्ञान आदि को दूर करने मे लगाएँ।

मास और चमडे के लिए पशुहिंसा भी सकल्पी है

कई लोग मास और चमडा प्राप्त करने के लिए पशुहिंसा करते है। लोग

अपने प्राइवेट कसाईखाने चलाते हैं, कई सरकारें चलाती हैं। श्रावक न तो कसाईखाना स्वयं चलाता है, न चर्मालय ही, और न ही कसाईखाने या चर्मालय में वह हिस्सेदार (Partner) या शेयरहोल्डर बन जाता है। कई लोग कहा करते हैं कि हम मांस या टीन में बंद मांस बेचें तो क्या हर्ज है? क्योंकि उस मांस में कोई जीव तो होता नहीं, या अंडे बेचें तो क्या हर्ज है? आजकल के अंडे निर्जीव होते हैं? अथवा हम चमडा बेचें तो कौन-सा पाप है?

यह समझना नितान्त भूल है कि कसाईखाने में मांस या चमड़े के लिए काटे जाने वाले पशुओं की हत्या का पाप कसाई को लगेगा, हम तो केवल बेचते हैं। मारे हुए पशुओं का चमडा और मांस बेचने वाले, खरीदने वाले, भी उस हिंसा के पाप के हिस्सेदार हैं। पाप के मुख्य भागीदार तो वे व्यक्ति हैं, जो प्रेरणा या लालच देकर चमडे या मांस का उत्पादन कराते हैं। आजकल फैशन की दृष्टि से लोग बहुत क्रूरता से मारे जाने वाले पशुओं के चमडे[1] (क्रोम लेदर व काफ लेदर) से बने बूट ही नहीं, हैंड बैग, बटुआ, सूटकेस, पर्स, बक्स, कमर या पट्टा आदि खरीदते हैं। वे यह नहीं सोचते कि हमारे उस तुच्छ शौक के लिए कितने निरीह प्राणी क्रूरतापूर्वक मारे जाते हैं। केवल वर्तमान काल मे बनी बनाई चीज को ही न देखें, किन्तु उस चीज को बनाने मे कितनी हिंसा भूतकाल में हुई है, इसे भी सोचें। मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है—

अनुमन्ता, विशसिता, हन्ता च क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातक ॥

पशुवध के लिए आदेश देने वाला, मारने वाला, मांस काटने वाला, बेचने और खरीदने वाला, पकाने, परोसने और खाने वाले, ये आठो व्यक्ति हिंसा दोष के भागी होते है। अत श्रावक के लिए यह भी संकल्पी हिंसा है। श्रावक अव्वल तो चमडे का उपयोग करेगा ही नही, मान लो, करना भी पडा तो वह स्वत मरे हुए ढोरो के चमडे की बनी हुई जूती आदि का इस्तेमाल करेगा। साबरमती के हरिजन आश्रम के चर्मालय मे स्वत मरे हुए पशुओ के चमडे की बहुत-सी चीजें बनायी जाती है। अहिंसक चर्म निर्मित चीजें अहिंसा प्रेमी खरीदते हैं।

---

1 जीवित बैल, गाय या भैंस को पहले हाथ, पैर और मुंह बांध कर डाल देते है। फिर उस पर खौलता हुआ पानी और तेल आदि डालकर डंडो से घंटो तक पीटा जाता है। ऐसा करने से रक्त का कुछ अंश चमडे मे समा जाता है तथा अधिक नरम व मजबूत बन जाता है, तब उसे मशीन या छुरी द्वारा पशु की जीवित अवस्था मे ही शरीर से अलग कर देते हैं। यह क्रोम लेदर (नर्म चमडा) बनता है। काफ लेदर बनाने का तरीका तो और भी लोमहर्षक है। गाय को नमक का बहुत-सा पानी पिला कर खूब दौडया जाता है, जिससे उसका गर्भ गिर जाता है। उस गर्भस्थ बच्चे का चमडा काटकर निकाला जाता है, जो बहुत ही नरम होता है। गाय कष्टपूर्वक मर जाती है।

पशुओ के नख, सीग, हड्डी, रक्त आदि प्राप्त करने के लिए भी उनका वध किया जाता है। मारवाड वगैरह मे हाथीदात का चूडा पहिनने का महिलावर्ग मे रिवाज है। परन्तु हाथी का दाँत प्राप्त करने के लिए कितनी हिंसा होती है, इसका विचार श्रावकवर्ग को अवश्य करना चाहिए। इसी तरह कुछ लोग स्वय इन पशुओ का शिकार तो नही करते, लेकिन शिकारियो द्वारा मारे गये शेर, बारहसिंगा, जगली भैसा आदि के चेहरो को मसाले द्वारा सुखाकर सजावट के तौर पर घर की दीवारो पर टाग देते है, इसी प्रकार छोटे घडियालो और अन्य कई जन्तुओ को भी मुर्दा हालत मे भुस आदि भर कर सजावट के काम मे लाया जाता है। यह कार्य प्रगट मे तो विशेष दूषित नही जान पडता, परन्तु ऐसी वस्तुओ पर सदैव दृष्टि पडते रहने से ऐसे जीवो के जीवन-मरण के प्रति उपेक्षा की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है, करुणा की भावना का भी नाश होता है। खासकर छोटे बालको के मन पर भी ऐसे सस्कार पडते है कि वे पशुओ को जड-पदार्थों की तरह अपने आमोद-प्रमोद के साधन समझने लगते है। धीरे-धीरे उनमे निर्दयता की भावना उत्पन्न हो जाती है।

विघ्न शान्ति एवं कुलाचार के नाम पर हिंसा

कई लोग यह सोचते है कि विघ्नो का शमन करने के लिए की हुई हिंसा मे क्या आपत्ति है ? वह तो एक प्रकार से अहिंसा ही है। इसी प्रकार कई लोग कुल के रीतिरिवाज के नाम पर बकरे या भैसे की बलि देने मे कोई सकोच नही करते, किन्तु यह भी सरासर सकल्पी हिंसा है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट रूप से इसका निषेध किया है—

हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि।
कुलाचार-धियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी॥

विघ्नो की शान्ति के लिए की जाने वाली हिंसा विघ्न ही पैदा करती है, इसी प्रकार कुल का आचार समझकर की गई हिंसा भी कुलविनाशिनी बनती है।

परीक्षण के नाम पर होने वाली निर्दयता

आजकल स्कूलो और कॉलेजो मे जीव-विज्ञान की शिक्षा के नाम पर जो 'विविसेक्शन' पद्धति प्रचलित है, उससे भी मनुष्यो के हृदय मे कठोरता और निर्दयता के भावो की वृद्धि होती है। इसके लिए मेढक, खरगोश और अन्य कई प्रकार के जीवो को काटकर, जलाकर, तपाकर, टुकडे-टुकडे करके, बिजली का झटका देकर तरह-तरह के परीक्षण किये जाते है। इस प्रकार शिक्षा के नाम पर, निर्बल प्राणियो के साथ जो घातक व्यवहार किया जाता है, उनको कष्ट पहुँचा कर मारा जाता है, वह भी निन्दनीय है। अनेक विदेशी विद्वानो ने इसे अनावश्यक बताया है, इस तरह के निर्दयतापूर्ण और अनैतिक परीक्षण किये बिना भी शिक्षा दी जा सकती है। खासकर छोटी अवस्था मे बालको के सम्मुख इस प्रकार का उदाहरण उपस्थित करने से उनकी कोमल

मनोभावनाओ का नाश हो जाता है, वे अपने भावी जीवन मे निर्मम स्वार्थी और अन्य लोगो के सुख दुख के प्रति उपेक्षाभाव रखने वाले बन जाते है।

औषधियो के लिए जीवो की हिंसा

औषधियो के लिए जीव-जन्तुओ का वध करना भी सकल्पी हिंसा है। उदाहरण के लिए 'कॉड लिवर आइल' बनाने के लिए लाखो मछलियो को नष्ट किया जाता है। और भी बहुत-सी दवाइयाँ पशु-पक्षियो को मार कर बनाई जाती है। बिच्छुओ का जहर प्राप्त करने के लिए अनेक बिच्छुओ को शीशियो मे बद करके उनके मर जाने पर विष निकाला जाता है। कई पशुओ का रक्त, हड्डियाँ, नर्बी, अग आदि दवाइयो मे पडते है। कुछ वर्ष पहले एक पत्रिका मे पढा था कि पिछले पाँच वर्षों मे भारत मे दो करोड साप विदेशो मे निर्यात किये गए है। वहाँ वे साप को पकडकर उनके मुँह पर रेशमी थैली बाध देते है। और उसके द्वारा उस साप का जहर निकाल लिया जाता है। यह विष अनेक दवाइयो मे डाला जाता है। फिर उन निर्विष सापो को मारकर उनकी कोमल चमडी से कमर के पट्टे तथा ऐसी कोमल वस्तुएँ बनाई जाती है।

इस प्रकार की हिंसा सकल्पी है, जो किसी भी अहिंसाप्रेमी श्रावक के लिए न तो स्वय करनी उचित है, और न ऐसी हिंसाजनित दवाइयो का बेचना, खरीदना व सेवन करना अच्छा है।

मनोरजन के लिए पशु-पक्षियो को लडाना भी हिंसा है

कई बार लोग अपने शौक के लिए पशु-पक्षियो को पालते है, फिर उन्हे आपस मे बुरी तरह लडाते है। कई जगह साडो या पाडो को लडाने का रिवाज है। कही मुर्गों को, कही शुतुर्मुर्गों को, कही घोडो को नशा कराकर दौडाने की प्रथा है। इस प्रकार से पशुओ या पक्षियो को लडाना या उन्हे बुरी तरह (मेलो-ठेलो या उत्सवो मे) दौडाना भयकर हिंसाजनक है। वे इससे लहूलुहान हो जाते है, कई वार उनके अग-भग हो जाते है।

धन पिशाचो द्वारा कई प्रकार से हिंसा

आजकल ससार मे येन-केन-प्रकारेण अर्थोपार्जन की अधा-धुध प्रवृत्ति चल रही है। कई लोग स्वय अडे या मास का सेवन नही करते, किन्तु उनकी लचर दलील यह है कि अडे बेचें या मत्स्यपालन करें तो क्या हर्ज है ? आजकल सरकार भी जगह-जगह मुर्गी-पालन तथा मत्स्योत्पादन के केन्द्र खुलवाती है। कई नामधारी श्रावक लोग भी इस बहती गगा मे हाथ धो लेते है। सचमुच यह भयकर हिंसा का कार्य है। स्वय हिंसा न करने पर भी कराने व अनुमोदन का भयकर पाप लगता है। अत श्रावक को ऐसा अर्थपिशाच नही बनना चाहिए। बहुत-से सात्विक धधे है, जो मानव सेवा करते हुए चल सकते है। कई लोग शराब का कारखाना खोलते है या भट्टियाँ चलाते है, अथवा शराब बेचते हैं, अन्यथा स्वय पीते है, वे यह नही जानते कि शराब बहुत जीवो को मारकर महुआ, जौ, गुड आदि को सडाने से बनती है। इसमे अनेक त्रस

और गीता का सर्वोच्च तत्त्वज्ञान पाया जाता है, जिनमें आत्म-कल्याण के लिए 'आत्म-वत् सर्वभूतेषु' के स्वर गूंज रहे हैं, दूसरी ओर अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए बेचारे निरपराध प्राणियों का सरेआम वध किया जाता है और वह इहलौकिक या स्वर्गादि का सब्जबाग का स्वार्थ भी कभी पूर्ण होता नहीं, केवल धर्म-पुजारियों या याज्ञिकों की क्षणिक जिह्वातृप्ति हो जाती है। सचमुच निरपराध पशुओं के गर्दन पर छुरी चलाना, या बकरे आदि भेंट चढ़ाकर देवी पूजा में कटवाना स्पष्ट कसाईपन है। यदि ऐसे ही घृणित कार्यों से पुण्य मिलता और स्वर्ग हो जाता तो कसाई, व्याध, मछुआ, देवीपूजक कभी के स्वर्ग पहुँच जाते। जानबूझकर किसी जीव को मारना या अकारण ही कष्ट पहुँचाना, कभी अहिंसा नहीं हो सकती। सभी धर्मों ने इसे निन्दनीय माना है। जो देवी, जगदम्बा—जगत् की माता कहलाती है, वह भला अपने पुत्र समान पशु-पक्षियों का भक्षण कैसे करेगी? जिन देवों को परमात्मा का अंश मानते हैं, धर्मात्मा मनुष्यों के उपकारी बताते हैं, क्या वे इन निर्दोष पशु-पक्षियों के रक्त-मास से प्रसन्न हो सकते हैं? ऐसे घृणित कुकृत्य करने वालों को धन, सतान, सुख, सौभाग्य का उपहार मिल जाए तो फिर नरक किसको मिलेगा? जिस अल्लाह को परमपिता परमात्मा माना जाता है, क्या वह बकरे की कुर्बानी (बलि) देने से कभी खुश हो सकता है? ये सब मास-लोलुप लोगों की करतूतें हैं। धर्म-ग्रन्थों से पशुवध का कहीं समर्थन नहीं मिलता। पर आश्चर्य है, आज भी कई मूढ लोग अपनी सतान को देवी के आगे बलि चढा देते हैं।

इसी प्रकार जो लोग धर्म के नाम पर आपस मे लडते-लडाते हैं, सिर-फुटौव्वल मचाते है, दूसरे धर्म के लोगो को बलात् धर्म-परिवर्तन कराते हैं, तलवार के जोर पर या प्रलोभन देकर धर्मान्तर कराते है, वे लोग भी मानव हिंसा के भागी होते हैं। चाहे वे तलवार से हिंसा न करते हो, किन्तु मानसिक हिंसा मे तो दूसरो से बाजी मार ले जाते है।

इस प्रकार किसी तरह से हो स्वार्थ का पोषण करने के लिए या धन कमाने के लिए मन्दिरो, धर्मस्थानो या देवी-देवस्थानो मे पशु-पक्षीवध करना भी घोर हिंसा है।

क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या या प्रतिशोध के वश शारीरिक मानसिक कष्ट देना

१ मनुष्य किसी व्यक्ति से बदला लेने के लिए, तरक्की न सह सकने के कारण, दूसरो को नीचा गिराने के लिए या अपदस्थ करने के लिए नाना प्रकार के हथकडे करता है, उस व्यक्ति को शारीरिक व मानसिक यातनाएँ देता है, मरवाता-पिटवाता है, जहर देता है या दिला देता है, घायल कर देता है, धोखे से मारता है। श्रावक के लिए इस प्रकार की घृणित और घोर हिंसाएँ सर्वथा त्याज्य है। बल्कि श्रावक ऐसी मुकद्मेबाजी भी कदापि किसी के साथ नहीं करेगा, जिसमे केवल अहकार वृद्धि कारण हो। मगर आजकल दुःस्वार्थ की एक ऐसी हवा चल रही है कि छोटी-छोटी बात के

लिए भाई-भाई आपस मे सिर फोडने को तैयार हो जाते हैं। सिर्फ अपनी नाक ऊँची रखने के लिए कोर्ट मे वर्षो तक मुकदमेवाजी की जाती है।

वम्बई की घटना है। वहाँ के दो भाइयो ने अपनी सम्पत्ति व जमीन-जायदाद का बँटवारा कर लिया। मगर एक सुपारी का पेड, जो वडे भाई का वोया हुआ था, छोटे भाई की जमीन के हिस्से मे आ गया। वडे भाई ने कहा—"मैंने इस पेड को वोया है, इसलिए इस पेड पर मेरा हक है।" इस पर छोटे भाई ने तुनक कर कहा—"तुमने वोया तो क्या हुआ, यह तो मेरे हिस्से की जमीन मे आ गया है, इसलिए इस पर अव तो मेरा हक है। अगर ज्यादा ही करो तो यह हो सकता है कि एक वर्ष तक इसकी सुपारी तुम लो, और एक वर्ष मैं लूं।" पर वडे भाई ने अभिमानवश कहा—"ऐसा नही हो सकता। मैं तुम पर मुकद्दमा चलाऊँगा, तव तो तुम्हे मुझे यह देना ही पडेगा।" आखिर कोर्ट मे मुकदमा चला। दोनो पक्ष के लाखो रुपये मुकदमेवाजी मे स्वाहा हो गए, मगर फैसला न हो सका। आखिर एक दिन न्यायाधीश उस पेड का मुआयना करने आए। उन्होने देखकर पुलिस को आदेश दिया—"उखाड डालो उस विनाशकारी पेड को, जिसके कारण अभी तक दोनो भाइयो को और सम्वन्धित लोगो को इतनी हैरानी उठानी पडी।" आखिर पेड काटा गया, तव जाकर उन दोनो भाइयो को शान्ति हुई। भला, सुपारी का पेड कटवाने की अपेक्षा, एक भाई के हिस्से मे रखना या एक-एक वर्ष वारी-वारी मे उसकी उपज ले लेना क्या बुरा था? पर इस प्रकार की मुकदमेवाजी से द्रव्य हिंसा से कई गुनी तो भावहिंसा हो जाती है। श्रावक ऐसी संकल्पी भावहिंसा को कदापि नही अपना सकता।

सामाजिक कुप्रथा के नाम पर भयकर हिंसा

कई जातीय एव सामाजिक कुप्रथाएँ प्राचीनकाल मे भी प्रचलित थी, वर्तमान मे भी कही-कही प्रचलित हैं उनमे सिर्फ हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है केवल

पति गया हो। अत इस घोर हिंसा को राजा राममोहनराय ने बन्द कराया। श्रावक के लिए ऐसी मकल्पी हिंसा सर्वथा त्याज्य है।

इसी प्रकार की एक कुप्रथा थी, गर्भवती सुन्दरियो की कालीदेवी के आगे बलि देने की। कितनी घोर यातना होती थी, इस कुप्रथा के पालन मे? उस समय के अंग्रेज वायसराय ने सरकार मे क्रूर काली मन्दिर को नष्ट करवा दिया और सदा के लिए उस कुप्रथा की इतिश्री करवा दी।

इसी प्रकार मारवाड एव गुजरात मे कई जगह मृतक के पीछे महीनो तक रोने, आंसू बहाने और छाती-माथा कूटने का भयकर रिवाज है।

श्रावक उस शारीरिक और मानसिक हिंसाजनक कुप्रथा का समर्थन कैसे कर सकता है? रोने-पीटने और छाती-माथा कूटने मे बहनों के शरीर एव मन की कितनी दुर्दशा होती है, यह सब जानते हैं। आर्तध्यान करने मे मानसिक हिंसा होती है।

जैन, वैष्णव आदि धर्मों के सिवाय दुनिया मे अन्य कई धर्मों के लोग हैं, वे अपने पारिवारिक-जन की मृत्यु के बाद मृतक को बहुत ही शान्त, गम्भीर मनोदशा मे धीमी गति से कब्र इत्यादि स्थानो पर ले जाते हैं, और उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करते है। अपने इष्ट देव का नाम लेते हैं। घर आने के बाद मृतक की शान्ति के लिए शान्ति के आन्दोलन पहुँचाते है। फिर जैन-वैष्णवो को क्या हो गया, जिनका तत्त्वज्ञान इतना उच्च है, जो जीवन-मरण की क्रिया को स्वाभाविक मानते हैं, मरण क्रिया को चोला बदलने की तरह मानते है।

इसी प्रकार पूर्वकाल मे राजपूतो मे एक भयकर प्रथा थी, लडकी को जन्म लेते ही मार डालने की। वह भी बहुत ही हिंसामय थी। ऐसी कुप्रथाओ का समर्थन भी श्रावक कदापि नही कर सकता।

धन, स्त्री, सन्तान आदि का अपहरण करना भयकर हिंसा है

मनुष्य यो तो किसी के धन, स्त्री या पुत्र आदि का अपहरण करे तो चोर, लुटेरा या डाकू कहलाता है, समाज मे उसकी भर्त्सना होती है, सरकार से सजा मिलती है। परन्तु धर्म के अचल मे ऐसी कई ठगियाँ मनुष्य कर लेता है, दूसरो को विश्वास मे लेकर, दूसरो को अपने किसी चमत्कार, वाक्पटुता, ज्योतिष, हस्तरेखा आदि विद्या कौशल से प्रभावित करके दूसरो का धन आसानी से अपहरण कर लेता है। कई बार दूसरो की बहन-बेटियो को भी उडा ले जाता है, बच्चो को भी उठा ले जाता है, बेच देता है या मार डालता है। धन का लोभ ऐसा पिशाच है, जो बडे-बडे अनर्थ करवा देता है। धर्मात्मा श्रावक को ऐसी सकल्पी हिंसा से बचना आवश्यक है।

कटु मर्मस्पर्शी वचन व मिथ्यारोप आदि भी हिंसा हैं

द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवो को, जिनमे मनुष्य भी है, केवल जान से मार डालना ही हिंसा नही है, अपितु जानबूझ कर उन्हे सताना, भयभीत करना, प्रहार करना, अग-भग करना, गुलाम बनाकर बन्धन मे डालना, यातनाएँ देना, झूठा दोषारोपण करना, मर्मस्पर्शी वचन बोलना, कटुशब्द कहना, अपमानित करना, आदि भी हिंसा है, और ऐसी हिंसा इरादे-पूर्वक निरपराध की होने से प्राय सकल्पी हिंसा मे समाविष्ट होती है।

एक जगह एक जैन भाई, जो धर्मात्मा श्रावक था। उसकी पत्नी गुजर चुकी थी। प्रौढ वय थी। एक दिन पडौस की कोई लडकी त्यौहार के उपलक्ष मे कुछ मिठाई देने गई। उस समय उसके मौन होने से वह कुछ बोला नही, लडकी मिठाई रखकर चल पडी। जब वह दरवाजे से बाहर निकलने लगी तो एक भाई ने देखा। वह ईर्ष्यालु था, उक्त धर्मात्मा श्रावक से द्वेष रखता था। अत उसने झूठमूठ बात बनाई और लोगो मे प्रचार करने लगा कि "मैंने स्वय अपनी आँखो से देखा है, अमुक भाई का अमुक लडकी के साथ अनुचित सम्बन्ध है।" लडकी के रिश्तेदारो के कानो मे यह बात पहुँची। उन्होने लडकी से पूछा तो लडकी ने साफ इन्कार कर दिया। परन्तु उक्त धर्मात्मा भाई से उन्होने पूछा नही, यो ही व्यर्थ के वहम के शिकार हो गए। मिथ्या दोषारोपण की बात बढती गई। उस धर्मात्मा भाई के लिए यह असह्य हो गया। उसने कुछ लोगो के सामने स्पष्टीकरण भी किया, लेकिन बात रुकी नही। आखिर इसी असह्य मिथ्यारोपण के कारण उस भाई को आत्महत्या करनी पडी।

किसी पर सहसा दोषारोपण करना बहुत बडी हिंसा है। श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

राजनैतिक हिंसाएँ

आजकल जहाँ देखो, वहाँ राजनीति की चर्चा है। राजनीति मे वर्तमान युग में धर्म की मात्रा बहुत कम रह गई है। छल-कपट, धोखा-फरेब, तिकडमबाजी, दूसरे को सत्ता से नीचे गिराने के लिए नाना हथकडे करना, चालबाजी से अपनी कुर्सी जमाए रखना आदि बातें वर्तमान राजनीति मे आम हो गई हैं। धर्मक्षेत्र मे, यहाँ तक कि पारिवारिक क्षेत्र मे भी ऐसी राजनीति गहरी घुस गई है। परिवार मे भाई-भाइयो के बीच, पिता-पुत्र के बीच तथा अन्य परिजनो के बीच इस प्रकार की राजनीति—जिसे बाजनीति कहना चाहिए—प्रविष्ट हो चुकी है। धर्मक्षेत्र मे—एक गुरु के शिष्य परिवार मे, गुरु-शिष्य के बीच, एक ही सम्प्रदाय के अनुयायियो मे परस्पर प्राय कई जगह राजनैतिक चालें चली जाती हैं।

खैर, ऐसा करना व्रती श्रावक के लिए तो सकल्पी हिंसा मे शुमार है। साथ ही सत्तासीन पार्टी को मजबूर करने और सत्ता हथियाने के लिए कई सत्ताकांक्षी राजनैतिक नेता तोड-फोड, दगे, आगजनी, उपद्रव, घेराव, बन्द और हडताल आदि

करके या करावार भयकर संकल्पी हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं, भड़काते हैं। राष्ट्रीय सम्पत्ति का नाश करते हैं, राष्ट्र का उत्पादन ठप्प करते हैं, जनता में हिंसा की भावनाओं को उभारते हैं। इससे वे जनता में द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, क्रोध, अहंकार ईर्ष्या एवं क्षुद्रस्वार्थ का वातावरण फैलाते हैं। इसलिए ये सब बातें संकल्पी हिंसा में ही गिनी जाएँगी, जिसका श्रावक को त्याग करना लाजिमी है।

दया के लिए हिंसा भी घोर अनर्थकारिणी

कोई यह शका कर सकता है कि जो प्राणी बहुत कष्ट में है, जिसकी बीमारी औषध देने पर भी मिट नही रही है, वह अपने कष्ट से शीघ्र छुटकारा पा ले तो उसमे कौन-सी हिंसा है ? अथवा दूसरे कष्टपीडित प्राणी को कष्ट और पीडा से मुक्त करने के लिए शस्त्र, विष या इंजेक्शन के द्वारा मार दिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

प्रथम शका का समाधान यह है कि श्रावकधर्मी गृहस्थ चाहे जितने ही कष्ट मे हो, प्रथम तो वह अपने कष्ट से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या का विचार ही नहीं कर सकता। क्योंकि आत्महत्या के समय उस व्यक्ति के मन मे कोई धर्म-ध्यान तो होता नही, आर्त्तध्यान ही होता है। आर्त्तध्यान मे पीडित व्यक्ति शुभ भावना के साथ नही मरता, इसलिए उसकी शुभगति तो होनी असम्भव है। सम्भव है, दूसरी गति या योनि मे उसे इस जन्म की अपेक्षा भी अधिक कष्ट भोगने पड़ें। इसलिए ऐसे असाध्य रोग, पीडा या कष्ट के समय श्रावक को समभाव से उसे सहना चाहिए, जिससे कर्म क्षय हो, नया कर्मबन्ध न हो। श्रावक को उस समय यही विचार करना चाहिए कि हे जीव ! ये तेरे ही किये हुए कर्मों के फल हैं, ये समभाव से तुझे ही भोगने है। आर्त्तध्यान करने से या निमित्तो को कोसने से मोह, द्वेष, घृणादि दुर्भाव पैदा होगे, जो भावहिंसा के जनक है। कष्ट से छुटकारा पाने के लिए अपने प्राणो का घात करना अपने प्रति दया नही है, बल्कि आत्महिंसा है।

दूसरी शका का समाधान यह है कि अत्यन्त रोगग्रस्त या कष्ट पीडित प्राणियो को वेदना से छुडाने के लिए शस्त्र, विष या इंजेक्शन दे या दिलाकर मार देने मे भी उसके प्रति दया नही है, बल्कि उसकी गति बिगाडना है। कोई भी प्राणी चाहे कितने ही कष्ट मे क्यो न हो, इस प्रकार शीघ्र मरना नही चाहता। आचार्य हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध मे कहा है—

म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि देही भवति दुःखित ।
मार्यमाण. प्रहरणैर्दारुणै, स कथ भवेत् ॥

—'मर जाओ' ऐसा कहे जाने पर भी प्राणी दुःखित हो जाता है, तब फिर भयानक शस्त्रो या अन्य साधनो से मारे जाने पर बेचारे उस प्राणी की क्या दशा होती होगी ? इसलिए इस प्रकार अकाल मे ही किसी के प्राणो का वियोग कर देना श्रावक के लिए ठीक नही है। अगर किसी के माता-पिता या भाई आदि को असाध्य रोग

हो जाय, और सेवा-शुश्रूषा करने पर भी उन्हे आराम न होता हो, पीडा से कराह रहे हो तो क्या कोई पुत्र या भाई उन्हे मार देना पसन्द करेगा ? कदापि नही। जब अपने माता-पिता के सम्बन्ध मे मार देने का निर्णय उचित नही माना जाता, तो बेचारे मूक प्राणी के लिए मारने का निर्णय कर लेना कैसे उचित हो सकता है ?

ऐसा करने से मानव की कोमलवृत्तियाँ, अन्तकरण स्थित दया-भावना आदि समाप्त हो जाएँगी और इस प्रकार की अनर्थ परम्परा चल पडने पर कोई भी व्यक्ति जब-तब अपने अप्रिय परिजन या किसी भी अप्रियजन को मार डालते देर नही लगाएगा। कई लोग अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर अथवा अपने प्रेम मे विघ्नकारक समझकर अपने पुत्र-पुत्री, अपनी पत्नी या अन्य सम्बन्धित व्यक्ति को विष या इजेक्शन देकर हत्या कर डालते है। यह दया नही है, सकल्पी हिंसा है। मान लो, मारने की भावना न हो और रोगी की पीडा सही नही जाती हो तो, उसे सान्त्वना देनी चाहिए, उसके मन मे पीडा को समभाव से सहने की वृत्ति पैदा करनी चाहिए, ताकि वह आर्त्तध्यान से बच सके। और फिर यह निर्णय प्रत्येक दशा मे करना भी कठिन है कि रोगी अब बचेगा ही नही। कभी-कभी ऐसे रोगी भी बच जाते है, जिनके बचने की कोई सभावना नही होती। मान लो, ऐसा निश्चय भी हो जाय कि अब रोगी बचेगा नही, तो उसे सल्लेखना-सथारा करना चाहिए, ताकि धर्मपालन करते हुए उसका शरीर छूटे।

धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक जीव को जो भी कष्ट मिलता है, वह उसके पूर्वकृत पापकर्मो के फलस्वरूप मिल रहा है। अगर विषादि प्रयोग से उसको मार दिया जाता है तो उससे उसके पाप नष्ट नही हो जाते, अपने पापो का फल तो उसे देर-सबेर भोगना ही पडेगा। इसलिए इस योनि से छूट जाने से उसे कष्ट से कैसे छुटकारा मिल जाएगा ? श्रावक का कर्त्तव्य यह है कि कष्ट पा रहे जीव यदि मानव हो तो उन्हे आश्वासन दिया जाए, समझाया जाय, समभाव से कष्ट सहने की वृत्ति के लिए प्रेरणा दी जाए, उनकी सेवा शुश्रूषा की जाए, उन्हे भरसक सुख-शान्ति पहुँचाई जाए। पशु आदि हो तो भी उनकी भरसक सेवा की जाए, उपचार का प्रबन्ध किया जाए। मन मे उनको सुख-शान्ति प्राप्त होने की भावना की जाए। श्रावक के इन शुभ प्रयत्नो से अगर उन्हे सुख-शान्ति नही मिलती है तो यह उसके वश की बात नही है।

प्राचीनकाल मे एक दुखमोचक मत भी भारत मे प्रचलित था, उसका भी मन्तव्य यही था कि[1] जो प्राणी बहुत ही दुखी है, उन्हे अगर मार डाला जाय तो वे शीघ्र ही दुख से छुटकारा पा जाते है। किन्तु भगवान महावीर ने इस मत का

---

१ बहुदुखा सज्ञयिता प्रयान्ते त्वचिरेण दुख विच्छित्तिम्।
इति वासना कृपाणीयादाय न दुखिनोऽपि हन्तव्य ॥ —पुरुषार्थ० ८५

निर्वात स्थान मे दम घुट कर मरने को डाल दिया जाता है। यह आत्महिंसा भी है और सकल्पी हिंसा भी। मुफ्त मे धन कमाने का हथकडा है, अत श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

गुरु का सिर काटकर समाधि दिलाने की हिंसापूर्ण क्रिया

'गुरु अपने शिष्य को बार-बार यह उपदेश देता रहता था कि मैं जब समाधि ले लूं, श्वास ऊपर खीच लूं, तव तू मेरा मस्तक काट देना, इससे मुझे सद्गति प्राप्त हो जाएगी',[1] इस प्रकार का समाधिप्रापक एक मत था, उस युग मे। लेकिन स्वस्थ, सशक्त, धर्मपालन मे सक्षम शरीर को श्वास बद करके तथाकथित समाधि के रूप मे समाप्त करने का प्रयास करना और शिष्य के द्वारा मस्तकछेदन की क्रिया कराना, कोई भी अहिंसक तरीका नही है, यह आत्महिंसा भी है और शिष्य के लिए गुरुहत्या सकल्पी हिंसा भी है। इससे शिष्य वर्ग मे क्रूरता के सस्कार पनपते हं।

यह सामाजिक हिंसा भी सकल्पी हिंसा के अन्तर्गत है

प्रत्यक्ष हिंसा तो आम आदमी की समझ मे आ जाती है, किन्तु परोक्ष हिंसा ऐसी है, जो झटपट समझ मे नही आती, फिर उस पर मोह, वासना एव स्वार्थ के सस्कारो के घने आवरणो के कारण व्यक्ति सस्कारवश शीघ्र कल्पना नही कर सकता। परन्तु है उसका रूप बडा व्यापक। उसकी गहराई को लोग जल्दी समझ भी नही पाते। प्रत्यक्ष हिंसा तो झटपट समझ मे आ जाती है, जब व्यक्ति यह विचार करता है, कि आज दिनभर मे मैंने कितने जीवो को मारे-पीटे, सताये, कष्ट दिया ? परन्तु इस परोक्ष-हिंसा को समझे बिना सकल्पीहिंसा का त्याग करने मे श्रावक पूर्णत सफल नही हो सकेगा। इस परोक्षहिंसा को हम सामाजिक हिंसा कह सकते है। इस हिंसा का मूल अहकार, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि के विष है, इन्ही विषबीजो से सामाजिक हिंसा का जहरीला पौधा पनपता है। जो सस्कारो मे घुलमिल कर श्रावक के सामाजिक जीवन को विषाक्त बना देता है।

सामाजिक हिंसा से मतलब व्यक्ति के केवल अपने परिवार, समाज, जाति, धर्मसघ, प्रान्त या राष्ट्र मे होने वाली हिंसा से ही नही है, अपितु दूसरे परिवारो, समाजो जातियो, धर्मसघो, प्रान्तो या राष्ट्रो आदि के साथ होने वाले हिंसाजनक व्यवहार से है। अगर एक परिवार का व्यवहार दूसरे परिवार से साथ, अथवा परिवार मे ही अन्य परिजनो के साथ, एक समाज का दूसरे समाज के साथ, एक वर्ण का या वर्ग का दूसरे वर्ण या वर्ग के साथ, एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक धर्मसम्प्रदाय का दूसरे धर्मसम्प्रदाय के साथ, एक प्रान्त या राष्ट्र का दूसरे प्रान्त या राष्ट्र के साथ,

---

१ उपलब्धि सुगतिसाधन समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरो शिष्येण शिरो न कर्तनीय सुधर्ममभिलपिता ॥

—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, ८८

की तहो मे ऊँच-नीच, सवर्ण-असवर्ण आदि की खाइयाँ अहकार, घृणा, द्वेष के कारण चौडी होती गई। यो परस्पर साथ-साथ चलते ह, किसी की दूकान पर जाते है तो माल खरीदते समय दूकानदार जाति नही पूछता, अन्य व्यवहारो मे जाति नही पूछी जाती, परन्तु जहाँ परस्पर प्रेमभाव बढाने, दूसरे की सेवा करने का सवाल आया, वहाँ मन मे बिछे हुए स्वार्थ, घृणा और अहकार के काँटे दूर नही होते, वे अन्दर ही एक-दूसरे को चुभाये जाते है। और तो और एक ही ओसवाल, अग्रवाल जाति मे बीसा, दस्सा, पाँचा, ढैया आदि भेद डाल कर शहरी और ग्रामीण आदि के भेद डाल कर दूसरो का अपमान करने और घृणाभाव, अहकार, द्वेषभाव आदि के वश दूसरो से लडते-झगडते है। भीतर की जलन अहकारवश कभी-कभी विस्फोट के रूप मे बाहर आ जाती है, मधुरसम्बन्धो मे कटुता का विष पड जाता है, द्वेष की आग सुलगती है, कभी-कभी एक दूसरे के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार तक तोड देते है। क्या यह मित्ती मे सव्वभूएसु 'मनुष्यजातिरेकैव जाति-कर्मोदयोद्भवा' 'अप्पसम मन्निज छप्पिकाए' का पाठ उच्चारण करने, सुनने और सम्यक्त्व के अगो मे 'वात्सल्य' का पाठ पढने वाला श्रावक क्या इतने उच्च सिद्धान्तो को मानकर भी सकल्पी भावहिंसा सामाजिक हिंसा तक नीचे उतर सकता है? ये सकीर्णताएँ और उनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले घृणा, द्वेष, अहकार, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि के कुसस्कार उसमे जागृत हो सकते है? आश्चर्य तो यह होता है कि यह आग ओसवालो, अग्रवालो या दूसरे वालो मे जहाँ भी जलती है, वहाँ बडे-बडे विचारक, सिद्धान्तवादी विद्वान् भी उसमे हिस्सा लेने के लिए विवश हो जाते हे और उसमे शास्त्रीय प्रमाणो की एव कुतर्क की घृताहुति डालकर और अधिक भडका देते है। इस प्रकार जाति के नाम पर हिंसा की आग भडकती है।

वर्ण के नाम पर हिंसा

जो धर्म और दर्शन बडी-बडी ऊँची बाते करते है। हर आत्मा को परब्रह्म का रूप मानने हे, हर जीव को ईश्वर का अश या सिद्धसम मानते है, खेद है[1] " कोई शूद्र भूल से भी वेद का उच्चारण कर दे तो उसकी जीभ काट ली जाए, पास गुजरते हुए किसी शूद्र के कान मे वेद मन्त्र का शब्द भी पड जाय तो खौलता हुआ गर्मागर्म शीशा उसके कानो मे डाल दिया जाए" यही दूसरी ओर कह डाला है। उन्ही आचार्य के मुख से ये पवित्र वाक्य निकल रहे हैं—प्राणिमात्र मे, ईश्वर के चैतन्य की प्रतिच्छाया है। प्रत्येक जीव के हृदयदेश मे ईश्वर का निवास है। हर जीव ईश्वर का अश है, ईश्वरतुल्य है।' आश्चर्य है, वे ही महापुरुष अर्थहीन जातिपाति के नाम पर शूद्रो से घृणा करने और उन्हे अछूत मानने के विचारो के घृणित प्रवाह मे बह रहे हैं।

---

१ 'न शूद्राय मति दद्यात्।' 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेयाताम्' 'जतुत्रपुन्यामस्य कर्णौ पूरणीये।

की तहो मे ऊँच-नीच, सवर्ण-असवर्ण आदि की खाइयाँ अहकार, घृणा, द्वेष के कारण चौडी होती गई । यो परस्पर साथ-साथ चलते है, किसी की दूकान पर जाते है तो माल खरीदते समय दूकानदार जाति नही पूछता, अन्य व्यवहारो मे जाति नही पूछी जाती, परन्तु जहाँ परस्पर प्रेमभाव बढाने, दूसरे की सेवा करने का सवाल आया, वहाँ मन मे बिछे हुए स्वार्थ, घृणा और अहकार के काँटे दूर नही होते, वे अन्दर ही एक-दूसरे को चुभाये जाते है । और तो और एक ही ओसवाल, अग्रवाल जाति मे बीसा, दस्सा, पाँचा, ढैया आदि भेद डाल कर शहरी और ग्रामीण आदि के भेद डाल कर दूसरो का अपमान करने और घृणाभाव, अहकार, द्वेषभाव आदि के वश दूसरो से लडते-झगडते है । भीतर की जलन अहकारवश कभी-कभी विस्फोट के रूप मे बाहर आ जाती है, मधुरसम्बन्धो मे कटुता का विष पड जाता है, द्वेष की आग सुलगती है, कभी-कभी एक दूसरे के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार तक तोड देते है । क्या यह मित्ती मे सव्वभूएसु 'मनुष्यजातिरेकैव जाति-कर्मोदयोद्भवा' 'अप्पसमं मन्निज छप्पिकाए' का पाठ उच्चारण करने, सुनने और सम्यक्त्व के अगो मे 'वात्सल्य' का पाठ पढने वाला श्रावक क्या इतने उच्च सिद्धान्तो को मानकर भी सकल्पी भावहिंसा सामाजिक हिंसा तक नीचे उतर सकता है ? ये सकीर्णताएँ और उनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले घृणा, द्वेष, अहकार, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि के कुसस्कार उसमे जागृत हो सकते है ? आश्चर्य तो यह होता है कि यह आग ओसवालो, अग्रवालो या दूसरे वालो मे जहाँ भी जलती है, वहाँ बडे-बडे विचारक, सिद्धान्तवादी विद्वान् भी उसमे हिस्सा लेने के लिए विवश हो जाते है और उसमे शास्त्रीय प्रमाणो की एव कुतर्क की घृताहुति डालकर और अधिक भडका देते है । इस प्रकार जाति के नाम पर हिंसा की आग भडकती है ।

वर्ण के नाम पर हिंसा

जो धर्म और दर्शन बडी-बडी ऊची बाते करते है । हर आत्मा को परब्रह्म का रूप मानते है, हर जीव को ईश्वर का अश या सिद्धसम मानते है, खेद है[1] " कोई शूद्र भूल से भी वेद का उच्चारण कर दे तो उसकी जीभ काट ली जाए, पास गुजरते हुए किसी शूद्र के कान मे वेद मत्र का शब्द भी पड जाय तो खौलता हुआ गर्मागर्म शीशा उसके कानो मे डाल दिया जाए" यही दूसरी ओर कह डाला है । उन्ही आचार्य के मुख मे ये पवित्र वाक्य निकल रहे है—प्राणिमात्र मे, ईश्वर के चैतन्य की प्रतिच्छाया है । प्रत्येक जीव के हृदयदेश मे ईश्वर का निवास है । हर जीव ईश्वर का अश है, ईश्वरतुल्य है ।' आश्चर्य है, वे ही महापुरुष अर्थहीन जातिपाति के नाम पर शूद्रो से घृणा करने और उन्हे अछूत मानने के विचारो के घृणित प्रवाह मे बह रहे है ।

---

१ 'न शूद्राय मतिं दद्यात् ।' 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेयाताम्' 'जतुत्रपुभ्यामस्य कर्णौ पूरणीये ।

ईसाइयो ने सैकडो वर्षों तक यहूदियो के साथ युद्ध किया, उन्हे जेरुसलम से मार भगाया। उसे धर्मयुद्ध 'क्रूसेड' कहकर गर्व का अनुभव किया जाता है। समस्त मानवो को खुदा के बदे मानने वाले इस्लाम धर्म के बदो ने ईसाइयो के विरुद्ध जेहाद किया और हजारो को मौत के घाट उतार दिया। भारत मे इस प्रकार के हिंसक युद्ध तो नही हुए, लेकिन धर्माचार्यों के परस्पर शास्त्रार्थ हुए, सघर्ष हुए। ऐसे घृणित सम्प्रदायवाद के फरमान निकाले गए कि हिमालय से लेकर रामेश्वरम् तक कोई भी जैन और बौद्ध मिले, उसे मौत के घाट उतार दिया जाए। पुष्यमित्र के राज्यकाल मे यह आदेश प्रसारित किया गया था—"जो एक बौद्ध भिक्षु का सिर काट कर लाएगा, उसे सौ स्वर्णमुद्राएँ इनाम दी जाएँगी।" "पागल हाथी सामने से आ रहा हो तो भी जैन-मन्दिर मे प्रवेश न करे।" ये है मनुष्य के हृदय मे प्रविष्ट घृणा, अभिमान और द्वेष के उग्र रूप, जो कभी सम्प्रदाय के नाम से तो कभी जाति-पाति के नाम से उभर आते है। है ये सब सकल्पी हिंसा के ही रूप, जो श्रावक के लिए त्याज्य है। अहिंसा प्रचार के लिए यहाँ हिंसा की शरण ली गई है, धर्म-प्रचार के लिए तलवार से काम लिया गया है। ये सम्प्रदायें दूसरी सम्प्रदायो के साथ ही लडती हो, ऐसी बात नही, आपस मे ही एक-दूसरे उपसम्प्रदाय के साथ, कभी-कभी गुरुवाद के नाम पर परस्पर लडी है, एक दूसरे को अपमानित, लाछित एव बदनाम करने की कोशिश की हैं। नास्तिक, मिथ्यात्वी, जैनाभास, देवानाप्रिय आदि गालियाँ भी सपेट दी है। ऐसे हिंसारूप अधर्म को ही धर्मधुरन्धर बनने के लिए पकडा गया है। इसी जाति एव धर्म-सम्प्रदायो को लेकर मनुष्य एक राष्ट्र मे रहता हुआ भी अपने तुच्छ स्वार्थ और अधिकारो के लिए लडा है, दूसरे भाइयो के अधिकार छीने है, उन्हे पददलित कर दिया है। एक मुहल्ले, एक नगर या गाँव मे भी पानी के कुओ पर यही धर्मयुद्ध-जातियुद्ध लडा गया है, शूद्रो को पीटा गया है, क्योकि वे हिंदूधर्म मे डटे रहे, हिन्दू कहलाते रहे, आखिर इसका परिणाम यह हुआ कि कई बन गए बौद्ध, लाखो बने ईसाई और मुसलमान ये सब काण्ड घृणा और विद्वेष के कारण हुए। हिन्दुस्तान पाकिस्तान दो टुकडे किसने किए ? गाधी जी को गोली किसने मारी ? इसी साम्प्रदायिकता राक्षसी ने ?

हिंसा से पूर्ण राष्ट्रीयता एव प्रान्तीयता

राष्ट्रीयता एव प्रान्तीयता के नाम पर वही राष्ट्रान्धता छा गई। दूसरे राष्ट्र के या दूसरे प्रान्त के लोगो को रगडा गया। उनके साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नारा लगाते हुए, 'स्वैव कुटुम्बकम्' का प्रत्यक्ष दृश्य दिखाया गया। यह थी मानव की हृदय-हीनता। हिंसा की कितनी आग भरी हुई थी, दिलो मे ?

पारिवारिक जीवन मे हिंसा

पारिवारिक जीवन मे माँ 'सौतेली माँ' या नानी के विषय मे भेदभाव की जहरीली घुटी बच्चो को पिलाई जाती है। अपनी बेटी को परिवार मे अधिकारो से

काया से हो जाएगी, वह कृतरूप से भी हो सकती है, कारितरूप से भी और अनु-मोदित रूप से भी।

अत श्रावक को विवेकी और दीर्घद्रष्टा बनकर सकल्पी हिंसा के इन रूपो से बचना चाहिए। कदाचित् पूर्वसस्कारवश कभी मन-वचन मे इस हिंसा का क्षणिक विचार या वचन आ भी जाए तो तुरत उसे खदेड देना चाहिए, पश्चात्ताप करना चाहिए। श्रावक-जीवन मे अहिंसा के विकास और अभ्यास का यही उचित क्रम है।

□

[3]

अहिंसा की मंजिल : श्रावक की दौड़

अहिंसा की मंजिल बहुत दूर है, श्रावक अहिंसा के पालन पथ पर दौड़ लगाता है, किन्तु उसके मार्ग मे कई पड़ाव ऐसे आते है, जहाँ उसे सोचना, विचारना और विवेक-बुद्धि से निर्णय करना पड़ता है कि अहिंसा के मार्ग पर कहीं हिंसा के काँटे तो नही बिछे हुए है, जो मार्ग को ही अवरुद्ध कर दे, चलने वालों को न चलने दें, मार्ग को ही अमार्ग बना दे अथवा उस मार्ग पर अहिंसाराधक पूर्वजों का एक भी पदचिह्न न रहने दे। इसलिए श्रावक को अहिंसा की अपनी मर्यादाएँ समझ लेनी चाहिए, और जो अहिंसा उसके लिए अवश्य पालनीय है, उसमे किसी प्रकार की शिथिलता नही आने देनी चाहिए।

पिछले प्रवचन मे मैंने विस्तार से संकल्पी हिंसा के विविध रूपो का उल्लेख किया था। श्रावक को अहिंसा की मजिल की ओर गति करते समय संकल्पी हिंसा को तो अपने मार्ग से बिलकुल हटा देना चाहिए। उसे अपनाना, अपने कदम को वही ठप्प करना है।

अब रही शेष तीन प्रकार की हिंसाएँ—आरम्भी, उद्योगिनी और विरोधिनी—जिन्हे श्रावक सर्वथा छोड नही सकता, क्योकि उसे परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ अपने कदम मिलाकर चलना पडता है। वह अकेला होता और परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की अपनी जिम्मेदारियो से मुक्त होता तो इन तीनो हिंसाओ को भी सर्वथा छोड देता, जैसा कि प्रतिमाधारी श्रावक करता है, परन्तु जब तक उस पर इन सबकी जिम्मेदारी है, तब तक उसे अपने कर्तव्यो का पालन करना पडता है, उसमे कही न कही आरम्भी, उद्योगिनी और विरोधिनी हिंसा हो ही जाती है। यद्यपि श्रावक बहुत ही विवेक के साथ लाचारी से इन्हे करेगा, तथापि ये हिंसाएँ सकल्प करके तो वह कभी भी नही अपनाएगा।

आरम्भी हिंसा : स्वरूप, विवेक और विश्लेषण

सर्वप्रथम गृहस्थ-जीवन मे आरम्भी हिंसा आती है। श्रावक अगर उद्योग-धन्धे न करे और विरोध का प्रसग न आए तो वह दोनो हिंसाओ से तो विरत हो सकता है, लेकिन आरम्भी हिंसा से तब तक निवृत्त नही हो सकता, जब तक

प्रतिमाधारी श्रावक या महाव्रती साधु नही बन जाता। प्रत्येक साधारण व्रती श्रावक को गृहस्थ मे रहते हुए अनेक कार्य अनिवार्य रूप से करने पडते है, जैसे घर की सफाई करना, भोजन बनाना, खाद्य पदार्थों को साफ करना, कपडे धोना, मकान बनवाना, गो-पालन करना, पशुओ की सेवा, पारिवारिक जनो की सेवा करना आदि। इन कार्यों मे सावधानी रखते हुए भी स्थावर जीवो की हिंसा के अतिरिक्त, त्रस जीवो की स्थूल हिंसा भी हो जाती है, पर वह इरादेपूर्वक की नही जाती। गृहकार्यो मे वह जान-बूझ कर मारने, सताने या पीडा देने की बुद्धि से निष्प्रयोजन हिंसा नही करता और न कर सकता है। एक सद्गृहस्थ श्रावक निष्प्रयोजन एक भी आरम्भ करने के लिए तैयार न होगा। क्योकि वह इतना विवेकी होता है कि यथासम्भव हिंसा को कम करने की कोशिश करता है। उसकी भावना सदैव यह रहती है कि मेरे द्वारा किसी भी जीव को कष्ट न पहुँचे। कम से कम हिंसा से काम चलाने के लिए वह अपनी आवश्यकताओ मे यथाशक्ति कटौती करता है। जितनी आवश्यकताएँ कम होगी, उतनी ही दौड-धूप कम होगी और उसी अनुपात मे हिंसा भी कम होगी, सद्विवेकी गृहस्थ बेकार की चीजो और अनावश्यक वस्तुओ का सग्रह करके नही रखेगा। खाद्य वस्तुएँ भी थोडी-थोडी लाएगा, क्योकि वह जानता है कि अधिक मात्रा मे अधिक दिनो तक खाद्य-सामग्री पडी रहने से उसमे लट, धनेरिया, सुलसुली, चीटी आदि जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। वे अपना डेरा जमा लेते है। चटनी, आचार, मुरब्बे आदि भी बहुत ज्यादा दिनो के हो जाने पर उनमे भी जीवो की उत्पत्ति हो जाती है। उनके सेवन से अधिक हिंसा होती है।

निष्कर्ष यह है कि गृहकार्यों के करते समय गृहस्थ को प्रत्येक कार्य मे देख-भाल (प्रतिलेखन) और विवेक से प्रवृत्त होना चाहिए। अगर वह लापरवाही से अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति करता है, रसोई करते समय पानी, आटा, अन्य सामग्री, ईंधन, चूल्हा, आदि की देखभाल एव प्रमार्जन (सफाई) नही करता, तो चौके को वह सहार-गृह का रूप दे देगा। अहिंसा का पालन विवेक से होता है। घी, दूध, तेल आदि तरल पदार्थों के बर्तन खुले न छोडे, क्योकि कई बार उनमे जीव-जन्तु पड जाते है। खास तौर से कभी-कभी छिपकली, आदि जहरीले जन्तु भी पड जाते है, जिससे स्वास्थ्य और धर्म दोनो को हानि पहुँचती है। मकान बनाते समय भी बहुत सावधानी रखने की जरूरत है। सफाई करते समय भी विवेक रखना है, ताकि कोई जीव दबकर या कुचलकर मर न जाय। इसके अतिरिक्त रसोई करने, बर्तन माँजने, कपडे धोने, चौके बर्तन करने आदि का काम, पशुओ को चारा-दाना खिलाने या दूध दुहने आदि के काम दिन मे ही निपटा लेने चाहिए। अपने भोजन से भी दिन मे ही निवृत्त हो जाना चाहिए। प्रकाश चाहे कितना भी क्यो न हो, रात्रि मे इन सब कार्यो को करने मे किसी न किसी त्रस जीव की विराधना होने की सम्भावना रहती है। रात्रि-भोजन का असर स्वास्थ्य पर भी बहुत बुरा पडता है। रात्रि मे देर से भोजन करने वालो का हाजमा खराब हो जाता है, भोजन का पाचन ठीक तरह से नही

होता। रात्रि-भोजन करने वालों का कई बार आहार मे गिरे जीव के पेट में जाने से प्राणों से हाथ धोना पड़ा है। ऐसे कई प्रत्यक्ष उदाहरण मौजूद है, जिनमे रात्रि-भोजन से अविवेक के कारण कई मौतें हुई है।

आरम्भी हिंसा और अविवेक—

कई बहनें गृहकार्य से होने वाली अनिवार्य हिंसा से बचने के लिए दूसरों से कार्य कराती है, जिनमे विवेक नही होता। जो गृहकार्य मे अहिंसा की मर्यादा से अपरिचित है। इस प्रकार आलस्य और प्रमाद से करने से आरम्भ-जन्य हिंसा से छुटकारा नही मिल सकता। जब तक कि खाना-पीना सर्वथा न छोड दे, या गृहकार्य की जिम्मेदारी से निवृत्त होकर साधु-जीवन स्वीकार न कर ले।

दूसरी बात यह है कि अपने जिम्मे का कार्य सास-बहू या देवरानी-जिठानी पर डालना और स्वय बहाना बना कर लेट जाना, सटरगश्ती करना, सैरसपाटे करना यह अन्याय है, नैतिक मर्यादा के विरुद्ध है, और इस कारण हिंसा है। इसी प्रकार के रवैये के कारण परिवारो मे प्राय सघर्ष होते है, और वे गृहकलह का रूप लेकर भयकर हिंसा के कारण बनते हैं। कषाय वृद्धि ही भावहिंसा का मुख्य कारण है।

गृहकार्यों मे कई लोग पशुओ, गायो, बैलो तथा नौकर-चाकरो का सहयोग लेते हैं, परन्तु उनका व्यवहार उन सहायको के साथ आत्मीयता का नही होता, वे उन्हे रूखा-सूखा, रद्दी, वासी भोजन दे देते हैं, कई दफा आहार भी पर्याप्त नही होता, पानी और खाना भी समय पर नही देते, उनकी शक्ति से अधिक बोझ या कार्य का बोझ उन पर डाल देते ह, नौकरो के किसी अनिवार्य कारणवश देर से आने पर डाँटते-फटकारते और तनख्वाह काट लेते हैं, उनके न्यायोचित अधिकारो का हनन कर देते है, अथवा किसी व्यक्ति से कोई कार्य करा कर उचित पारिश्रमिक नही देते। पशुओ को निर्दयतापूर्वक मारते-पीटते है, उनके आरे भोक देते हैं, बीमार होने पर उनकी यथोचित चिकित्सा नही करवाते, ये सब कार्य आरम्भी हिंसा की सीमा को तोड कर सकल्पी हिंसा के अन्तर्गत आ जाते है। आरम्भी हिंसा तो लाचारीवश होती है, जबकि उपर्युक्त कार्य जानबूझ कर हैरान करने की दृष्टि से होते हैं, इसलिए सकल्पी हिंसा की कोटि मे आ जाते हैं।

निरर्थक, निष्प्रयोजन अनावश्यक आरम्भ न करें

कई बार श्रावक इस बात का विवेक भूल जाता है कि मेरे परिवार के लिए कौन-सी चीज कितनी बनानी है? कितनी चीज से सारे परिवार का कार्य चल जाएगा? कई बार वह अपना बडप्पन, पूजा, प्रतिष्ठा तथा वैभव का प्रदर्शन करने के लिए अनाप-सनाप आरम्भ कर लेता है। जैसे उसके यहाँ लडकी का विवाह है। लडकी का विवाह वह चाहे तो सादगी से कर सकता है, पर धनाढ्य होने के कारण पैसे के मद मे आकर समाज मे बडा आदमी कहलाने की दृष्टि से वह बहुत बडा भोज देता है। हजारो व्यक्तियो को—जो उस विवाह के समय पारिवारिक दृष्टि से सम्बन्धित

नही है—आमन्त्रित कर लेता है। भट्टियाँ रात-दिन चलती रहती हैं। इस प्रकार निष्प्रयोजन भोजन समारम्भ करके वह आरम्भी हिंसा की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है।

इसी प्रकार कई बार पानी के नल खुले रखकर बेशुमार पानी ढोलता रहता है। पानी ज्यादा फैलने से वहाँ कीचड हो जाती है, पानी का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से तथा सफाई न होने से वहाँ डास एव मच्छर पैदा हो जाते है, मरते हैं, जनता को काटते हैं, रोग फैलाते हैं। इसी प्रकार बिना ही किसी मतलब के जगल मे, खेत मे आग लगवा देना, व्यर्थ ही घास, पेड-पौधे उखाड डालना, यो ही जमीन खोदना या खुदवाना, बेकार ही उछल-कूद या भाग-दौड करना, पटाखे या बारूद से भरे पदार्थ छोडना, व्यर्थ ही ककर-पत्थर फैंकना, पशुपक्षियो को हैरान करना, व्यर्थ की बकवास, निन्दा, चुगली करना, मन मे किसी के जय-पराजय की अनिष्ट कामना करना, रहने के लिए एक मकान की जरूरत होने पर भी व्यर्थ ही ६-७ मकान बनवाना, खेती के लिए, परिवार के लिए गुजारे के उपरान्त भी अनाप-सनाप जमीन रखना, उसे जुत-वाना और कृषि का अधिकाधिक आरम्भ करना, घर मे व्यर्थ की चीजें, फर्नीचर आदि विपुल सख्या मे इकट्ठे करना। ये सब निरर्थक हिंसाएँ हैं।

यद्यपि श्रावक को एकेन्द्रिय स्थावर जीवो—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु वनस्पति की—छूट मिली है, लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि वह अविवेकी बनकर इनका उपयोग करे। जरूरत से ज्यादा वस्तुओ का उपयोग करना उसके लिए वर्जित है। श्रावक एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा का त्याग नही कर सकता, इसका अर्थ यह नही है कि वह बिना मतलब के निष्प्रयोजन अनावश्यक ही स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवो की हिंसा करेगा। आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक वर्ग को इस विषय मे सावधान किया है—

निरर्थिकां न कुर्वीत, जीवेषु स्थावरेष्वपि।
हिंसामहिंसा धर्मज्ञ· कांक्षन्मोक्षमुपासक ॥[1]

—अहिंसा धर्म का ज्ञाता और मोक्ष का अभिलाषी श्रावक स्थावर जीवो की भी निरर्थक हिंसा न करे।

यद्यपि शरीर निर्वाह और कुटुम्ब के पालन-पोषण की दृष्टि से ही गृहस्थ के लिए स्थावर जीवो की हिंसा का अनिवार्य निषेध नही किया गया है, तथापि जहाँ स्थावरहिंसा शरीर-निर्वाह आदि के लिए आवश्यक नही है, श्रावक को उसका त्याग करना चाहिए।

इसी प्रकार श्रावक को आरम्भी हिंसा मे भी बहुत विवेकपूर्वक चलने की आवश्यकता है। एक श्रावक है, उसकी पत्नी गर्भवती है। अचानक भयकर प्रसव

---

१ योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लोक २१

वेदना हुई। दुर्भाग्य से बच्चा गर्भ में है, वह विषाक्त हो गया है। ऐसे समय में वह क्या करे ? बच्चे को बचाए या बच्चे की माँ को या दोनो को मर जाने दे ?

उस समय बरबस होकर विवेकी श्रावक को बच्चे की माँ को बचाने के लिए सहमत होना होगा। बच्चा चूंकि मृतप्राय है, वह बचाया नही जा सकता, लाचारी है।

इसी प्रकार मान लीजिए, एक श्रावक की भैंस के शरीर पर फोडा हो गया, उसमे मवाद पड गया। कीटे कुलबुलाने लगे। अब वह भैंस को बचाए या मवाद के कीडो को ? ऐसे समय मे वह बचाना तो दोनो को ही चाहेगा, ऐसी औषधि लगाएगा, जिससे कीडे झड जाएँ, मवाद सूख जाय, और भैंस स्वस्थ हो जाए। यद्यपि मवाद के कीडे, झड जाने पर अधिक समय तक जीवित नही रह पाते, पर कोई चारा नही है, श्रावक के पास उन्हे बचाने का।

इसी प्रकार जैनधर्म ने श्रावक को भविष्य मे होने वाली आरम्भी हिंसा से बचने के लिए कुछ हिदायतें दी हैं, वह उन पर चले तो श्रावक जीवन मे भी अहिंसा का आराधक हो सकता है। जैसे शरीर मे जू-लीख आदि पडें, घर मे जीव जन्तु पैदा हो, मच्छर और खटमल पैदा हो, इससे पहले ही श्रावक को विवेकपूर्वक शरीर-शुद्धि का तथा यत्नपूर्वक गृहपरिमार्जन (सफाई) का ध्यान रखना चाहिए। ताकि ऐसे जीव न शरीर में पैदा हो, न घर मे पैदा हो।

अल्पारम्भ, अधिकारम्भ या महारम्भ ?

श्रावक के लिए शास्त्र मे जगह-जगह 'अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही' शब्दो का प्रयोग किया गया है। इसके पीछे क्या रहस्य है, यह भी समझ लेना आवश्यक है। श्रावक को आरम्भजा हिंसा की छूट मिल गई, इसका मतलब यह नही है कि वह रात-दिन आरम्भ मे डूबा रहे, अपने आत्मचिन्तन, सामाजिक-राष्ट्रीय कर्तव्यो पर कुछ भी ध्यान न दे, आरम्भो से खुलकर खेलता रहे। इसके विपरीत उसे यह निश्चित समझना चाहिए कि आरम्भजा हिंसा की जो छूट उसे दी गई है, वह भी, मारने की बुद्धि से रहित होकर सप्रयोजन लाचारी की स्थिति मे अनिवार्य समझ कर दी गई है। यानी आरम्भी हिंसा भी यदि गृहकार्यादि मे या शरीर निर्वाह, कुटुम्बपालन आदि कर्तव्यो में हिंसा के सकल्पपूर्वक अविवेकपूर्वक या निष्प्रयोजन निरर्थक ही की जाती है तो कौन कह सकता है कि वह सकल्पी नही हो जाएगी ? कई बार व्यक्ति प्रत्यक्ष मे अपने स्वय के द्वारा होने वाली आरम्भजनित हिंसा की ओर ही देखता है, और किसी ऐसी चीज का उपयोग करता है, जो भूतकाल मे विशेषारम्भ या महान आरम्भजनित हिंसा से निष्पन्न हुई हो। श्रावक समझता है कि मैं आरम्भ नही कर रहा हूँ, इसलिए मुझे हिंसा का दोष क्यो लगेगा ? इसीलिए तो श्रावक को 'अल्पारम्भी' विशेषण पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। मान लीजिए—'कॉड लीवर आइल' की बद शीशी है। कॉड लीवर आइल बनाने के लिए श्रावक ने वर्तमान मे किसी भी मत्स्य

की हिंसा नही की है, किन्तु भूतकाल मे किसी न किसी ने वह बनाई है, उसने तो मत्स्य हिंसा की ही है। अब मत्स्य हिंसाजनित कॉड लीवर आइल की बद शीशी को देखकर कोई श्रावक यह कहे कि मुझे इसके सेवन से हिंसा क्यो लगेगी ? क्योकि इसमे अभी तो जीव है नही, मैंने जीव हिंसा की नही, तो क्या उक्त श्रावक को अल्पारम्भी माना जा सकेगा ? कदापि नही। वह तो महारम्भी ही माना जाएगा। मैंने आरम्भ नही किया है, इसलिए मुझे क्यो आरम्भी हिंसा लगेगी ? यो कहकर सेवन करने वाला व्यक्ति कभी उस हिंसा से छूट नही सकता। निष्कर्ष यह है कि श्रावक को अगर दूसरे के द्वारा, भूतकाल मे आरम्भ द्वारा बनी हुई किसी भी चीज का उपयोग करना ही पडे तो उससे पहले उसे विचार करना चाहिए कि यह वस्तु अल्पारम्भ जनित है, अधिकआरम्भजनित है या महारम्भजनित ? जो वस्तु सकल्पपूर्वक पंचेन्द्रियवध से, पचेन्द्रिय कलेवर से निष्पन्न हुई है, उसे अथवा रात-दिन अनेक त्रसजीवो के वध से निष्पन्न हुई है, उसे महारम्भजनित समझना चाहिए। जो वस्तु एकेन्द्रिय जीवो के वध से निष्पन्न हुई है, उसे अल्पारम्भ मानना चाहिए, अथवा स्वय मरे हुए त्रसजीवो से निष्पन्न हुई हो, वह भी अल्पारम्भ मे मानी जा सकती है। किन्तु जो वस्तु सकल्प-पूर्वक निष्प्रयोजन केवल स्वार्थ या लोभवश अनेक एकेन्द्रिय जीवो के वध से या द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवो के वध से निष्पन्न हुई हो, उसे अधिकारम्भ समझना चाहिए।

जैसा कि मैंने बताया था कि क्रूम लेदर और काफ लेदर दोनो प्रकार के चमडे पशुओ को निर्दयतापूर्वक मार कर उनसे निष्पन्न होते हैं। ऐसी दशा मे क्या अल्पा-रम्भी श्रावक महारम्भजनित ऐसे चमडे की बनी चीजो का उपयोग कर सकता है ? अगर लाचारीवश उसे चमडे का ही उपयोग करना पडे तो वह स्वय मृत पशुओ के चर्म से निष्पन्न चीजो का करेगा, या कपडे अथवा प्लास्टिक आदि अन्य चीजो से बनी हुई चीजो का करेगा।

सुना है, एक गज असली रेशम (Silk) तैयार करने मे ४० हजार शहतूत के कीडो को मारा जाता है। क्या अल्पारम्भी श्रावक महारम्भ से बने हुए रेशम के कपडो का उपयोग कर सकता है ?

वस्त्र लज्जा निवारण तथा सर्दी-गर्मी आदि से शरीर रक्षा के लिए पहने जाते हैं, किन्तु मिल के चर्बी लगे हुए मुलायम सूती वस्त्र अथवा अत्यन्त कीमती और बारीक वस्त्र, जिनमे अग-अग दिखता हो, क्या वस्त्र परिधान का उद्देश्य पूर्ण करते हैं ? क्या इस प्रकार के अधिकारम्भ से बने हुए वस्त्रो का उपयोग अल्पारम्भजीवी श्रावक कर सकता है ?

फूलो की माला पहनकर कोई भी श्रावकधर्म स्थानक मे प्रवेश नही कर सकता क्योकि फूलो की माला वनस्पतिकायिक जीवो का पिंड होने से उन एकेन्द्रिय जीवो के वध से निष्पन्न होती है, और सजीव भी है। किन्तु वही श्रावक पचेन्द्रिय

प्राणियो के वध से निष्पन्न मोतियो की माला पहन कर यदि धर्मस्थान मे शान के साथ प्रवेश करे तो क्या आपको आश्चर्य नही होगा ?

बन्धुओ ! मोती कैसे प्राप्त होते हैं ? इसकी करुण कहानी सुनकर आपके रोगटे खडे हो जाएँगे। बेचारे गोताखोर लोग मरजीवा बनकर समुद्र की गहराई मे गोता लगाते है। वहाँ कल्लोल करती हुई निर्दोष मछलियो को पकडकर टोकरो मे भरते है और मुश्किल से मगरमच्छ आदि हिंस्र जल-जन्तुओ से अपनी जान बचाकर समुद्र से बाहर आते है। टोकरो मे भरी हुई लाखो मछलियो का ढेर कर देते है, वे मछलियाँ पानी के बिना तडफ-तडफकर मर जाती है, फिर उन्हे बादाम की तरह फोडा जाता है। उनमे से किसी-किसी मछली मे से मोती निकलता है। इसीलिए तो मोती मँहगा है। आप कल्पना कर सकते है, कि अगणित मछलियो की हत्या होती है तब मोती की एक माला तैयार होती है। मोती के निमित्त होने वाली मत्स्य-हिंसा मे मोती बेचने वाला, दलाली करने वाला, खरीदने वाला, पहनने वाला और इसे पहनने वाले को भाग्यशाली मानने वाला ये सब इससे सम्बद्ध है, इसलिए न्यूनाधिक रूप मे हिंसा-जनित पाप के भागी तो हैं ही। क्या एक विवेकी अल्पारम्भी श्रावक पचेन्द्रिय हिंसा से निर्मित मोतियो की माला पहन सकता है ?

श्रावक मास, अडे, मछलियाँ, आदि का सेवन क्यो नही करता ? क्योकि ये पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा से निष्पन्न है, भले ही श्रावक ने स्वय इन जीवो को मार कर ये वस्तुएँ तैयार न की हो, परन्तु पचेन्द्रिय के कलेवर से महारम्भ बनी हैं, घृणास्पद है, इनके खाने से मनुष्य के हृदय की दयाभावना समाप्त हो जाती है। परन्तु वही अल्पारम्भी श्रावक क्या पशुओ के मास, रक्त, जिगर व दूसरे अगो से बनाई हुई दवाइयाँ, इजेक्शन आदि का उपयोग कर सकता है ? क्योकि मासाहार प्रत्येक दशा मे, धार्मिक, शारीरिक सभी दृष्टियो से बुरा है। कई लोग कहते हैं कि डॉक्टर ने इनके खाने की सलाह दी है, अगर श्रावक की इच्छाशक्ति प्रबल है तो मास व अडो के खाए बिना ही स्वस्थ हो सकता है और अहिंसाधर्म के पालन की परीक्षा तो सकट काल मे ही होती है।

अत जो भी खाद्य, पेय, वस्त्र, शृ गार प्रसाधन की वस्तुएँ या अन्य चीजें महारम्भ या अधिकारम्भ से निष्पन्न हो, श्रावक को उनका उपयोग करने से परहेज करना चाहिए।

उद्योगी हिंसा स्वरूप, विवेक और विश्लेषण

गृहस्थ मे रहते हुए प्रत्येक श्रावक को अपना, अपने परिवार तथा अपने आश्रितो का पालन-पोषण करने एव उनका निर्वाह करने के लिए जीविकोपार्जन हेतु कुछ न कुछ उद्योग, व्यवसाय, धधा या नौकरी अथवा कर्म करना ही पडता है। राष्ट्रपोषक, समाज-हितकर, आत्म-हितकर सात्त्विक अल्पारम्भी व्यवसाय या जीविका-कर्म करते हुए भी कही न कही स्थूल हिंसा हो जाना स्वाभाविक है। हालाकि श्रावक जो भी

व्यवसाय या धधा करेगा, उसे खूब ही विवेकपूर्वक सावधानी से करेगा, फिर भी लाचारीवश कही हिंसा हो जाय तो वह उद्योगी हिंसा है, और उससे श्रावक का अहिंसाणुव्रत भग नही होता है।

उद्योगी हिंसा का यह मतलब नही है कि श्रावक चाहे जिस धधे को, फिर वह चाहे अनैतिक हो, त्रसजीवो के वध से निष्पन्न हुई चीजो का हो, देश और समाज के लिए हानिकारक हो, ऐसे व्यवसाय भी करने की छूट ले लेगा। वह ऐसे उद्योग व व्यवसाय तो कतई नही करेगा, जिनमे प्रत्यक्ष मे ही हिंसा होती हो, जैसे—मास, मछली, अडे, मुर्गी, खाल, चमडे, हड्डी या कसाईखाना, शराबखाना नशीली चीजो आदि का उद्योग या व्यापार। भगवान महावीर ने कुछ उद्योगो एव व्यवसायो को कर्मादान मे परिगणित किया है, और उन्हे सर्वथा त्याज्य बताया है, श्रावक के लिए। केवल अपने द्वारा ही नही केवल काया से ही नही, अपितु दूसरो से वे व्यवसाय कराने और उन व्यवसायो का अनुमोदन करने का मन, वचन और काया से त्याग की श्रावक से अपेक्षा की है। कर्मादानसज्ञक व्यवसाय इसलिए श्रावक के लिए सर्वथा वर्ज्य बताए है कि उनमे त्रसजीवो की प्राय जानबूझकर हिंसा होती है, स्थावर जीव भी प्रचुर सख्या मे मारे जाते है, नैतिक दृष्टि से भी इनमे से कई व्यवसाय अत्यन्त घृणित एव अनाचरणीय है, राष्ट्र एव समाजहित की दृष्टि से भी कई व्यवसाय घातक है। कई व्यवसायो मे गरीबो का अत्यधिक शोपण और जीवो का पीडन होता है। वे १५ प्रकार के व्यवसाय इस प्रकार है—(१) अगारकर्म—बडे-बडे जगलो को जलाकर लकडियो से कोयले बनाकर उन्हे बेचने का व्यवसाय करना, (२) वनकर्म—बडे-बडे जगलो का ठेका लेकर लकडियाँ कटवाने एव बेचने का धधा, (३) शकटकर्म—गाडी गाडे आदि बनाने-बेचने का व्यवसाय, (४) भाटककर्म—ऊँट, घोड़ा, बैल, गधा, खच्चर आदि पर अति बोझ लादकर उनसे किराया कमाना, (५) स्फोटकर्म—पत्थर आदि फोडने व खान आदि खोदने के लिए सुरग बिछाकर बारूद से फोडना, (६) दन्त-वाणिज्य—हाथी वगैरह के दाँत, नख, केश चमरी गाय के बाल, खाल आदि त्रसजीवो के अगो के बेचने का व्यापार करना। (७) लाक्षावाणिज्य—लाख, पैनसिल आदि का व्यापार करना, (८) रसवाणिज्य—मदिरा, मधु, चर्बी आदि बेचने का व्यवसाय करना, (९) केशवाणिज्य—केश वाली दासियो तथा अन्य द्विपद, चतुष्पद पशुपक्षी को बेचने का धधा करना, (१०) विषवाणिज्य—विप, शस्त्र आदि प्राणघातक वस्तुओ को बेचने का व्यापार करना, (११) यत्रपीडनकर्म—बडे-बडे यत्रो से तिल, गन्ना, सरसो, एरड आदि पीलने का व्यवसाय करना, (१२) निर्लाञ्छन कर्म—जानवरो को बधिया करना, दाग देना, नाक बीधना आदि अगछेदन का व्यवसाय करना, (१३) असतीपोषण कर्म—कुलटा स्त्रियो को रखकर उनके द्वारा धन कमाना, किसी दास-दासी को खरीदने-बेचने का धधा करना, (१४) दवदावकर्म—जगल मे आग लगाकर जलाने का धधा करना, (१५) सरद्रहतडाग शोपण कर्म—तालाब, झील, सरोवर आदि सुखाने का धधा करना।

ये १५ कर्मादान (पापकर्म के स्रोत) विशेष हिंसाकारी, महारम्भी धधे हैं, श्रावक के लिए ये सर्वथा त्याज्य हैं। पन्द्रह कर्मादान सकल्पी हिंसा मे ही नही, औद्योगिकी हिंसा मे प्रतीत होते हैं, परन्तु जो उद्योगिनी हिंसा मानव को सकल्पजा हिंसा की ओर प्रेरित करती हो, वह श्रावक की अहिंसा की मर्यादा मे नही है।

जीवन मे हिंसा तो अनिवार्य है, आजीविका के क्षेत्र मे भी उससे पूरी तरह बचा नही जा सकता। जीवन सघर्ष मे श्रावक के कृषि आदि जो व्यापार चल रहे हैं, उनमें हिंसा नही है यह कहना तो यथार्थ नही है। उद्योग-धधो मे भी विवेक होना चाहिए, अन्यथा अविवेक के कारण उद्योगिनी हिंसा भी महारम्भी बन सकती है। शास्त्र मे महारम्भ को नरक का द्वार बतलाया है। इसलिए श्रावक को अपने प्रत्येक आजीविका के कार्य को बुद्धि की तुला पर तोलना चाहिए कि मैं जो व्यवसाय करता हूँ, वह महारम्भ है, अधिकारम्भ है या अल्पारम्भ ? अगर अल्पारम्भ है तो, उसकी शर्त यह है कि वह व्यापार समाजसेवार्थ होना चाहिए। जिस व्यापार से राष्ट्र या समाज का अहित होता हो, जो दुर्व्यसनप्रसारक हो, त्रसजीवो की जिसमे प्रत्यक्ष हिंसा होती हो, वह बाहर से चाहे जितना रमणीय हो, या तो अधिकारम्भ है, या महारम्भ है।

कोई यहाँ कह सकता है कि हिंसा की दृष्टि से अगर कोई उद्योग चुनना हो तो सट्टा, जुआ या ब्याजबट्टे का धधा ठीक है, क्योकि सट्टे मे कोई जीव हिंसा नही होती, जुए मे या हाजिर माल का सौदा करने मे कोई जीव हिंसा नही होती, केवल जबान से सौदा करना है या वादा करना है। इसी तरह ब्याज बट्टे के धधे मे भी कोई माल उठाना-पटकना नही है, इसलिए जीव हिंसा से कोई वास्ता नही है, किन्तु आप गहराई मे उतरकर देखेंगे तो सट्टा या जुआ, या सौदा-वादा करने मे भले ही जबान हिलाने का कार्म हो, किन्तु सट्टे जुए मे कमाई हो जाती है तो व्यक्ति उस समय खर्च करने मे भान भूलकर प्राय ऐश-आराम मे ही खर्च कर डालता है, और जब बहुत ज्यादा चले जाते है, तब आर्त्तध्यान करना पडता है। प्राय सट्टे जुए वाले का चित्त रात-दिन उसी उधेडबुन मे रहता है, वह आर्त्तध्यान से ग्रस्त रहता है, धर्म-ध्यान करने की वहाँ गुजाइश ही कहाँ ? आर्त्तध्यान मानसिक हिंसा का स्रोत है, सट्टा लोभवृत्ति का परिवर्द्धक होने से व्यक्ति मुफ्त की कमाई से अभ्यस्त हो जाता है, न्याय-नीति से परिश्रम करके कमाने की वृत्ति से दूर हो जाता है। फिर सटोरिये कई बार अत्यन्त चिन्ताग्रस्त होकर अपनी इज्जत बचाने के लिए आत्महत्या तक कर बैठते है। ऐसे कई उदाहरण सुनने मे आए हैं। ब्याज का धधा भी शोषण वृत्ति का नमूना है। लोभवश ब्याजखोर व्यक्ति प्राय बहुत ऊँचे दर के ब्याज से रुपया देता है। जिन गरीबो को अपना कामधधा चलाने के लिए रुपयो की जरूरत होती है, उन्हे अव्वल तो ऐसे ब्याज कमाने वाले देने से इन्कार कर देते हैं, अगर देंगे तो भी धनवान् को सस्ते दर के ब्याज से रुपया देंगे, जबकि उस गरीब को बहुत ऊँचा दर बतायेंगे ब्याज का। इस प्रकार ब्याज कमाने वाले मे मानवदया समाप्त हो जाती है। उसका

लक्ष्य एकमात्र अधिकाधिक धन कमाना होता है। जनता की या जरूरतमद व्यक्ति की सेवा करने या उस पर दया करने की वृत्ति प्राय नही होती इसलिए व्याज की जीविका शोषण और कठोरता की सूचक है। श्रावक के लिए ये धधे द्रव्यहिंसाजनक न होते हुए भी भावहिंसाजनक है, तथा दूसरे को इरादेपूर्वक चूसने की वृत्ति होती है, इसलिए त्याज्य हैं।

इसी प्रकार श्रावक के द्वारा वेश्यालय या अनैतिक जीविका का संस्थान खोलना तो वह भी नीतिविरुद्ध, धर्मविरुद्ध होने से घोर हिंसाजनक और त्याज्य है।

वर्ण-व्यवस्था विभिन्न उद्योग-धन्धो के लिए

युगादि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के युग मे जब नये समाज की स्थापना हुई, तब जो तीन वर्ण बने थे, क्योकि ब्राह्मण वर्ण की सस्थापना सम्राट् भरत ने की थी, उनके पीछे उद्देश्य यह था कि एक ही धन्धा एक व्यक्ति करे जिससे समाज मे व्यवसाय का सन्तुलन बना रहे, व्यक्ति अति लोभ मे न पडकर अपने जीवन को अनीति, अन्याय की राह पर चलने से बचाए। चार वर्ण उद्योग-धन्धो या व्यवसायो अथवा आजीविका के लिए कर्तव्यो का वर्गीकरण करने हेतु बनाए गए थे, वे कोई ऊँच-नीच या छुआछूत के भेद डालकर आपस मे लडने-भिडने के लिए नही बनाए गए थे। चारो ही वर्णो के कार्य (कर्म) अपने-अपने स्थान पर उचित थे, नियत कर दिये गये थे। बल्कि बाद मे इसमे सन्तुलन रखने के लिए मनुस्मृति मे यह भी विधान कर दिया गया था कि जो एक वर्ण के योग्य कर्तव्य कर्मो को छोडकर दूसरे वर्ण के भी कर्तव्य कर्मो को करने लग जाता है, वह वर्णशकर होने से राजा द्वारा दण्डनीय है।

निष्कर्ष यह है कि चारो वर्ण अपने-अपने नियत कर्तव्य कर्मो को सम्पन्न करते हुए समाज की विविध प्रकार से सेवा करे। प्रत्येक व्यक्ति सब काम कर नही सकता, ऐसी स्थिति मे कोई समाज को शुद्ध चिन्तन और जीवन मे नीति और धर्म का सुन्दर उपदेश देकर समाज को शिक्षित करके समाज की सेवा करता था, कोई निर्बलो की सबलो से रक्षा करके एव न्याय दिलाकर सेवा करता था, कोई वर्ण समाज को विविध वस्तुएँ मुहैया करके बदले मे थोडा-सा उचित पारिश्रमिक लेकर समाज की सेवा करता था और कोई विविध प्रकार के हुनर, शिल्प, दस्तकारी, सफाई आदि मे लग कर समाज की सेवा करता था। इस प्रकार चारो वर्ण क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाए।

यदि ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति श्रावक है और वह चारो ही वर्णो को समभाव से निष्पक्ष होकर शिक्षा नही देता, नीति, न्याय, धर्म और कर्तव्य का शुद्ध चिन्तन सबको नही देता, परस्पर भेदभाव करता है, धर्मशास्त्रो को पढने या सुनने से किसी को रोकता है तो यह भेदभाव घृणामूलक, द्वेषवर्द्धक एव अपमानजनक होने से सकल्पी (भाव) हिंसा हो जाएगी, फिर वह उद्योगी हिंसा (अपने व्यवसाय मे लाचारीवश होने वाली) नही रहेगी।

दिया है। जैन श्रावक खेमाशाह देदराणी ने बादशाह मोहम्मद बेगडा के राज्यकाल मे जब गुजरात मे भयकर दुष्काल पडा तो एक साल तक सारे गुजरात को अपनी ओर से अन्न देने का बीडा उठाया था। कृषि व्यवसाय के पीछे खेमाशाह की भावना केवल अपना और परिवार का ही स्वार्थ नही था और न धन बटोर-बटोरकर रखने की लालसा थी। समय आने पर उसने अपना अन्न भडार सारे गुजरात के लिए खोल दिया।

भामाशाह ने वैश्य होते हुए भी महाराणा प्रताप के मन्त्रित्व (क्षत्रिय) का कर्तव्य निभाया और जब देखा कि मेवाड सकट मे है, मेवाडाधीश राणा मेवाड प्रदेश छोडकर अन्यत्र जा रहे है। स्वतन्त्रता सकट मे है, तब भामाशाह ने अपना सर्वस्व धन मेवाड की स्वतन्त्रता के लिए महाराणा प्रताप के चरणो मे प्रस्तुत कर दिया।

परन्तु वर्तमान व्यापारी वर्ग की मनोवृत्ति चाहे जिस व्यवसाय से, चाहे जिस रूप मे, नीति-अनीति चाहे जिस तरह से धन कमाने की बन गई। व्यापारी वर्ग मे दया, सेवा, करुणा और आत्मीयता समाज एव राष्ट्र के प्रति अत्यन्त क्षीण हो गई है।

बगाल मे जिस समय भयकर दुष्काल की छाया पकी हुई थी, लोग त्राहि-त्राहि करते थे। सर्वत्र हाहाकार मच गया था। अन्न के जूठे दानो पर कुत्ते और मनुष्य एक साथ झपटते थे। उस समय एक व्यापारी के विषय मे हमने सुना कि उसके पास चावलो का बहुत अधिक सग्रह था। उसकी नीयत थी, कि भाव बहुत ऊँचे हो जायेंगे, तभी चावल बेचा जाएगा। इधर लोग भूखो मर रहे है, इसकी उसे कोई चिन्ता नही थी, न दया भावना थी। मुनीमो ने जब उससे कहा—तीस रुपये मन चावलो का भाव हो गया है, बेच दें? तो उसने इन्कार कर दिया। फिर चालीस, पचास, साठ और सत्तर रुपये मन तक भाव चढ गया तो भी सेठ के मन मे बेचने की भावना नही हुई। प्रत्युत मन्दिर मे घी के दिए जलाने व गौशाला मे गायो को घास डलवाने का धर्मात्मापन का नाटक किया। ऐसी घोर क्रूरता और निर्दयता से धनाढ्य बनकर यदि कोई कुछ दान कर देता है तो क्या उसका वह भयकर भावहिंसा-सकल्पी हिंसा का पाप धुल सकता है? कदापि नही यह तो अपने पापो पर पर्दा डालना है।

और शूद्र वर्ण? उसको तो पहले से ही दबाया और सताया गया, उसके प्रति घृणा की दुर्भावना भरी गई, वह आगे बढ जाय, त्याग, तप, वैराग्य मे तो उसको मारा-पीटा गया, जान से मार डाला गया। उसके पढने-लिखने और विकास करने के सर्वाधिकार छीन लिए गए। विकास करने और सुसस्कारो को पनपाने का उसे मौका ही नही दिया गया। सेवा के सुसस्कार भी उसका बौद्धिक विकास न होने के कारण उखडते गए। मन मसोस कर दबे मन से वह सेवा करता जा रहा था। उसको पूर्व जन्म के अशुभ कर्मो का फल बतला कर पिछडा रखा गया। पूर्वजन्म के अशुभ कर्मो का तो तब पता लगता, जबकि उसे शिक्षा, हुनर, कला आदि का प्रशिक्षण दिया जाता

और तब वह सर्वमान्य । उसकी अनिवार्यता में सन्देह न किया जाता । इस प्रकार जन्मगत किया ... गया । भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध का ध्यान इस ओर गया । उन्होंने अपने संघों में उपासक और साधु दोनों में शिल्प में, शूद्र व चाण्डाल को स्थान दिया, सभी भावना वाले का समान अधिकार दिया, विकास के लिए, कल्याण के लिए सबको समान रूप से प्रव्रज्या, प्रतिक्रमण और समर्पण किया । यही कारण है कि भगवान् महावीर के संघ में अर्जुनमाली, हरिकेशबल चाण्डाल, शकडाल कुम्भकार, मेतार्य मेहतर आदि अनेक लोगों ने गृहस्थाश्रम तथा साधु-जीवन भी स्वीकार किया, आत्मविकास किया और मोक्ष के अधिकारी बने ।

आज कोई शूद्र वर्णीय व्यक्ति समाज में किसी भावना से श्रावक पद पर है तो वह अपना नियत व्यवसाय प्रामाणिकतापूर्वक करता है । सबरी सफाई का काम करती थी, लेकिन उस सफाई को वह प्रभुभक्ति व भगवान राम का कार्य समझ कर करती थी । इसी प्रकार वर्तमान में विविध सेवाएँ करने वाले लोग—अपना उचित पारिश्रमिक लेकर करने से समाज सेवा करने की भावना रखें तो ऐसा करने में उनके आवश्यक का भी पालन होगा, जीवन में सुख-शान्ति भी रहेगी और आत्म-विकास भी हो सकेगा ।

आज तो चारों वर्णों की जो व्यवस्था मध्य युग में जन्म से मानी जाने लगी थी, अब वह खण्डित और अव्यवस्थित हो गई है । आज तो एक हरिजन भी ब्राह्मण की तरह अध्यापन का कार्य कर सकता है, सेना में भर्ती होकर क्षत्रिय का कार्य भी कर सकता है, कोई कारखाना या दूकान लगाकर वैश्य का काम कर सकता है, भाता की तरह सफाई के पवित्र काम को छोडकर अन्य सेवाकार्य भी कर सकता है । ब्राह्मण के घर मे जन्म लेने वाला व्यापार-धन्धा करके खेती कर सकता है, फौज मे भर्ती होकर क्षत्रिय का कार्य करता है, या न्यायाधीश का काम कर सकता है । लकडी का सामान बनाने का कारखाना खोलकर बढई (शूद्रवर्ण) का काम कर सकता है । शासन भी चला सकता है । वैश्य भी इसी प्रकार चारो ही वर्णों के काम कर सकता है । यो तो इस मोनोपोली के टूट जाने मे उच्चता का अहकार टूटा है । लेकिन किसी भी व्यवसाय को राष्ट्रहित, समाज-कल्याण, समाज-सेवा या पारिवारिक प्रतिष्ठा तथा नैतिकता की तुला पर तोलकर चुनने का विवेक इस समय चारो ही तथाकथित वर्णो मे नही आया है ।

जैन धर्म का सारे ससार के लिए यही सन्देश है कि—ससार के सभी मनुष्य समान हैं, चाहे वे किसी देश, प्रान्त, जाति, धर्म और सस्कृति मे पैदा हुए हो, मनुष्य के रूप मे एक है । उनकी जाति और वर्ण मूलत एक है । विभिन्न जातियो और वर्णो की रचना—विभिन्न प्रकार की योग्यता, रुचि और उद्योग-धधो को लेकर हुई है । आखिर मनुष्य को अपनी जिंदगी गुजारनी है, तथा अपने परिवार, समाज एव राष्ट्र आदि के प्रति कर्तव्यो को निभाना है तो कोई न कोई उपयोगी धधा करना ही पडेगा, कोई

कपडे, अनाज या अन्य चीजो का व्यापार करता है, कोई खेती करता है, कोई गो-पालन तो कोई न्याय और सुरक्षा दिलाने के लिए पुरुषार्थ करता है, कोई कपडा बनाने, कोई कागज बनाने कोई कुछ बनाने और कोई कही किसी सरकारी दफ्तर या दूकान वगैरह मे नौकरी कर लेता है। जैनधर्म किसी भी जनसेवा की दृष्टि से किये जाने वाले व्यवसाय को छोटा-बडा, ऊँचा-नीचा या अपवित्र-पवित्र नही बताता। वह तो एक ही दृष्टि देता है—कर्मादान जैसे महारम्भी धधो के सिवाय कोई भी सात्त्विक अल्पारम्भी धधा हो, लेकिन उसके पीछे आपकी दृष्टि दूसरो को लूटने, शोषण करने, बेईमानी करने, राष्ट्र की करचोरी करने, तस्करी करने, मिलावट और धोखेबाजी करने, समाज और राष्ट्र के प्रति द्रोह करने की न हो। ऐसा हुआ तब तो कोई भी व्यवसाय छोटे पैमाने पर शुरु किया हो या विशाल पैमाने पर किया हो, उस व्यवसाय मे लाचारी वश होने वाली हिंसा उद्योगी के खाने मे जाएगी, किन्तु यदि उपर्युक्त बुराइयाँ श्रावक के व्यवसाय के पीछे है, तो कोई भी व्यवसाय हो, चाहे छोटा ही हो, सकल्पी हिंसा के अन्तर्गत ही आएगा।

कौन-सा व्यवसाय आर्य, कौन-सा अनार्य ?

आर्यकर्म और अनार्यकर्म के सम्बन्ध मे भी समाज मे बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैली हुई है। ब्राह्मणो और क्षत्रियो के कर्मों (धधो) को आर्यकर्म कहा जाता है, और शूद्रो के धधो (सफाई, शिल्प, कला, हुनर आदि) को अनार्यकर्म कहा जाता है। फिर उनके पीछे पवित्रता और अपवित्रता के कल्पित भाव बना लिए गए है। अमुक जाति पवित्र है, अमुक अपवित्र है। अमुक धधा पवित्र है, अमुक अपवित्र है। किन्तु एक बात निश्चित समझ लीजिए कि पवित्रता और अपवित्रता का या आर्यकर्म अनार्यकर्म का सम्बन्ध किसी वर्ण या जाति के साथ नही है। किसी वर्ण ने ही पवित्रता का ठेका नही ले लिया है और न किसी जाति के हाथ मे ही आर्यकर्म का एकाधिकार है।

जैनधर्म के तीर्थंकरो या आचार्यो ने पवित्रता-अपवित्रता या आर्य-अनार्यकर्म की कुछ कसौटियाँ बता दी है, उन कसौटियो पर कसकर कोई भी व्यक्ति निर्णय कर सकता है कि यह कर्म पवित्र है या अपवित्र ? आर्य है या अनार्य ?

आर्य-अनार्य कर्म का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र मे मिलता है। वहाँ यही बताया गया है—जो निन्दित, घृणित, नीतिविरुद्ध, समाजघातक, राष्ट्रघातक व्यवसाय या कर्म है, वे अनार्यकर्म है। इसके उपरान्त जो कर्म महारम्भ वाले है, जिनमे अनापसनाप हिंसा होती है, त्रसजीवो का वध होता है, स्थावर जीव भी प्रचुर सख्या मे हनन किये जाते है जिन व्यवसायो मे ठगी, शोषण, अन्याय अत्याचार होते हो, ये सब अनार्यकर्म है, चाहे वह शिक्षक का व्यवसाय हो, न्यायाधीश का हो, सैनिक का हो, चाहे किसी भी उद्योग-धन्धे का क्यो न हो। ऐसे धन्धे जो बाहर से पवित्र-से प्रतीत होते है, किन्तु उनमे भी भ्रष्टाचार अन्याय-अनीति, शोषण आदि अपवित्रताएँ घुसते ही अपवित्र और अनार्यकर्म हो जाते है। तत्त्वार्थसूत्र[illegible] आचार्य

बडी हिंसा जीवन के चारो ओर व्याप्त है। श्रावक की भूमिका पर आरूढ व्यक्ति को उसी मे से अपना मार्ग चुनना है, और देखना है कि आत्मा और शरीर दोनो को आघात न पहुँचे, न आत्मा का हनन हो, न शरीर का, दोनो को एक साथ खुराक दी जा सके।

शरीर की खुराक के लिए रोजी और रोटी दो माध्यम है। इन दोनो तक पहुँचने के लिए दो रास्ते है। एक रास्ता वह है, जिस पर चलने के लिए महारम्भ के द्वार से गुजरना पडता है। दूसरो को चूसकर, आघात पहुँचा कर, खून से हाथ रग कर रोजी और रोटी प्राप्त करने मे हिंसा का नगा नृत्य दिखाई देता है। दूसरा पथ है—गृहस्थ की मर्यादा मे अहिंसा का, जिसके अनुसार अल्प-हिंसा से, विवेक, विचार यत्नाचार के साथ चलकर रोजी और रोटी प्राप्त की जाती है, किसी का शोषण, अन्याय, अत्याचार या हनन नही करना पडता। सचमुच उस रोजी और रोटी मे आनन्द आता है जो स्वय न्याय-नीतिपूर्वक पुरुषार्थ करके प्राप्त की गई हो। जहाँ दूसरो के आनन्द पर डाका डाला जाता है, वहाँ तो स्वय के और दूसरो के आनन्द की ही समाप्ति हो जाती है। जहाँ दूसरो का शोषण करके, दूसरो पर अन्याय-अत्याचार करके धोखेबाजी से रोटी और रोजी कमाई जाती हो, वहाँ पर हिंसा उद्योगिनी न होकर सकल्पी बन जाती है।

गृहस्थ श्रावक के लिए यह बहुत ही दुष्कर है कि खेतीबाडी, व्यापार-धन्धे या नौकरी आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ है, उन सबको बन्द करके जीवन के पथ पर चले। भगवान महावीर के आनन्द, कामदेव आदि दस मुख्य आदर्श उपासक थे। उन्होंने खेतीबाडी, गोपालन या व्यापार-धन्धा आदि व्रती श्रावक की भूमिका मे नही छोडे। अकर्मण्य और आलसी बनकर बैठ जाने से या सशक्त और स्वस्थ होते हुए भी आजीविका के कार्य की अपनी जिम्मेवारी दूसरो पर डाल देने मात्र से गृहस्थ आरम्भ से छूट नही सकता, बल्कि अकारण ही घरवालो से रुष्ट होकर, या अबोध बालको पर जिम्मेवारी डालकर निठल्ला बनकर बैठ जाने से कदाचित् शरीर की चेष्टाएँ बन्द हो जायँ, पर मन की दूकानदारी तो बन्द नही हो सकती। वह तो निरन्तर कषायो की सडक पर सरपट दौडता रहेगा। ऐसी स्थिति मे जैनधर्म व्रती श्रावक से कहता है—

आजीविका के लिए सात्त्विक प्रवृत्तियाँ भले ही हो, पर उनमे जो विष का पुट है, उसे हटा दो। प्रवृत्तियो के पीछे क्षुद्र स्वार्थ, आसक्ति और मोह, लोभ और तृष्णा की जो विषाक्त वृत्तियाँ है, उन्हे निकाल दो। तुम कोई भी व्यवसाय करो, नौकरी करो, कृषिकर्म आदि धन्धा करो, परन्तु उनमे अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति न करो, उनमे से अज्ञान और अविवेक का जहर निकाल दो, अपने उत्पादित अन्न को ऊँचे दामो मे बेचने के लिए दुष्काल पडने की दुर्भावना मत करो, अपनी दुकान के माल के भावो मे तेजी आ जाने के लिए युद्ध छिड जाने का दुर्विकल्प मत करो, बल्कि ऐसे आकस्मिक सकट के समय दूसरो के जीवन-निर्वाह मे सहायक बनने की करुणामयी

उस प्राणी ने किसी का अपराध किया हो, उसको लेकर उस प्राणी को अपराधी समझ लेना भूल है। और विशेष भ्रान्ति तो तब होती है, जब उस सारी जाति को ही अपराधी, विरोधी या शत्रु मान लेता है। मान लो, किसी साप ने कभी किसी को काटा हो, जबकि उस व्यक्ति ने साप को छेडा हो, अब उस बात को वर्षों हो गए, वह साँप भी पता नही कहाँ चला गया, परन्तु भ्रान्त मनुष्य किसी भी साप को देखते ही उसे अपना अपराधी या शत्रु मान बैठता है और सारी सर्प जाति को समाप्त कर देने की दुष्ट भावना करता है तो बहुत ही भयकर भूल है। इसलिए श्रावक को सर्वप्रथम तो भूतकाल के किसी दूसरे के अपराधी को स्वय का अपराधी नही मानना चाहिए। दूसरे, सर्प, बिच्छू या सिंह, चीते आदि को देखते ही उसे अपराधी नही मान लेना चाहिए। तीसरे, किसी भी हिंस्र जानवर को देखते ही उसे मारने की भावना नही करनी चाहिए कि भविष्य मे यह किसी को मारेगा, इसलिए अपराधी है ? वास्तव मे अपराधी और निरपराधी को परखने की कुशलता सर्वप्रथम श्रावक मे होनी चाहिए।

किसी सुन्दर स्त्री को पाने मे दूसरा बाधक बना, अपने अन्याय, अत्याचार और बेईमानी को रोकने का किसी ने प्रयत्न किया, अपने दुर्व्यसनो को किसी ने छुडाने के लिए जी-तोड प्रयत्न किए, अपनी गलतियो को सुझाने और बतलाने का किसी ने प्रयत्न किया, अपने गलत कामो, अविनय और अनुशासनहीनता, अनैतिकता या हिंसावृत्ति के खिलाफ किसी ने रोकटोक की, किसी ने दूसरे का राज्य हडपने के प्रयत्न का विरोध किया, उसे विरोधी या अपराधी समझना ही भूल होगी। बल्कि ऐसे व्यक्ति को, जो आपका सुधार चाहता है, आपके जीवन का विकास चाहता है, अपना उपकारी और आत्मीय समझना चाहिए। पर आजकल जो व्यक्ति भ्रष्टाचार, अन्याय, अनीति, अधर्मकृत्य या किसी गलती के विरोध मे आवाज उठाता है, उसे विरोधी समझकर खत्म करने का प्रयत्न किया जाता है। विद्यार्थी परीक्षा मे नकल करता है, निरीक्षक महोदय उसे रोकते है, मना करते है, परन्तु विद्यार्थी निरीक्षक को अपना शत्रु समझकर मार-पीट देता है। श्रावक को विरोधी और अपराधी को समझने मे ऐसी आत्मघातक भयकर भ्रान्तियो का शिकार नही बनना चाहिए। कई लोग, जिनमे विचारक और धर्मात्मा कहलाने वाले धर्म-धुरन्धर साधक भी है, दूसरे धर्म-सम्प्रदाय, पथ, मत, जाति, वर्ण, सस्कृति, प्रान्त, भाषा या राष्ट्र को तथा उससे सम्बन्धित स्त्री-पुरुषो को सबको अपना विरोधी, शत्रु, काफिर या बैरी मान बैठते है, उनके उत्कर्ष को सहन नही कर सकते, द्वेषवश वे उस माने हुए विरोधी को नीचा दिखाने, उसे हानि पहुँचाने और यहाँ तक कि उसे मार डालने तक का प्रयत्न करते है। भारत एव यूरोप का इतिहास धर्म के नाम पर किये जाने वाले युद्धो, सघर्षो और मारकाट से भरा है। धर्म, जाति राष्ट्र आदि के नाम पर ऐसी भयकर सकल्पी हिंसा, पाप एव अधर्म अहिंसा और धर्म के आवरण मे हुई है। विचारक मानवो की अन्तश्चेतना भी इस पापवृत्ति के खिलाफ कुण्ठित हो गई। ये सब सघर्ष या युद्ध वस्तुत अपने अहकार एव अस्मिता के पोषण के लिए लडे गए हैं। अत श्रावक को

ऐसी भयकर सकल्पी हिंसा को विरोधी हिंसा मानने की भूल कदापि नही करनी चाहिए।

यथार्थ मे जो अपराधी है, उसे ही विरोधी समझना चाहिए और विरोधी का प्रतिकार श्रावक किस हद तक और किस क्रम मे कर सकता है? यह सोचने की बात है। श्रावक के सामने आदर्श तो यह है कि किसी भी स्थूल (त्रस) जीव की हिंसा न की जाय। परन्तु आदर्श, आदर्श है, वह व्यवहार मे कब, कैसे, कहाँ और कितना उतरता है, यह गम्भीरतया विचारणीय है। आदर्श को व्यवहार मे उतारने के लिए यह भी विचार करना आवश्यक हो जाता है कि किस स्थिति का व्यक्ति उस आदर्श को जीवन मे व्यक्तिगत रूप मे कितना उतार सकता है, यह उसकी अपनी देशकाल की परिस्थिति, क्षमता, अन्त स्फुरणा, नैतिक आत्मशक्ति आदि पर निर्भर है। दशवैकालिक सूत्र मे इस सम्बन्ध मे स्पष्ट मार्गदर्शन दिया गया है—

> बल थाम च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
> खेत्त काल च विन्नाय, तहप्पाण निउजए॥

—किसी भी व्रत-नियम का साधक अपनी शक्ति, उत्साह, श्रद्धा और स्वास्थ्य को देख कर, तथा क्षेत्र और काल को विशेष रूप मे जानकर तभी उसमे अपने आपको जुटा दे।

यह नही भूल जाना चाहिए कि व्यक्ति अकेला हो, उस पर राष्ट्र, परिवार एव समाज की रक्षा की कोई जिम्मेदारी न हो तो अपने आपको वह विरोधी—अपराधी के सामने अहिंसा के उच्च आदर्श के लिए न्यौछावर कर सकता है, प्रतिफल की कुछ भी कामना किये बिना। किन्तु सारे परिवार, समग्र समाज और राष्ट्र से तो ऐसी आशा नही की जा सकती। और न ही ऐसा अग्रगण्य व्यक्ति समग्र परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए अहिंसा के उच्च आदर्श के पालन का निर्णय दे सकता है। क्योकि ऐसे युद्ध आदि के सकट के समय प्रत्येक व्यक्ति अपने और अपने से सम्बन्धित जनसमूह की सुरक्षा चाहता है, फिर भले ही वह किसी भी उपाय से उपलब्ध हो।

मान लीजिए, आक्रामक, आततायी, दुष्ट या अत्यन्त दुर्जन है, उस पर अहिंसात्मक प्रतिकार का कोई प्रभाव नही होता। आक्रामक देश को लूटता है, वहाँ की सभ्यता और सस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करता है, निर्दोष प्रजाजनो को सताता है, बहन बेटियो की इज्जत पर हमला करता है, ऐसी स्थिति मे अगर कोई श्रावक राजा या शासक है, श्रावक प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति है तो राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति के लिए क्या उपाय नही करेगा?

अधिक शक्ति अहिंसा मे या हिंसा मे?

साधारणतया आम लोगो की धारणा यह बन गई है कि अहिंसा मे कोई शक्ति नही है, जो कुछ शक्ति है, वह हिंसा मे है। हिंसा से ही शक्ति-सतुलन हो

सकता है, हिंसा से ही क्रान्ति हो सकती है। इसलिए कुछ लोग यह भी कह देते है कि जैनो की अहिंसा के कारण भारत मे कायरता और दुर्बलता आई, भारत पराधीन हुआ। अमुक व्यक्ति ने अहिंसा का मार्ग चुना, इसलिए वह पिछड गया, हिंसा करने वाला आगे बढ गया। वैसे भौतिक दृष्टि वाले लोगो की नजरो मे आगे बढने का अर्थ है—वैभव पा लेना, सत्ता हथिया लेना और अकरणीय कार्य सफल हो जाना। परन्तु विचार करने पर ये सब धारणाएँ भ्रान्त ही प्रतीत होगी। वास्तव मे शरीर एव शस्त्र-अस्त्र आदि बाह्य पदार्थो मे ही हमने शक्ति को सीमित कर दिया है। हिंसा पशुबल की परिचायिका है। वह भौतिक पाशविक व शक्ति है। हिंसा की शक्ति भले हिंसक के हाथ मे रहे, अहिंसा को इस पाशविक शक्ति की आवश्यकता नही, क्योकि उसमे शारीरिक बल प्रयोग की आवश्यकता नही रहती। यह क्यो मान लिया जाता है कि अहिंसा मे शक्ति नही है। अहिंसक शक्तिशून्य ही होता है। अहिंसा आत्मा का गुण है, इसलिए अहिंसा अपने आप मे आत्मा की शक्ति है। अहिंसा की आत्म-शक्ति के सामने हिंसा की पाशविक या भौतिक शक्ति की सदा पराजय हुई है। अहिंसक के पास जो नैतिक शक्ति है, वह हिंसक के पास हो नही सकती। हिंसा से प्रतिहिंसा की परम्परा चलती है, जबकि अहिंसा से प्रेम की परम्परा।

हिंसा मे बहुधा क्षणिक सफलताएँ मिलती है, श्मशान की-सी शान्ति हिंसा के द्वारा हो जाती है, परन्तु वह शान्ति स्थायी नही होती, सशक्त होते ही मनुष्य हिंसक रूप से उसकी प्रतिक्रिया करता है। उससे अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। फिर हिंसा अव्यावहारिक भी है। किसी की आँख निकालने के बदले आँख निकालने की परम्परा का कही अन्त नही है। एक दिन सभी अन्धे हो जाएँगे। यह तरीका अनैतिक है। क्योकि नीचे उतरते-उतरते अन्त मे सभी का विनाश हो जाता है। गलत भी है, क्योकि हिंसा मे विरोधी को परिवर्तित करने के बजाय, उसका सफाया कर देने का प्रयत्न होता है।

प्रश्न होता है, जब अहिंसा मे हिंसा से बढकर शक्ति है, जिससे समग्र विश्व पर नियत्रण किया जा सकता है, अहिंसक के सामने विरोधी भी आत्म-समर्पण के लिए विवश हो जाता है, तब अहिंसा की शक्ति का जगत् को एव राष्ट्र के विविध मावाताओ को प्रत्यक्ष परिचय क्यो नही हो जाता ? इसका कारण यह है कि अहिंसा मे हिंसा से अधिक शक्ति होते हुए भी सही माने मे अहिंसा मे निष्ठा रखने वाले कम है, जितनी निष्ठा से अहिंसा का प्रयोग किया जाएगा, उतना ही अधिक उसकी शक्ति का पता लगेगा। अहिंसा की असीमता और अजेयता के गीत गाने की सतही अहिंसा गहराई मे रही हुई हिंसा से निस्तेज हो जाती है। क्योकि मात्र सैद्धान्तिक अहिंसा मे प्रकट शक्ति नही होती, प्रकट शक्ति होती है, प्रायोगिक अहिंसा मे। और वह अहिंसा आती है, अन्तर्वृत्तियो के व्यूह को भेदकर। अहिंसा के अस्त्र की शक्ति अन्तर्निहित होने पर ही उसकी शक्ति का अदाजा लोग लगा सकते है।

कई लोग अहिंसा की शक्ति पर निष्ठा न रखने वालों के व्यवहारों को देखकर कह दिया करते हैं—अहिंसा कायरों का धर्म है। अहिंसा मनुष्य को बुजदिल और कायर बनाती है। उसका सहारा लेकर मनुष्य अन्याय-अत्याचार का कोई प्रतिकार न करके चुपचाप बैठ जाता है। परन्तु यह अहिंसा का स्वरूप न समझने और उसकी शक्ति प्रगट न देखने के कारण अज्ञानजनित कथन है। अहिंसा कायर बनाती है या कायरों की है, यह बात वे ही कहते हैं, जो अहिंसा के वास्तविक गुणों को नहीं जानते। वीरशिरोमणि ही अहिंसा का धारण एवं पालन कर सकता है। कायर अहिंसावादी नहीं कहला सकते। अहिंसा और कायरता ये दोनो अलग-अलग चीजें हैं। अपनी बहन-बेटी का किसी अत्याचारी पुरुष द्वारा शीलहरण करते देखकर या अपने पर आक्रमण होते देखकर कोई व्यक्ति चुपचाप यह कहकर या सोचकर बैठ जाता है कि मैं तो अहिंसक हूँ, मैं इसका प्रतिकार कैसे कर सकता हूँ, क्योंकि प्रतिकार करने मे किसी न किसी प्रकार की हिंसा होने की सम्भावना है, अहिंसा नहीं, कायरता है। यह विचार अहिंसा की ओट मे कायरता है, मानसिक दौर्बल्य है। इस प्रकार की निर्वीर्यता अहिंसा नहीं है। चूहा अगर यह कहे कि मैं तो बिल्ली का सामना नहीं करता, क्योंकि मैं अहिंसक हूँ, और चुपचाप भागकर बिल मे छिप जाता है तो कौन विश्वास करेगा कि चूहा अहिंसाधर्मी है। सभी चूहे को कायर कहेंगे। यही बात तथाकथित अहिंसक के बारे मे समझ लीजिए। कायरता धारण करके बैठनेवाला हृदय मे तो जलता और कुढता रहता है, बाहर से सन्तोष या सहमति का वरण कर लेता है, हिंसक व अत्याचारी के सामने घुटने टेक देता है, कभी भाग्य मे ऐसा ही बदा है, यों मन को झूठ-मूठ समझा लेता है। बहुत-से जैन लोग इसी भ्रान्ति के कारण कर्तव्य मे पराङ्मुख हो जाते हैं और कायरता को ही अहिंसा मान बैठते हैं। इसी कारण दूसरे लोगों को जैनो की अहिंसा का उपहास करने का मौका मिलता है।

बलिदान और उत्सर्ग या स्वार्पण के बिना अहिंसा जीवित नहीं रह सकती, और न ही अहिंसा की अप्रतिहत शक्ति प्रकट हो सकती है। यदि माता बच्चे के लिए अपना बलिदान और स्वार्पण देकर अहिंसा को प्रगट न करे तो स्नेहपूर्ण वात्सल्य का आविर्भाव कैसे हो सकता है? अहिंसा क्षात्रवृत्ति मे है। वीरोचित अहिंसावृत्ति इसीलिए मँहगी है कि इसमें खुद को मिटाकर—बलिदान करके हिंसा का विरोध करना पडता है। इसके विपरीत, मैं बच जाऊँ, और अहिंसा की ओट मे अपने बचाव के सब साधन जुटा लूँ, यह तरीका कायरता का है, जो सरासर हिंसा है। भगवान महावीर ने वर्तमान युग के तथाकथित अहिंसकों की तरह कायरता धारण नहीं की थी, उन्होंने बलिदान एव स्वार्पण की भावना लेकर अहिंसा मे जीवन को कृतार्थता देखी थी। उस युग मे आम जनता की यह धारणा थी कि हिंसा में शक्ति है, लेकिन भगवान महावीर ने अपने जीवन मे त्याग, स्वार्पण, बलिदान, व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग का समावेश कर यह बता दिया कि अहिंसा मे महान् शक्ति है। इसके लिए भगवान महावीर हिंसक, द्वेषी, क्रूर एव पापी व्यक्तियो के प्रति भी द्वेष न करके वात्सल्य बरसाते थे, जिसके कारण

वह पहले तो रण को टालने की कोशिश करेगा, परस्पर समझौता या किसी भी सात्त्विक एवं अहिंसक उपाय से समाधान, सुलह कराने का प्रयत्न करेगा, परन्तु जब प्रतिपक्षी बिलकुल ही मानता नहीं, हठ पर तुल जाता है, तब युद्ध अनिवार्य आ पड़ने पर वह कदापि पीछे नहीं हटता। परन्तु वह युद्ध करते हुए भी विरोधी के प्रति मन में द्वेष, रोष, घृणा न रखकर प्रेमभाव रखेगा।

भगवतीसूत्र में वर्णनागनत्तुआ का बहुत सुन्दर और संक्षिप्त विवरण मिलता है। वह व्रतधारी श्रावक था। बेले-बेले तप करता था। एक बार एक न्याय रक्षा के लिए हुए युद्ध में लड़ने के लिए जाने का उसके स्वामी की ओर से आदेश मिला। वर्णनाग ने सोचा—मुझे न्याययुक्त धर्मयुद्ध में जाने का आदेश मिला है, अतः अवश्य जाना चाहिए। वह शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर सैनिक वेष में कवचादि धारण करके साथ ही तीन दिन (तेले) की तपश्चर्या स्वीकार करके रणक्षेत्र में पहुँचा। शत्रु-पक्ष के सैनिकों की ओर से जब शस्त्र प्रहार प्रारम्भ हुआ, तभी उसने शस्त्र चलाना शुरू किया। उस युद्ध में वह वीरतापूर्वक लड़ा, अतः विजय हुई।

समर भूमि में युद्ध के समय श्रावक अपना जौहर दिखाने में कभी पीछे नहीं हटता। मगर अपने सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण आदि नित्य नियम को भी नहीं छोड़ता। कभी-कभी जैन श्रावक की धर्म-क्रिया में इरियावहिया आदि पाठ को पढ़ते देखकर उस अहिंसक वीर को लोग कायर समझने लगते हैं। पर वह कायर नहीं हो सकता।

गुजरात का जैन सेनापति आभू व्रतधारी श्रावक था। राजा अपने राज्य से बाहर गया हुआ था। शत्रु ने मौका देखकर पीछे से आक्रमण कर दिया। रानी ने सेनापति आभू को सारी स्थिति समझा कर शत्रु से युद्ध करने के लिये भेजा। युद्ध की तैयारी हुई। सन्ध्या समय युद्ध बंद होने के बाद सेनापति प्रतिक्रमण कर रहा था। वह 'इरियावहिया' पाठ में वर्णित एकेन्द्रिय आदि जीवों की भी संकल्पपूर्वक हिंसा न करने की प्रतिज्ञा दोहरा रहा था। सेनाधिकारियों ने सुना तो उनके मन में सेनापति की वीरता के विषय में सन्देह हुआ। उन्होंने जाकर रानी से सारी घटना कह सुनाई। रानी भी संदिग्ध हो गई और सेनापति को बुलाकर उसने पूछा—"इस प्रकार की सूक्ष्म अहिंसा का पालन करोगे तो युद्ध में कैसे जौहर दिखाओगे?" सेनापति आभू ने कहा—"महारानीजी! मैं जैनधर्मी श्रावक हूँ। अनावश्यक और अकारण एक भी निरपराधी एकेन्द्रिय जीव की भी हिंसा करना मैं नहीं चाहता, यदि लाचारीवश हो जाय तो प्रायश्चित्त करता हूँ, पर राष्ट्र और समाज की सुरक्षा के लिए युद्ध अनिवार्य रूप से आ पड़े तो मैं तैयार रहूँगा, वह मेरा राष्ट्रीय कर्तव्य होगा।" महारानी को सेनापति की शूरवीरता पर विश्वास था परन्तु सैद्धान्तिक दृढ़ता से वह बहुत प्रभावित हुई। सेनापति के सफल नेतृत्व में सेना जोर-शोर से लड़ी, शत्रु सेना परास्त हुई। सेनापति आभू ने विजयश्री प्राप्त की।

कहने का तात्पर्य है अन्याय, अत्याचार, आक्रमण, भ्रष्टाचार का दमन करने के लिए श्रावक पीछे नही हटता। ऐसे अवसर पर वह उत्तरदायित्व से किनाराकसी नही करता। उसका उद्देश्य शत्रु का सहार करना नही अन्याय-अत्याचार को मिटाना होता है ? उसमे सापराधी-विरोधी की हिंसा होती है, जो श्रावक की अहिंसा की मर्यादा मे होती है।

हिंसा-अहिंसा का भविष्य पक्ष भी देखें

हिंसा-अहिंसा का केवल वर्तमान पक्ष ही नही, भविष्य-पक्ष भी देखना आवश्यक है। यदि वर्तमान मे हिंसा होती है, उसके द्वारा भविष्य मे अहिंसा की विपुल मात्रा प्रतीत होती है तो वर्तमान की हिंसा भी अहिंसा की साधक हो जाती है। किन्तु इसके विपरीत वर्तमान मे अल्पमात्रा मे पाली हुई अहिंसा से भविष्य मे प्रचुरमात्रा मे हिंसा फूट पडने की सभावना है तो वर्तमान की यह क्षुद्र अहिंसा के साधना क्षेत्र मे नही आती।

कभी-कभी एक बहुत बडी हिंसा—जो कि अपराधी या विरोधी के अन्याय, अत्याचार को सिर झुका कर मान लेने से—सभावित है, उसे रोकने के लिए जो एक छोटी हिंसा होती है, वह हिंसा की एकान्त श्रेणी मे नही आती। एक उँगली मे जहर फैल गया है, यदि उस उगली को तत्काल काटा नही जाता है तो वह जहर सारे शरीर मे फैल जाएगा और सारे शरीर को ले बैठेगा। इसलिए पूरे शरीर को जहरीला होकर समाप्त होने से बचाने के लिए तत्काल विषाक्त अगुली को काट कर शरीर से अलग किया जाता है। इस उदाहरण के सन्दर्भ मे जैनधर्म का सिद्धान्त है कि अगर भविष्य मे कोई बडी हिंसा होने वाली हो या हो रही हो तो वहाँ छोटी हिंसा का प्रयोग, एक तरह से अहिंसा का ही रूप है। अहिंसा का रूप इसलिए है कि इस छोटी हिंसा के पीछे दया व करुणा छिपी हुई है।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने रावण के साथ हुए युद्ध को टालने की बहुत कोशिश की, लेकिन रावण अपने हठ पर अडा रहा। जब कोई चारा न रहा, तब रामचन्द्रजी को युद्ध करना पडा, पर किसलिए ? क्या एक सीता के लिए ? नही, नही वहाँ एक सीता का ही प्रश्न नही था, हजारो सीताओ के नैतिक जीवन को बर्बाद करने की भयकर हिंसा का प्रश्न था। अगर युद्ध न लडा जाता और चुपचाप अन्याय को सह लिया जाता तो से ससार न्याय की प्रतिष्ठा ही समाप्त हो जाती। भविष्य मे और भी अन्याय फैलता। यही बात कौरव-पाण्डवो के युद्ध की थी। यहाँ भी श्रीकृष्ण ने पाच गाँव लेकर समझौता कर लेना चाहा, परन्तु दुर्योधन टस से मस न हुआ। युद्ध के बिना सूई की नोक पर आए उतनी जमीन भी देने को तैयार न हुआ, तब श्रीकृष्ण को लाचार होकर दुर्योधन के अन्याय को शान्त करने के लिए युद्ध को अनिवार्य मान कर स्वीकार करना पडा। युद्ध पाण्डवो पर लादा गया था। कोणिक को बहुत समझाने-बुझाने के बाद भी वह अपने अन्याय पक्ष पर अडा रहता है, और बार-बार युद्ध

की धमकी देता है, तब जाकर मातामह चेटकराज को भी युद्ध की घोषणा करनी पडी। बारहव्रतधारी श्रावक और इतनी घोर हिंसा ? पर एक शरणागत की रक्षा और न्याय की प्रतिष्ठा के लिए लडा गया वह युद्ध चेटकराज के लिए धर्मयुद्ध था। वे मर कर स्वर्ग मे गए, मगर कोणिक के लिए वह अधर्म युद्ध था, वह मरकर नरक मे गया। चेटकराज को भविष्य मे होने वाली अन्याय परम्परारूप महाहिंसा को रोकने के लिए लाचारीवश विरोधी हिंसा का आश्रय लेना पडा, जबकि कोणिक के लिए युद्ध-जनितहिंसा सकल्पी महाहिंसा हो गई। अत अहिंसा का साधक यदि उसे अन्याय, अत्याचार का न्यायोचित प्रतिकार करना पडे तो अवश्य करता है, लेकिन अहिंसा को भूलता नही। मूल मे विरोधी के प्रति सद्भावना एव प्रेमभावना अन्तर मे सजो कर रखता है, बुरी भावना या द्वेष भावना नही।

दण्ड और अहिंसा

अहिंसा के सन्दर्भ मे दण्ड का प्रश्न भी उपस्थित होता है। जैनधर्म श्रावक को अनिवार्य स्थिति मे अपराधी को दण्ड देने से इन्कार नही करता, परन्तु दण्ड के साथ ही अपराधी के प्रति करुणा एव वात्सल्य-भाव होना चाहिए। शारीरिक दण्ड भी सापेक्ष हो, निरपेक्ष नही। दण्डनीय प्राणी की परिस्थिति और भूमिका देखकर ही मर्यादित दण्ड का ही सहारा लेना चाहिए। जैसे एक कुत्ते ने मामूली गलती कर दी तो उसको सिर्फ इशारे से ही धमका दिया जाए। पर इतना नही पीटा जाय कि उसका अगभग हो जाय या वह बेचारा उठने-बैठने लायक न रहे। शान्त से शान्त माता भी कभी-कभी उद्धत पुत्र-पुत्री को पीटने को विवश हो जाती है, लेकिन उसके हृदय मे क्रोध के साथ द्वेष नही होता, अपितु क्रोध के साथ पश्चात्ताप होता है। उसकी आँखें रोती है, हाथ मारने को उद्यत होते हैं। उसका मातृत्व क्रूर नही, सहज, सौम्य व कोमल होता है। उसमे विवेक व हितबुद्धि होती है। अहिंसा का साधक भी इसी पथ का अनुसरण करता है। वह यथासम्भव अहिंसा से काम लेगा, परन्तु उससे सफलता न मिलने पर अल्प से अल्पतर हिंसा (दण्डनीय या विरोधी के प्रति द्वेष बुद्धि न रखते हुए) का पथ चुनेगा।

एक अपराधी है, वह समाज के नीतिमूलक विधानों को तोडता है, उच्छृंखलता से अनैतिक पथ पर चलता है, लोभ के वश होकर हत्या जैसा बडा अपराध भी कर बैठता है, उसे दण्ड देने पर शारीरिक, मानसिक पीडाएँ होती हैं और दण्ड न देने पर उसके अन्याय, अत्याचार, अनैतिकता को प्रश्रय मिलता है, जनजीवन भी अशान्त, असुरक्षित एव आतकित हो जाता है। जैनधर्म का उसके लिए स्पष्ट आदेश है कि जो अन्यायी, अत्याचारी या विरोधी हो, समाज और राष्ट्र का द्रोही हो, उसे यथोचित दण्ड देने का अधिकार श्रावक को है। परन्तु क्रोध-द्वेष से रहित होकर कर्तव्य की उच्च भावना से युक्त होकर ही उसे यह कार्य करना है। जिसमे विरोधी या अपराधी

की धमकी देता है, तब जाकर मातामह चेटकराज को भी युद्ध की घोषणा करनी पडी। बारहव्रतधारी श्रावक और इतनी घोर हिंसा? पर एक शरणागत की रक्षा और न्याय की प्रतिष्ठा के लिए लडा गया वह युद्ध चेटकराज के लिए धर्मयुद्ध था। वे मर कर स्वर्ग मे गए, मगर कोणिक के लिए वह अधर्म युद्ध था, वह मरकर नरक मे गया। चेटकराज को भविष्य मे होने वाली अन्याय परम्परारूप महाहिंसा को रोकने के लिए लाचारीवश विरोधी हिंसा का आश्रय लेना पडा, जबकि कोणिक के लिए युद्ध-जनितहिंसा सकल्पी महाहिंसा हो गई। अत अहिंसा का साधक यदि उसे अन्याय, अत्याचार का न्यायोचित प्रतिकार करना पडे तो अवश्य करता है, लेकिन अहिंसा को भूलता नही। मूल मे विरोधी के प्रति सद्भावना एव प्रेमभावना अन्तर मे सजो कर रखता है, बुरी भावना या द्वेष भावना नही।

दण्ड और अहिंसा

अहिंसा के सन्दर्भ मे दण्ड का प्रश्न भी उपस्थित होता है। जैनधर्म श्रावक को अनिवार्य स्थिति मे अपराधी को दण्ड देने से इन्कार नही करता, परन्तु दण्ड के साथ ही अपराधी के प्रति करुणा एव वात्सल्य-भाव होना चाहिए। शारीरिक दण्ड भी सापेक्ष हो, निरपेक्ष नही। दण्डनीय प्राणी की परिस्थिति और भूमिका देखकर ही मर्यादित दण्ड का ही सहारा लेना चाहिए। जैसे एक कुत्ते ने मामूली गलती कर दी तो उसको सिर्फ इशारे से ही धमका दिया जाए। पर इतना नही पीटा जाय कि उसका अगभग हो जाय या वह बेचारा उठने-बैठने लायक न रहे। शान्त से शान्त माता भी कभी-कभी उद्धत पुत्र-पुत्री को पीटने को विवश हो जाती है, लेकिन उसके हृदय मे क्रोध के साथ द्वेष नही होता, अपितु क्रोध के साथ पश्चात्ताप होता है। उसकी आँखे रोती है, हाथ मारने को उद्यत होते है। उसका मातृत्व क्रूर नही, सहज, सौम्य व कोमल होता है। उसमे विवेक व हितबुद्धि होती है। अहिंसा का साधक भी इसी पथ का अनुसरण करता है। वह यथासम्भव अहिंसा से काम लेगा, परन्तु इससे सफलता न मिलने पर अल्प से अल्पतर हिंसा (दण्डनीय या विरोधी के प्रति द्वेष बुद्धि न रखते हुए) का पथ चुनेगा।

(४) अतिभार—बैल, ऊँट, घोडा, प्रभृति पशुओ पर या अनुचर अथवा कर्मचारियो पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना अतिभार है। किसी की शक्ति से अधिक कार्य करवाना भी अतिभार है।

(५) भक्तपान-विच्छेद—समय पर भोजन पानी आदि न देना, नौकर आदि को समय पर वेतन आदि न देकर उसे कष्ट पहुँचाना आदि। ये सब बाते भक्तपान विच्छेद के अन्तर्गत परिगणित होती है।

श्रावको को इन अतिचारो से बचना चाहिए।

इस प्रकार मैंने श्रावक की अहिंसा की मजिल और मजिल की ओर उसके दौडने के मार्ग मे विविध पडावो का गहराई से विश्लेषण किया है। प्रवचन काफी लम्बा हो गया है। इतना आवश्यक भी था जिससे कि आप अहिंसा की रग-रग को जान सकें और उसे हृदयगम कर सकें। ✡

[4]

सत्य : जीवन का सम्बल

☆

अहिंसा के साथ सत्य आवश्यक ?

आज मैं आपके सामने 'सत्य' [illegible] विचार रखूंगा। [illegible] अहिंसा [illegible] है कि सत्य की आराधना के बिना अहिंसा की [illegible] नहीं हो सकती। जैसे की साधना, नियम उपनियम, व्रत, प्रत्याख्यान आदि [illegible] अहिंसा की आवश्यकता है, वैसे ही सत्य की भी आवश्यकता है। [illegible] किसी भी साधना, व्रत, नियम आदि में दृढता और दृढविश्वास [illegible] के लिए, व्रत आदि सभी का [illegible] हृदय में, अन्तरात्मा में [illegible] जाता है। जैसे सत्य के द्वार पर पहुंचने के लिए अहिंसा को आगे रखना आवश्यक है, वैसे ही अहिंसा की भावना को परिपुष्ट करने के लिए सत्य का पुट आवश्यक है। अहिंसा की उर्वरभूमि में ही सत्य का पौधा उग सकता है और पनप सकता है, इसी तरह सत्य की नींव पर ही अहिंसा आदि अन्य व्रतों का प्रासाद सुदृढ रूप से चिरस्थायी हो सकता है।

कोई पक्षी आकाश में उडना चाहता है, परन्तु उसकी एक पांख मजबूत नहीं है तो क्या वह विस्तृत नील नभ में उडान भर सकता है? कभी नहीं। विशाल आकाश में उडान भरने के लिए पक्षी की दोनों पांखों का मजबूत और सही-सलामत होना जरूरी है। इसी प्रकार विस्तृत आध्यात्मिक जीवन-गगन में उडान भरने के लिए मनुष्य के पास अहिंसा और सत्य रूपी दोनों पांखों का मजबूत और सुरक्षित होना आवश्यक है। अहिंसा और सत्य हमारे जीवन की दो पांखें हैं। क्या व्यक्ति क्या समाज, क्या राष्ट्र, क्या गृहस्थ का जीवन अथवा, क्या साधु जीवन प्रत्येक जीवन में इन दोनों पांखों का होना अत्यावश्यक है। जीवन में अहिंसा हो, किन्तु सत्य न हो तो वह अहिंसा पनप नहीं सकती, सफल नहीं हो सकती। सत्य की अविद्यमानता में कोरी अहिंसा ढीली-ढाली रहेगी। आज लोग अहिंसा के पालन का तो नाटक खेल लेते हैं, लेकिन सत्याचरण के द्वार पर आते ही उनके पांव लडखडाने लगते हैं। भगवान महावीर का कथन है कि साधक के कदम जितने अहिंसा की ओर बढें, उतने ही सत्य की ओर भी बढने चाहिए। सत्य को ठुकरा कर कोरी अहिंसा को अपनाना प्रकाश को

कर ले, सफल नही होता। धुँए के बादल बरसने के लिए नही, बिखरने के लिए होते है।

सत्य हो तो दूसरे दुर्गुण भी दूर हो सकते हैं

शरीर मे जब तक गर्मी रहती है, तब तक यदि एक भी मक्खी या मच्छर बैठ जाए तो बर्दास्त नही होता। गर्मी के निकल जाने पर मक्खी-मच्छर की तो बात ही क्या शरीर के टुकडे-टुकडे कर देने पर भी कोई पता नही लगता। मृत शरीर मे घाव हो जाए तो वह सडता है, भरता नही है। इसी प्रकार साधक के जीवन मे भी सत्य रहता है तो दुनियाभर के घाव ठीक हो सकते है, गलतियाँ दुरुस्त हो सकती है। हिंसा, क्रोध, लोभ, भय, अभिमान, कपट, काम आदि सब जीवन के घाव है। अगर सत्य है तो ये सब घाव धीरे-धीरे ठीक हो सकते है और सत्य नही है, तो ये सब घाव बढते चले जाते है, और अन्दर ही अन्दर धीमी गति से ये जीवन को खोखला बना देते है।

शास्त्र मे बताया गया है कि अगर किसी साधु से कोई भयकर गलती हो गयी है, मोहकर्मवश कोई महाव्रत भग हो गया है, किन्तु अगर वह सीधा आचार्य या गुरु के पास आकर जिस प्रकार जैसी भी स्थिति मे गलती हुई हो, आलोचना (दोषो को प्रकट करना) कर ले, प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाय तो वह साधु यदि योग्य हो तो उसे आचार्य, उपाध्याय या गणी आदि पद भी दिया जा सकता है। महाव्रत भग जैसे भयकर घाव को भी सत्य हो तो दुरुस्त किया जा सकता है, सत्य के मरहम से। मतलब यह है कि यदि कोई साधक पहले (अहिंसा), तीसरे (अचौर्य) और चौथे व्रत (ब्रह्मचर्य) का पालन तो करता हो लेकिन सत्यव्रत का पालन न करता हो तो उसकी साधना नि सत्त्व है। साधु यदि चौथे व्रत का भग कर देता है, किन्तु सत्यव्रत सुरक्षित है तो वह सुधर सकता है, लेकिन दूसरे (सत्य) व्रत का भग करने वाले को सुधरने का अवकाश नही रहता। दुराचारी और हिंसक मनुष्य भी यदि सत्य बोलता है तो वह सुधर सकता है, लेकिन असत्य बोलने वाला कदापि नही सुधर सकता। सत्य की उपासना करने वाला कुछ भी गलती कर लेगा, तब भी कहेगा कि मुझसे गलती हो गई है। पाप को स्वीकार किये बिना शुद्धि कैसे हो सकती है ? इसीलिए कहा गया है कि अन्य व्रतो का भग करने वाला पुन धर्म का आराधक और अधिकारी बन सकता है, लेकिन असत्य बोलने वाले को धर्माराधना के योग्य नही माना गया है। सत्यवादी साधक के लिए तो बहुत सम्भव है कि उस गलती को सुधारने के लिए आचार्य या गुरु उसे प्रायश्चित्त देकर उसकी आत्मशुद्धि कर दें। आत्मा पर लगे हुए क्रोध, मान, माया, लोभ या राग द्वेष के घाव चाहे जितने गहरे हो गए हों, अगर भाव रोगी सत्य सत्य बता देता है, तो उसकी मरहमपट्टी की जा सकती है, पुन उस साधक को सही राह पर लाया जा सकता है। इसके विपरीत अगर साधक गलती करने पर सत्य-तथ्य नही कहता है यानी सत्य को छिपाता है, अपनी गलती [illegible]

स्वभावानुसार वह शराब पीने चला, लेकिन उसके पिता ने पूछा—"बेटा ! कहाँ जा रहे हो, इस समय ?" युवक सकपकाया, झूठ तो बोलना नहीं था, प्रतिज्ञा जो की थी। अतः मन मसोस कर बैठ गया।

इसी प्रकार अन्य बुराइयों के सेवन के लिए जब भी वह जाने लगता, परिवार का कोई न कोई व्यक्ति पूछ बैठता। यों कुछ ही दिनों में सत्य बोलने की प्रतिज्ञा के बल से उस युवक के सारे ही दुर्व्यसन और दोष छूट गए और वह शुद्ध हो गया।

इसीलिए मैंने कहा कि जैसे आकाश में एक चन्द्रमा उदित होने पर सारा अन्धेरा मिट जाता है, वैसे ही एकमात्र सत्य के उदित होने पर दुर्गुणों का अंधेरा मिट जाता है, बशर्ते कि सत्य ठीक रूप में जीवन के आकाश में उदित हुआ हो।

इस सम्बन्ध में भगवान महावीर के युग की एक चमकती हुई घटना है—

राजगृही नगरी में भगवान महावीर का समवसरण लगा हुआ था। धर्म-प्रेमी नर-नारीगण उनके प्रवचन श्रवण करने के लिए आए हुए थे। उसके मुखचन्द्र से पीयूषवर्षिणी प्रवचन-धारा बरस रही थी। सभी लोग उत्कण्ठित होकर प्रभु के वचनों का चातक की तरह पी रहे थे। एक कोने में बैठा हुआ एक चोर भी प्रभु की वाणी भाव-विभोर होकर सुन रहा था। यथासमय प्रवचन पूर्ण होते ही सभी लोग एक-एक करके रवाना हो गए, परन्तु वह चोर अभी तक बैठा था। उसके कानों में प्रभु की वाणी गूँज रही थी। एक श्रमण ने उससे कहा—"मालूम होता है। आज तुमने बहुत ही तन्मय होकर प्रभु की वाणी सुनी है।" चोर बोला—"हाँ, भगवन् ! आज मैंने पहली ही बार प्रभु वाणी सुनी है।"

श्रमण ने उसके हृदय को टटोलने हेतु पूछा—"सुनकर कुछ ग्रहण भी किया है या यों ही इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दिया है ? कुछ वचन जीवन में उतारने का विचार भी किया है या नहीं ? प्रभु की वचनधारा तो अमृत की धारा है, यदि उसमें से एक-दो बूंद भी पीने का प्रयत्न नहीं किया तो वह अमृत धारा तुम्हारे किस काम की ?"

चोर का हृदय स्वच्छ और सरल था। उसके हृदय पर पड़े हुए लोभ वासना के पर्दे को प्रभु की वाणी ने दूर करने का उपक्रम कर दिया था। चोर ने मन ही मन सोचा—"मैं तो चोर हूँ। चोरी करना मेरा व्यवसाय है। मेरे जीवन के साथ भगवान की त्यागमयी वाणी का मेल नहीं है। अतः चोरी तो छोड़ ही नहीं सकता। यह हो सकता है कि मैं अन्य किसी चीज का त्याग कर लूं।" चोर ने कहा—"भगवन ! मैं चोरी करता हूं, उसे तो छोड़ नहीं सकता।"

श्रमण भी मानव-मनोविज्ञान के ज्ञाता थे। उन्होंने चोर के मनोभावों को पढ़ लिया। जवाहरात को परखना आसान है, मनुष्य के मनोभावों को परखना बहुत कठिन है। मानव-मन का पारखी कई दुर्गुणियों के जीवन को परखकर नया मोड़ दे सकता है, उसके जीवन को उच्चभूमिका पर आरूढ कर सकता है।

हाँ, तो श्रमण ने चोर के मनोभावो को ताड लिया। उन्होने कहा—"अगर चोरी नही छोड सकते तो न सही, हम तुम्हे यह आग्रह नही करते कि चोरी करना आज का आज ही छोडना पडेगा। और कोई चीज छोड सकते हो ?" चोर बोला—"हाँ, अन्य किसी भी चीज को छोड सकता हूँ।"

श्रमण ने कहा—'कोई बात नही ! तुम चोरी के बजाय असत्य को छोड सकते हो। इतना तो कर सकते हो कि मैं झूठ नही बोलूंगा, सत्य ही बोला करूँगा।'

चोर ने कहा—"इसमे मुझे क्या आपत्ति है ? आप चोरी का तो त्याग करा ही नही रहे है। असत्य का त्याग करा रहे हैं। मैं सत्य बोलने का नियम लेने को तैयार हूँ, दिला दीजिए।"

श्रमण ने उक्त चोर को नियम दिला दिया, लेकिन साथ मे यह भी कहा—"देखो, नियम तुमने ले लिया है। अब इस पर दृढ रहना ! नियम जिस भाव से लिया है, उसी भाव पर मजबूत रहना। नियम-पालन के लिए भी आन्तरिक सत्य की आवश्यकता रहती है। प्रण के पीछे भी सत्य का बल होता है, तभी वह निभता है। अगर सत्य नही रहता तो प्रण को भी टूटते देर नही लगती।"

चोर तपाक से बोला—"मुनिवर ! मैं सोच-समझकर ही सत्य बोलने का प्रण ले रहा हूँ। प्राणो की तरह प्रण का जतन करूँगा।"

इस प्रकार प्रण लेकर चोर अपने घर चला गया। घर जाने पर सोचा—'सत्य बोलने का नियम ले लिया है तो उसे पालन करूँगा ही, किन्तु जब तक घर मे खाने-पीने की सामग्री पडी है, तब तक चोरी भी क्यो की जाए ? क्यो नाहक किसी को आफत मे डालूँ ? जब तक इस सामग्री से काम चले, तब तक चोरी की बात नही सोचूंगा।

सन्त कितने परोपकारी होते हैं ! वे शुभ विचार की एक किरण डाल देते हैं, वही धीरे-धीरे महाप्रकाश का रूप धारण कर लेती है। वट का छोटा-सा बीज एक दिन विशाल वटवृक्ष बन जाता है। इसी प्रकार महापुरुषो के द्वारा जिज्ञासु साधक की मनोभूमि मे बोया हुआ विचार-बीज एक दिन विराट् रूप ले लेता है, बशर्ते कि उस विचार बीज मे पनपने की शक्ति हो।

हाँ, तो चोर एक दिन सोचने लगा—"मैंने सत्य की प्रतिज्ञा एक महापुरुष से ली है। चोरी की प्रतिज्ञा तो नही ली, लेकिन चोरी करूँगा तो हिंसा होगी, क्योकि जिसके यहाँ चोरी की जाएगी, उसे बहुत ही पीडा होगी। इसलिए ऐसी जगह चोरी की जाए, जहाँ चोरी करने पर पीडा की लहर न उठे। राजा के खजाने मे अगणित धन पडा रहता है। उसमे से थोडा चुरा भी लिया जाए तो कोई फर्क नहीं पडता और न ही राजपरिवार को कोई कष्ट होता है। हाथी के भोजन मे से अगर चीटी दो-चार कण ले लेती है तो उससे हाथी को कोई नुकसान नही होता और चीटी का भी काम बन जाता है। किसी साधारण व्यक्ति के यहाँ चोरी करूँगा तो

उसे व उसके परिवार को जीवन-निर्वाह मे कठिनाई पडेगी, बहुत अर्से तक रोना-धोना पडेगा। इसलिए चोरी ही करनी है तो ऐसी जगह करनी चाहिए, जहाँ चोरी के पीछे किसी को हाय-हाय न करना पडे। अतएव राजभडार मे ही चोरी करना ठीक रहेगा।'

यो सोचकर चोर राजभडार की ओर चल पडा बन-ठन कर, ताकि किसी को उसके चोर होने का सन्देह न हो। राजभडार मे वह सफेदपोश चोर बेखटके पहुँच गया और भडारी से बातचीत करने लगा, चारो तरफ पैनी नजर डाल कर उसने सब ताले देख लिए।

उसने घर जाकर उन तालो की चाबियो का गुच्छा उठाया और बढ़िया कपडे पहने। एक साहूकार के वेष मे वह राजभडार मे चोरी करने के लिए चल दिया।

वह ऐसा युग नही था कि राजा प्रजा से केवल कर वसूल करके अपना खजाना भरे। उस युग के राजा प्रजा के हर दुःख-दर्द मे समभागी बनते थे, प्रजा के दुःख को मिटाने के लिए तत्पर रहते थे। प्रजा के दुःख-दर्द का पता वे केवल गुप्तचरो से ही नही लगाते थे, स्वय भी रात को वेष बदल कर वे नगर की गली-गली मे घूमते और जनता की पीडाओ को ज्ञात करते थे। उस समय के शासनकर्ता गाफिल होकर अपने ही ऐश-आराम मे मस्त होकर पडे नही रहते थे, वे प्रजा की सेवा के लिए हर समय सन्नद्ध रहते थे।

राजगृही मे उस समय श्रेणिक जैसे प्रजापालक राजा और अभयकुमार जैसे न्यायनिष्ठ मन्त्री थे। दोनो ही रात को वेष बदल कर नगरी मे गश्त लगाया करते थे। वे सोचते थे—'सम्भव है, प्रजा की आवाज हम तक सीधी न पहुँच पाती हो। यद्यपि हमारे पास फरियाद करने कोई भी किसी भी समय आ सकता है, मगर फिर भी किसी मे साहस न हो, हम तक पहुँचने का। अतः स्वय नगरी मे घूम कर पता लगाना चाहिए कि कौन किस कष्ट मे है? लोग रात मे अपने-अपने घरो मे अपने दुःखदर्द की बात अपने परिवार के सामने खुल कर करते है तभी उनकी स्थिति का सही-सही अन्दाज लग सकता है।

चोर—"जवाहरात के दो डिब्बे ले आया हूँ।"

राजा और मन्त्री आपस मे कानाफूसी करने लगे कि यह हमसे मजाक कर रहा है। मालूम होता है, हमे यह पहचान गया है और हमारी बुद्धि की परीक्षा ले रहा है। 'जाने दो इसे' यो सोचकर राजा और मन्त्री महलो मे लौट आए। चोर भी सत्य के प्रभाव से अपनी सफलता पर मुग्ध होकर घर आ पहुँचा।

सुबह जब राजभडार के खजाची ने द्वार खोला और सब वस्तुओ की गिनती की तो रत्नो के दो डिब्बे कम पाए गए। खजाची ने सोचा—"दो डिब्बे तो गायब है ही, इस चोरी का क्या पता लगेगा राजा को ? क्यो नही, मैं भी इस बहती गगा मे हाथ धो लूँ।" खजाची ने चुपके से रत्नो के दो डिब्बे अपने घर पहुँचा दिये। फिर राजा के पास जाकर निवेदन किया—"हुजूर ! रात को राजभडार मे भयकर चोरी हो गई है। कोई चोर रत्नो के चार डिब्बे चुरा कर ले गया है।"

राजा ने पहरेदारो के मुखिया को बुला कर पूछताछ की। उसने कहा—"देव ! रात को एक आदमी अवश्य आया था, और उससे पूछने पर उसने अपने आपको चोर बताया था। मैंने उसे आपका भेजा हुआ कोई राज्याधिकारी समझा, और यह भी सोचा कि शायद हमारी परीक्षा लेने आया हो, इसलिए उसे अन्दर जाने दिया। हो न हो, शायद उसी ने चोरी की हो।" राजा ने सोचा—"अच्छा चोर निकला, जिसने साहूकार के वेप मे हमे ही चकमा दे दिया। लेकिन मामूली चोर मे इतना बेधडकपन और अपने आपको चोर कहने का साहस नही होता। वह चोर तो था, लेकिन उसे किसी महान् पुरुष ने सत्य बोलने की राह पकडा दी है।" मत्री ने सुना तो कहा—"जो भी हो, ऐसे सचबोले चोर की भी तलाश तो की जानी चाहिए। अन्यथा, कोई भी इसी तरह राजभडार पर हाथ साफ करता रहेगा।"

बस, मत्री के आदेश से ढिंढोरा पिटवाया गया—"जिसने रात को राजभडार मे चोरी की हो, वह राजदरबार मे उपस्थित हो जाय।"

लोगो ने जब यह घोषणा सुनी तो परस्पर कानाफूसी करने लगे—"ऐसे कही चोर पकडे जाते है ? ऐसा कौन चोर होगा, जो अपने आपको स्वय गिरफ्तार करवाएगा और चोरी की बात स्वीकार करेगा ! यह राजनीति से विरुद्ध कदम है।"

मगर राजा का फरमान था, इसलिए ढिंढोरा पीटने वाले इसी तरह की घोषणा करते ढिंढोरा पीटते जा रहे थे। चोर ने जब यह ढिंढोरा पिटता देखा और घोषणा सुनी तो उसके हृदय मे हलचल मच गई। सोचा—"सत्य बोलने का नियम लेने के बाद अभी तक तो मैं अपराध से साफ-साफ बच चुका हूँ। सत्य का चमत्कार मैंने देख लिया, अब क्या मैं सत्य से पीछे हटूं ? नही, नही, यह नही हो सकता, मैं सत्य के लिए प्राणो की बाजी लगा दूंगा।"

बस, चोर की हृदयतन्त्री सत्य से झंकृत हो उठी। उसने घोषणा करने वाले सिपाहियो के पास आकर स्वय कहा—"मैं ही वह रात वाला चोर हूँ। मैं राजा के

सामने चलकर सच-सच कहने को तैयार हूँ।' सिपाहियों ने उसे साथ ले जाकर राजा के सामने उपस्थित किया। राजा ने चोर को पहचानकर मंत्री से कहा:—"रात वाला चोर यही तो है? इससे पूछकर असलियत का पता लगाना चाहिए।" जब चोर से पूछा गया तो उसने कहा—"जी हाँ, मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि मैंने चोरी की है।"

राजा बोला—"यह तो ठीक, पर यह तो बताओ कि तुमने क्या चुराया था?' चोर ने उत्तर दिया—"मैंने रात को ही आपको बताया था कि मैंने रत्नों के दो डिब्बे चुराए हैं।"

राजा ने पुन प्रश्न किया—"मगर राजभण्डार से तो चार डिब्बे नदारद हैं।'

चोर ने कहा—मैंने तो सच-सच कह दिया कि मैं दो डिब्बे ही ले गया हूँ। बाकी के दो डिब्बों का मुझे कुछ भी पता नहीं है। प्राण चले जायें, पर मैं झूठ नहीं बोलूँगा। अगर मैं झूठ बोलता तो यहाँ तक कहने आता भी नहीं। मैंने तो भगवान महावीर का धर्मोपदेश सुना, तभी मुझे एक श्रमण ने चोरी छोड़ने के लिए कहा था, परन्तु मैंने चोरी छोड़ने में अपनी असमर्थता प्रगट की, तब उन्होंने मुझे सत्य बोलने का नियम लेने की प्रेरणा दी। अतः मैंने जिन्दगी भर सत्य बोलने का नियम ले लिया। सत्य से ही तो मुझे इतना बल मिला है कि मैं आपके समक्ष स्वयं उपस्थित हो गया हूँ।"

राजा के कानों को उसकी सचाई पर सहसा विश्वास नहीं हुआ, परन्तु रात्रि की घटना एवं वर्तमान घटना ने उसे बरबस चोर की बात को सत्य मानने के लिए बाध्य कर दिया। राजा चोर की सत्यता से अत्यन्त प्रभावित हुआ। कोषाध्यक्ष को धमकाकर पूछा गया तो उसकी कलई खुल गई। अन्त में राजा ने उक्त सच बोला चोर को ही कोषाध्यक्ष बना दिया। चोर ने भी अपने जीवन-निर्वाह का प्रश्न हल होते ही चोरी सदा के लिए छोड़ दी। सत्य का नियम उसने पहले से ही ले रखा था।

हाँ तो, मैंने कहा कि जो व्यक्ति सत्य को अपना लेता है, अपने जीवन का सहचर बना लेता है, समय आने पर सत्य से एक इंच भी इधर-उधर हटता नहीं, उसके जीवन में चोरी, व्यभिचार, जुआ आदि भयंकर दुर्गुण हों तो भी वे धीरे-धीरे एक-एक करके विदा हो जाते हैं।

सत्य का आराधक अपनी गलतियाँ स्वयं समझकर उन्हें सुधारता जाता है। इसीलिए सत्य को स्वयंभू, सर्वशक्तिमान और स्ववीर्यगुप्त (रक्षित) कहा जाता है। सत्यपालन से उत्पन्न होने वाला बल बिलकुल अनोखा होता है। सत्यपालन से दो प्रकार के बल प्राप्त होते हैं—एक तो उसकी वाणी में तेजस्विता आ जाती है, जिससे वह सबको प्रभावित कर देता है, (दूसरे प्रत्येक वस्तु की गहराई तक पहुँच कर उसके

रहस्य की जानकारी सत्यवादी को हो जाती है। इसीलिए मानवजीवन मे सत्य का वल सबसे वढकर होता है। जिसमे सत्य का वल आ जाता हे, वह व्यक्ति निर्भय हो जाता है। जिन तोपो और मशीनगनो के नाम से मनुष्य कांप उठते ह, उन तोपो और मशीनगनो के सामने खडा होने मे तथा सगीनो के सामने सीना तानकर खडा होने मे सत्यवादी जरा भी नही हिचकिचाता। जिसके जीवन मे कोई दोप या दुर्गुण होता है, उसमे सत्य का वल आ जाने पर वह निर्भयतापूर्वक अपने दोषो को खुल्लम-खुल्ला प्रगट कर देता है। असत्य मे कुछ वल नही होता, वह निर्बल होता है। अत निर्वल का आश्रय लेने पर निर्भयता कैसे आ सकती हे। ईसाई धर्म के पवित्र ग्रन्थ वाइविल मे कहा है—

'सत्य ही महान् है और परम शक्तिशाली है।'

कई दफा मनुष्य सोचता हे कि मेरे पास धन का वल है, इससे मैं सभी कुछ प्राप्त कर सकता हूँ। वास्तव मे ससार को खरीदने का स्वप्न देखने वाले धनवली असफल होते देखे गए ह। आखिरकार चाँदी और सोने के सिक्के कहाँ तक टिक सकते हैं ? क्या मनुष्य धन के वल पर मृत्यु को खरीद सकता है ? मयम को मोल ले सकता है ? मृत्यु तो दूर रही, धन के वल पर मनुष्य बुद्धि, विद्या, योग्यता आदि भी नही प्राप्त कर सकता। जरासध, रावण, कस आदि के पास धन की क्या कमी थी ? परन्तु इन सवकी धनशक्ति अन्ततोगत्वा पराजित हो गई।

अव रहा जनवल या परिवार-समाज का बल, वह भी अमुक सीमा तक ही काम आता है। जब मनुष्य के दिन फिर जाते हे, भाग्य पलटने लगता है, तव जनवल, परिजनबल या समाजबल सव पराये बन जाते हैं, वे भी सहायक नही होते। द्रौपदी का परिजनवल कितना वडा था, परन्तु जब दुशासन भरी सभा मे उसकी लज्जा लूटने और सतीत्व के गौरव को नष्ट करने पर उतारू होता है, उस समय वडे-वडे शक्तिशाली नाते-रिश्तेदार बुत की तरह नीचा मुंह किये बैठे रहे। किसी ने भी द्रौपदी की लाज नही बचाई ? ऐसे विकट प्रसग पर द्रौपदी का सत्यवल ही काम आया। उसी के सहारे द्रौपदी का शील और धर्म सुरक्षित रहा। द्रौपदी के लिए न धन काम आया और न ही पति के रूप मे शक्तिशाली पाण्डव ही उसे सहारा दे सके। एकमात्र सत्य का वल ही द्रौपदी का गौरव अक्षुण्ण रख सका।

सीता का अपहरण हो जाने के वाद रावण की नगरी लका मे जहाँ कि उसको अपने सतीत्व के अपहरण का खतरा था, वहाँ कौन-सा वल काम आया ? न धनवल काम आया और न ही जनवल, वहाँ एकमात्र सत्य का वल ही सीता के शील और सतीत्व की रक्षा करने मे समर्थ हुआ।

बुद्धि का बल भी एक सीमा तक सहायक वन सकता है, परन्तु मनुष्य के जीवन मे सत्य का वल न हो तो अकेला बुद्धिवल मनुष्य को राक्षस वना देता है। अणुबम का आविष्कार करने वालो का बुद्धिवल क्या काम आया ? उस बुद्धिवल ने

नरसंहार का ही काम किया, बल्कि ऐसे बुद्धिबलियो ने अपने आपको राजनीतिज्ञो या शासनकर्ताओ के हाथो वेच दिया । इसलिए कोई मनुष्य विपत्ति के समय चाहे कितना ही बुद्धि का बल अजमाले किन्तु सत्य के बल से ही आखिर उस विपत्ति से छुटकारा हो सकता है । इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए सत्य की शक्ति का एक कवि ने सुन्दर चित्रण किया है—

बस सत्य ही ससार मे है, एक सुखदाता ।
इसके सिवा ऐसा कोई नजर नही आता ।।
सागर तलैया हो, फणी हो फूल की माला ।
इस सत्य के प्रभाव से क्या-क्या न बन जाता ।।बस०।।
जैसे बिना एके के सारे शून्य निष्फल है ।
वैसे ही निश्चय सत्य बिन चारित्र कहलाता ।।बस०।।

महात्मा गाँधी के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है । जब वे बैरिस्टर बन कर अफ्रीका मे वकालत की प्रेक्टिस करने गए थे । दूसरे वकीलो की अपेक्षा महात्मा गाँधी का रवैया भिन्न था । वे सच्चा मुकदमा लेते थे । वकालत मे भी वे सत्यता को स्थान देना चाहते थे । उनकी अन्तरात्मा मे यह बात पूरी तरह से ठस गई थी कि सत्य के सहारे जीवन की तमाम प्रवृत्तियाँ चलाने मे मनुष्य को कही कठिनाई नही होती, बल्कि सत्य के कारण पहाड के समान दिखाई देने वाली विपत्तियाँ राई के समान बन जाती है ।

अफ्रीका मे एक अब्बास तैयबजी नामक बोहरा थे, उनकी फर्म मे कर-चोरी से व्यवसाय होता था । वहाँ की सरकार को पता चला तो उसने अब्बास तैयबजी पर मुकदमा चलाया । अब्बास तैयबजी ने अपने बचाव के लिए मोहनदास करमचन्द (महात्मा) गाँधी को वकील बनाया और उक्त मुकदमे के खिलाफ पैरवी करवाई । गाँधीजी ने पहले तो पैरवी की, लेकिन जब उन्हे पता लगा कि सरकार के द्वारा मेरे मवक्किल पर चलाया गया अभियोग सत्य है, तब उन्होंने मवक्किल के अपराध को छिपाने और उस पर लीपापोती करने के बजाय, अपराध को स्वीकार करना ही मवक्किल के पक्ष मे हितावह समझा । अत गाँधीजी ने अपने मवक्किल का बचाव करने के बजाय मवक्किल के द्वारा करचोरी के अपराध को अदालत मे स्वीकार कर लिया । दूसरे वकील गाँधीजी की ओर देखते ही रह गए । वे एक ओर ले जाकर कहने लगे—"गाँधी ! यह तुम क्या कर रहे हो ? मवक्किल को सकट से निकालने के बजाय, सकट मे फँसाने के लिए ही क्या तुम्हें वकील बनाया गया है ?" गाँधीजी ने कहा—"चाहे कुछ भी हो, मेरा विश्वास सत्य पर अटल है । मेरा यह भी विश्वास है कि सत्य का प्रभाव सरकार पर भी पडेगा । मैं तो सत्य का चमत्कार देख चुका हूँ ।"

गांधीजी के सत्य-कथन का अंग्रेज न्यायाधीश पर बहुत जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। उसने गांधीजी से पूछा—"क्या तुम्हारा मवक्किल अपना अपराध अदालत मे स्वीकार कर सकता है ?"

गांधीजी ने कहा—"हां, मैं उन्हे इसके लिए तैयार करने का प्रयत्न करूंगा।"

गांधीजी ने अपने मवक्किल बोहराजी को समझाया कि "मैं बचाव करता, लेकिन जब कर-चोरी की बात सच्ची है तो उसका मैं क्या बचाव करता, वह अपराध साबित भी हो चुका है। अत अब आप निसकोच होकर अपना अपराध अदालत मे न्यायाधीश के सामने स्वीकार कर ले। और कर-चोरी की शुरू से लेकर अब तक की फहरिस्त बना कर उनके सामने पेश कर दे।" बोहराजी पहले तो बहुत हिचकिचाए, अनाकानी करने लगे, किन्तु जब उन्हे गांधीजी ने पुन समझाया कि "अपराध स्वीकार कर लेने मे तथा जो भी बात जैसी हुई हो, वैसी बता देने मे सरकार दण्ड माफ भी कर सकती है, अथवा अल्पतम दण्ड देकर छोड सकती है।" गांधीजी की बात मान कर बोहराजी ने शुरू से लेकर अब तक की की हुई कर-चोरी की सूची बनाई और न्यायाधीश के सामने पेश करते हुए अपना अपराध स्वीकार कर लिया। न्यायाधीश ने उन्हे सख्त सजा न देकर सिर्फ कर-चोरी की अर्थराशि से दुगुनी अर्थराशि भर देने का दण्ड दिया और भविष्य मे कभी कर-चोरी करने की हिदायत दी। बोहराजी ने उक्त सजा सहर्ष स्वीकार कर ली और दण्ड की अर्थराशि भर दी। भविष्य मे अपनी फर्म के सभी मुनीम एव कर्मचारियो को उन्होने सावधान कर दिया कि मेरी फर्म में आयदा कोई कर-चोरी न की जाए। साथ ही उन्होंने कर-चोरी का सारा विवरण एक बडे कागज पर लिखवा कर उसे शीशे मे मढवा कर अपनी फर्म मे टगवा दिया, ताकि प्रत्येक कर्मचारी इसे देखकर सजग रहे।

यह था, सत्यबल का चमत्कार, जो केवल बुद्धिबल से नहीं हो सका, न हो सकता था।

मनुष्य कई बार अपने सौन्दर्य पर इतराता है, वह अहकारपूर्वक सोचने लगता है कि रूप के बल पर मैं हर आदमी को आकर्षित एव मोहित कर सकता हूँ, अपना बना सकता हूँ। परन्तु रूप का बल भी अचानक किसी रोग या दुर्घटना के होते ही समाप्त हो जाता है। क्या रूप को विकृत होते देर लगती है ? सनत्कुमार चक्रवती के रूप का गर्व कितनी जल्दी काफूर हो गया ? जो लोग अपने रूप पर इतराते थे, उनके सब मन सूबे मिट्टी मे मिल गए। इसलिए रूपबल का भी कोई स्थायित्व नही है।

कई लोग यही कहते है कि द्रौपदी, सीता आदि के सकट के समय देवता सहायता करने आ गए थे, सत्य थोडे ही सहायता करने आया था ? किन्तु यदि हम इस तथ्य की गहराई से छानबीन करें तो हमे साफ प्रतीत हो जाएगा कि उन दे

गाँधीजी के सत्य-कथन का अँग्रेज न्यायाधीश पर वहुत जवर्दस्त प्रभाव पडा। उसने गाँधीजी से पूछा—"क्या तुम्हारा मवक्किल अपना अपराध अदालत मे स्वीकार कर सकता है ?"

गाँधीजी ने कहा—"हाँ, मैं उन्हे इसके लिए तैयार करने का प्रयत्न करूँगा।"

गाँधीजी ने अपने मवक्किल वोहराजी को समझाया कि "मैं वचाव करता, लेकिन जव कर-चोरी की वात सच्ची है तो उसका मैं क्या वचाव करता, वह अपराध साबित भी हो चुका है। अत अव आप नि सकोच होकर अपना अपराध अदालत मे न्यायाधीश के सामने स्वीकार कर ले। और कर-चोरी की शुरू से लेकर अब तक की फहरिश्त वना कर उनके सामने पेश कर दें।" वोहराजी पहले तो वहुत हिचकिचाए, अनाकानी करने लगे, किन्तु जव उन्हे गाँधीजी ने पुन समझाया कि "अपराध स्वीकार कर लेने से तथा जो भी वात जैसी हुई हो, वैसी वता देने से सरकार दण्ड माफ भी कर सकती है, अथवा अल्पतम दण्ड देकर छोड सकती है।" गाँधीजी की वात मान कर वोहराजी ने शुरू से लेकर अव तक की की हुई कर-चोरी की सूची वनाई और न्यायाधीश के सामने पेश करते हुए अपना अपराध स्वीकार कर लिया। न्यायाधीश ने उन्हे सख्त सजा न देकर सिर्फ कर-चोरी की अर्थराशि से दुगुनी अर्थ-राशि भर देने का दण्ड दिया और भविष्य मे कभी कर-चोरी करने की हिदायत दी। वोहराजी ने उक्त सजा सहर्ष स्वीकार कर ली और दण्ड की अर्थराशि भर दी। भविष्य मे अपनी फर्म के सभी मुनीम एव कर्मचारियो को उन्होने सावधान कर दिया कि मेरी फर्म में आयदा कोई कर-चोरी न की जाए। साथ ही उन्होने कर-चोरी का सारा विवरण एक वडे कागज पर लिखवा कर उसे शीशे मे मढवा कर अपनी फर्म मे टगवा दिया, ताकि प्रत्येक कर्मचारी इसे देखकर सजग रहे।

यह था, सत्यवल का चमत्कार, जो केवल वुद्धिवल से नही हो सका, न हो सकता था।

मनुष्य कई वार अपने सौन्दर्य पर इतराता है, वह अहकारपूर्वक सोचने लगता है कि रूप के वल पर मैं हर आदमी को आकर्षित एव मोहित कर सकता हूँ, अपना वना सकता हूँ। परन्तु रूप का वल भी अचानक किसी रोग या दुर्घटना के होते ही समाप्त हो जाता है। क्या रूप को विकृत होते देर लगती है ? सनत्कुमार चक्रवती के रूप का गर्व कितनी जल्दी काफूर हो गया ? जो लोग अपने रूप पर इतराते थे, उनके सव मन सूवे मिट्टी मे मिल गए। इसलिए रूपवल का भी कोई स्थायित्व नही है।

कई लोग यही कहते हैं कि द्रौपदी, सीता आदि के सकट के समय देवता सहायता करने आ गए थे, सत्य थोडे ही सहायता करने आया था ? किन्तु यदि हम इस तथ्य की गहराई से छानवीन करें तो हमे साफ प्रतीत हो जाएगा कि उन देवो

जाता है। दर्शकगण उसकी ऊँचाई और कलेवर देखकर आश्चर्य और कुतूहल करते हैं, परन्तु जब रावणवध का समय आता है तो एक छोटा-सा आदमी एक कोने मे जरा-सी दियासलाई लगा देता है। देखते ही देखते वह विशालकाय आकृति कुछ ही देर मे जलकर भस्म हो जाती है। यही हाल असत्य के आधार पर खडे किये गए आवरण का होता है। इसलिए स्थिरता और वास्तविक शक्ति केवल सचाई मे है। जब उत्थान की घडी प्रारम्भ होती है, तब सत्य का आलम्बन लेने की इच्छा प्रबल हो जाती है। सत्य का बल उसमे साहस, सक्रियता और कार्यक्षमता पैदा कर देता है।

इसलिए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि चिरस्थायी सफलताओ का आधार सत्य है। असत्य के सहारे व्यक्ति थोडे समय तक लाभ प्राप्त कर सकता है, परन्तु जब वस्तुस्थिति प्रगट हो जाती है, तब उस लाभ को समाप्त होते भी देर नही लगती। सत्य का वट-वृक्ष धीरे-धीरे भले ही बढता और फलता-फूलता हो, मगर उसकी जडे गहरी और सुदृढ होती है, बाहर से भी जब वह परिपुष्ट हो जाता है, तब वह हजारो वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाए रखता है। वट-वृक्ष की जडे नीचे जमीन मे भी चलती है और ऊपर की शाखाओ मे से भी निकल कर नीचे आती है, एव जमीन मे प्रवेश कर वृक्ष की पुष्टि और आयुवृद्धि करने मे सहायक होती है। अन्य छोटे पेड-पौधे प्राकृतिक आघातो को अधिक देर तक नही सह सकते, वे शीघ्र ही बूढे एव जीर्ण-शीर्ण होकर अपना अस्तित्व खो बैठते है। जबकि वटवृक्ष चिरस्थायी और सुदृढ रहता है। सत्य वटवृक्ष के समान है। उसका लाभ चिरस्थायी होता है। सत्य से भिन्न आधारो पर प्राप्त की गई सफलताएँ बरसाती घासपात की तरह है, जो सत्य के सूर्य की प्रखरता को सहने मे समर्थ नही होती। इसलिए मैंने कहा कि सत्य के प्रकाश का मुकाबला हजारो सूर्य भी नही कर सकते, उनकी शक्ति परास्त हो जाती है, सत्य के प्रकाश के सामने। इसीलिए सत्य के बल को अनन्त बताया गया है।

इस सत्य द्वारा प्राप्त आत्मबल को वर्तमान युग की भाषा मे 'सत्याग्रह' कहते है। सत्याग्रह का वास्तविक अर्थ—सत्यबल का प्रयोग या सत्यबल को दृढतापूर्वक पकडना है। दुनिया का कोई भी बल सत्यबल की तुलना नही कर सकता। इस बल के सामने मनुष्यशक्ति तो क्या [illegible] भी हार जाती है।

उपासकदशासूत्र मे कामदेव श्रावक का वर्णन आता है, वह सत्यव्रती श्रावक था। उसकी परीक्षा के लिए देवता ने अपनी सारी शक्ति अजमा ली। लेकिन [illegible] अपने सत्यव्रत पर [illegible] रहा। उसने किसी अन्य शक्ति का आश्रय नही लिया। [illegible] सत्योपार्जित आत्मबल से ही उस परीक्षक देव की सारी शक्ति को [illegible] कर दिया था।

परन्तु जहाँ सत्यबल होता है, वहाँ क्रूरता, अन्याय, अत्याचार, दमन आदि नही टिक सकते है। अगर ये दुर्गुण है तो वह सत्यबल नही, असत्यबल है। सत्यबली किसी को श्राप नही दे सकता, किसी का बुरा चिन्तन नही कर सकता, न किसी का अनिष्ट कर सकता है। यद्यपि सत्यबली मे इतनी शक्ति आ जाती है कि वह चाहे तो एक भृकुटिमात्र से विरोधी को भस्म कर दे, लेकिन फिर उसका सत्यबल असत्यबल बन जाता है।

भगवान महावीर के युग मे चारो ओर हिंसा का साम्राज्य था। लोग यज्ञ के नाम पर मूक पशुओ का नृशसतापूर्वक वध कर डालते थे। भगवान महावीर क्षत्रिय थे, वे चाहते तो राज्यसत्ता द्वारा भी उस हिंसा को मिटवा सकते थे, लेकिन इस प्रकार कार्य करने से हिंसा स्थायी रूप से निर्मूल न होती, राज्यशक्ति मे शिथिलता आते ही वह हिंसा पुन प्रचलित हो जाती। अत उन्होने सत्य की शक्ति से ही जनता को सत्य विचार देकर उस हिंसा को स्थायीरूप से मिटा दिया, जन-मानस मे हिंसा के प्रति अनास्था पैदा कर दी। सत्यबली पुरुष के प्रभाव से अग्नि शीतल हो जाती है, विष अमृत बन जाता है, अस्त्र-शस्त्र फूल से कोमल बन जाते है, तब क्रूर प्राणियो की क्रूरता दूर होने मे क्या सन्देह रह जाता है? लेकिन शर्त यही है कि सत्यबली द्वारा किया जाने वाला प्रयोग दूसरो को दबाने, सताने, नष्ट करने या हानि पहुँचाने वाला नही होना चाहिए। अन्याय, अत्याचार और दमन से अत्याचारादि एक बार भले ही शान्त होते दिखाई दें, मगर समय पाकर वे भयकर रूप मे ज्वालामुखी की तरह फट पडते है। इसीलिए सत्यबली के सत्याग्रह मे दूसरे के सुधार का हेतु रहता है, नाश का नही। जो सत्याग्रह दूसरो का नाश करने या बलात् दमन करने के लिए किया जाता है, वह स्वय करने वाले का ही नाश कर देता है। यही कारण है कि सत्यबली स्वय कष्ट सह लेता है, आत्मदमन करता है, किन्तु मन मे जरा भी क्रोध या द्वेष की रेखा नही आने देता, इसलिए उसका प्रभाव विरोधी पर स्थायी रूप से पडता है, उसका हृदय परिवर्तन तक हो जाता है।

श्मशान मे ध्यानस्थ गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर सोमल ब्राह्मण ने धधकते हुए अगारे रखे, लेकिन इस भीषण विपत्ति से भी गजसुकुमार मुनि का हृदय क्षुब्ध न हुआ, न सोमल के प्रति क्रोध आया। शान्त, समभाव मे मग्न, एकमात्र आत्मभाव मे लीन गजसुकुमार मुनि के पास सत्य का बल था, तभी तो उन पर जरा भी प्रभाव बाह्य परिस्थितियो का नही हुआ। न ही वे जरा भी अशान्त हुए। यह सत्य की शक्ति का ही प्रत्यक्ष चमत्कार था।

नास्तिक भी सत्य की शक्ति को मानते हैं

मुझे कभी नास्तिक लोगो से भी मिलने का अवसर आता है। मैंने उनके साथ भी धर्म-अधर्म की चर्चाएँ की है। मैंने धर्म के प्रति उनके इन्कार करने पर यही पूछा कि आखिर ऐसा कौन-सा आधार है, जिसके बल पर मनुष्य का जीवन आसानी से चल सकता है, मनुष्य-मनुष्य का विश्वास कर लेता है, दूसरे की रक्षा के लिए अपने

परन्तु जहाँ सत्यबल होता है, वहाँ क्रूरता, अन्याय, अत्याचार, दमन आदि नही टिक सकते है। अगर ये दुर्गुण है तो वह सत्यबल नही, असत्यबल है। सत्यबली किसी को श्राप नही दे सकता, किसी का बुरा चिन्तन नही कर सकता, न किसी का अनिष्ट कर सकता है। यद्यपि सत्यबली मे इतनी शक्ति आ जाती है कि वह चाहे तो एक भृकुटिमात्र से विरोधी को भस्म कर दे, लेकिन फिर उसका सत्यबल असत्यबल बन जाता है।

भगवान महावीर के युग मे चारो ओर हिंसा का साम्राज्य था। लोग यज्ञ के नाम पर मूक पशुओ का नृशसतापूर्वक वध कर डालते थे। भगवान महावीर क्षत्रिय थे, वे चाहते तो राज्यसत्ता द्वारा भी उस हिंसा को मिटवा सकते थे, लेकिन इस प्रकार कार्य करने से हिंसा स्थायी रूप से निर्मूल न होती, राज्यशक्ति मे शिथिलता आते ही वह हिंसा पुन प्रचलित हो जाती। अत उन्होने सत्य की शक्ति से ही जनता को सत्य विचार देकर उस हिंसा को स्थायीरूप से मिटा दिया, जन-मानस मे हिंसा के प्रति अनास्था पैदा कर दी। सत्यबली पुरुष के प्रभाव से अग्नि शीतल हो जाती है, विष अमृत बन जाता है, अस्त्र-शस्त्र फूल से कोमल बन जाते है, तब क्रूर प्राणियो की क्रूरता दूर होने मे क्या सन्देह रह जाता है? लेकिन शर्त यही है कि सत्यबली द्वारा किया जाने वाला प्रयोग दूसरो को दबाने, सताने, नष्ट करने या हानि पहुँचाने वाला नही होना चाहिए। अन्याय, अत्याचार और दमन से अत्याचारादि एक बार भले ही शान्त होते दिखाई दें, मगर समय पाकर वे भयकर रूप मे ज्वालामुखी की तरह फट पडते हैं। इसीलिए सत्यबली के सत्याग्रह मे दूसरे के सुधार का हेतु रहता है, नाश का नही। जो सत्याग्रह दूसरो का नाश करने या बलात् दमन करने के लिए किया जाता है, वह स्वय करने वाले का ही नाश कर देता है। यही कारण है कि सत्यबली स्वय कष्ट सह लेता है, आत्मदमन करता है, किन्तु मन मे जरा भी क्रोध या द्वेष की रेखा नही आने देता, इसलिए उसका प्रभाव विरोधी पर स्थायी रूप से पडता है, उसका हृदय परिवर्तन तक हो जाता है।

श्मशान मे ध्यानस्थ गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर सोमल ब्राह्मण ने धधकते हुए अगारे रखे, लेकिन इस भीषण विपत्ति से भी गजसुकुमार मुनि का हृदय क्षुब्ध न हुआ, न सोमल के प्रति क्रोध आया। शान्त, समभाव मे मग्न, एकमात्र आत्मभाव मे लीन गजसुकुमार मुनि के पास सत्य का बल था, तभी तो उन पर जरा भी प्रभाव बाह्य परिस्थितियो का नही हुआ। न ही वे जरा भी अशान्त हुए। यह सत्य की शक्ति का ही प्रत्यक्ष चमत्कार था।

नास्तिक भी सत्य की शक्ति को मानते हैं

मुझे कभी नास्तिक लोगो से भी मिलने का अवसर आता है। मैंने उनके साथ भी धर्म-अधर्म की चर्चाएँ की है। मैंने धर्म के प्रति उनके इन्कार करने पर यही पूछा कि आखिर ऐसा कौन-सा आधार है, जिसके बल पर मनुष्य का जीवन आसानी से चल सकता है, मनुष्य-मनुष्य का विश्वास कर लेता है, दूसरे की रक्षा के लिए अपना

लोगो का मत है कि बैल के सीग पर यह टिकी हुई है । मगर वैज्ञानिक दृष्टि से सोचा जाय तो यह विराट् जगत् सत्य पर आधारित है । सूर्य सत्य पर ही टिका है । वह समय पर ही उदित और अस्त होता है । ससार की अनोखी घडी सूर्य है, जिसमे घटा, मिनट, दिन आदि का ठीक-ठीक ज्ञान ससार को हो जाता है । सूर्य की गति जरा भी गडबड हो जाए तो ससार की सभी व्यवस्थाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं । परन्तु प्रकृति का यह सत्य नियम है कि सूर्य का उदय और अस्त ठीक समय पर होता है ।

मतलब यह है कि जीवन की जितनी भी साधनाएं हैं, चाहे वह प्रकृति की हो या चैतन्य की हो, वे सब अपने-आप मे सत्य पर आधृत हैं, जड और चेतन सभी सत्य पर प्रतिष्ठित हैं । जड प्रकृति सत्य की सीमा मे चलती है, तब तक सब कुछ व्यवस्थित रूप मे चलता है, परन्तु ज्यो ही इस सीमा का उल्लघन होता है, ससार मे हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है । भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि सब जड प्रकृति द्वारा सत्य की सीमा का व्यतिक्रम है । यही हाल चेतन का है, वह भी सत्य की मर्यादा मे चलता है, तब तक कोई गडबड नही होती, किन्तु ज्योही सत्य की मर्यादा को तिलाजलि देकर आगे बढता है, त्यो ही समाज और राष्ट्र मे अराजकता, विप्लव और अव्यवस्था छा जाती है । सत्य का पालन प्रकृति भी करती है । समयानुसार ऋतुओ का परिवर्तन होना, समुद्र मे ज्वार और भाटा का आगमन, सूर्य और चन्द्रमा का समय पर उदय और अस्त होना, ग्रहो का नियत परिभ्रमण, ये सब प्राकृतिक सत्य के परिचायक हैं । यदि प्रकृति इस प्रकार सत्य का अनुसरण न करे तो बहुत ही अव्यवस्था फैल सकती है ? ग्रीष्म ऋतु के समय शरद्-ऋतु आ जाय और वर्षा ऋतु के समय वसन्त ऋतु आ जाए तो कितनी गडबडी हो जाती है ? इसी तरह मानव भी सत्य का उल्लघन करता है तो समाज मे अव्यवस्था और अराजकता फैल जाती है । वर्तमान युग की जितनी भी सामाजिक एव राष्ट्रीय अव्यवस्थाएँ हैं, वे सब सत्य का अतिक्रमण करने के कारण हैं । इसलिए सामाजिक राष्ट्रीय कौटुम्बिक या आर्थिक सभी प्रकार की व्यवस्थाओं को सुरक्षित रखने के लिए सत्य की नितान्त आवश्यकता है ।

प्रकाश और मूल-बिन्दु है, जिसे पकडने और धारण करने वाला व्यक्ति ससार की प्रत्येक वस्तुस्थिति का परिपूर्ण एव आवकाररहित ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

सत्य मानव-जीवन की एक ऐसी अवस्था है, जहाँ स्थित होकर अपने आसपास के सम्पूर्ण वातावरण का सम्यक् और यथार्थ अध्ययन किया जा सकता है। क्योकि जब कोई व्यक्ति सत्य बोलने या सत्य व्यवहार करने का व्रत लेता है तो दुनियाभर की अहताएँ उससे टकराती हैं। कीचड मे फँसा हुआ बीज अपने-आपको कीचड से अधिक नही सोच सकता, किन्तु जब वही अकुरित और पल्लवित होकर अपने-आपको चेतना से समृद्ध कर लेता है, तब वह न केवल उस कीचड के प्रभाव से बच जाता है, वरन् उस कीचड मे ही फँसी हुई बहुमूल्य विभूतियो का अपने लिए अर्जन करने लगता है और वही उसकी अन्त उपार्जित विभूतियाँ ही सौरभ के रूप मे फूट पडती है। और तब पहले जहाँ कीचड की निन्दा होती थी, वहाँ अब उसमे से जन्मे कमल की प्रशसा होने लगती है। यह ससार भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि के कीचड जैसा है, जहाँ हर व्यक्ति अपने स्वार्थ एव अहत्व की पूर्ति चाहता है। ऐसी परिस्थिति मे जीवन और जगत् के यथार्थ रहस्य को समझ सकना कठिन हो जाता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति सत्य का आश्रय ले लेता है तो कमल के समान वह अपनी आत्मा के मूल-बिन्दु पर स्थित होकर विश्व एव जीवन के यथार्थ को समझ लेता है। भलीभाँति समझा हुआ सत्य ही स्वर्ग और बन्धन-मुक्ति का आधार बनता है।

इसीलिए आचारागसूत्र मे इस तथ्य को उजागर करते हुए कहा है—

सच्चम्मि धिइ कुव्वहा। एत्थोवरए मेहावी सव्व पाव कम्म झोसइ।

—यथावस्थित वस्तुस्वरूप को प्रकट करने वाला सत्य ही है। इसलिए सत्य मे अपनी धृति करो—यानी सत्य को धारण करो। जो मेधावी तत्त्वदर्शी हिंसा, असत्य, स्वार्थ, मोह आदि कुपथ से उपरत (विरत) होकर सत्य को ग्रहण करता है, उसके पालन मे धैर्य रखता है, वह समस्त पाप-कर्मों का नाश कर देता है।

शास्त्र की उक्ति से यह स्पष्ट है कि जब मनुष्य सत्य को दृढता से अपना लेता है तो जो पापकर्म उसे घेरे हुए हैं, उन सबको वह दूर कर देता है। सत्य को अपनाए बिना अनन्तकाल से जीव को घेरे हुए कर्म दूर नही होते, कर्म दूर हुए बिना बन्धन-मुक्ति नही हो सकती, या पापकर्म नष्ट हुए बिना स्वर्गादि सुख नही मिल सकता।

मैने पहले बताया था कि सत्य एक बुनियादी चीज है। बुनियादी का अर्थ है जीवन की नीव सत्य से ही पडनी चाहिए। ऐसा इसलिए बताया गया है कि एक बार सत्य मूल मे पड जाने पर आगे के जीवन मे सदा सत्य का ही व्यवहार तथा चिन्तन होगा, सत्य ही जीवन का सर्वस्व रहेगा। इसी सत्य का पुजारी प्रभु के चरणो मे प्रार्थना करते हुए कहता है—

प्रभु ! विनय यही है चरणन मे ।
हो सन्मति जन-जन के मन मे ॥
सत्य का सब देश पुजारी हो,
हठवाद की दूर बीमारी हो ।
अभिमान न हो, मानव मन मे ॥
सत्य ही सोचें, सत्य ही बोले,
सत्य ही नापे, सत्य ही तोले ।
रहे मस्त सदा सत्प्रण मे ॥

सत्य का पुजारी अन्तर की जितनी गहराई मे पैठ गया है । वह सत्य को केवल व्यक्तिगत वस्तु नही बनाकर, सारे देश का आदर्श बनाना चाहता है, और चाहता है—हठवाद, मिथ्याग्रह की बीमारी को दूर करना, जिसका मूल अभिमान है । वह सृष्टि के कण-कण मे सत्य को ओत-प्रोत देखना चाहता है । सारा ससार सत्य ही सोचे, सत्य का ही चिन्तन करे, सत्य ही बोले, सत्य की दृष्टि से ही जीवन और जगत् का, वस्तुस्थिति का, न्याय-अन्याय का, प्रमाण-अप्रमाण का नाप-तौल करे । प्रण भी सदा सत्य हो । निष्कर्प यह है कि सारे ससार का धर्म सत्य हो, जोकि भगवद्भक्ति का सार है, सारा ससार उसी सत्य की अर्चा मे अपने जीवन को न्यौछावर कर दे ।

जिस जाति, सस्कृति, समाज अथवा सस्था की बुनियाद मे सत्य होगा, वह सत्य के सभी अगो से ओतप्रोत हो सकती है, सत्य को सर्वांगरूप से जीवन व्यवहार मे अपनाना उसके लिए कोई कठिन समस्या नही होगी, अपितु सत्य उसके लिए सहज स्वभाव बन जाएगा ।

कई लोग भ्रमवश बुनियादी का अर्थ समझ लेते हैं—मामूली या प्राथमिक चीज । जैसे कि लोग कह देते है कि सत्य केवल साधु-सन्यासियो के लिए ही आवश्यक है, बाकी गृहस्थजीवन मे राजनीति, अदालत या व्यापार आदि मे उसकी आवश्यकता नही । किन्तु मामूली का अथवा जरा-सा या साधारण-सा गलत है, बल्कि सर्व सामान्य के लिए सत्य आवश्यक वस्तु है, यह अर्थ होना चाहिए । क्या साधु और क्या गृहस्थ सभी लोगो के, राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति, व्यापार, अदालत आदि सभी क्षेत्रो मे सत्य आवश्यक है, सर्वसामान्यव्यापी है ।

इसी प्रकार बुनियादी का प्राथमिक अर्थ भी सगत नही है । जैसे बुनियादी-शाला का अर्थ आम लोग प्राथमिकशाला लगाते हैं । उसी भ्रान्त दृष्टि के शिकार लोग सत्य को प्रथम दर्जे के लिए उपयुक्त गुण मानते हैं । अर्थात् सत्य प्राइमरी स्कूल के बालको के लिए पालनीय है, माध्यमिक या उच्च श्रेणी (कॉलेज) के लडको या प्रौढो के लिए नही । ऐसा समझकर अधिकाश लोग कह बैठते हैं—सत्य तो बच्चो या साधु-सन्यासियो के लिए है, हमारे लिए नही । बाकी सबके लिए अपवाद इस प्रकार

के गलत अर्थ की ओट मे बडे—प्रौढवय के लोग अपना व्यवहार असत्यपूर्वक चलाने मे जरा भी सकोच नही करते। अपवाद के रूप मे सत्य को अपनाने वाले तथाकथित बडे प्रौढवयस्क लोग उत्सर्ग की सूची से अपवाद की सूची काफी लम्बी बना लेते है। परन्तु मत्य को बुनियादी कहने का यह अर्थ गलत है, भ्रान्त है। सत्य को बुनियादी कहने का अर्थ है, प्रत्येक मानव के जीवन मे सत्य को सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक है। माराश यह है, सत्य की साधना का आरम्भ बचपन से, घर और स्कूल से हो, और वह आगे से आगे जीवन की लम्बी यात्रा मे बना रहे। इसलिए मैं तो यह निश्चितरूप से मानता हूँ कि क्या प्राथमिक, क्या माध्यमिक और क्या अन्तिम सत्य की साधना ही सर्वोपरि एव सर्वोत्तम होगी। यदि मर्वसामान्य व्यक्ति सत्य को जीवन मे प्रथम स्थान देकर अपना लें, और असत्य का त्याग कर दें तो आज जिन अदालतो की सीढियो पर उन्हे प्राय प्रतिदिन चक्कर काटना पडता है, जिन वकीलो को अपनी गाढी कमाई का धन देना होता है, जिनकी खुशामद करनी पडती है, तथा अनेक मानसिक चिन्ताओ मे व्यथित रहना पडता है, उन सबसे वह बच सकता है। आजकल वकीलो और अदालतो का धधा प्राय असत्य मुकदमो-मामलो पर ही चल रहा है। महात्मा गाँधी की तरह वकालत मे सत्य का सहारा लेने पर तो उनका धधा ही चौपट हो जाए किन्तु सर्वसामान्य लोग प्राय झूठे मुकदमे लेकर वकीलो आदि के पास आते है, और अपना सर्वस्व लुटाकर आनन्द मनाते है। इसीलिए महाभारत मे मत्य को जीवन का परम धर्म सर्वोपरिधर्म कहा है।[1] सत्य से बढकर कोई धर्म नही, असत्य से बढकर कोई पाप नही। सत्य ही धर्म का आधार है। अत सत्य का परित्याग कदापि नही करना चाहिए।

सत्य मानव-जीवन की अनमोल विभूति है। जो अपने प्रति, अपने कर्तव्यो के प्रति, अपने परिवार समाज और राष्ट्र के प्रति मन-वचन-काया से सच्चा रहता है, वह इसी जीवन मे, इसी शरीर और ससार मे स्वर्गोपम सुख प्राप्त करता है। उसके लिए सुख-शान्ति और साधन-सामग्री की कोई कमी नही रहती।

इससे भी आगे बढकर सत्य मानव को महानता और उच्चता के शिखर पर पहुँचाने वाला प्रशस्त और निरापद मार्ग है। इसके पालन और आचरण मे एक कौडी का भी खर्च नही, और न ही किसी से ऋण लेकर कर्जदार बनना पडता है। सत्य पर निष्ठापूर्वक चलने वाले पथिक को किसी भी देश और किसी भी काल मे भय या सकट नही रहता। जब व्यक्ति मे सत्य पर दृढ निष्ठा हो जाती है तो वही उसे पाप-कर्म से दूर रखती है। वही उसे अकरणीय, गर्हित एव निन्दित कार्यो के करने से दूर

---

१ नास्ति सत्यात् परो धर्मो, नानृतात् पातक परम्।
वृतिर्हि धर्म सत्यस्य तस्मात् सत्य न लोपयेत्॥

—महाभारत, शान्ति पर्व १६२।२४

रखती है। दण्ड या निन्दा के भय से सत्यनिष्ठ व्यक्ति पहले से ही असत्य का सहारा लेना छोड देता है। जो दुष्कृत्यो, दुराचरणो एव दुर्व्यवहारो मे बचा रहता है, वह अपमान, निन्दा अपवाद आदि के आघातो से सुरक्षित रहता है। सत्याश्रयी एव सत्यनिष्ठ व्यक्ति निर्भय, निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व एव सुख-शान्ति मे परिपूर्ण रहते है। वह स्पष्ट होकर व्यवहार करता है। न तो उसे कही भय होता है और न ही आशका। सत्य मनुष्य के सम्मान, प्रतिष्ठा और आत्मगौरव के लिए अमोघ कवच के समान होता है, जो इस कवच को धारण कर लेता है, उसके लिए निन्दा, अपमान और अपवाद का कोई कारण नही रहता। वह अजातशत्रु होकर समाज को अपने व्यवहार से जीत लेता है।

ससार मे विद्यमान सारा का सारा ज्ञान सत्य मे समाया हुआ है। क्योकि विशाल सत्य की दृष्टि जहाँ होगी, वहाँ सत्य के दर्शन हो जायेंगे। ऐसे सत्यदर्शन मे सारा ज्ञान आ जाता है, इसलिए सत्यनिष्ठ सत्यदर्शी पुरुष को जानने योग्य कुछ भी शेष नही रहता। जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है—

नाणस्स सव्वस्सपगासणाय, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाय।

—समस्त ज्ञान के प्रकाश के लिए और अज्ञान व मोह से रहित होने के लिए व्यापक सत्यदर्शन आवश्यक है।

सचमुच, सत्यज्ञान मे अन्य सभी ज्ञा[illegible] विष्ट हैं। सत्य का परिपूर्ण पालन हो सका तो सहज ही सारा ज्ञान प्राप्त ह[illegible] गीता मे भी बताया गया है—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयो [illegible]

इसलिए यह माना जा सकता है कि सत्य का अवलम्बन लेकर चलने वाले व्यक्ति को प्रारम्भ मे कुछ कठिनाइयाँ महसूस हो, किन्तु आगे चलकर उसे आशातीत लाभ होता है। कम से कम, असफलता तो नही मिलती।

सत्य पुण्य की खेती है। जिस तरह अन्न की खेती करने मे प्रारम्भ मे कुछ कठिनाई उठानी पडती है, फसल के लिए थोडी प्रतीक्षा भी करनी पडती है, किन्तु जब कृषि फलवान होती है, तो घर को धन-धान्य से भर देती है, उसी तरह सत्य की खेती भी प्रारम्भ मे थोडा त्याग, बलिदान और धैर्य मांगती है, किन्तु जब वह फलती है तो इहलोक से परलोक तक मानव जीवन को पुण्यो से भरकर कृतार्थ कर देती है।

इस प्रकार हम देखते है कि सत्य मानव-जीवन के प्रत्येक मोड पर सम्बल बनता है। सत्य का सहारा व्यक्ति, समाज, जाति, धर्मसघ एव राष्ट्र को उज्ज्वल, महनीय एव बलवान बना देता है।

आप भी सत्य के बल को प्राप्त करके महाबली बनिये और अपने जीवन को अध्यात्म-शक्ति के उच्च शिखर पर पहुँचाने का प्रयत्न कीजिए। ✡

5

श्रावक की सत्य की मर्यादा

☆

भारतवर्ष का प्रत्येक साधक चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, सत्यव्रत को लेकर अवश्य चलता है। सत्यव्रत के विना उसकी साधना एक कदम भी आगे बढ नही सकती। सत्य उसकी साधना का केन्द्रबिन्दु है। सत्य के विना श्रावक का कोई भी व्रत, नियम, त्याग, तप, प्रत्याख्यान आदि चल नही सकता। सत्य के विना समाज का कोई भी व्यवहार नही चल सकता, यहाँ तक कि रोजमर्रा का जीवन भी सत्य के विना नही चल सकता। क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, क्या नैतिक और क्या राजनैतिक, क्या धार्मिक और क्या आध्यात्मिक, जीवन के सभी क्षेत्रो मे सत्य अनिवार्य है। इसलिए श्रावक को ही क्या, प्रत्येक मनुष्य को सत्य का पालन करना चाहिए।

सत्य की साधना का द्वार किसी व्यक्ति विशेष के लिए ही नही, सबके लिए खुला है। साधु भी सत्य साधना के पथ पर चलता है और एक गृहस्थ (श्रावक) भी उस पथ पर चल सकता है। सत्य सबके लिए एक-सा है। परन्तु व्यक्ति की शक्ति, क्षमता और रुचि के अनुसार उसकी साधना मे कुछ अन्तर है, मर्यादाओ मे थोडी-सी भिन्नता है।

आगम मे साधु के लिए बताया गया है कि वह तीन करण तीन योग से—यानी कृत, कारित और अनुमोदन के रूप मे—मन, वचन एव काया से असत्य का सर्वथा त्याग करे। इसलिए वह द्रव्य से समस्त द्रव्यो के लिए, क्षेत्र से सर्वक्षेत्र मे, काल से सब कालो मे और भाव से (तीन करण, तीन योग से) असत्य का त्याग करता है। वह क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश तथा कर्कशकारी, कठोरकारी, निश्चयकारी, हिंसाकारी, छेदनकारी, भेदनकारी, सावद्य (सतप्त) भाषा का प्रयोग नही कर सकता। उसकी भाषा हास्य एव व्यग्य से युक्त, मर्मभेदी, कषाय एव प्रमाद से युक्त नही होनी चाहिए। वह शब्दो का निरर्थक प्रयोग नही कर सकता। उसकी वाणी हित, मित, प्रिय, तथ्य और पथ्य से युक्त होनी चाहिए। उसकी भाषा मे किसी प्रकार का पक्षपात, सन्देह, द्वयर्थकता, छिछलापन आदि नही होना चाहिए। उसकी वाणी मे इतना गाम्भीर्य, तेज, ओज, त्याग, तप एव शान्ति का आभास होना चाहिए, ताकि उसके शब्दो से उसकी साधुता अभिव्यक्त हो। जीवन की गहन साधना और

चारित्र की तेजस्विता उनकी भाषा में झलकनी चाहिए। भाषा समिति और वाग्गुप्ति से उनकी भाषा अनुप्राणित हो।

परन्तु जिस प्रकार अहिंसाव्रत में साधु के लिए पूर्णरूप से छह काया के (समस्त) जीवों की स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार से हिंसा का त्याग करना जरूरी बताया, लेकिन श्रावक को गृहस्थ होने के कारण उसे खेती व्यापार आदि संसार के आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं इसलिए सर्वथा जीव हिंसा का त्याग करना उसके लिए असम्भव है। इसी बात को ध्यान में रखकर श्रावक के लिए अहिंसाव्रत में सकल्पज स्थूल हिंसा का त्याग आवश्यक बतलाया है, ताकि श्रावक के व्यवहार में बाधा न पहुंचे।

गृहस्थाश्रम पालने वाला गृहस्थ श्रावक यदि पहले सूक्ष्म हिंसा का ही त्याग करने जाय तो वह ऐसे चक्कर में पड़ता है, कि सूक्ष्म हिंसात्याग का प्रण तो पालना दूर रहा, स्थूल हिंसा त्याग से भी पतित हो जाता है। उसकी स्थिति 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' जैसी हो जाती है। इसलिए बुद्धिमान सद्गृहस्थ पहले अहिंसाव्रत का पालन करके सकल्पी स्थूल हिंसा का त्याग करता है, फिर जब वह गृहस्थ कार्यों से निवृत्त होता है तब सूक्ष्म अहिंसाव्रत धारण करके सूक्ष्म हिंसा का भी त्याग करता है।

जिस प्रकार अहिंसा के भी स्थूल सूक्ष्म ये दो भेद किये गए हैं उसी प्रकार सत्य के भी स्थूल, सूक्ष्म ये दो भेद शास्त्रकारों ने बतलाए हैं। स्थूल बातों के लिए असत्य आचरण करना स्थूल असत्य है और सूक्ष्म रीति से असत्य-आचरण करना सूक्ष्म असत्य है।

गृहस्थ की साधना साधु की साधना जितनी उत्कृष्ट नहीं होती। उस पर पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व का बोझ होने के कारण वह उतने सूक्ष्म सत्य का पालन नहीं कर सकता। फिर भी ऐसे झूठ से वह अवश्य बचता है जिसे व्यवहार में झूठ कहते हैं जिससे दूसरे का अहित होता हो, जिससे सरकार द्वारा वह दण्डनीय हो, समाज में निन्दित हो, दुनिया में अविश्वास का भाजन बने।

इसी दृष्टि से श्रावक के लिए सत्य-अणुव्रत की मर्यादा इस प्रकार निश्चित की गई है—

'थूलाओ मुसावायाओ वेरमण, दुविहेण तिविहेण मणेण वायाए काएण।

क्योंकि ऐसा करने से सूक्ष्म असत्य का अनुमोदन होता है। लेकिन ऐसा कहने वाले लोग जैनशास्त्रों के गहन विचारों से अनभिज्ञ हैं। जैनशास्त्र ऐसी किसी बात का निषेध नहीं करते, जिनके बिना मनुष्यों का काम न चल सकता हो। ऐसी अवस्था में उन श्रावकों को, जो सासारिक कार्यों को करते हुए सत्य का पालन करना चाहते हैं, यदि स्थूल और सूक्ष्म झूठ के भेद न बतलाए जाएँ तो वे सत्य का पालन कैसे कर सकते हैं? सूक्ष्म असत्य से तो गृहस्थ श्रावक सर्वथा बच नहीं सकते और लोक-व्यवहार में जिस झूठ को झूठ कहा जाता है, वह झूठ स्थूल झूठ के दायरे में आ जाता है, उसका त्याग श्रावक के हो ही जाता है। इसलिए बुद्धिमान लोग असत्य के सूक्ष्म और स्थूल के रूप मे दो भेद न बताने की बात को नहीं मान सकते।

श्रावक के लिए स्थूलमृषावादविरमण व्रत का धारण करना उचित और आवश्यक है। इस व्रत के धारण करने पर गृहस्थ के सासारिक कार्यों मे किसी प्रकार की अड़चन नही हो सकती, बल्कि सासारिक मार्ग सरल हो जाता है। इस सत्य-अणुव्रत को पालन करने वाले श्रावक पर समाज का विश्वास हो जाता है तथा इस व्रत के धारण करने पर वह असत्य के पाप से बहुत अंश मे बच जाता है।

सारांश यह है कि असत्य का पूर्णरूप से त्याग करना तो उचित ही है। इसमें मतभेद की कोई गुञ्जाइश नही है। इस दृष्टि से गृहस्थ श्रावक पूर्ण या किसी अंश मे सूक्ष्ममृषावाद से बच सके तो कोई बुराई की बात नहीं है। लेकिन शास्त्रकारो ने गृहस्थ श्रावको के लिए सूक्ष्ममृषावाद का त्याग न बतलाकर स्थूलमृषावाद का त्याग ही आवश्यक बताया है। क्योंकि गृहस्थश्रावक यदि सूक्ष्ममृषावाद का त्याग करता है तो उसके लिए उसे असत्य का, जैसा कि पहले मैंने स्वरूप बताया था, सर्वथा पूर्णरूप से त्याग करना पड़ता है, जो सासारिक जिम्मेवारियो को देखते हुए उसके लिए अत्यन्त कठिन है। अगर आग्रहवश आवेश मे आकर वह इस प्रकार से स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार के असत्य का त्याग कर भी लेगा तो उसे अनेक असुविधाओ का सामना करना पड़ेगा।

उपासकदशागसूत्र मे आनन्द, कामदेव आदि १० श्रावको के जीवन का उल्लेख है। उन्होंने भगवान महावीर के समक्ष गृहस्थ श्रावक के व्रतो मे सत्य की प्रतिज्ञा ली, तो उन्होने गृहस्थ की मर्यादाओ को ध्यान मे रखकर ही ली थी। साधु जीवन और गृहस्थ-जीवन की मर्यादाएँ अलग-अलग है। शास्त्रकार भी उन मर्यादाओ पर दृष्टि रखते ह और उनके आधार पर ही सत्य का विधान करते हैं। आनन्द श्रावक ने जब सत्य-अणुव्रत ग्रहण किया तो वे पूर्णरूप से असत्य का त्याग नही कर सके थे, उन्होने केवल स्थूलमृषावाद का त्याग किया था। आनन्द श्रावक ने पहले अपनी कमजोरियो की नापतौल की, सोचा-समझा कि मैं गृहस्थ-जीवन मे हूँ। मेरे सिर पर पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्व है। जीवन की अनेक समस्याएँ हैं। अत उन्होने सत्य को एक अंश मे स्वीकार करके स्थूलमृषावाद का त्याग ही किया था। वे जितना चल सकते थे, उतनी ही मर्यादा उन्होने अपने लिए स्वीकार की।

स्थूलमृषावाद और सूक्ष्ममृषावाद

अव प्रश्न होता है कि 'स्थूलमृषावाद (असत्य) क्या है और सूक्ष्ममृषावाद क्या है ?' किसे स्थूल असत्य समझा जाय और किसे सूक्ष्म असत्य ?

वैसे तो असत्य भी हिंसा की तरह सर्वथा त्याज्य है, परन्तु जो जितनी सीमा तक चल सकता है, जितनी सीमा तक ही असत्य का त्याग कर सकता है, करना चाहिए। वैदिक धर्मग्रन्थो मे भी यह वताया गया है कि अगर पूर्ण सत्यनिष्ठ होना कठिन प्रतीत होता हो तो जितना हो सके, अधिकाधिक मात्रा मे उस मार्ग पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए। एक आप्तवचन है—

अनुगन्तु सता वर्त्म, कृत्स्न यदि न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्य, मार्गस्थो नावसीदति ॥

—यदि सत्पुरुषो के मार्ग पर पूरी तरह चल सकना शक्य न हो तो, उस मार्ग का आशिक रूप मे ही अनुसरण करना चाहिए। क्योकि मार्ग पर चल पडने वाला कभी न कभी मजिल पर पहुँच ही जाता है।

जैसे अहिंसा के सम्बन्ध मे स्थूल और सूक्ष्म मर्यादाएँ ह, वैसे ही सत्य के विषय मे भी ह। अहिंसा के पथ पर चलने वाले साधक के सामने पूर्ण अहिंसा का ही लक्ष्य रहता हे। वह चाहता है कि अहिंसा की समस्त धाराएँ उसके जीवन मे उतर जायँ। जैसा कि जैनधर्म ने माना है—

सव्वे जीवावि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ ।
तम्हापाणिवह घोर निग्गथा वज्जमलिणं ॥

—ससार मे जितने भी प्राणी ह, वे सव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नही चाहता। सब मे तुम्हारी तरह सुख-दु ख की अनुभूति की लहर हे। इसलिए विश्व के समस्त प्राणियो की हिंसा का त्याग निर्ग्रन्थ करते हैं। तुम्हारी दया और करुणा की धारा भी प्राणिमात्र के प्रति वहनी चाहिए।

ऐसा होने पर भी पूर्ण अहिंसा को प्राप्त करने के लिए अपनी भूमिका के अनुसार मार्ग स्थिर करके चलो। जैनधर्म ने अहिंसा का वर्गीकरण करके उसके पालन करने की क्रमश सीढियाँ वना दी। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के प्राणियो मे आत्मा समानरूप से है, लेकिन उनकी चेतना व इन्द्रिय-मन के विकास मे अन्तर है।

इस रूप मे सर्वप्रथम पचेन्द्रिय जीव के प्राणो का घात तथा महार वर्जनीय वताया। पचेन्द्रिय जीव का सकल्पपूर्वक घात करना और उसका मास खाना नरक का पथ वताया। उसके पश्चात् द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवो तक की हिंसा का त्याग करने का निर्देश किया। क्योकि जो व्यक्ति अहिंसा के मार्ग पर अभी-अभी चढा है, उससे एकदम उच्च भूमिका की अहिंसा का पालन करना अशक्य होगा। इसलिए गृहस्थ श्रावक के लिए सकल्पपूर्वक त्रसजीवो की हिंसा (स्थूलहिंसा) का

जैसे स्थूलहिंसा का त्याग बताया गया है, वैसे ही सत्यव्रत मे भी स्थूलअसत्य (मृषावाद) का त्याग बताया गया है।

स्थूल असत्य का अर्थ है—जो बात, विचार या कार्य लोक-व्यवहार (आम जनता) की आँखो मे, जनता मे असत्य नाम से प्रचलित है जो राज्य द्वारा दण्डनीय, समाज द्वारा निन्दनीय, गर्हणीय है जिससे किसी जीव की अकारण ही हिंसा होती हो, दुःख पहुँचता हो, वह बात, विचार या कार्य स्थूल झूठ या असत्य है। इससे विपरीत जो है, वह स्थूल सत्य है। शास्त्र मे श्रावक के लिए स्थूल सत्य के ग्रहण और स्थूल असत्य के त्याग को स्थूलमृषावाद-विरमण कहा है।

जैसे अहिंसाव्रत मे श्रावक के लिए प्रमाद और कषाय के योग से सकल्पी हिंसा का त्याग आवश्यक बताया है, उसी प्रकार सत्यव्रत मे भी श्रावक के लिए प्रमाद कषाय के योग से सकल्पी असत्य का त्याग आवश्यक है।

एक आचार्य ने सूक्ष्म असत्य उसे कहा है कि ऐसा वचन जो गृहस्थों को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि का उपयोग करने के लिए प्रयुक्त करना पड़ता है, वह भी समाज-व्यवहार चलाने के लिए अनिवार्य होने पर कहना पड़ता हो। ऐसे एकेन्द्रिय जीवहिंसा की सम्भावनामूलक वचन को सूक्ष्म (अल्प) झूठ कहा है।

जिस वचन मे अपनी, अपने परिवार की, या अन्य किसी भी त्रस जीव की हिंसा होने की सम्भावना हो, ऐसी विपद्ग्रस्त स्थिति मे असत्य की भावना न होते हुए भी जीवन-रक्षा की दृष्टि से बोला गया असत्य स्थूल असत्य मे परिगणित नहीं किया गया है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार मे आचार्य समन्तभद्र गृहस्थ श्रावक के सत्य की मर्यादा का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं,—

स्थूलमलीक न वदेत, न परान् वादयेत् सत्यमपि विपदे।
यत्तद् वदन्ति सन्त स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥

उसके मन मे जो आर्त्तरौद्र ध्यान के दु सकल्प पैदा होगे, वे सत्य बोलने के तथाकथित पुण्य से कई गुना बढकर पापपु ज के उत्पादक होगे।

इस प्रकार की आपत्ति आने पर जैनधर्म सत्य के विषय मे गृहस्थ की मर्यादाएँ बताता है और ऐसा करना उचित भी है। गृहस्थ को अपने राष्ट्र, अपने समाज और परिवार की रक्षा के लिए ऐसे मौके पर सत्य की मर्यादाओ को स्वीकार करना पडता है।

अगर कोई नागरिक किसी दूसरे (शत्रु) देश मे गिरफ्तार हो जाय और शत्रु देश का कोई सेनाध्यक्ष या सैन्य-अधिकारी उससे देश की गुप्त बाते पूछे तो वह नागरिक क्या सच-सच बता दे? अगर वह अपने देश की गुप्त बातें खोल-खोलकर बतला दे, तो उस पर या उसके देश पर मुसीबत आ सकती है सत्य बतलाने पर देश मुसीबत मे पडता है और झूठ कहने पर व्रत खतरे मे पडता है।

ऐसे सकटापन्न समय मे शास्त्र गृहस्थ श्रावक की सत्य की मर्यादा का उल्लेख कर साफ-साफ कह देते हैं, बल्कि 'रहस्याभ्याख्यान' रहस्य (गुप्त) बात को प्रगट कर देना गृहस्थ के लिए सत्यव्रत का अतिचार बताया है।

हाँ, अगर उसकी मृत्यु को स्वीकार करने की तैयारी है तो वह साफ-साफ कह देगा कि मुझे मौत मजूर है, मगर देश की गुप्त बात बतलाना कतई मजूर नही है। अगर उस गृहस्थ की भूमिका इतनी उच्च नही है, उसकी तैयारी मृत्यु का वरण करने की नही है, उस गृहस्थ के लिए सत्य की सीमा बाँध दी है कि वह जितना चल सके, उतना ही चले।

परन्तु उस गृहस्थ के लिए वह तथ्यकथन भी असत्य हो जाएगा, यदि वह भयकर परिणाम लाने वाले, हजारो की जिन्दगी मुसीबत मे डालने वाले और विग्रह खडा कर देने वाले सत्य का प्रयोग करता है।

तात्पर्य यह है कि सत्य की जितनी भी मर्यादाएँ ह या सत्य के विषय मे जितनी भी छूटें दी गई हैं, वे हर समय के लिए उत्सर्ग मार्ग के रूप मे नही दी गई हैं। वे सब अपवादस्वरूप हैं। और अपवाद का प्रयोग क्वचित् ही किया जा सकता है। वस्तुत इन सब अपवादो की मुख्य कसौटी अहिंसा है। जहाँ हिंसा को उत्तेजना मिलती है, अहिंसाव्रत भग होता है वहाँ गृहस्थ के लिए सत्य मे ये कुछ अपवाद हैं।

अपवादो का मुख्य कारण गृहस्थ की जीवनोत्सर्ग करने की असमता है। यदि किसी गृहस्थ मे प्राणोत्सर्ग करने की क्षमता है, तो उसे इन आगारो (छूटो) या अपवादो से लाभ नही लेना चाहिए। श्रावक की दृष्टि आगारो से लाभ लेने की नही होनी चाहिए, उसका ध्येय तो सत्य के पूर्णपालन का ही होना चाहिए।

अर्हन्नक श्रावक के जीवन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अर्हन्नक व्यापार करने के लिए विदेश जा रहा था। जहाज मे अपने साथियो के साथ बैठा था, तभी

गृहपति के तौर पर रह रहा था, उसकी दूसरे सम्प्रदाय वालो के साथ जमीन की तकरार थी। वह जमीन असल मे दूसरे सम्प्रदाय वालो के हक मे थी, परन्तु ब्रह्मचर्याश्रम के तथा इससे सम्बन्धित सम्प्रदाय के मन्दिर के अधिकारियो ने रातोरात दीवार बनाकर अपनी बाउन्ड्री खीच दी, ताकि उनके सम्प्रदाय का हक बरकरार हो जाय। आखिर दूसरे सम्प्रदाय वालो ने मुकदमा चलाया। मुकदमे मे विपक्ष की ओर से गवाह के रूप मे हरिश्चन्द्र ब्रह्मचारी भी थे। उनसे जब बयान लिए गए तो उन्होने साफ-साफ कह दिया कि "जमीन दूसरे सम्प्रदाय के हक की है, इन्होने जबर्दस्ती कब्जा कर लिया है।" इस सत्यपूर्ण बयान पर ब्रह्मचर्याश्रम वाले बहुत बिगडे और सत्यवादी ब्रह्मचारी जी को नौकरी से बर्खास्त कर दिया। वे फिर वहाँ से बनारस चले गए।

हाँ तो झूठ बोलकर जमीन बचाना, अन्यायपूर्ण बात का समर्थन करना वास्तव मे श्रावक की मर्यादा मे नही आता। ऐसा करने पर सकल्पत श्रावक को असत्य लगेगा। सत्यव्रत भग होगा।

कई लोग नौकरी के लिए अपने मालिक के बहीखातो मे झूठा जमाखर्च लिखना स्वीकार कर लेते है, परन्तु श्रावक के लिए यह सत्यव्रत का भग है। नौकरी बचाना तो सरासर स्वार्थ है। स्वार्थ के लिए असत्याचरण करना उचित नही है।

सत्यव्रत मे जो छूट दी गई है, वह अहिंसा की दृष्टि से, प्राणोत्सर्ग करने की अक्षमता की स्थिति मे ही दी गई है। उसका उपयोग हर समय करने का कोई प्रश्न ही नही होता। यही कारण है कि साधु के लिए सत्य के सम्बन्ध मे कोई मर्यादा नही बाँधी गई है। साधु को तो शरीर पर आसक्ति न रखकर सत्य के लिए प्राणोत्सर्ग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। शास्त्र मे भी कहा है—

अवि अप्पणोवि देहम्मि नायरंति ममाइयं।

साधु अपने शरीर पर भी किसी प्रकार का ममत्व नही लाते। शरीर रहे, चाहे जाय, उनके लिए दोनो ही स्थिति मे आनन्द है। किन्तु गृहस्थ के लिए एकान्त रूप मे ऐसा नही बताया गया है। वे दूसरो पर प्राणो पर अकारण ही खतरा उपस्थित होता देखता है तो उस समय अपवाद का प्रयोग भी करता है। परन्तु करता है—लाचारी की हालत मे ही।

पाकिस्तान से आने वाले ओसवाल भाइयों के मुँह से एक आपबीती सुनी थी—उनके घर के पडोस मे ही एक मुसलमान का घर था। उसमे केवल दो प्राणी रहते थे—एक बूढा और एक बुढिया। वे उन लोगो को अपने बच्चो के समान समझते थे। बडा प्यार करते थे। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान विभाजन के समय कुछ मुसलमान उपद्रवियो द्वारा हमला होने की शका हुई तो उन्होने हिन्दू महिलाओ को अपने घर मे छिपा लिया। उन्होने सहानुभूति प्रगट करते हुए हिन्दू भाई को कहा—"घबराओ मत। तुम्हारे घर पर अभी हमला करने वाले आएँगे। वहाँ अगर ये औरते होगी तो उनकी इज्जत जाने और खतरा भी रहेगा, हमारे यहाँ ये सुरक्षित होगी।' मालूम हुआ

ही हुआ। कुछ ही देर बाद हमलावर गुण्डे आए और पूछताछ करने लगे—'कहाँ है तुम्हारे घर की औरते और लडकियाँ ?' उन्होंने कह दिया—'वे यहाँ नही है।' वे पडोसी मुसलमान के यहाँ पहुँचे। उससे पूछा—"तुमने जिन हिन्दू औरतो को छिपा रखा है, वे कहाँ है ? सच-सच बता दो।"

बूढे और बुढिया ने कहा—"हम खुदा की कसम खाकर कहते हैं कि यहाँ हिन्दू औरते नही है।"

फिर भी गुण्डो को शक था। उन्होंने धमकी देते हुए कहा—"देखो, अपनी जान जोखिम मे मत डालो। झटपट बता दो। हमे शक है कि वे तुम्हारे घर मे छिपी हैं।"

बूढा उस समय कुरान का स्वाध्याय कर रहा था। उसने चट से कुरान उठाकर कहा—"देखो, हमारे लिए कुरान से बढकर तो कोई पाक ग्रन्थ नही है। मैं इसे उठाकर कहता हूँ कि यहाँ कोई हिन्दू औरतें नही हैं।"

बूढे के ये शब्द भाषा की दृष्टि से तो स्पष्टत असत्य थे। लेकिन आपका दिल इस असत्य के बारे मे क्या कहेगा ? बूढे की सराहना करेगा या निन्दा ? बूढ़े के लिए इस्लामधर्म की दृष्टि से जन्नत का दरवाजा खुलेगा या दोजख का ? कुरान उठाकर और खुदा की कसम खाकर तो उसने असत्य पर सत्य की मुहर-छाप लगादी न !

कुछ ही देर मे हिन्दुस्तान की ओर से हिन्दुओ को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने वाली मिलिट्री की बस आई और उन सबकी सुरक्षा व्यवस्था हो गई। बूढा-बुढिया उन औरतो को विदा करते हुए रोने लगे—"कुरान को उठाकर तथा खुदा की कसम खाकर हमे झूठ तो बोलना पडा, फिर भी हमे विश्वास है कि हम अपने और दूसरो के प्रति सच्चे रहे है। हमारी मशा सिर्फ इन्सान के प्राण बचाने की थी, अपना स्वार्थ सिद्ध करने की कतई नही थी। इसलिए खुदा हमे माफ कर देगा।"

अगर बूढा शाब्दिक सत्य की मृगतृष्णा मे पडकर उन हिन्दू स्त्रियो को बता देता तो आप या शास्त्र क्या कहते ? यही कहते कि बूढ़े ने बहुत गलत किया, धोखा किया, बेईमानी की।

इस प्रकार अहिंसा की मर्यादाओ की तरह सत्य की मर्यादाओ को भी सूक्ष्म प्रज्ञा से समझने की कोशिश करनी चाहिए। गृहस्थ इन मर्यादाओ के अन्दर रहकर सत्य का पालन करता है।

अपनी स्वार्थलिप्सा के लिए, प्रतिष्ठा के लिए, पूर्वोक्त क्रोध, अहकार, लोभ और भय से प्रेरित होकर, दूसरो को ठग कर धन कमाने के लिए बोला जाने वाला, तथा महल-मकान आदि भोगोपभोग्य सामग्री के लिए बोला जाने वाला असत्य स्थूल असत्य है। जिस कथन के पीछे कोई करुणा या अहिंसा की लहर नही, कोई प्रशस्त सकल्प नहीं, कोई विवेक या सावधानी नहीं, फिर भी मिथ्याभाषण किया जा रहा है, वह स्थूलमृषावाद की कोटि मे आता है। इसी तरह सत्यव्रती श्रावक अपनी सन्तान

के स्वार्थ के लिए, व्यापार के लिए, पैसो के लेन-देन के लिए, क्रोध, मान, माया, लोभ या मोह के वशीभूत होकर या किसी को हानि पहुंचाने के लिए, प्राणो को मुसीबत मे डालने वाली वाणी का प्रयोग नही कर सकता। जिस बात की उसे जानकारी नही, ऐसी बात भी सत्य का आराधक नही कहता। अपने स्वार्थ के लिए या दूसरो के लिए दोनो मे से किसी के भी लिए पूछने पर पापयुक्त, निरर्थक या मर्मभेदक वचन श्रावक को नही बोलना चाहिए। अन्यथा, उसका कथन मृषावाद मे ही शुमार होगा। किसी को खुश करने के लिए झूठमूठ ही उसकी तारीफ करना अथवा किसी की निन्दा-चुगली करना सत्यव्रती के लिए उचित नही है।

स्थूल असत्य के भेद

श्रावक को असत्य के उन सब रूपो से बचना चाहिए। वे सब स्थूल असत्य की कोटि मे ही है। शास्त्रकारो ने श्रावको का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करने के लिए स्थूल असत्य के मुख्य पाँच कारण बताए है। वे इस प्रकार है—

थूलग मुसावाय समणोवासओ पच्चक्खाइ, से य मुसावाए पचविहे पन्नत्ते, तजहा—कन्नालीए, गवालीए, भोमालीए, णासावहारे, कूडसक्खिज्जे।

—श्रमणोपासक (श्रावक) स्थूल मृषावाद (असत्य) का त्याग करता है। वह स्थूल मृषावाद (झूठ) पाँच प्रकार का है—कन्या के सम्बन्ध मे झूठ, गाय के सम्बन्ध मे असत्य, भूमि के सम्बन्ध मे असत्य, न्यास (धरोहर) रखी हुई वस्तु के विषय मे झूठ और झूठी साक्षी देना।

कन्या के सम्बन्ध मे असत्य

कुमारी कन्या मानवजाति मे पवित्र मानी जाती है। इसलिए कन्या के विषय मे असत्य बोलना, असत्य विचार करना या असत्याचरण करना सबसे अधिक निन्द्य समझा जाता है। दूसरी बात यह है कि कन्या से ही भविष्य मे मनुष्य की उत्पत्ति है। अर्थात् कन्या मनुष्य-उत्पत्ति की जड है। जब जड के विषय मे झूठ बोलने का त्याग कराया गया है, तब उस शाखा, पत्ते आदि के विषय मे असत्य का त्याग स्वत ही हो गया। निष्कर्ष यह है कि कन्या के लिए झूठ बोलने के निषेध मे उपलक्षण से सारी मनुष्य-जाति के विषय मे झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।[1] इसीलिए क्या बालक, क्या पुत्र-पुत्री, क्या स्त्री और क्या प्रौढ एव वृद्ध सभी के लिए असत्य बोलना त्याज्य समझना चाहिए।

का ध्यान रखा जाता है। क्योकि कन्या पुरुषरत्न की खान और भावी सन्तान की माता है।

विपद्ग्रस्त स्थिति मे कन्या का पहले उद्धार किया जाता है, इसका तात्पर्य यह नही है कि अन्य व्यक्तियो—पुरुषो आदि की रक्षा न की जाय। इसी प्रकार कन्यालीक का अर्थ यह नही है कि सिर्फ कन्या ही के विषय मे असत्य न बोला जाय। सकटापन्न जहाज से जैसे कन्या से लेकर सभी मनुष्यो की रक्षा की जाती है, वैसे ही यहाँ कन्या से लेकर सभी मनुष्यमात्र के विषय मे असत्य का त्याग करने की शास्त्र आज्ञा है।

जो मनुष्य कन्या के सम्बन्ध मे असत्याचरण करता है, वह मातृ-जाति का घोर विरोध करता है। इस महापाप से बचने के लिए शास्त्र मे कन्यालीक मे विवेक करने हेतु, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारो की अपेक्षा से कन्या के निमित्त असत्य का त्याग बताया है।

द्रव्य से तात्पर्य है कि कन्या रूपवती हो, सुन्दर हो, अग-उपाग मे किसी प्रकार का दोष न हो, उच्चवर्ग की हो, परन्तु स्वार्थवश या और किसी कारणवश उसे कुरूपा, अगहीना, नीच कुल की, आदि, जो है, उससे सर्वथा विपरीत या न्यूनाधिक बतला देना अथवा किसी प्रकार का कन्या मे दोष होते हुए भी उसे प्रकट न करके निर्दोष बतला देना।

क्षेत्र से तात्पर्य है—कन्या है तो किसी दूसरे जनपद या देश की, या प्रान्त की, अथवा गाँव की, परन्तु उसे बतलाना किसी दूसरे जनपद, देश या प्रान्त की अथवा शहर की।

काल से तात्पर्य है कि कन्या उम्र मे काफी बडी हो, अथवा छोटी हो, लेकिन उसे बताना कम उम्र की या अधिक उम्र की।

भाव से मतलब है—कन्या चतुर हो उसे मूर्ख बताना अथवा फूहड कन्या को चतुर और विवेकी बताना। अथवा कन्या मे जो गुण या अवगुण हो, उन्हे छिपाकर न्यूनाधिक या विपरीत बताना।

जिस तरह कन्या के लिए असत्य का भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से विचार किया जाता है, उसी तरह कन्या के लिए वर के विषय मे भी द्रव्य, क्षेत्रादि की दृष्टि से विचार करना भी कन्यालीक है। जैसे वर कुरूप हो, बुड्ढा हो, मारवाडी हो और अपढ हो, किन्तु उसे सुन्दर, जवान, गुजराती एव विद्वान् बताना। इसी प्रकार अन्य मनुष्यो या स्त्रियो के लिए भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से झूठ बोलना भी इसी कन्यालीक के अन्तर्गत समझ लेना चाहिए।

साराश यह है कि कन्या से लेकर किसी भी मनुष्यजाति के सम्बन्ध मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की दृष्टि से मन, वचन, काया से किसी भी प्रकार का क्रोध, अभिमान, लोभ, मोह, स्वार्थ, कपट आदि किसी भी कारण से अयथार्थ भाषण करना कन्यालीक कहलाता है।

कन्या के सम्बन्ध मे आज जो झूठ बोलने की प्रवृत्ति हो रही है, उसके कारण ही समाज मे कही विधवाओ की सख्या बढ रही है, कही पारिवारिक कलह हो रहा है, कही परिवार के लोगो द्वारा लडकी को सताया जाता है, और आत्महत्या करने पर विवश किया जाता है, कही बेमेल विवाह के कारण दम्पती मे परस्पर असन्तोष और अन्त मे तलाक तक की नौबत आ जाती है।

एक जगह एक विवाह के दलाल से बूढे धनिक ने कहा—"भाई ! अगर तू किसी तरह से मेरी शादी करा देगा तो मैं तुझे मुँहमाँगा इनाम दूँगा और मालामाल कर दूँगा।" बूढा अस्सी वर्ष का तो था ही, एक आँख से काना भी था। लेकिन रुपये के लालच मे आकर दलाल ने उस बूढे की शादी करा देने का बीडा उठाया।

वह एक गरीब लडकी वाले के यहाँ पहुँचा, जिसकी कन्या लगभग १८-१९ साल की थी। लडकी वाले ने दलाल की खूब आवभगत की। दलाल ने इस ढग से अतिशयोक्ति पूर्ण बात की कि कन्या का पिता और माता उसके चक्कर मे आ गए। सभी बातें पसद अने के बाद उन्होंने दलाल से पूछा—"अच्छा, यह तो बताइए कि वरराजा की उम्र कितनी है और स्वभाव का कैसा है ?'

दलाल ने मारवाडी मे तपाक् से कहा—"उगणीसा बीसी, बीसा इक्कीसी, ऐंसी ऐसी कहे ह।" वर के स्वभाव का क्या कहना—"वह तो सब को एक आँख से देखता है।"

कन्या के पिता-माता ने समझा कि 'वर उन्नीस, बीस या इक्कीस साल का होगा और बडा समभावी भी है।'

अत उन्होंने उक्त वर के साथ कन्या की सगाई पक्की कर दी और दलाल को वचन दे दिया। दलाल ने वही १०१) रुपये व नारियल देकर सगाई तय कर दी और वहाँ से रवाना होकर वृद्ध महाशय के पास पहुँचा। बूढे ने जब सगाई पक्की होने की बात सुनी तो उसकी बाछें खिल गई। उसने दलाल को मुँहमाँगा इनाम देकर सन्तुष्ट किया। विवह की तिथि निकट ही थी। समाज के पचो ने कुछ विरोध किया तो कुछ रुपये देकर बूढे ने उनका मुँह बद कर दिया। बूढा दूल्हा बनकर बारात लेकर जब कन्या वालो के यहाँ पहुँचा तो सब उसे देखते ही रह गए। दलाल भी बारात मे था। दलाल को एकान्त मे ले जाकर कन्या के पिता ने पूछा—"तू तो १९-२० वर्ष का कहता था, यह तो लगभग ७०-७५ का होगा और एक आँख से काना भी है।' दलाल ने सफाई देते हुए कहा—'साहब ! मैंने १९+२०—२०+२१ का कहा था, चारो को जोड लीजिए। कुल मिलाकर ८० होते हैं, सो वरराजा ८० वर्ष के है। और मैंने कहा भी था कि एक आँख से देखते है, सो तो है ही। अब बताइए मेरा क्या कसूर है ?

इस प्रकार कन्या के सम्बन्ध मे झूठ बोल कर लोग भारी पापकर्म का उपार्जन कर लेते है।

कई लोग यह कहा करते है, कोई कन्या अगहीन हो, कुरूप हो या मोटी हो तो गरीब पिता यदि झूठ नही बोलता है तो उस कन्या की शादी होनी कठिन हो जाएगी, बताइए उस कन्या को बेचारा गरीब पिता कब तक घर मे रखेगा, इसलिए ऐसी कन्या के सम्बन्ध मे अगर झूठ बोलकर काम बनाया जाय तो क्या हर्ज है ?

इसका समाधान यह है कि आजकल तो लोग दलालो के भरोसे न रहकर स्वय वर कन्या को देखते है, लडके-लडकी भी एक-दूसरे को देख-परख कर फिर विवाह की हाँ भरते है। इसलिए कन्या के विषय मे झूठ बोलने पर कलई खुल जाएगी, वह झूठ चलेगा नही। मान लो, कदाचित् कोई व्यक्ति विश्वास मे आकर वर या कन्या को देखे बिना ही सगाई पक्की कर लेता है या शादी कर लेता है, तो आगे चलकर जब पता चलता है, तब कन्या पर आफत आ जाती है। उस कन्या को सता-सता कर रिबा-रिबा कर आत्महत्या करने को विवश कर दिया जाता है। इसलिए कन्या के विषय मे बोला गया झूठ भयकर परिणाम लाने वाला बन जाता है।

ससार मे कन्या ही अगहीन आदि नही होती, पुरुष भी तो ऐसे होते है। जब कन्या कुआरी नही रह सकती तो क्या पुरुष यह नही कह सकता कि मैं कुआरा क्यो रहूँ ? इसलिए यह निरा भ्रम है। बल्कि पहले से ही बताकर सगाई करने से भ्रम का निराकरण हो जाता है और उनका दाम्पत्य जीवन भी सुखी रहता है।

गाँधीजी के पास एक दिन एक परिवार आया, जिसकी कन्या मे कुछ दोष था, वह किसी युवक के साथ एक बार शीलभ्रष्ट हो चुकी थी। किन्तु जिस लडके के साथ उसकी सगाई हुई थी, उससे तथा लडके वालो से उन्होने यह बात छिपाकर रखी थी। गाँधीजी से वे इस विषय मे परामर्श लेने आए थे। गाँधीजी के सामने जब कन्यापक्ष वालो ने सारी बात खोलकर रखी तो वे बोले—"मेरी राय मे आपको लडके वालो को बुलाकर उनके सामने यह स्पष्टीकरण कर देना चाहिए। अन्यथा बाद मे कन्या के लिए सकट पैदा हो सकता है।" गाँधीजी की बात मानकर वे लडके वालो को, खासतौर से लडके को ससम्मान बुलाकर आश्रम में लाए। गाँधीजी ने लडके वालो के सामने लडकी तथा लडकी वालो की उपस्थिति मे सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट कर दी और पूछा—"ऐसी स्थिति मे मैं मानता हूँ कि आपको इस कन्या को स्वीकार करने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिए। अगर बात छिपाकर रखी जाती तो आपको बाद मे मानसिक क्लेश होता।"

लडके और लडके वाले गाँधीजी की बात से सहर्ष सहमत हो गए। उन्होने उदारतापूर्वक उक्त लडकी के साथ लडके की शादी करना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार कन्या के सम्बन्ध मे सत्य बात कहने से बहुत-सा सकट टल गया।

इस प्रकार गृहस्थ श्रावक के लिए पुत्र-पुत्री या पुरुष-स्त्री के लिए असत्य बोलना अपराध है। गृहस्थ श्रावक अपने पुत्र-पुत्री का विवाह करने या उसके लिए रेलयात्रा आदि मे आधी टिकट लेने एव विद्यालय मे प्रविष्ट कराने हेतु उनकी आयु

को कम या ज्यादा नही बता सकता और वह उनकी आदतो व गुणावगुणो के सम्बन्ध मे न्यूनाधिक या विपरीत बात भी नही कह सकता। उसे सत्यमार्ग का ही अवलम्बन लेना चाहिए।

गाय के लिए असत्य

दूसरा स्थूल असत्य है—गाय के सम्बन्ध मे झूठ बोलना। जैसे कन्या के सम्बन्ध मे असत्य बोलने से उपलक्षण से सारी मनुष्यजाति के सम्बन्ध मे झूठ असत्य समझा जाता है, वैसे ही गाय के सम्बन्ध मे झूठ बोलने से उपलक्षण से समस्त पशु-जगत् के विषय मे झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।

जिस प्रकार मनुष्यो मे कन्या उत्तम है, उसी प्रकार पशुओ मे गाय प्रधान मानी गई है। गाय के विषय मे झूठ बोलने का त्याग समस्त पशु-जाति के विपय मे झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।

गाय पशुओ मे उत्तम इसलिए मानी गई है कि गाय मानव-जाति के लिए विशेपरूप से आधार है। आनन्द कामदेव आदि बडे-बडे श्रमणोपासक अपने यहाँ गायो के कई व्रज रखते थे। एक व्रज मे लगभग १० हजार गायें होती थी। गाय की सहायता के विना गृहस्थी भली-भाँति निभ नही सकती। प्राचीनकाल मे आज की तरह पैसे फेंक कर दूध बाजार से लाने की प्रथा ही नही थी। दूध वेचना अनैतिक समझा जाता था। दूध वेचना, पूत वेचने के वरावर माना जाता था। सूखे तिनके खाकर बदले मे घी, दूध देने वाला पशु गाय के जैसा और कोई नही है। खेती के लिए बैल की जरूरत होती है, वह गाय से ही मिलता है। साथ ही खेती के लिए खाद की जरूरत होती है, वह भी गोधन से प्राप्त होता है। भारत मे जैन समाज ही नही समस्त हिन्दू समाज मे गाय सब पशुओ मे प्रधान मानी है, इतना ही नही, विदेशो मे भी गाय को बडे आदर के साथ पाला जाता है। डेनमार्क की गायें बहुत ही अच्छी नस्ल की होती है, वे दूध भी बहुत देती है। इसी कारण श्रीकृष्ण जी ने गायें चराकर अपना गोपाल नाम प्रसिद्ध कर दिया था। संसार मे ऋद्धि सिद्धि की दाता गौ ही मानी जाती है। साराश यह है कि गाय सर्वोत्कृष्ट पशु है, इसे लेकर समस्त पशुओ के लिए भी असत्य न बोलने का शास्त्रीय विधान है।

कन्या के समान गाय के विपय मे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से असत्य का त्याग करना चाहिए। द्रव्य से अच्छी या बुरी गाय को बुरी या अच्छी कहना, इसी तरह कम या ज्यादा दूध देने वाली गाय को ज्यादा या कम दूध देने वाली बताना, एक देश की गाय को दूसरे देश की गाय बताना और सीधी या मारने वाली गाय को मारने वाली या सीधी बताना आदि स्थूल असत्य का त्याग करना चाहिए।

इसी तरह घोडा, हाथी, ऊँट, भैंस, बकरी आदि सभी पालतू जानवरो के विपय मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से मन-वचन-काया से असत्याचरण करना स्थूलमृषावाद है। उसका त्याग श्रावक को करना चाहिए। यानी गाय, भैंस, बैल,

कई लोग यह कहा करते हैं, कोई कन्या अगहीन हो, कुरूप हो या मोटी हो तो गरीब पिता यदि झूठ नही बोलता है तो उस कन्या की शादी होनी कठिन हो जाएगी, बताइए उस कन्या को बेचारा गरीब पिता कब तक घर मे रखेगा, इसलिए ऐसी कन्या के सम्बन्ध मे अगर झूठ बोलकर काम बनाया जाय तो क्या हर्ज है ?

इसका समाधान यह है कि आजकल तो लोग दलालो के भरोसे न रहकर स्वय वर कन्या को देखते हैं, लडके-लडकी भी एक-दूसरे को देख-परख कर फिर विवाह की हाँ भरते हैं। इसलिए कन्या के विषय मे झूठ बोलने पर कलई खुल जाएगी, वह झूठ चलेगा नहीं। मान लो, कदाचित् कोई व्यक्ति विश्वास मे आकर वर या कन्या को देखे बिना ही सगाई पक्की कर लेता है या शादी कर लेता है, तो आगे चलकर जब पता चलता है, तब कन्या पर आफत आ जाती है। उस कन्या को सता-सता कर खिा-खिा कर आत्महत्या करने को विवश कर दिया जाता है। इसलिए कन्या के विषय मे बोला गया झूठ भयकर परिणाम लाने वाला बन जाता है।

ससार मे कन्या ही अगहीन आदि नही होती, पुरुष भी तो ऐसे होते है। जब कन्या कुआरी नही रह सकती तो क्या पुरुष यह नही कह सकता कि मैं कुआरा क्यो रहूँ ? इसलिए यह निरा भ्रम है। बल्कि पहले से ही बताकर सगाई करने मे भ्रम का निराकरण हो जाता है और उनका दाम्पत्य जीवन भी सुखी रहता है।

गाँधीजी के पास एक दिन एक परिवार आया, जिसकी कन्या मे कुछ दोष था, वह किसी युवक के साथ एक बार शीलभ्रष्ट हो चुकी थी। किन्तु जिस लडके के साथ उसकी सगाई हुई थी, उससे तथा लडके वालो से उन्होंने यह बात छिपाकर रखी थी। गाँधीजी से वे इस विषय मे परामर्श लेने आए थे। गाँधीजी के सामने जब कन्यापक्ष वालो ने सारी बात खोलकर रखी तो वे बोले—"मेरी राय मे आपको लडके वालो को बुलाकर उनके सामने यह स्पष्टीकरण कर देना चाहिए। अन्यथा बाद मे कन्या के लिए सकट पैदा हो सकता है।" गाँधीजी की बात मानकर वे लडके वालो को, खासतौर से लडके को ससम्मान बुलाकर आश्रम में लाए। गाँधीजी ने लडके वालो के सामने लडकी तथा लडकी वालो की उपस्थिति मे सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट कर दी और पूछा—"ऐसी स्थिति मे मैं मानता हूँ कि आपको इस कन्या को स्वीकार करने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिए। अगर बात छिपाकर रखी जाती तो आपको बाद मे मानसिक क्लेश होता।"

लडके और लडके वाले गाँधीजी की बात से सहर्ष सहमत हो गए। उन्होंने उदारतापूर्वक उक्त लडकी के साथ लडके की शादी करना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार कन्या के सम्बन्ध मे सत्य बात कहने से बहुत-सा सकट टल गया।

इस प्रकार गृहस्थ श्रावक के लिए पुत्र-पुत्री या पुरुष-स्त्री के लिए असत्य बोलना अपराध है। गृहस्थ श्रावक अपने पुत्र-पुत्री का विवाह करने या उसके लिए रेलयात्रा आदि मे आधी टिकट लेने एव विद्यालय मे प्रविष्ट कराने हेतु उनकी आयु

को कम या ज्यादा नही बता सकता और वह उनकी आदतो व गुणावगुणो के सम्बन्ध मे न्यूनाधिक या विपरीत बात भी नही कह सकता। उसे सत्यमार्ग का ही अवलम्बन लेना चाहिए।

गाय के लिए असत्य

दूसरा स्थूल असत्य है—गाय के सम्बन्ध मे झूठ बोलना। जैसे कन्या के सम्बन्ध मे असत्य बोलने से उपलक्षण से सारी मनुष्यजाति के सम्बन्ध मे झूठ असत्य समझा जाता है, वैसे ही गाय के सम्बन्ध मे झूठ बोलने से उपलक्षण से समस्त पशु-जगत के विषय मे झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।

जिस प्रकार मनुष्यो मे कन्या उत्तम है, उसी प्रकार पशुओ मे गाय प्रधान मानी गई है। गाय के विषय मे झूठ बोलने का त्याग समस्त पशु-जाति के विषय मे झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।

गाय पशुओ मे उत्तम इसलिए मानी गई है कि गाय मानव-जाति के लिए विशेषरूप से आधार है। आनन्द कामदेव आदि बडे-बडे श्रमणोपासक अपने यहाँ गायो के कई व्रज रखते थे। एक व्रज मे लगभग १० हजार गायें होती थी। गाय की सहायता के बिना गृहस्थी भली-भाँति निभ नही सकती। प्राचीनकाल मे आज की तरह पैसे फेंक कर दूध बाजार से लाने की प्रथा ही नही थी। दूध बेचना अनैतिक समझा जाता था। दूध बेचना, पूत बेचने के बराबर माना जाता था। सूखे तिनके खाकर बदले मे घी, दूध देने वाला पशु गाय के जैसा और कोई नही है। खेती के लिए बैल की जरूरत होती है, वह गाय मे ही मिलता है। साथ ही खेती के लिए खाद की जरूरत होती है, वह भी गोधन मे प्राप्त होता है। भारत मे जैन समाज ही नही समस्त हिन्दू समाज मे गाय सब पशुओ मे प्रधान मानी है, इतना ही नही, विदेशो मे भी गाय को बडे आदर के साथ पाला जाता है। डेनमार्क की गायें बहुत ही अच्छी नस्ल की होती है, वे दूध भी बहुत देती हैं। इसी कारण श्रीकृष्ण जी ने गायें चराकर अपना गोपाल नाम प्रसिद्ध कर दिया था। ससार मे ऋद्धि सिद्धि की दाता गौ ही मानी जाती है। सारांश यह है कि गाय सर्वोत्कृष्ट पशु है, इसे लेकर समस्त पशुओं के लिए भी असत्य न बोलने का शास्त्रीय विधान है।

कन्या के समान गाय के विषय मे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से असत्य का त्याग रखना चाहिए। द्रव्य से अच्छी या बुरी गाय को बुरी या अच्छी कहना, इसी तरह कम या ज्यादा दूध देने वाली गाय को ज्यादा या कम दूध देने वाली बताना, एक देश की गाय को दूसरे देश की गाय बताना और सीधी या मारने वाली गाय को मारने वाली या सीधी बताना आदि स्थूल असत्य का त्याग करना चाहिए।

इसी तरह घोडा, हाथी, ऊँट, भैंस, बकरी आदि सभी पालतू जानवरो के विषय मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से मन-वचन-काया से असत्याचरण करना स्थूलमृषावाद है। उसका त्याग श्रावक को करना चाहिए। यानी गाय, भैंस, बैल,

अश्व आदि पालतू व उपयोगी जानवरो के सम्बन्ध मे भी श्रावक अयथार्थ बात नहीं कहेगा। उनके दूध देने, बोझ ढोने, तेज या मद चलने आदि गुणो का एव मारने-काटने आदि दोषो का यथार्थ उल्लेख करेगा।

भूमि के विषय मे असत्य

भूमि गृहस्थ के लिए जीवन-निर्वाह का एक बहुत बडा साधन है। उसके लिए स्वार्थवश, लोभ, अहकार, छल-कपट, मोह, क्रोध आदि से प्रेरित होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव से असत्य बोलना भूम्यलीक कहलाता है।

भूमि विषयक असत्य के त्याग के साथ ही उन सब वस्तुओ के विषय मे झूठ बोलने का त्याग आ जाता है जिनकी उत्पत्ति भूमि से होती है। वे वस्तुएँ सचेतन हो या अचेतन, सबका आधार भूमि है। जैसे फल, वृक्ष, शाकभाजी व अन्य वनस्पति आदि सचेतन हैं, जो भूमि से पैदा होती हैं, साथ ही सोना, चादी, पत्थर, तांबा, अभ्रक, मिट्टी, घर आदि अचेतन वस्तुएँ हैं, जो भूमि मे होती है। भूमि के साथ ही भूमि से उत्पन्न होने वाली और उससे बनी हुई वस्तु मकान, दूकान, महल आदि से सम्बन्धित असत्य का त्याग भी भूम्यलीक समझ लेना चाहिए। चूँकि भूमि आधार हैं और उस पर के या उससे उत्पन्न पदार्थ आधेय हैं। आधार को ग्रहण करने से आधेय का भी ग्रहण स्वत हो जाता है।

भूमि-सम्बन्धी असत्य का भी कन्या और गाय के समान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से विचार करके त्याग करना चाहिए। भूमि से सम्बन्धित चीजो मे रुपया पैसा, नोट आदि भी हैं। उनके सम्बन्ध मे भी असत्य का त्याग करना अत्यावश्यक है। मतलब यह है कि श्रावक भूमि एव भूमि से निकलने वाले तथा भूमि मे पैदा होने वाले पदार्थो के सम्बन्ध मे भी सत्य ही बोलेगा, असत्य नही। वह किसी पडौसी व्यक्ति पडौसी देश की जमीन पर अपना झूठा अधिकार जताने का प्रयत्न नही करेगा। वह सोना, चाँदी, लोहा आदि धातुओ रत्न आदि बहुमूल्य खनिज पदार्थो मे से किसी नकली को असली या असली को नकली बताने का प्रयत्न नही करेगा। वह इन भूमिजनित पदार्थो के विषय मे किसी के साथ धोखेबाजी नही करेगा।

उदा मेहता को कौन नही जानता ? वह मारवाड का जैन ओसवाल था, किन्तु विपत्ति का मारा मारवाड से गुजरात आया। सिद्धपुर पाटन के जैन उपाश्रय के द्वार पर इस आशा मे बैठा रहा कि कोई न कोई व्यक्ति साधर्मी के नाते मुझे कुछ पूछेगा ? वहाँ एक के बाद एक भाई-बहन आते-जाते रहे, लेकिन किसी ने कुछ पूछा नही। पर्युषण के दिन थे। अन्त मे एक बहन आई, जिसका नाम लच्छी (लक्ष्मी) बहन था। उसने पूछा—"भाई ! यहाँ कैसे बैठे हो ? कौन हो ? कहाँ के आये हो ?" उदा मेहता ने कहा—"इतने भाई-बहनो मे तुम एक ही मुझे भाई कहकर पुकारने वाली निकली।" और उसने अपना परिचय देकर सारी कष्टकथा सुनाई। लक्ष्मी बहन ने कहा—"भाई ! चलो मेरे घर पर, भोजन करो। फिर सारी व्यवस्था भी कर दूंगी।"

इस बहन ने उदा मेहता को अपने यहाँ रखा। मकान बनाने के लिए जमीन दी। मकान की नीव खोदते समय स्वर्णमुद्राओ से भरा हुआ ताँबे का घडा निकला। उदा मेहता ने भूमि मे से निकले हुए उस धन को चुपचाप नही रखा। वह उस धर्म बहन के पास उस घडे को लेकर गया, सारी घटना बताई और कहा—"बहन, अपनी अमानत सभालो।" बहन ने कहा—"भाई! यह तो तुम्हारे हक का है, क्योकि मैं तो तुम्हे यह जमीन दे चुकी। इस जमीन मे जो कुछ निकले वह तुम्हारा है।" भाई कहने लगा—'नही, बहन! तुमने मुझे जमीन दी है, धन थोडे ही दिया है। धन की मालिक तुम्ही हो।" आखिर इस प्रेमपूर्ण विवाद का निर्णय यह हुआ कि इस धन का उपयोग धर्म-कार्य मे किया जाय। यही उदा मेहता आगे चलकर अपने बुद्धि-वैभव से गुजरात के सोलकी राजाओ का मन्त्री उदयन बना।

हाँ तो मैं कह रहा था कि श्रावक इसी प्रकार भूमि मे से निकली हुई किसी चीज के बारे मे असत्य नही बोलते, अपितु धन का लोभ छोडकर सत्य-सत्य कह देते है।

धरोहर के विषय मे असत्य

चौथा स्थूल असत्य है—धरोहर के विषय मे। लोभ ऐसी चीज है कि वह सम्बन्ध, नाता-रिश्ता आदि सबको भुला देता है, और झूठ बोलकर किसी की रखी हुई अमानत या धरोहर को मुकरने या कम-ज्यादा बताने या अच्छी के बदले दूसरी घटिया चीज वापिस दे देने अन्यथा धरोहर को हडपने के विचार से कोई कानूनी पाइट निकाल कर धरोहर से सर्वथा इन्कार कर देना। इसी प्रकार धरोहर को न रखने पर भी माँगने, या न लौटाने के लिए जो मिथ्या भाषण किया जाता है, वह धरोहर विषयक स्थूल झूठ है। यद्यपि धरोहर को हजम करना चोरी मे शुमार है। मनुस्मृति मे इसे चोरी माना है—

> यो निक्षेप नार्पयति, यश्चानिक्षिप्य याचते।
> तावुभौ चोरवच्छास्यौ, दाप्यौ वा सम फलम्॥

—जो अपने यहाँ रखी हुई धरोहर को न दे, अथवा जो विना रखे ही माँगे ये दोनो चोर की तरह दण्डित किये जाने चाहिए। दोनो को समान दण्ड देना चाहिए। न्यासापहार को जैन-शास्त्रो मे असत्य मे इसलिए परिगणित किया गया है, क्योकि यह कुकृत्य असत्य बोलकर ही किया जाता है। गौणरूप मे यह चोरी भी है। इसमे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल' भावानुसार असत्य के अलग-अलग प्रकारो का विचार कर लेना आवश्यक है। जैसे—किसी ने धरोहर के रूप मे सोना बढिया रखा था, किन्तु घटिया सोना बताना। या घटिया सोना रखा था, लेकिन माँगना बढिया।

इसी प्रकार कोई घडी अमेरिका की बनी हुई गिरवी रखी थी, लेकिन झूठ बोल कर कहना कि इग्लैंड की बनी हुई है। कुछ ही दिनो पहले नई की नई चीज गिरवी के समय रखी थी, लेकिन दूकानदार कहता है कि पुरानी बरती हुई चीज रखी थी आदि।

झूठी साक्षी झूठ का मूल

कूट साक्षी भी असत्य का एक बहुत बडा अग है। आजकल इसका बाजार गर्म है। कूट साक्षी का अर्थ है—किसी प्रलोभन, भय, दवाव, स्वार्थ या आदत के वश होकर झूठी गवाही देना। किसी दूसरे या अपने लाभ के लिए अथवा दूसरे की हानि के लिए न्यायाधीश, पचायत, सघ आदि के समक्ष जो मिथ्या भाषण किया जाता है या झूठे बयान दिये जाते है, झूठी गवाही दी जाती है, झूठा समर्थन किया जाता है, मिथ्या प्रशसा की जाती है या खुशामद-चापलूसी की जाती है, अतिशयोक्ति पूर्ण कथन किया जाता है, वह सब कूट साक्षी मे समाविष्ट है। झूठी साक्षी निन्दित और घृणित कार्य एव घोरातिघोर पाप हैं। मनुस्मृति मे झूठी साक्षी देने वाले के सम्बन्ध मे कहा गया है—

> वाच्यार्थनियता सर्वे, वाङ्मूलावाग् विनि सृता ।
> तास्तु य स्तेनयेद् वाच्य, ससर्वस्तेयकृन् नार ॥

शब्दो मे ही वाच्य—भाव से नियत है और शब्दो का मूल वाणी है। क्योकि सब बातें शब्दो से ही जानकर की जाती है। जो वाणी को चुराता है, यानी अन्यथा या न्यूनाधिक कहता है, वह सब तरह से चोरी करने वाला होता है।

जिस मनुष्य पर जनता विश्वास करती है, वह यदि किसी व्यक्ति या पदार्थ मे दोष होते हुए भी उसके गुणो के रूप मे बढचढ कर प्रशसा करता है, उसे प्रतिष्ठा देता है, उसका समर्थन करता है, तो वह एक तरह से कूटसाक्षी है। इसी प्रकार अपने स्वार्थ के लिए या अपनी झूठी बात को सच्ची सिद्ध करने के लिए तथाकथित शास्त्रो की झूठी साक्षी देता है, शास्त्रो के अर्थों को तोड-मरोडकर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत करता है, तो यह सब झूठी साक्षी है।

विश्वस्त व्यक्ति यदि किसी सच्चे सोने को नकली बतलाता है, या नकली सोने को सच्चा बताता है, वह व्यक्ति शास्त्रीय दृष्टि से सोने के वर्तमान और भविष्य के के अन्तराय देने का अपराध करता है। क्योकि ऐसा करने पर असली सोने के स्वामी स्वामी की तथा नकली सोने के खरीदार की आत्मा को बडी चोट पहुँचती है। या तो इस आघात से सदमा पहुँचने के कारण उनकी हृदयगति बद हो जाती है, या फिर वे इस प्रकार झूठ बताने वाले को हानि पहुँचाने की चेष्टा करते है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार झूठ का प्रचार करने वाला सत्य को तिलाजलि देकर धृष्टता धारण कर लेता है, इसीलिए कूटसाक्षी के रूप मे असत्य भाषण करने वाले की दुर्गति बताई है—

> ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका, ये च स्त्रीबालघातिन ।
> मित्रद्रुह कृतघ्नस्य, ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥

ब्राह्मण, स्त्री और बालक के हत्यारे, कृतघ्न एव मित्रद्रोही को जो लोक (गतियाँ) मिलते है, वे ही लोक झूठी साक्षी के रूप मे असत्य बोलने वाले को मिलते हैं।

यथार्थ बात कहने पर न तो उक्त दोष पनपते है और न ही सत्य को तिलांजलि देने की जरूरत पड़ती है ।

कूटसाक्षी के विषय मे भी पूर्ववत् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से विचार करके उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है ।

जो धर्मात्मा श्रावक होते हैं, वे अपने पुत्र के भी गलत एवं अनैतिक कार्यो के विषय मे झूठी साक्षी कदापि नही देते ।

आजकल झूठी गवाही देने वाले बात-बात मे तैयार हो जाते है । अदालतो मे कुछ पैसे देने पर ऐसे झूठे गवाह तैयार हो जाते है और पैसे के लालच मे आकर झूठ बोलने को तैयार हो जाते हैं ।

दो मित्र थे । वे व्यापार के लिए साथ-साथ विदेश गए । वहाँ दोनो ने अपना व्यवसाय शुरू किया । एक ने बहुत प्रामाणिकता से व्यापार किया और काफी धन कमाया । दूसरे ने कोई खास ध्यान न दिया, अत अधिक न कमा सका । दूसरे ने वापस देश लौट जाने का विचार किया, इसलिए अपने मित्र से कहा—'चलो, देश चले ।' उसके मित्र ने कहा—"भाई ! मुझे तो व्यापार को समेटने मे काफी समय लगेगा । तुम चले जाओ और अपनी भाभी को कुशल समाचार कह देना ।" उसने एक कीमती लाल खरीदा और अपने मित्र से कहा—"यह लाल अपनी भाभी को दे देना और कह देना—जल्दी ही मैं व्यापार समेट कर आ रहा हूँ ।" मित्र ने लाल ले लिया । देश पहुँचा । गांव मे आए कई दिन हो गए, पर मित्र की पत्नी को कोई समाचार देने नही गया । उसने जब सुना तो कुशल समाचार पूछने आई—'तुम्हारे मित्र नही आए ?" "वह तो पूरा लोभी है, इसलिए अभी नही आया ।"

"वे कुशल मे तो हैं ? कुछ भेजा है या नही ?" मित्र-पत्नी ने पूछा—

उसने कहा—"कुशल तो हैं, पर कुछ नही भेजा ।"

कुछ ही दिनो बाद मित्र अपना व्यापार समेट कर देश पहुँचा । पत्नी ने पूछा—"मुझे तो तुम बिलकुल ही भूल गए । कुछ भी नही भेजा !" "वाह ! कैसी बात करती हो ? अगर मैं भूल जाता तो मित्र के साथ लाल क्यो भेजता ?" पति ने कहा ।

'कैसा लाल? कब भेजा था ? तुम्हारे मित्र ने तो मुझे कुछ भी नही दिया ।" पत्नी ने साश्चर्य कहा ।

पति को विचार आया कि हो न हो, मित्र के मन मे कपट आ गया । उसने लाल अपने पास रख लिया है । वह सीधा अपने मित्र के पास पहुँचा । मित्र को आया देख उसके चेहरे की हवाइयाँ उड़ने लगी । उसने औपचारिक स्वागत किया और कही जाने का बहाना बनाया । परन्तु मित्र ने बात-बात मे पूछा—"वह लाल कहाँ है जिसे मैंने तुम्हे अपनी भाभी को देने का कहा था ? मित्र—"वह तो मैंने

भाभी को दे दिया था। वह झूठ बोलती है। स्त्रियों का क्या भरोसा ? आयन्दा मुझसे इस विषय मे वात मत करना।"

मित्र समझ गया कि यह यो सीधे लाल नही देगा। इसके मन मे कपट आ गया है। वह सीधा न्यायाधीश के पास पहुँचा, सारी बातें स्पष्ट बताई। उन्होंने आश्वासन दिया कि मैं तुम्हे लाल दिलवा दूंगा। कुछ समय लगेगा। न्यायाधीश ने कपटी मित्र को बुलाने के लिए सिपाही भेजे। वह न्यायाधीश के पास पहुँचा। कपटी मित्र कुछ नकली गवाह भी साथ ले गया था। न्यायाधीश ने जाते ही उसे अपने मित्र के द्वारा दिये गए लाल के बारे मे पूछा। कपटी मित्र ने कहा—"मैंने उसकी पत्नी को लाल दे दिया है। वह झूठा है। देखिए, मेरे द्वारा लाल देते समय ये गवाह थे।" न्यायाधी ने ४-५ गवाहो को देखकर उन्हे अलग-अलग बुलाकर पूछा—"कहो, लाल कैसा था ? कितना बडा था ? किस रग का था ? वजन मे कितना था ?" किसी ने लाल देखा तो था नही, अत अलग-अलग बातें बताई। न्यायाधीश समझ गया कि ये सब झूठे गवाह हैं। अत उसने कपटी मित्र को बुलाकर धमकी दी कि या तो लाल सौंप दो, अन्यथा सरकार तुम्हे भारी सजा देगी। तुम्हारे गवाह सब झूठे है।" कपटी मित्र ने दाल गलती न देखकर झट अपना अपराध स्वीकार कर लिया, और तुरन्त घर जाकर लाल को लेकर न्यायाधीश को सौंप देने की बात कही। सिपाहियो के साथ कपटी मित्र अपने घर गया। लाल एक कपडे मे लपेट कर वह न्यायाधीश के पास पहुँचा और लाल उन्हे सौंप दिया। न्यायाधीश ने सरल मित्र को बुलाकर तुरन्त वह लाल सौंप दिया।

सचमुच, झूठे गवाहो की कलई खुलते देर नही लगती। असत्य के पैर हमेशा कमजोर होते है। असत्य मे कोई बल नही होता।

सत्यवादी श्रावक अपने सत्य के लिए किसी का झूठा समर्थन नही करता। असत्य साक्षी ही वाणी के तेज और तप को फीका कर देती है।

झेलम के पास रोहतास (वर्तमान मे पाकिस्तान मे) मे एक प्रामाणिक सत्यवादी एव दृढधर्मी जैन श्रावक रहता था। नाम था—बूढेशाह। वह कभी किसी बात के लिए झूठ नही बोलता था।

एक बार उनके पुत्र ने बहियो मे से कुछ पन्ने फाड लिए और उनके बदले नये पन्ने इस खूबी से जोड दिये कि किसी को कुछ भी पता न चले। उसने ऐसा किया था—केवल कर्ज बचाने के लिए। अगर बही मे कर्ज की रकम लिखी होगी तो देनी पडेगी, इस लिहाज से वे पन्ने (जिन पर कर्ज की रकम लिखी थी) सिफत से फाडकर छिपा लिए। जब साहूकार ने कर्ज वसूल करने के लिए उस पर मुकद्दमा चलाया, तो बूढेशाह के लडके ने झूठी बहियाँ पेश कर दी ताकि रकम न देनी पडे और बात सही सिद्ध हो जाय कि कुछ भी रकम देनी बाकी नही है। इस कारण से साहूकार मुकदमा 'हारने लगा। आखिर उसे एक तरकीब सूझी। उसने अग्रेज न्यायाधीश से कहा—

"साहव ! अगर इसका पिता यह कह दे कि वहियों मे जो लिखा है, वह सच है तो मैं कुछ भी उज्र न करूँगा।"

अंग्रेज न्यायाधीश ने कहा—"जब वहियो द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि तुम्हारे रुपये लेने नही हैं, तब उसका पिता क्या कहेगा ? वह तो अपने पुत्र का ही पक्ष लेगा न ?"

साहूकार वोला—"साहब ! वह जैन है। वह कभी झूठ नही बोलता।" अंग्रेज न्यायाधीश ने कहा—"अच्छा जैन है ? झूठ नही बोलता ? तो बुलाओ उसे।"

दूसरे दिन मजिस्ट्रेट साहब ने बूढेशाह को हाजिर होने के लिए कहलाया। उनके लडके को पता लगा कि मेरे पिताजी के बयान पर सारा दारोमदार है तो उसने अपने पिताजी को बहुत समझाया कि आप इतना ही कह दे कि वहियो मे जो लिखा है, वह सत्य है।

परन्तु सत्यवादी पिता ने कहा—"बेटा ! वैसे तो तू मेरा पुत्र है। लेकिन मैं पुत्र आदि के सम्बन्धो की अपेक्षा धर्म (सत्य आदि) को बढकर मानता हूँ। मैं कोई भी झूठी बात नही कहूँगा। जो भी बात जैसी होगी, वैसी ही कहूँगा। असत्य का पक्ष कदापि नही लूँगा।"

बूढेशाह ठीक समय पर न्यायाधीश के सामने पहुँचे। न्यायाधीश ने आदरपूर्वक कुर्सी पर बिठाया और साहूकार की ओर उंगली करते हुए उनसे पूछा—"क्या इन (साहूकार) का रुपया तुम्हारे लडके से लेना नही है ? क्या इन वहियो मे लिखा हुआ सत्य है ?"

लडके ने पहले से ही अपनी सफाई से सबको प्रभावित कर दिया था। वह अपनी झूठी बात भी सच्ची सिद्ध करके गया था। परन्तु अंग्रेज न्यायाधीश के पूछने पर उसके पिता ने कहा—"महोदय ! वैसे तो यह मेरा पुत्र है। मुझे इसकी सजा से बहुत अधिक दुःख होगा। समाज मे मेरी बदनामी भी होगी। लेकिन मुझे इसकी अपेक्षा भी धर्म प्यारा है, अत मैं कभी असत्य नही कहूँगा और न ही असत्य का पक्ष लूँगा। मेरे लडके से उक्त साहूकार के रुपये लेने हैं। इसने वहियो मे झूठा जमा-खर्च लिखा है। यह दण्ड का अधिकारी है।" यो कहते ही बूढेशाह बेहोश हो गए। न्यायाधीश पर उनकी सत्यता का ऐसा प्रभाव पडा कि उन्होने इस शर्त पर लडके की सजा माफ कर दी कि भविष्य मे वह कभी असत्याचरण नही करेगा। उसने इस बात को स्वीकार किया। अत बरी कर दिया गया। बूढेशाह जब होश मे आए और फैसला सुना तो उनके नेत्रो से हर्षाश्रु टपक पडे। उन्होने अपने पुत्र को कहकर शीघ्र ही उस साहूकार के रुपये चुकता करवा दिये।

वास्तव मे, सत्यता का फल बहुत ही शुभ मिलता है। जो व्यक्ति सत्यवादी होता है, वह झूठी साक्षी देकर असत्य को कभी प्रश्रय नही देता।

सत्यव्रत मे लगने वाले दोष

पिछले प्रवचनो मे मैंने सत्य और असत्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे काफी विस्तृत रूप मे विवेचन किया है, फिर भी श्रावक कई बार सावधानी रखता हुआ भी भ्रान्तिवश कोई न कोई भूल कर सकता है, इसलिए सत्यव्रती को नम्रतापूर्वक अपनी जीवनचर्या पर चिन्तन-मनन, आलोचन-प्रत्यालोचन करते रहना चाहिए । शास्त्रकारो ने आवश्यकसूत्र मे स्थूलमृषावादविरमण व्रत (सत्य-अणुव्रत) के साथ ही सावधानी रखने के लिए पाच अतिचार बतलाए है—

थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएण इमे पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । त जहा-सहस्सब्भक्खाणे, रहस्सब्भक्खाणे, सदारमतभेए, मोसुवएसे, कूडलेहकरणे ।

श्रावक के योग्य स्थूलमृषावाद विरमण व्रत (सत्याणुव्रत) के ये पाँच अतिचार (दोष) हैं, जिन्हे उसे जानना चाहिए, वे आचरण करने योग्य नही है । उन पाँचो के नाम इस प्रकार हैं—सहसाभ्याख्यान, रहस्याभ्याख्यान, स्वदारमत्रभेद, मृषोपदेश, कूटलेखकरण । श्रावक को इनसे बचना उचित है ।

व्रत का अतिक्रमण होने की चार कक्षाएँ

किसी भी व्रत का उल्लघन करने की चार कक्षाएँ है । पहला क्रम यह है कि व्रती उस व्रत के त्याज्य कार्य को करने का विचार करता है, इसे अतिक्रम कहते है, उसके पश्चात् वह उस कार्य को पूर्ण करने के लिए साधन एकत्रित करता है, इसे व्यतिक्रम कहते हैं । तीसरा कदम उक्त त्याज्य कार्य को करने की बिलकुल तैयारी कर लेने का होता है, लेकिन अभी त्याज्य कार्य किया किया नही है, तब तक अतिचार है, और जब नि शक होकर त्याज्य कार्य पूर्ण कर डालता है, तब अनाचार हो जाता है । मतलब यह है कि व्रत के उल्लघन का प्रारम्भ अतिक्रम के रूप मे होता है और अन्त होता है—अनाचार के रूप मे । उदाहरण के तौर एक सत्यव्रती श्रावक को लाचारी की हालत मे असत्य बोलने का विचार आया, तब अतिक्रम हो गया, यानी व्रत की मर्यादा टूट गई । किसी व्रत को भग करने की दुर्मति पैदा होना अतिक्रम है । उसके पश्चात् उस दु.सकल्प को पूर्ण करने के लिए झूठ बोलने के साधन जुटाता है, यह सत्यव्रत की दूसरी मर्यादा का उल्लघन है, जिसका नाम व्यतिक्रम है । और फिर 'व्रत तो मेरा सुरक्षित है ही ।' इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रखता हुआ, कुछ अश मे व्रत का भग करता है, तब अतिचार हो जाता है और जहाँ व्रत की अपेक्षा न करके बेधड़क प्रमाद और मोह के वश होकर सत्यव्रत का सकल्पपूर्वक भग किया जाय, वहाँ अनाचार हो जाता है । शास्त्र मे जहाँ अतिचार का उल्लेख है, वहाँ व्रत की तीसरी मर्यादा का उल्लघन समझना चाहिए ।

सहसाऽभ्याख्यान : प्रथम दोष

सहसा—अकस्मात् बिना ही किसी कारण के या किसी प्रकार का विचार या सत्यासत्य का निर्णय किए बिना पूर्वाग्रह, द्वेष, क्रोध, अहंकार, लोभ या अन्य किसी आवेशवश किसी व्यक्ति पर दोषारोपण कर देना, झूठा कलंक लगा देना—सहसा-भ्याख्यान नाम का अतिचार है। जैसे किसी सती या पतिव्रता नारी को कुलटा या दुराचारिणी कहना, किसी व्यक्ति पर व्यभिचारी, चोर, जार या अन्य किसी प्रकार के दोष का आरोप लगाना।

कई बार आँखों देखी बात भी असत्य निकलती है, कई बार लोग किसी से सुनी-सुनाई बात पर से कोई भी निर्णय किये बिना शीघ्र ही उस व्यक्ति पर कलंक लगा देते हैं या उसकी निन्दा या चुगली करना शुरू कर देते हैं। किसी भी व्यक्ति का दोष आँखों से देख लेने पर भी कई बार भ्रान्ति हो जाती है, व्यक्ति अपनी कल्पना के सहारे गलगलत बातें बना लेता है।

महात्मा गांधी जी ने जब से ब्रह्मचर्य व्रत लिया, उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य अंगीकार कर लिया था। महात्मा गांधी जी कोई जैन साधु तो नहीं थे कि स्त्री का स्पर्श भी न करते। वे आवश्यकता पड़ने पर कस्तूरबा से सेवा लेते थे। बुढ़ापे में वे अपनी पोती और पौत्रवधू का सहारा लेकर चलते थे। इसी कारण गांधी जी के चरित्र पर कई लोगों ने, जो गांधी जी के कार्यों से तथा प्रसिद्धि से जलते थे, झूठा इल्जाम लगाया कि "ये तो इन लड़कियों से प्रेम करते हैं, चरित्रभ्रष्ट हैं। उनके साथ तो महिलाएँ रहती हैं आदि।"

इसी प्रकार कई लोग साधुओं के प्रति भी केवल सुनी-सुनाई बातों या गलत-फहमी से मिथ्या दोषारोपण कर देते हैं।

अहमदाबाद में एक नामी साधु अपने सिंघाड़े के साधुओं के साथ रहते थे। वे विद्वान् थे, व्याख्यान भी वे ही देते थे।

एक बार वे बीमार पड़े। एक श्रद्धालु भाई उन्हें वैद्य को दिखाने ले गया। वैद्य ने उनके शरीर की जांच की और निदान करके कई दिनों की औषधि की पुड़ियाँ एक साथ बांधकर सिगरेट का एक खाली डिब्बा पड़ा था, उसे साफ करके दवा की पुड़िया रख दी और वह डिब्बा उन्हें दे दिया। संयोगवश व्याख्यान का समय हो जाने से उन्होंने वह डिब्बा व्याख्यान के पट्टे पर रखा और व्याख्यान देने बैठ गए। किन्तु व्याख्यान में बैठे हुए एक श्रोता ने उस डिब्बे को देख कर कल्पना कर ली कि "महाराज सिगरेट पीते हैं।" व्याख्यान उठने के बाद उसने मुनिजी से पूछकर कोई निर्णय नहीं किया और सीधे ही गया नगरसेठ के पास और सारी बात कही। नगरसेठ बुद्धिमान थे। उन्होंने उक्त भाई से पूछा —"क्या मुनिश्री से पूछकर निर्णय किया था?" "पूछना क्या था, डिब्बा सामने ही पड़ा था, मैंने स्वयं अपनी आंखों से देखा था।" फलतः नगरसेठ ने भी मुनिजी से बात की कि 'महाराज, सिगरेट

पीते है।" अब तो नगरसेठ भाई ने उससे कहा—"चलो, मुनिश्री के पास अपन इसके बारे मे चलकर निर्णय कर लें।" वे सभी मुनिश्री के पास आए। नगरसेठ ने नम्रता-पूर्वक मुनिश्री से पूछा—"आपके पास कल कोई सिगरेट का डिब्बा था?" मुनिश्री ने सरल भाव से कहा—"हाँ, मैं कल वैद्यजी को दिखाने के लिए गया था। उन्होने कई दिनो की दवा की पुडिया बाघ कर इस डिब्बे मे रख दी। मैं इस डिब्बे को लेकर उपाश्रय आया, इतने मे तो व्याख्यान का समय हो चुका था। इसलिए व्याख्यान के पट्टे पर इसे रखकर बैठ गया।" नगरसेठ ने मुनिश्री से लेकर वह डिब्बा खोलकर देखा तो उसमे दवा की पुडिया रखी थी। अत नगरसेठ ने उस भाई से कहा—"तुमने यो ही अपने मन से कल्पनाएँ की और मुनिश्री के विषय मे झूठा आक्षेप किया। इसके बजाय यदि तुम इनके पास आकर स्पष्टीकरण कर लेते तो कितना अच्छा होता?" उस भाई को अपनी भूल स्वीकार करनी पडी।

इसी प्रकार कई लोग गलतफहमी, भ्रान्ति या द्वेषवश साधु-साध्वियो के विषय मे भी झूठे आक्षेप लगा कर तिल का ताड बना देते है। ऐसे लोग पवित्र एव सदाचारी व्यक्तियो पर भी वहम के कारण कीचड उछालते है। उनके पास आकर स्पष्टीकरण नही करते और दूर-दूर से ही लोगो मे उनके बारे मे झूठी अफवाहे उडाया करते हैं। गाँधीजी के आश्रम मे एक बार एक भाई ने किसी आश्रमवासी के बारे मे झूठी शिकायतें गाँधीजी से की। गाँधीजी ने कहा—"तुमने जो बातें अमुक भाई के बारे मे कही है, उनका स्पष्टीकरण उस भाई से कभी किया था, या यो ही मन से हाके जा रहे हो?"

उसने कहा—"जी हाँ, फला-फला भाई ने मुझसे कहा था। मैंने भी एक बार देखा था।"

गाँधीजी ने उक्त आश्रमवासी को उसी समय बुलाया, और उसके सामने उस व्यक्ति से पूछा—"बताओ, इन्हें वैसा करते हुए तुमने कब देखा?" अब तो वह शिकायत करने वाला भाई सकपका गया और कहने लगा—"मैंने तो फला भाई के कहने से ऐसा कहा था।" और नीचे मुँह करके बगलें झाकने लगा।

गाँधी जी ने उसे खूब आडे हाथो लिया और फटकारा—"पहले तो तुम्हे सुनी-सुनाई बात पर कोई विश्वास नही करना चाहिए था। फिर भी तुम्हे इनके बारे मे कोई शका थी, तो इनसे रूबरू मिलकर पूछताछ करनी चाहिए थी। इस प्रकार बिना पूछताछ किये, गलतफहमी से किसी के प्रति कोई दोषारोपण कर देना, बहुत बडा असत्य है। इसका प्रायश्चित्त लो, तभी तुम आश्रम मे रह सकते हो। और यह प्रतिज्ञा करो कि भविष्य मे किसी की कोई भी बात हो, उसे ही पूछकर स्पष्टीकरण करो, दूसरो के सामने बिलकुल न उडाओ।"

यह थी गाँधीजी की सहसाभ्याख्यान दोष के सम्बन्ध मे सतर्कता। आजकल बिना सोचे-विचारे एकदम किसी पर दोषारोपण कर देना सहज कार्य बन गया है।

दोष की सत्यता पर विचार किये विना तथा किसी व्यक्ति के बारे मे शका होने पर उससे पूछने की नैतिक हिम्मत किये विना, सहसा किसी के गले किसी दोष का मढ देना, अत्यन्त अनुचित है। इससे कई दफा कुलीन व्यक्ति मिथ्या कलक को सहन न कर सकने के कारण आत्महत्या तक कर बैठता है। सम्भवत किसी कारणवश किसी मे कोई दोष हो गया हो तो उसे नम्रतापूर्वक सूचित करके भविष्य के लिए सावधान कर दिया जाय, लेकिन इसके बाद मे नीचो की तरह पराये दोषो का ढिंढोरा पीटते फिरना या नमक-मिर्च लगा कर तिल का ताड बना देना, चुगली करते फिरना या आपस मे एक-दूसरे को भिडाने का कार्य करना महानीचता है। आजकल इस दुर्गुण को फैलाने के साधन भी खूब बढ गए है।

कई जातीय या सामाजिक पच या मध्यस्थ भी किसी व्यक्ति पर द्वेष, अदावत, ईर्ष्या या जलन के कारण झूठा दोषारोपण करने या अन्याय करने या पक्षपात करने से नही चूकते। वे किसी पर किसी के द्वारा लगाए हुए अपराधो की सत्यता की जाँच-पडताल किये बिना यो ही सुनी-सुनाई बातो पर से उसे अपराधी मान लेते है। सम्भ-वत ऐसे प्रपची, अन्यायी एव पक्षपाती पचो को भी रिश्वत खाने का लोभ या दूसरे को नीचा दिखाने का द्वेषपूर्ण या ईर्ष्या युक्त विचार आता होगा। लेकिन पच की जिम्मेवारी लेकर इस प्रकार का अन्याय, पक्षपात या मिथ्या दोषारोपण करना शोभा-स्पद नही है।

आजकल पचो के लिए ही नही, समाज या परिवार के लोगो के लिए भी यह सुना जाता है, कि समाज या परिवार के कई लोग सदस्यो मे भी अपने-पराये का पक्ष-पात करके मन के खाने मे पराये के प्रति मिथ्या दोषारोपण लगाकर उसे बहिष्कृत करने या नीचा दिखाने का उपाय किया करते है। यह कितना घृणित या नीच कार्य है। तलवार का घाव तो मरहमपट्टी कर देने से अच्छा हो सकता है, लेकिन झूठे कलक का घाव, इतना गहरा व भयकर होता है कि जिदगी भर तक अच्छा होना कठिन हो जाता है। इसलिए किसी पर झूठा कलक लगाने का अत्यन्त घृणित कार्य कदापि नही करना चाहिए।

सत्यव्रतधारी श्रावको को तो इस दोष से अवश्य ही बचना चाहिए। सारा ससार ही ऐसा करता है, यह सोचना गलत है। ससार सुधरे या न सुधरे, श्रावक को अपने कर्तव्य का पालन करते रहना चाहिए। आप यह विचार कीजिए कि मैंने व्रत ग्रहण किया है, इसलिए मुझे ख्याल रखकर इस दोष से बचना ही चाहिए। आम आदमी की तरह मुझे किसी के प्रति सहसा दोषारोपण नही करना चाहिए।

रहस्याभ्याख्यान : असत्य का स्रोत

कुछ व्यक्ति एकान्त मे बैठकर किसी महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर विचार कर रहे हो, उस समय झूठे अनुमान बाँधकर या कल्पना के सहारे अटकलबाजी लगाकर उसका ढिंढोरा पीटना कि ये तो फला-फला व्यक्ति के बारे मे या अमुक-अमुक बात पर गुप्त

मत्रणा कर रहे थे। अनुमान कई दफा बहुत ही गलत साबित हुआ है, और फिर जब तक किसी विषय मे पूरी तहकीकात न कर ली जाय, तब तक वहम ही वहम मे घुल कर उसके विषय मे गलत अनुमान लगा लेना, मन मे उसके प्रति पूर्वाग्रह की गाँठ बांध लेना, या लोगो मे गलत बातें फैलाना असत्य का भयकर दोष है।

आजकल बहुत-से लोगो मे यह आदत है कि चाहे कोई स्त्री या पुरुष परस्पर भाई-बहन ही हो, कोई महत्त्वपूर्ण वार्तालाप कर रहे हो, फिर भी लोग बिना विचार किये ही उनके प्रति सन्देह करने लगते हैं, गलत बातें उडाने मे भी वे नही हिचकिचाते, और कलक लगाकर उन्हे नीचा दिखाने की अवधि तक वे सत्यभ्रष्टता करते है। लेकिन विचारशील व्यक्ति को सहसा उन लोगो के चक्कर मे नही आना चाहिए और न ही स्वय ऐसे कुविचार या मिथ्या सन्देह करना चाहिए। सन्देह के आधार पर कलक लगाने का दोषारोपण पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे अधिक पाया जाता है। वे जरा-सी बात को, चाहे फिर वह सत्य हो या झूठ, काफी समय तक घोटती रहती है, नीचवृत्ति के लोगो के सामने फैलाती रहती है, इधर-उधर की झूठी गप्पें हाँकती रहती हैं।

व्रतधारी श्रावक-श्राविका को इस प्रकार किसी को परस्पर बात करते देखकर सन्देह लाना और दोष लगाना उचित नही है।

स्वदारमन्त्रभेद • असत्य का रूप

'सदारमतभेए' का एक अर्थ, जो प्रचलित है, यह है कि अपनी पत्नी ने कुछ मर्मभरी गुप्त बात कही हो, जिसे छिपाने की आवश्यकता है, या स्वय ने जो कुछ कहा हो, दूसरे के सामने उसे प्रगट करना सदारमन्त्रभेद कहलाता है। परन्तु सदारमन्त्रभेद का दूसरा अर्थ यह भी सम्भव है कि सदार यानी दारा=पत्नी सहित पुत्रादि के विषय मे भी जो बात गुप्त रखनी हो, उसे उसके सामने प्रगट करना 'सदारमन्त्रभेद' कहा जा सकता है। एक परिवार मे बहुत वर्षों बाद एक पुत्र हुआ। पति-पत्नी दोनो की खुशी का पार न था। परन्तु जब ज्योतिषी को उन्होने उस लडके की जन्मकुण्डली बताई तो ज्योतिषी ने सिर हिलाते हुए लडके के माता-पिता को एकान्त मे ले जाकर कहा—"इस लडके के ग्रह बहुत खराब हैं। सोलह साल की उम्र होते-होते यह लडका तुम्हारे घर मे नही रहेगा।" माता-पिता को यह सुनकर बडा रज हुआ कि यह बडे मनोरथो के बाद तो लडका हुआ, और फिर सोलह साल की उम्र तक समाप्त हो जाएगा। अत उसकी माँ को उसके लालन पालन का जो आनन्द था, उत्साह था, वह समाप्त हो गया। माँ उसको खिलाती-पिलाती जरूर थी, पर वह वात्सल्य व उत्साह उसमे नही रहा। पिता भी पुत्र के प्रति उपेक्षा करने लगा, वह भी उसके लिए कोई कीमती चीज नही लाता, और न ही ज्यादा खर्च करता था। अव्वल तो ज्योतिषी को ऐसी बात कहानी ही नही चाहिए थी अगर उसने कह भी दी तो उसकी बात पर विश्वास न करके पुत्र के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए था। परन्तु

माता पिता दोनो ने उपेक्षा भाव रखा सो तो रखा ही, एक दिन लडके के सामने माँ ने उस रहस्य को खोल भी दिया। लडके को सुनकर बहुत धक्का लगा। उसके मन मे भी अपने प्रति हीन भावना आ गई। और माता-पिता के प्रति उसके मन मे कृतज्ञता के वदले विद्रोह की भावना ने जन्म ले लिया।

इसी प्रकार स्त्री की किसी गुप्त बात को प्रकाशित कर देने से भी कई बार अनर्थ परम्परा खडी हो जाती है। या तो वह अपनी हत्या कर लेती है या फिर दूसरे की हत्या कर देना आदि अनर्थ परम्परा की सम्भावना रहती है। कुछ वर्षो पहले एक घटना पत्रो मे प्रकाशित हुई थी कि एक स्त्री ने अपने पति को निर्धन एव दरिद्र समझकर कुए मे धक्का दे दिया। वह अपने पीहर चली गई। सयोगवश उसके पति को कुए मे से किसी ने निकाल दिया। वह वनजारो के साथ रहने लगा। व्यापार मे खूब पैसा कमाकर वह अपने ससुराल पहुँचा। भलमानसाहत रखकर वह अपनी पत्नी को लेकर अपने घर आया। अव पत्नी की पति भक्ति वढ चुकी थी। पुत्र वडा हुआ। उसकी शादी कर दी गई। लेकिन पुत्रवधू ऐसी कर्कशा आई कि रोजाना सास के साथ झगडा करती थी। वह इस ताक मे रहती थी कि कही कोई छिद्र मिले तो इसे वश मे करू। एक दिन उसके ससुर भोजन करने बैठे थे, धूप आ रही थी, इसलिए सास एक हाथ से कपडा लगाए हुए दूसरे हाथ से पखा झल रही थी। यह देख उसके ससुर को कुछ हँसी आई। इस पर पुत्रवधू को अपने प्रति वहम हुआ। उसने अपने पति के सामने झूठी जिद ठान ली कि "पहले मुझे बताइए कि आपके पिताजी मेरे लिए क्यो हँसे? बाद मे ही मैं भोजन करने दूंगी।" लडका भी उसकी जिद के मारे परेशान होकर पिताजी के पास पहुँचा। पिता ने पहले तो बहुत आनाकानी की कि यह तुमसे या तुम्हारी पत्नी से सम्बन्धित बात नही है। पर बहू इससे कहाँ मानने वाली थी। उसका हठ देखकर लडके ने अपने पिता से बता देने का आग्रह किया। अत सेठ ने कहा—"मुझे तो इसलिए हसी आ गई थी कि एक दिन तो वह था, जबकि तेरी मा ने मुझे कुए मे गिरा दिया था, परन्तु आज वह मेरी इतनी भक्ति कर रही है, यह सयोग की बात है।" लडके की बहू ने सुना तो अब सोच लिया कि इस बार लडाई होने पर सास को खूब जलीकटी सुनाऊँगी। बस, जिस दिन लडाई हुई, उस दिन पुत्रवधू ने व्यगवश सास को मर्मस्पर्शी बात सुना दी—"मैं जानती हूं, तुम तो अब सती बनने चली हो, एक दिन तो ससुरजी को कुए मे गिराते कोई सकोच न हुआ।" बस, इतना कहना था कि सास चुप हो गई। गुप्त रहस्य का भडाफोड हो जाने के कारण सास ने आत्म-हत्या कर ली, उसके पीछे ससुर, पुत्र व पुत्रवधू सबने वदनामी से वचने के लिए आत्महत्या कर ली। यह था स्वदारमत्रभेद का कटु परिणाम। इसलिए तथ्य होते हुए भी ऐसा करना सत्य नही है। सत्यव्रत का यह अतिचार है।

आजकल कई पुरुप स्त्रियो को अत्यन्त तुच्छ और हेय समझते है। अगर सरल भाव से वह कभी अपने अपराध से हलके होने के लिए पुरुष के सामने अपना हृदय

खोलकर रख भी देती है, तो पुरुष उसके प्रति अविश्वास की गाँठ मन मे बाँध लेता है, या वह उसे मारने-पीटने, घर से निकालने या अपमानित करने से नही चूकता। इसके कारण पत्नी से किसी प्रकार की सम्मति लेना तो दूर रहा, उनकी गुप्त बातो को प्रगट करने मे भी नही हिचकते। लेकिन ऐसा करना पुरुषो की उद्दण्डता है, उच्छृखलता है। स्त्रियो को पराधीनता के सीखचो मे बद करके वह उन्हे गुलाम बनाकर रखना चाहता है। उन्हे हर बात मे पराधीन और पशु बना रखा है। स्त्रियो को इस तरह पराधीन बनाए रखने से ही भारत का प्राचीन गौरव छिन्न-भिन्न हो रहा है।

स्त्रियो की शक्ति कम नही है। जैनशास्त्र मे तीर्थंकरो को जन्म देने वाली माताओ को रत्नकुक्षिधारिणी कहकर प्रशसा की है, इन्द्रो तक ने उनकी स्तुति की है। मनुस्मृति मे भी कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

जहाँ स्त्रियो का सत्कार होता है, वहाँ देवगण रमण करते है। जिस महिला वर्ग की इतनी महत्ता है, उसे तुच्छ समझ कर उसे अपमानित करने से पारिवारिक और सामाजिक जीवन कैसे सुखी हो सकता है ? सुखी होना तो दूर रहा, इन दोनो क्षेत्रो की उन्नति महिलाओ के सहयोग के बिना होनी कठिन है।

महिलाओ की उच्चता, लज्जा और कोमलता को दृष्टिगत रखकर ही शास्त्रकारो ने उनकी किसी गोपनीय बात को दूसरे से कहने की मनाही की है। चाणक्य नीति मे भी इस सम्बन्ध मे स्पष्ट कहा है—

अर्थनाश मनस्ताप गृहिणीचरितानि च।
वचन चापमान च, मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥

धन की हानि, मन का सताप, पत्नी के आचरण सम्बन्धी बात, अपनी ठगाई एव अपमानित होने की बात बुद्धिमान् व्यक्ति किसी के समक्ष प्रगट न करे।

इस अतिचार मे जैसे स्त्री के विषय की गुप्त बात प्रगट करने का निषेध पुरुष के लिए कहा गया है, वैसे ही पुरुष के विषय की गुप्त बात स्त्रियो के लिए निषिद्ध समझनी चाहिए। महिलाओ का भी कर्तव्य है कि वे पुरुषो द्वारा कही हुई गुप्त बात को किसी के समक्ष प्रगट न करें। इससे दाम्पत्यकलह पैदा हो जाता है, तथा जिन्दगी भर पति-पत्नी मे आपस मे मनमुटाव चलता है।

मिथ्या-उपदेश असत्य का द्वार

दूसरो को असत्य का उपदेश देना मृषोपदेश कहलाता है। असत्य के उपदेश का मतलब है—झूठ बोलने, चालाकी करने, तौल-नाप मे गडबडी करने, छलकपट करने, ठगी और बेईमानी करने की प्रेरणा देना, ट्रेनिंग देना, प्रोत्साहित करना।

मिथ्या-उपदेश अतिचार भी तब कहलाता है, जब वह असावधानी से किसी को दे दिया जाय, अथवा अपने पास सम्मति पूछने आए हुए व्यक्ति को असावधानी से

है, फिर भी झूठी बात पर विश्वास करके उस बात को समाचार-पत्रो मे छपवा देना अतिचार है, किन्तु झूठ मालूम होने पर भी जानबूझकर उस असत्य समाचार को छपवा देना अनाचार है। इसी प्रकार दस्तावेज आदि या बही खातो मे झूठा जमाखर्च करना भी अतिचार है। परीक्षा मे नकल करना भी कूटलेखकरण है।

आजकल लोगो मे यह प्रवृत्ति बहुत दिखाई देती है। वे झूठे लेख लिख कर झूठे जमाखर्च करके या झूठे दस्तावेज बनाकर यह समझते है कि इसमे हमने कौन-सा असत्य बोला ? किसको हानि पहुँचाई ? परन्तु लोभ के कारण उनकी बुद्धि पर ऐसा पर्दा पड जाता है कि वे सत्यासत्य का विचार नही करते। कभी-कभी तो गिरवी का धन्धा करने वाले किसी ने कोई चीज रखी है, उसको हजम करने के लिए बहीखातो मे लिखा हुआ ही बदल देते हैं, या वे पन्ने ही फाड दिये जाते है। इसी प्रकार ब्याज-बट्टे का धन्धा करने वाले भी लोभवश ५०० के ५००० बनाकर गरीबो का गला काट लेते हैं। इस कार्य मे चाहे मुँह से झूठ न बोला गया हो, किन्तु काया से असत्य लिखने का कार्य हुआ है, वह भयकर झूठ है। इसी प्रकार सस्था का खर्च लिखते समय जितना खर्च हुआ है, उससे अधिक लिख देना, बाकी के पैसे हजम कर जाना, झूठ और चोरी दोनो है। किसी के खिलाफ समाचार-पत्रो मे झूठे समाचार लिख कर छपवा देना भी आजकल फैशन हो गया है। परन्तु वे भूल जाते है कि इस असत्य कार्य का परिणाम कितना भयकर होगा ? भेद खुलने पर वह व्यक्ति निन्द्य एव घृणित समझा जाता है। लोगो मे फिर वह व्यक्ति विश्वसनीय नही रहता।

इस अतिचार से सावधान करने का उद्देश्य यह है, ऐसे लेखन कार्य से बचा जाए, जो असत्य की परिभाषा के दायरे मे आता है।

इस प्रकार प्रत्येक धर्मनिष्ठ श्रावक को असत्य के इन कार्यो से मन-वचन-काया से स्वय बचना चाहिए, साथ ही दूसरो को भी मन-वचन-काया से असत्य की ओर प्रेरित नही करना चाहिए।

सत्य ही जीवन का परम उद्देश्य है, वही आराध्य है, इस बात को मद्देनजर रखते हुए श्रावक को अपने जीवन मे असत्य प्रतीत होने वाले विचारो, वचनो और कार्यों से अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

☆

है, फिर भी झूठी बात पर विश्वास करके उस बात को समाचार-पत्रो मे छपवा देना अतिचार है, किन्तु झूठ मालूम होने पर भी जानबूझकर उस असत्य समाचार को छपवा देना अनाचार है। इसी प्रकार दस्तावेज आदि या वही खातो मे झूठा जमाखर्च करना भी अतिचार है। परीक्षा मे नकल करना भी कूटलेखकरण है।

आजकल लोगो मे यह प्रवृत्ति बहुत दिखाई देती है। वे झूठे लेख लिख कर झूठे जमाखर्च करके या झूठे दस्तावेज बनाकर यह समझते है कि इसमे हमने कौन-सा असत्य बोला ? किसको हानि पहुँचाई ? परन्तु लोभ के कारण उनकी बुद्धि पर ऐसा पर्दा पड जाता है कि वे सत्यासत्य का विचार नही करते। कभी-कभी तो गिरवी का धन्धा करने वाले किसी ने कोई चीज रखी है, उसको हजम करने के लिए वहीखातो मे लिखा हुआ ही बदल देते है, या वे पन्ने ही फाड दिये जाते है। इसी प्रकार ब्याज-बट्टे का धन्धा करने वाले भी लोभवश ५०० के ५००० बनाकर गरीबो का गला काटे लेते है। इस कार्य मे चाहे मुँह से झूठ न बोला गया हो, किन्तु काया से असत्य लिखने का कार्य हुआ है, वह भयकर झूठ है। इसी प्रकार सस्था का खर्च लिखते समय जितना खर्च हुआ है, उससे अधिक लिख देना, बाकी के पैसे हजम कर जाना, झूठ और चोरी दोनो हैं। किसी के खिलाफ समाचार-पत्रो मे झूठे समाचार लिख कर छपवा देना भी आजकल फैशन हो गया है। परन्तु वे भूल जाते है कि इस असत्य कार्य का परिणाम कितना भयकर होगा ? भेद खुलने पर वह व्यक्ति निन्द्य एव घृणित समझा जाता है। लोगो मे फिर वह व्यक्ति विश्वसनीय नही रहता।

इस अतिचार से सावधान करने का उद्देश्य यह है, ऐसे लेखन कार्य से बचा जाए, जो असत्य की परिभाषा के दायरे मे आता है।

इस प्रकार प्रत्येक धर्मनिष्ठ श्रावक को असत्य के इन कार्यो से मन-वचन-काया से स्वय बचना चाहिए, साथ ही दूसरो को भी मन-वचन-काया से असत्य की ओर प्रेरित नही करना चाहिए।

सत्य ही जीवन का परम उद्देश्य है, वही आराध्य है, इस बात को मद्देनजर रखते हुए श्रावक को अपने जीवन मे असत्य प्रतीत होने वाले विचारो, वचनो और कार्यों से अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। ✡

6

अस्तेयव्रत : साधना और स्वरूप

धन की अपेक्षा चरित्र की महत्ता

भारतीय सस्कृति के उन्नायको ने धन को इतना महत्त्व नही दिया है, जितना धन्य कार्यों को। उन्होने मानव की श्रेष्ठता धन से नही, धन्यकार्यों से मानी है। धन की अधिकता के कारण कोई मनुष्य श्रेष्ठ नही माना जाता, श्रेष्ठकार्य ही अथवा श्रेष्ठतापूर्वक किया गया कार्य ही मनुष्य को श्रेष्ठ बना सकता है। चोरी करके, छीना-झपटी करके या अन्य अनैतिक उपायो—अप्रमाणिकता, छलफरेब एव धोखेबाजी या बेईमानी से कमाया हुआ धन प्रतिष्ठा के योग्य नही होता, किन्तु जो व्यक्ति प्रामाणिकता, ईमानदारी, नैतिकता एव पवित्रता से धन कमाता है, वही समाज मे, राष्ट्र मे या परिवार मे प्रतिष्ठा पाता है, उसी का विश्वास किया जाता है। वह व्यक्ति निर्धन हो तो भी ईमानदारी का धन उसके पास होता है। इसीलिए कवि कहता है—

सच्चा धन ईमान, आदमी, सच्चा धन ईमान ॥
जिसमे है ईमान वही जन सच्चा गौरववान् ॥आ०॥
चोरी मे क्या हुई कमाई ? जीवनभर की शान्ति गवाई।
पाने से अधिकाधिक खोया, लाभ बना नुकसान ॥आ०॥१॥
एक चोर चोरी करता है, घर-घर मे चिन्ता भरता है।
खुद भी गौरव शान्ति गमाता, कैसा वह नादान ? ॥आ०॥२॥
चोरी से जो धन आता है, इधर-उधर से बह जाता है।
नगा का नगा रहता है, बनता है हैवान ॥आ०॥३॥

ससार मे ऐसे भी लोग थे, जो बहुत ही गरीबी मे पले थे, अत्यन्त दरिद्र थे, लेकिन उनके जीवन मे नीति, प्रामाणिकता और पवित्र-जीविका का गौरव था, वही उनके लिए धन था। मनुष्य को सच्ची श्रमनिष्ठा, ईमानदारी एव प्रामाणिकता से विश्वास, प्रेम और आदर मिलता है। किन्तु जब मनुष्य ईमानदारी, प्रामाणिकता एव श्रमनिष्ठा को छोडकर बेईमानी, अप्रामाणिकता एव आलस्य का कुपथ स्वीकार

कर लेता है, तब उससे सामाजिक जीवन मे अविश्वास पैदा होता है, कई खतरे पैदा होते है, व्यक्ति चरित्रहीन बनता है। समाज का सारा कार्य विश्वास के आधार पर चलता है समाज मे जब चोर, डाकू, या बेईमान लोग बढ जाते हैं, तब सकट पैदा होता है, परस्पर विश्वास कम होता जाता है, इसीलिए सत्य, अहिंसा के साथ-साथ अस्तेय व्रत की आवश्यकता है।

आर्थिक दृष्टि से अस्तेय का महत्व

अस्तेय व्रत मनुष्य की आर्थिक दृष्टि से विशेष सम्बन्धित है। अर्थ का मतलब है—पदार्थ। जीवन जीने के लिए मनुष्य को—चाहे वह साधु-सन्यासी ही क्यो न हो गया हो, अन्न, वस्त्र, आवास आदि कुछ पदार्थों की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। परन्तु सवाल उन-उन पदार्थों के लेने या उपभोग करने का ही नही है, धर्म या अध्ययन की दृष्टि यह कहती है कि सासारिक (भौतिक) पदार्थो को, जब तक देह है तब तक लेना ही पडेगा, लेने की कोई भी शास्त्र मनाही नही करता, किन्तु लेने से पहले जरा सोचो कि तुम्हारी मर्यादा क्या है ? तुम्हे कितना और कौन-सा पदार्थ लेने का अधिकार है ? तुम्हे अमुक पदार्थ किस विधि से और कैसे लेना चाहिए ? और फिर सवाल उठेगा कि जो पदार्थ ले रहे हो, उसका उपभोग करना तुम्हारे लिए योग्य है या नही ? यदि योग्य है तो कितनी मात्रा मे या कितनी सख्या मे उपभोग करना उचित है ? ताकि दूसरो के अधिकार का हनन न हो, दूसरे के जीवन जीने मे कठिनाई पैदा न हो। ये ही प्रश्न अस्तेयव्रत की आवश्यकता बताते हैं। अस्तेयव्रत के बिना मनुष्य पशु की तरह जीवन बिताता या दानवीय जीवन बिताता। पाशविक जीवन मे यह है कि जिसको जितना खाने-पीने या जीने के लिए जरूरी चीजें मिल गई, दूसरा पशु पास मे ही खडा है, वह भूखा प्यासा है, उसको खाने-पीने की चीजें नही मिली या पर्याप्त मात्रा मे नही मिली, इसकी चिन्ता पशुजगत् मे नही होती। पशु चौर्य-अचौर्य मे कुछ नही समझता, न ईमानदारी-बेईमानी या अधिकार-कर्तव्य का उसे कुछ ज्ञान होता है। उसे भूख लगती है तो जो कुछ मिल गया, अकेला ही खा जाएगा, दूसरे के लिए कुछ बचा कर रखने की उसे चिन्ता नही होती। बच जाय, वह उसके भाग्य का। इससे भी भयकर जीवन होता है—दानवीय जीवन, जिसम दूसरे के मरने-जीने, आवश्यकता-अनावश्यकता, अधिकार-कर्तव्य का कोई भान नही होता, सिर्फ अपने जीने की चिन्ता होती है, और वह भी पर्याप्त न मिला, तो दूसरे से छीन-झपट कर, लडभिडकर, मार-पीट करके ले लेना, यही नीति होती है। मानव समाज मे अगर पाशविक या दानवीय जीवन प्रारम्भ हो जाय तो सर्वत्र अराजकता, मारकाट या तू-तू, मैं-मैं, फैल जाएगी, सबका जीवन अशान्त हो जाएगा। कोई भी व्यक्ति किसी पर भी विश्वासपूर्वक जी नही सकेगा। सुख-शान्ति हवा हो जाएगी। अस्तेयव्रत की इसीलिए जरूरत है कि मनुष्य पाशविक एव दानवीय जीवन से मुक्त होकर शुद्ध मानवीय या दिव्य जीवन व्यतीत करे। अपनी

जीविका के लिए या यो कहिए कि जीवन की आवश्यकताओ के लिए न्यायनीति पूर्वक यथोचित पुरुषार्थ करे और उससे जो न्याययुक्त पदार्थ प्राप्त हो, उसी से गुजारा चलाए, परन्तु यह न सोचे कि दूसरे व्यक्ति को मुझसे ज्यादा मिल गया है या दूसरे को कुछ अच्छे पदार्थ प्राप्त हो गए हैं तो उससे छीना-झपटी करे या उसकी आँख बचाकर चीज उठा ले, उसकी सम्मति के बिना ही चीज ले ले, अपने कब्जे मे कर ले और चुपचाप स्वय उसका उपभोग कर ले। या उससे जबरन, शस्त्रास्त्र के बल पर या सत्ता के बल पर उस चीज को छीन ले या हथिया ले। अत अचौर्यव्रत पालन से ही मानव समाज मे सुख-शान्ति प्रवर्तित हो सकती है।

समाज मे जब अधिकाश लोग अपने अधिकार के लिए सघर्ष करते है, जबरन अधिकार जमा लेते ह, या सघर्ष करके निर्बलो पर हावी होकर उनका अधिकार छीन लेते है, अथवा अपनी आवश्यकताएँ बढा कर उसकी पूर्ति के लिए बेईमानी, ठगी, चोरी, डकैती आदि अनेक प्रकार के अनैतिक उपाय अजमाते हे। समाज मे जब ऐसे लोग बढते है, तो विषमता फैलती है, यही सारे सघर्ष और असन्तोप की जड है। इसलिए अस्तेयव्रत व्यक्ति की शास्त्रीय अधिकार मर्यादा का निर्णायक है। यह मर्यादा सबके लिए हितावह है, सुख-शान्तिदायिनी है।

अध्यात्मदृष्टि से देखें तो अस्तेयव्रत मानव की आर्थिक मर्यादा निश्चित करता हे, जिससे समाज को असीम लाभ होता हे। क्योकि जहाँ मर्यादा आती है, वहाँ मनुष्य के जीवन मे सयम शुरू हो जाता है। मयम से कई प्रकार के प्रत्यक्ष लाभ है ही। सामाजिक लाभ भी कम नही है। जो व्यक्ति अपने पर आर्थिक अकुश रखता है या अपनी आवश्यकताओ पर नियन्त्रण रखता है, वह कुछ हद तक समाज मे आर्थिक विषमता दूर करने मे सहायक होता है। अगर व्यक्ति दूसरे के हिस्से को लेने का सोचता है तो उसका अर्थ यह है कि वह समाज मे विषमता लाने मे निमित्त बनता है। सबको अन्न-वस्त्र आदि आवश्यक सुविधाओ का समान अवसर मिलना चाहिए।

अगर व्यक्ति इस धर्म का पालन करता है तो इसका लाभ सबको मिलता है। अस्तेयव्रत के पालन से अपने लिए सयम का लाभ और समाज के लिए समानता प्राप्त कराने मे मदद के रूप मे लाभ, इस प्रकार दोहरा लाभ है। क्योकि भेद यानी अपनी मर्यादा एव अधिकार का पालन करके अभेद यानी समता व आत्मौपम्य की प्राप्ति करना, यह असीम लाभ है।

अस्तेयव्रत का व्यापक रूप से पालन होने लगता है तो समाज से कृपणता मिटती है। कृपणता का अर्थ है दीनता। गीता की परिभाषा के अनुसार, कृपणा फल हेतव कृपण वे है, जो तृष्णा के अधीन होकर फलप्राप्ति के लिए कर्म करते है। 'फलासक्ति से कार्य करने वाला व्यक्ति दीन बनता है। इसके विपरीत फलप्राप्ति के लिए दीनता छोडकर भिक्षावृत्ति से अस्तेयव्रत का पालनकर्ता स्वतन्त्र एव स्वाधीन होता हे। अस्तेयव्रत के पालन से समाज मे चलने वाला वर्गसघर्ष या विग्रह टल जाता

है। समाज मे प्राय सघर्ष द्वेप, मत्सर, तिरस्कार आदि तभी पैदा होते हैं, जब सबको विकास का समान अवसर नही मिलता। ऐसी दशा मे स्पर्धावृत्ति जोर पकडती है इस विग्रह की परिस्थिति को बदलने के लिए एव समाज मे समत्व स्थापित करने के लिए अस्तेयव्रत की आवश्यकता है। कानून से या दण्डशक्ति से जो समता आती है, वह ऊपर से लादी हुई या बलात् थोपी हुई समता होती है, उसमे स्थायित्व नही होता और जो समता समाज मे व्याप्त विपमताओ को मिटाने के लिए अस्तेयव्रत के माध्यम से स्वेच्छा से स्वीकृत की जाती है, उसमे परस्पर सहयोग भावना और चिरस्थायित्व रहता है।

अस्तेयव्रत से इहलौकिक और पारलौकिक लाभ भी कम नही है। सिन्दूर प्रकरण मे इस व्रत की महिमा बताते हुए कहा है—

'तमभिलषति सिद्धिस्त वृणीते समृद्धि ।
तमभिसरति कीर्तिर्मुञ्चते त भवार्ति ।
स्पृहयति सुगतिस्त नेक्षते दुर्गतिस्तम् ।
परिहरति विपत्तियों न गृह्णात्यदत्तम् ॥'

जो अदत्त (बिना दिये) ग्रहण नही करता, सिद्धि उसकी अभिलापा करती है। समृद्धि उसे स्वीकार करती है, कीर्ति उसके पास आती है, सासारिक पीडाएँ उसका पीछा छोड देती है, सुगति उसकी स्पृहा करती है, दुर्गति उसे देखती भी नही। विपत्ति उसे छोड देती है।

योगदर्शन मे अस्तेयव्रत के निष्ठापूर्वक पालन का फल 'सर्व रत्नप्रदाता' बताया गया है। यानी अस्तेयव्रत का व्यापक पालन होने लगे तो सबके लिए सारी सुविधाएँ और विकास के लिए सब अनुकूलताएँ एव समान अवसर प्राप्त हो सकेंगे। यह अस्तेय व्रत के पालन का अद्भुत परिणाम है। योगदर्शन के साधनपाद मे बताया गया है—

'अस्तेयप्रतिष्ठाया सर्वरत्नोपस्थानम्'

जीवन मे अस्तेय के प्रतिष्ठित हो जाने पर—अस्तेय व्रत पालन मे सफलता प्राप्त होने पर सर्वरत्न उपस्थित होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सारी सुविधाएँ एव समस्त अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं।

सभी व्रत एक-दूसरे से सम्बन्धित

शास्त्र मे बताए हुए पाँचो व्रत तथा अन्य सारे उपव्रत एक-दूसरे से जुडे हुए है। वे परस्पर इस प्रकार से सम्बन्धित है कि एक भी व्रत का पूर्णरूप से पालन करने पर सब व्रतो का पालन स्वत हो जाता है। यद्यपि सभी व्रतो का स्वरूप भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, व्रत सम्बन्धी कल्पनाएँ अलग-अलग प्रकार की दिखाई देती है, फिर भी सबका अर्थ एक ही है, यानी सब व्रतो का हेतु—उद्देश्य एक ही है। वह है—देहाध्यास क्षीण करके विकारो का प्रतिबन्ध दूर करके सर्वभूतात्मभूत बनाना—प्राणिमात्र

के साथ अद्वैतभाव का अनुभव करना, जीवमात्र के साथ आत्मौपम्य की अनुभूति करना।

दूसरी दृष्टि से देखें तो सब व्रतो मे परस्पर अभिन्नता है। व्रतो के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध मानते है तो सब एक-दूसरे के साथ जुडे हुए भले हो, परन्तु कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न है। परन्तु जब व्रतो मे परस्पर अद्वैत—अभेद सम्बन्ध मानते हैं तो सबका अर्थ, उद्देश्य अन्ततोगत्वा एक ही हो जाता है। इस दृष्टि से अन्य व्रतो की उपेक्षा करके सिर्फ एक ही व्रत का, अथवा एक व्रत की उपेक्षा करके अन्य व्रतो का पालन करना सम्भव नही है। इसलिए अस्तेयव्रत का पालन करना है तो सत्य-अहिंसा आदि अन्य व्रतो का पालन भी अनिवार्य मानना चाहिए। इसलिए अस्तेय व्रत का खण्डन होने पर शेष सभी व्रतो का खण्डन हो जाता है, अत शेष चार व्रतो का पालन करने के लिए भी इस व्रत को धारण करना आवश्यक है। सत्य को पहचानने और अहिंसा को आचरण मे लाने के लिए ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि अन्य व्रतो की योजना आवश्यक है।

अस्तेयव्रत सामाजिक धर्म का दिग्दर्शक

अस्तेयव्रत हमे सामाजिक धर्म का दर्शन कराता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज मे रहने मे संघर्ष न आए और सुख-शान्ति से जीवनयापन किया जा सके, इसके लिए विनिमय की व्यवस्था की गई। इतनी वस्तु या इतने परिश्रम के बदले इतना मूल्य दिया जाय, यह मर्यादा निर्धारित की गई। उस विनिमय-मर्यादा का उल्लघन करना चोरी समझा गया। इसलिए अचौर्यव्रत सामाजिक मर्यादाओ के पालन के लिए प्रेरित करता है। सभी मनुष्य समाज-शरीर के अग है। इसलिए समाज के प्रति लापरवाही या उपेक्षा नही की जा सकती। समाज के अग होने के नाते सभी मनुष्य समान है। सभी अगो का समान विकास हो, धारण, पोषण और सरक्षण हो, यह जरूरी है। इस समाज धर्म का पालन करने के लिए अस्तेयव्रत का पालन करना आवश्यक है, जिससे आवश्यक वस्तुओं का अतिभोग या अति-उपयोग कोई न करे, कोई किसी का शोषण न करे। इस धर्म का ज्ञान अस्तेयव्रत कराता है।

वर्तमान युग मे आवश्यकताएँ बढ गई है, तथा धन का लोभ बढ गया है। मनुष्य उन झूठी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा धन से प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने की कोशिश करता है। वह नीति-अनीति, अन्याय, हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य का विचार नही करता। वह दूसरे की चीज पर अपना स्वामित्व स्थापित करने तथा अपने कब्जे मे करने के लिए लालायित रहता है। वह लालसा चाहे धन हडपने की हो, शोषण कर जाने की हो, राज्य हथियाने की वृत्ति हो या अमानत हजम कर जाने की हो, वे सब दु खदायी हो। ऐसी परस्वहरण वृत्ति से परिवार राष्ट्र एव समाज मे सुख-शान्ति नही रहती। प्रत्येक व्यक्ति के मन मे

आतक छाया रहता है, लोगो की नीद हराम हो जाती है। चूंकि गृहस्थ जीवन मे जीवनयापन के लिए धन आवश्यक साधन है, उसके चुराये जाने या छीने जाने से हर क्षेत्र मे सघर्ष मच जाता है। मनुष्य अपनी इच्छा से चाहे जिसको चाहे जितना धन दे दे या कोई वस्तु दे दे, अपने अधिकार की चीज देने मे उसे किसी प्रकार का दु ख नही होता। परन्तु जब उसके स्वामित्व या अधिकार की चीज पर कोई व्यक्ति जबरन अपना हक जमा लेता है, या अधिकार का हरण कर लेता है, अथवा चुरा या छीन लेता है, या हडप जाता है, तो उसे बडा दु ख होता है। उससे एक प्रकार की अन्याय-परम्परा फैलती है। इसीलिए सत्य के बाद अचौर्य व्रत का नम्बर आया है, क्योकि इन दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ आचरण मे सत्य आ गया, वहाँ प्रामाणिकता रूप अस्तेय आ ही जाता है।

ईमानदारी : अस्तेयव्रत का मूल

जिस व्यक्ति के मन मे ईमानदारी होती है, जो चोरी और ठगी नही करता, उसके लिए सारा जगत् ही अपना है, वह सारे विश्व का बन्धु हो जाता है। वह समाज, परिवार या राष्ट्र के लोगो का विश्वास और सहयोग प्राप्त कर लेता है। जगत् मे यदि ईमानदारी हो तो पहरेदारी से बच जाता है, निर्भय हो जाता है। यदि जगत् मे पूर्ण ईमानदारी हो तो चोरो की गुजर नही हो सकती। चोर तभी पनपते है, जब जगत् मे बेईमानी एव सग्रहवृत्ति बढ जाती है। यदि चौर्यकर्म बन्द हो जाय तो चोरो की या चौर्यवृत्ति वालो की शक्तियाँ लूटने-खसोटने के बजाय रक्षण एव अर्जन मे लग जाती है। दुनिया मे सम्पत्ति बढ जाती है सभी धन-सम्पन्न बन सकते है। मनुष्य को अपने धनमाल के जाने की चिन्ता रात-दिन सताती है, किन्तु अचौर्य व्रत का ग्रहण करने पर व्यक्ति की चिन्ताएँ घट जाती है। मन शान्ति का धाम बन जाता है। जीवनयात्रा सरल हो जाती है, व्यवहार भी सरल, सरस हो जाता है। किन्तु जब मनुष्य ईमान खो देता है तो इज्जत मिट्टी मे मिल जाती है, विश्वास समाप्त हो जाता है, ऐसे चौर्यवृत्ति वाले व्यक्ति से सभी सावधान होकर चलते है, चौकन्ने हो जाते है। अथवा वह अपनी मानवता खोकर पशुता को अपना लेता है। इसलिए चोरी जीवन-कला की दृष्टि से घाटे का सौदा है। अचौर्यव्रती अपना ईमान नही खोता और न ही लोकविश्वास खोता है। धन न होते हुए भी इज्जत और नाम अवश्य पाता है। जिसके मन मे ईमानदारी और सच्चरित्रता है, जो मन-वचन-कर्म से सच्चाई और ईमानदारी का व्यवहार करता है। नम्रता, उदारता, सज्जनता एव सत्यता जिसके स्वभाव की शोभा है, वह व्यक्ति स्वय भी अपनी दृष्टि मे सम्मानित रहता है। जो अपनी दृष्टि मे स्वय सम्मानित है, उठा हुआ है, उसका दूसरो की दृष्टि मे सम्मानित एव उन्नत रहना स्वाभाविक है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य का जो मूल्याकन खुद अपनी दृष्टि मे होता है, वही मूल्य प्राय दूसरो की दृष्टि मे भी हुआ करता है। अपनी दृष्टि मे स्वय सम्माननीय व्यक्ति वही हो सकता है, जो कभी किसी

को धोखा नही देता, किसी के धन पर बुरी नीयत नही करता, जो लोभ एव स्वार्थ की भावना मे पीडित नही होता। समाज मे यथोचित सत्य और न्याय का व्यवहार करता है। ये ही कुछ कारण है, जो अस्तेय व्रत की जीवन मे उपादेयता को प्रमाणित करते है।

भारत मे अचौर्यवृत्ति का व्यापक प्रभाव

भारतवर्ष की सचाई और ईमानदारी प्राचीनकाल से ससार भर मे प्रसिद्ध रही है। कहा जाता है, चन्द्रगुप्त के युग तक, जिसे अभी ढाई हजार वर्ष ही व्यतीत हुए है, यहाँ के लोग घरो मे ताले नही लगाते थे। यहाँ रास्ते मे गिरी हुई चीज को कोई सहसा उठाता नही था। चोरी का कोई नाम भी नही जानता था। बडे-बडे लेन-देन जबानी ही कर लिये जाते थे। उपनिषद्काल मे प्रसग आने पर राजा अश्वपति ने कहा था—

'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न च मद्यप'

मेरे राज्य मे कोई चोर या लुटेरा नही है, न कोई भ्रष्टाचारी है, न कृपण है और न शराबी है।

भारतीय इतिहास के पन्नो पर हमे प्राचीन और मध्यकालीन कुछ ऐसे राजाओ का वृत्तान्त पढने को मिलता है, जो अपने निजी खर्च के लिए खजाने से एक पाई भी नही लेते थे, किन्तु स्वय परिश्रम करके अपना जीवन-निर्वाह करते थे। कई ऐसे शासक भी हुए है, जो समय-समय पर अपना सर्वस्व दान कर देते थे। उनका उद्देश्य यही था कि वे प्रजा से विभिन्न रूपो मे प्राप्त धन को अपना नही समझते थे, और फिर उसको प्रजा की भलाई के कार्यो मे खर्च कर देते थे।

आज बेईमानी और लूट का बाजार गर्म है

आज आपको यह जान कर खेद के साथ आश्चर्य होगा कि जो भारतवर्ष एक दिन आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर था, जहाँ चोरी, व्यभिचार आदि दोषो का नामोनिशान नही था। वह आज इतना नीचे गिर गया है कि लोग दिनदहाडे बेईमानी, लूट, चोरी और ठगी करते हुए नही हिचकिचाते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब चीन-जापान की यात्रा पर गये थे तो वहा के लोगो ने उनसे कहा कि हमने सुना है, भारतवर्ष बहुत उच्च एव धार्मिक देश है। भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि है, वहाँ कोई व्यक्ति चोरी, बेईमानी, ठगी आदि नही करता, यहाँ तक कि रास्ते मे पडी हुई वस्तु को छूता तक नही।" जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह सुना तो उनकी आँखो मे आसू आगए। उन्होने सिर नीचा किये हुए कहा—'आप जैसा सोचते है, वैसा आज भारतवर्ष है नही। आज भारत मे चोरी, लूटपाट और डकैती विपुलमात्रा मे होती है।'

स्वामी रामतीर्थ ने अपने एक भाषण मे जापान की एक घटना का जिक्र किया है। वहाँ के किसी विश्वविद्यालय म एक भारतीय छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहा था।

वह पढने के लिए वहाँ के किसी विद्यालय के पुस्तकालय से एक बडा ग्रन्थ ले आया। उस ग्रन्थ मे विज्ञान तथा यन्त्र विद्या सम्बन्धी अनेक चित्र तथा नकशे थे। विद्यार्थी ने उसमे से आवश्यकीय अशो की तो नकल कर ली, पर चित्र तथा नक्शो की नकल करना सम्भव नही था, अत उसने उन चित्रो तथा नक्शो को फाड कर चुरा लिये और ग्रन्थ को वापस लौटा आया। ग्रन्थ बडा होने के कारण उस समय तो किसी को कुछ पता न चला। परन्तु कुछ दिनो बाद एक जापानी छात्र ने उन चित्रो को उस भारतीय विद्यार्थी के कमरे मे पडे देख लिये। उसने इस बात की सूचना उक्त पुस्तकालय के अधिकारियो को दे दी। पुस्तकालयाध्यक्ष ने उक्त पुस्तक निकाल कर देखी तो सचमुच उसमे वे नक्शे तथा चित्र नही थे। अत उन्हे उस विद्यार्थी पर पक्का शक हो गया कि उसने पुस्तक मे से पन्ने चुराए है। तब से उस पुस्तकालय मे यह नियम बना दिया गया कि किसी भी भारतीय छात्र को घर पर पढने के लिए पुस्तक नही दी जाएगी। इस प्रकार उक्त चौर्यवृत्ति के कारण भारतीय युवक ने अपने साथी भारतीय छात्रो के मार्ग मे ही काटे नही बिछाए, अपितु अपने देश को भी बदनाम किया।

निराशा मे भी आशा की किरणें

भारतीय जन-जीवन मे भ्रष्टाचार, अन्याय, अनीति, धोखाधडी एव बेईमानी की अनेक घटनाएँ हमारे लिए खेदजनक अवश्य है और उनसे हमारे देश की हर तरह से हानि और अवनति भी हो रही है, परन्तु ऐसी बात नही है, जिससे निराश और हताश होकर बैठ जाएँ। आप जानते है कि भारत सदा से एक आध्यात्मिक देश रहा है, उसमे आध्यात्मिकता की प्रवृत्तियाँ अब भी सर्वथा नष्ट नही हुई हैं। यद्यपि विशेष परिस्थितियो के वशीभूत होकर भारतीय जनता भी प्राय भौतिकवाद की ओर आकृष्ट हो रही है, भौतिकता की ऊपरी चकाचौंध से प्रभावित होकर सन्मार्ग से च्युत भी हो रही है, परन्तु हमारे अन्तस्तल मे अब भी प्राचीन सदाचरण का बीज निहित है, जो अवसर आने पर प्रस्फुटित हो जाता है। इसलिए हमे सत्य और ईमानदारी का ह्रास देखकर निराशा लाना नामर्दी और कायरता होगी, बल्कि उत्साहपूर्वक परिस्थितियो को बदलने और सत्प्रवृत्तियो को पुन स्थापन करने का प्रयत्न जोर-शोर से करना चाहिए। हमे अपने मन मे दृढ श्रद्धा रखनी चाहिए कि हम उन्ही लोगो की सन्तान है, जिन्होने उच्च स्वर से 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्' की घोषणा की थी। जो राज्य के धन या किसी भी अन्यायोपार्जित या अनधिकृत धन को दानस्वरूप ग्रहण करना भी हलाहल विष के समान समझते थे। जो खेतो मे अपने आप उगे हुए अन्नकण बीन कर जीवन-निर्वाह करने को बहुत बडा आत्मसम्मान का चिह्न मानते थे, बडे-बडे सम्राट् भी उन सम्पत्तिहीन व्यक्तियो के सम्मुख नतमस्तक होते थे।

आज भी हमारे देश मे उन प्राचीन मनीषियो के चरण-चिह्नो पर चलने वाले अस्तेयव्रत के मूर्त स्वरूप लोगो का सर्वथा अभाव नही हुआ है। हाँ, इतना अवश्य है कि जहाँ बडे-बडे और प्रसिद्ध लोग असत्य और बेईमानी का आश्रय लेकर धन कमाने

मे जुटे हैं, वहाँ इन निर्धन और सामान्य श्रेणी के किन्तु दृढचरित्री, ईमानदार व्यक्तियो द्वारा ईमानदारी और सचाई के सत्कर्म किये जा रहे हैं। समाचार-पत्र मे पढी हुई एक सच्ची घटना का मुझे स्मरण आ रहा है।

पैठण (विहार) के निवासी श्री एम एन जुत्शी नामक सज्जन सुवह की ट्रेन से वाहर से आए और रिक्शे मे बैठकर घर पहुँचे। उन्होने सामान उतरवा कर नीचे रखा और वटुआ निकाल कर रिक्शे वाले को किराया दिया, परन्तु भूल से वे अपना वटुआ रिक्शे मे ही भूल गए। रिक्शे वाला चला गया। कुछ देर वाद जव रिक्शेवाला अपनी घण्टी ठीक कराने के लिए रिक्शे से उतरा तो उसने रिक्शे के पायदान पर एक वटुआ पडा देखा। रिक्शेवाला उस वटुए को लेकर तुरन्त जुत्शी के घर पहुँचा। उन्हें बुलाकर उनका वटुआ लौटाया। उस वटुए मे पाच-सौ रुपये के नोट थे। जिन्हे पाकर उन्हे वहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने रिक्शाचालक को वहुत धन्यवाद दिया और पुरस्कार भी देने लगे, पर उसने पुरस्कार लेने से इन्कार कर दिया।

महिलाओ मे भी पुरुषो की अपेक्षा ईमानदारी कम नही होती। वे भी समय आने पर अपनी प्रामाणिकता का परिचय देती हैं।

राची (विहार) मे एक फौजी मेजर के घर की दो महिलाएँ वाजार से कुछ सामान खरीद कर लाई। भूल से दूकानदार ने सामान के साथ एक थैला भी वाध दिया, जिसमे उसके छह हजार के नोट रखे थे। घर जाकर जव स्त्रियो को सामान के साथ वह थैला मिला, तो उन्होने उसी समय उसे दूकानदार को वापिस कर दिया।

अव सवाल यह है कि अस्तेय किसे कहा जाय ? अहिंसा की तरह अस्तेय भी, निषेधवाचक है। अत अस्तेय का नाम यहाँ शास्त्रकार ने 'अदत्तादान विरमण' रखा है। इसे अचौर्य भी कहते हैं, जिसका निषेधात्मक दृष्टि से अर्थ होता है चौर्य या स्तेयकर्म का अभाव।

चोरी का अर्थ है—अपनी मालिकी की वस्तु को छोडकर दूसरी किसी भी वस्तु को अपने अधिकार या कब्जे मे कर लेना, रास्ते मे पडी हो तो उठा लेना, दूसरे की वस्तु को उसके मालिक की अनुमति या इच्छा के विना उपयोग मे लाना, किसी व्यक्ति का अधिकार छीनना, उसकी वस्तु पर अपना अधिकार जमा लेना, किसी की धरोहर को हडप लेना, किसी की आँखो मे धूल झौंक कर या धोखा देकर उसके धन माल को हथिया लेना, सेंध लगा कर या किसी की अनुपस्थिति मे उसकी चोरी या हरण कर लेना।

अन्याय, अनीति, शोषण एव अप्रामाणिकता के द्वारा धन का उपार्जन करना भी स्तेय कर्म है।

निष्कर्ष यह है कि मन, वचन और काया के द्वारा दूसरे के अधिकारो का स्वय हरण करना, दूसरे से हरण करवाना या इनका अनुमोदन करना चोरी कहलाती है। अर्थात् जिस वस्तु पर वास्तविक रूप से अपना अधिकार नहीं, फिर वह अधिकार

चाहे पहले न रहा हो, या रहा हो, लेकिन त्याग दिया हो, उस पर उसके स्वामी की अनुमति के बिना अधिकार करने, उसका उपयोग करने और उससे लाभ उठाने को चोरी कहते है।

वस्तु चाहे बहुत ही तुच्छ हो, नगण्य हो, बहुत ही कम कीमत की हो, परन्तु उसके मालिक की इच्छा या अनुमति के बिना, अथवा उस पर कब्जा करने की नीयत से ले लेना, रख लेना या हजम कर लेना चोरी है। इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है—

'चित्तमन्तमचित्त वा, अप्प वा जइ वा बहु।
दत सोहणमेत्त पि उग्गहसि अजाइया ।।'

वस्तु सजीव (सचित्त) हो या अचित्त (निर्जीव), कम हो या ज्यादा, अथवा अल्प मूल्य हो या वहुमूल्य, मालिक की आज्ञा के विना लेना या विना मागे लेना या उसका उपभोग करना नही चाहिए। दात कुरेदने के लिए तिनका भी बिना अनुमति लिए उठाना या लेना अपराध है।

हाँ, तो चोरी की व्याख्या हम इसलिए कर रहे है कि आप भलीभाति अचौर्य व्रत को समझ सके। चोरी का निषेध ही अचौर्य का आचरण या विधान है।

शास्त्रकारो ने चोरी के विभिन्न प्रकार वताये है, जिनसे आप अचौर्यव्रत का स्वरूप भलीभाँति हृदयगम कर सकेंगे।

वैसे तो सामान्य रूप से चोरी उसे ही कहा जाता है, जहाँ दूसरे की वस्तु, चाहे वह धन हो या वस्त्रादि अन्य कोई पदार्थ, उसकी सम्मति या अनुमति के बिना उठा लिया जाता हो । परन्तु ढग अलग-अलग होते है। मुख्यतया चोरी के ढग निम्नोक्त होते है—छन्न, नजर, ठग उद्‌घाटक, बलात् और घातक। छन्न का मतलब है—किसी के घर मे अनेक वस्तुएँ है, चाहे वे अपने ही घर मे पडी हो, फिर भी घर के सदस्यो या उस वस्तु के मालिक के परोक्ष मे गुप्त रूप से, उनकी अनुपस्थिति मे चीज उठा कर ले लेना, अपने अधिकार मे रख लेना या उपयोग कर लेना छन्न चौर्य कर्म है। नजर चौर्य कर्म वह है, जहाँ उस वस्तु के मालिक की या घर के सदस्यो की आँख बचाकर चुपचाप किसी चीज को उठाकर अपने कब्जे मे कर लेना या उपयोग कर लेना।

ठगी वह चौर्य कर्म है, जिसमे वस्तु तो उसके मालिक से प्रत्यक्ष मे ली जाती है, पर लेने का तरीका है ठगी, धोखेवाजी, वेईमानी। चीज वढिया दिखाकर घटिया दे देना, वस्तु मे मिश्रण या मिलावट कर देना, तौल-नाप मे गडबड करना, वस्तु के दाम ज्यादा ले लेना, पैसे लेकर वदले मे चीज देना ही नही, अथवा दूसरे की सम्पत्ति पर अपना कब्जा जमा लेना, धोखे से हस्ताक्षर करा लेना, वेईमानी से रुपया ऐंठ लेना, ठग लेना, ये सब चौर्य कर्म 'ठग वृत्ति' मे आते हैं।

चौथा है—उद्घाटक चौर्य कर्म, जिसमे किसी व्यक्ति की गाठ खोलकर, जेव काट कर सेंध लगाकर, ताले तोड या खोल कर दरवाजे तोड कर, या तिजोरी खोल कर चोरी कर लेना। यह चौर्य कर्म वहुत ही निन्द्य है। पाचवा है—वलात् चौर्यकर्म। वलात् चौर्य लूट और डकैती के माध्यम से लोग करते हैं, छीन कर, झपट कर, या मारपीट कर या चाकू दिखा कर किसी से कोई चीज जबरन ले लेना, लूट लेना या घर पर आकर शस्त्र-अस्त्र का भय दिखाकर लूट लेना, डाका डालना ये सब वलात् चौर्यकर्म मे शुमार हैं। रिश्वत लेना, अधिक कर ले लेना आदि सब वलात् चौर्य कर्म हैं। घातक चौर्य कर्म मे चोर चोरी ही नही करता, वह हत्या भी कर देता है, गला घोट कर किसी से गहने छीन लेता है। हत्या करके उसके पास से जो भी मिल जाए, ले लेता है।

ये सब चौर्यकर्म प्रत्यक्ष हैं, जो आम आदमियो की नजरो मे चोरी कहलाते हैं। इन सबसे बचना अस्तेय या अचौर्यव्रत है। ये सब चोरियाँ मालिक की असावधानी से होती है।

अर्थ, नाम, उपयोग और उपकार इन चार चीजो की ससार मे चोरियाँ होती है। अर्थचोरी को तो सभी चोरी कहते है, जिसमे धन, साधन या अन्य पदार्थ की चोरी उपर्युक्त सभी ढगो से की जाती है।

नामचौर्य

नाम चोरी भी चोरी मे शुमार है। दूसरे के द्वारा किये गए सुन्दर काम अपने नाम से प्रगट करना नामचोरी है। थोडा-वहुत कुछ बदल कर अपने नाम की उस पर छाप लगा देना भी इसी चोरी के अन्तर्गत है। किसी कवि, लेखक या वक्ता के लेख को या भावो को लेकर उस पर अपना रग चढा कर अपना ही बताना भी नामचोरी है। शास्त्र या ग्रन्थ के भावो को या आशयो को पलटना या छिपाना भी चोरी और असत्याचरण दोनो है। दूसरो की निन्दा-चुगली करके दूसरो के दोप वताकर अपना वडप्पन या महत्त्व प्रगट करना भी नामचोरी है। दूसरे के नाम पर लायी हुई या सस्था के जिस काम के लिए अर्थराशि आई हो, या जिस सस्था के नाम से आई हो, उसका स्वय उपभोग करना, सस्था मे दूसरे कार्य मे या दूसरी सस्था मे उस धन का उपयोग करना भी नामचोरी है। इसी आशय की एक शास्त्रीय गाथा है, जो इस प्रकार के चौर्यकर्म का स्पष्ट निपेध करने के साथ उसका दुष्परिणाम भी बताती है—

"तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयार भावतेणे य कुव्वइ देवकिव्विस।"

जो व्यक्ति तपस्या का चोर है, वचन या वय का चोर है, रूप का चोर है, तथा आचार और भावो का चोर है, वह दूसरो के यह पूछने पर कि आप ही तपस्वी हैं? धन्य है आपके तप को! अथवा ये वचन आपके हैं? ऐसे उत्तम वचनो से मेरा

मस्तक आपके प्रति श्रद्धानत है, आप ही तरुण तपस्वी है। आप ही साधु या श्रावक हैं, धन्य है आपको! आपका आचार-विचार बहुत उत्तम है। मैं आपके सरीखा आचारवान किसी को नही मानता, अथवा ऐसे उन्नत विचार या भाव आपके ही हैं, आप ही ऐसे क्रान्तिकारी विचार को प्रकट करते है, इस प्रकार तप, वचन या वय, रूप, आचार और भाव (विचार) के सम्बन्ध मे प्रशसात्मक शब्द कहने या पूछने पर अपनी स्थिति छिपाना या स्पष्ट न करना अथवा प्रशसात्मक शब्दो के सहारे यश लूट लेना नाम-चोरी है। ऐसी नामचोरी करने वाला व्यक्ति साधुवेश मे हो या श्रावकवेश मे, स्पष्टत चोरी करता है।

उपयोग चौर्य

तीसरा चौर्यकर्म उपयोगचौर्य है। उपयोग चौर्य के तीन चार पहलू है, उन्हे समझ लेना अत्यावश्यक है। पहली उपयोग चोरी तो यह है कि वस्तु दूसरे की हो, उसकी विना सम्मति के लेकर उसका उपयोग करना शुरू कर दिया। कई लोग किसी व्यक्ति या सस्था की चीज का उस व्यक्ति या सस्था से विना पूछे या अनुमति लिये बिना ही उपयोग करते रहते हैं। वे सोचते है कि उस व्यक्ति या सस्था को पता नही है, इसलिए कौन देखता या पूछता है, मजे से निजी काम मे उसका उपयोग करो। परन्तु ऐसा करना उपयोगचोरी है। वह व्यक्ति या सस्था मागेगी, तब चीज लौटा देंगे। पहले क्यो लौटाएँ ? ऐसा सोच कर उस चीज का बेधडक इस्तेमाल करते रहना उपयोग चोरी है। कोई चीज उस व्यक्ति या सस्था से बिना पूछे ले ली है, किन्तु काम पूरा हो जाने के बाद वापस लौटा देंगे, यह सोचकर उपयोग करते रहने पर भी उपयोग चोरी का दोप तो लगेगा ही।

लोग प्राय यह भी मानते है कि मागी हुई वस्तु समय पर यानी काम पूरा हो जाने के बाद लौटाते नही तो यह चोरी नही है। कई लोग प्रामाणिकता से यहाँ तक मानते है कि हमारा काम तो पूरा हो गया है, लेकिन जिससे वस्तु लाए है, वह जब तक वापिस मागता नही, तब तक क्यो दें ? उसे जरूरत पडे और वापस मागे तो हम तुरत लौटा दें। अपने पास रख लेने का हमारा इरादा नही है, लेकिन जब तक उसे उस वस्तु की जरूरत न पडे, तब तक हमारे पास ही पडी रहे तो क्या हर्ज है ? लेकिन शास्त्रीय दृष्टि से यह भी उपयोगचोरी है। क्योकि जब उन्हे उस वस्तु की जरूरत नही रही, तब उसे अपने पास क्यो रखी जाय ? भले ही माग कर लाये हो, किन्तु विना जरूरत के मागते हैं और अपने पास रख लेते हैं तो वह चोरी ही है।

इस विपय मे एक वैचारिक पहलू और है, वह यह है कि वस्तु चाहे माग कर लाते हो या खरीद कर लाते हो, जिन्हे जिस वस्तु की आवश्यकता न हो, विना जरूरत के वह वस्तु लेना भी चोरी है। अस्तेय का इस व्यापक और गहरे अर्थ पर विचार करने पर प्रतीत होगा कि पेट भरने और तन ढकने के लिए जरूरत हो, उससे अधिक सग्रह करना भी चोरी है, क्योकि जब मनुष्य आवश्यकता से अधिक सचय करता है,

उपभोग करता है तो उस वस्तु की कमी होने से दूसरे को हानि पहुँचती है। वह
ज दूसरे को नही मिलती, इसलिए दूसरे के अन्तराय भी लगाती है। जैसे किसी
दो जोडी कपडो की जरूरत है, उसके बजाय वह बीस जोडी कपडे रखे तो इससे
रे ५-७ आदमियो को वस्त्रहीन रहना पडेगा।

ली हुई वस्तु यदि वापस नही लौटाते है तो चोरी का दोहरा दोष हो गया। यहाँ
। विना सम्मति के लेने की बात है। यद्यपि चार डाकुओ के समान चोजो को चुराने का
ाक्ष यहाँ नही है, उपयोग हो जाने के बाद वापिस लौटाने की नीयत से ही लेने की
ात है, तथापि विना सम्मति के लेने पर चोरी का दोष लग ही जाता है। यहाँ यह
ो समझ लेना आवश्यक है कि सम्मति के साथ लेने पर भी यदि वह चीज वापस
ौटाई नही जाती, उसके बारे मे विस्मृति हो जाती है, या अनुपयोगी समझकर फैंक
ो जाती है, तो भी वह चोरी का दोष गिना जाएगा। अस्तेयव्रत की भाषा मे वह
ोरी ही मानी जाएगी।

मान लो, घर की ही वस्तु है। फिर भी घर के अन्य सदस्यो को ज्ञात न हो,
ुस नीयत से आँख बचाकर उनकी अनुपस्थिति मे या उनकी असम्मति मे घर का
कोई व्यक्ति उसका उपयोग करता है, तो यह भी उपयोग चोरी है। एक घर का
नौकर है, वह दूसरो की नजर बचाकर या कही मालिक की असावधानी से रखी हुई
चीज को उठाकर अपनी जेब के हवाले करता है, अपने घर जाकर उसका उपयोग
करता है, भले ही मालिक को उस पर शक न हो या पता न लगे, वह भी एक प्रकार
से उपयोगचोरी ही है।

असल मे, ऐसा व्यक्ति घर का सदस्य ही क्यो न हो, मगर दूसरो की नजर
बचाने की नीयत पैदा हो जाती है, तो यह चोरी ही है। घर की वस्तु के समान ही
कुटुम्ब और समाज की वस्तु के उपयोग के बारे मे समझ लेना चाहिए। सामूहिक
जीवन मे अक्सर ऐसा होता है। सामूहिक वस्तुओ का उपयोग सबको समानरूप से
करना होता है, बीमारी या किसी आपवादिक कारण की बात अलग है। इसलिए
वस्तुओ के सामूहिक उपयोग मे चुनाव या निजी पसद का मौका कम ही आता है।
इसलिए कुछ लोग, खासकर जिनके जिम्मे व्यवस्था का भार होता है, वे अपने लिए
अच्छी चीज सुरक्षित करने का प्रयत्न करते है। किन्तु जब तक समूह के लोग उसके
लिए सम्मत न हो, वह एक तरह से चोरी है। होना तो यह चाहिए कि व्यवस्थापक
स्वय अपने लिए उस चीज का कम से कम उपयोग करे, दूसरो या जिनको अधिक
जरूरत है, उन्हे देने का प्रयत्न करे। परन्तु वे ही आग्रह करके दे दें तो व्यवस्थापक
अच्छी चीज ले सकता है। यही बात कार्य के सम्बन्ध मे है। व्यवस्थापक अपने जिम्मे
अधिक काम लेता है, दूसरो पर अधिक काम का बोझ नही डालता, तब तक तो
ठीक है, किन्तु वह अपने जिम्मे के काम का अधिक भार दूसरो पर डालने का प्रयत्न
करता है, यह भी एक प्रकार से चोरी है। वास्तव मे समूह का कल्याण इसी मे है कि

व्यवस्थापक आदि ऊपरी वर्ग के लोग अपना वैयक्तिक जीवन पवित्र, सादा तथा उत्तरदायित्वपूर्ण निभाएँ, सर्वसाधारण की अपेक्षा अधिक काम करें।

उपयोग चोरी का एक पहलू यह भी है कि व्यक्ति को जो कुछ बुद्धि, धन, या अन्य शक्तियाँ समाज से प्राप्त हुई है, उनको न तो वह अपने उपयोग मे लेता है, न समाज के पुण्यकार्यो मे खर्च करता है, न वह परिवार के आश्रितो के लिए खर्च करता है या उपयोग करता है तो वह समाज एव परिवार का हक मारता है। अत दूसरे का हक मारने के कारण यह भी एक प्रकार की चोरी है। इस प्रकार की उपयोग चोरी करने वाला कृपण होकर सदा अशान्त रहता हे, निरर्थक कष्ट सहता है, आर्त रौद्र ध्यान मे ग्रस्त रहता है।

उपयोगचोरी के साथ एक बात विचारणीय है, वह यह है कि किसी को कोई चीज रास्ते मे पडी मिली। उसका मालिक कौन है ? इसका पता नही चला। वह व्यक्ति उठाकर उसे बतौर अमानत अपने पास रख लेता है, किन्तु उसका उपयोग नही करता। वह वस्तु जो मिली है, चाहे छोटी या बडी कीमती हो या तुच्छ-अल्प मूल्य, अगर वह उसके मालिक को खोजने की फिराक मे रहता है, तब तक उसे चोरी नही कहा जा सकता, परन्तु अगर कुछ दिनो तक प्रयत्न करने के बाद भी उस वस्तु का असली मालिक न मिलने पर वह उसे अपने पास उस चीज को नही रखता है तो भी चोरी नही मानी जा सकती। परन्तु मालिक न मिलने के बावजद भी वह उस वस्तु को अपने पास आग्रहपूर्वक या आसक्ति पूर्वक रखता है तो वह चोरी मे परिगणित होगी। उसे पास के ही किसी थाने मे जमा करा देना चाहिए, या सार्वजनिक सस्था के सचालक के हवाले कर देना चाहिए। मतलब यह है कि व्यक्ति की नीयत उस वस्तु को अपने अधिकार मे करने की न होनी चाहिए। इस दृष्टि से जब तक मालिक का पता न लगे, तब तक वह उस वस्तु को अपने पास भले ही रखे लेकिन मालिक का पता लगते ही उसे उसकी वस्तु को सौंपने के बजाय अपने पास अपने लिए रख लेना चोरी मे शुमार होगा।

प्राचीनकाल मे तो भारतवर्ष मे इस प्रकार के अस्तेय का पालन खासतौर से होता था कि मार्ग मे पडी हुई कोई चीज मिल जाती तो उसे कोई उठाता नही था। अगर उठाता तो उसके मालिक को ढूंढकर उस चीज को सौंप देता था। परन्तु इन-वर्षो मे भारत मे एक प्रकार से ईमानदारी का दुष्काल-सा हो गया है कि बहुत ही इने गिने ईमानदार आदमी मिलते हैं। परन्तु विदेशो मे आज भी प्रचुर मात्रा मे ईमानदार आदमी मिल जाते हैं, जो रास्ते मे पडी हुई चीज को उसके असली मालिक को ढूंढकर देने का प्रयास करते है।

एक अमेरिकन प्रवासी यूरोप की यात्रा करने के लिए निकला। उसने साथ मे एक केमरा भी लिया था। वह जब स्विट्जरलैंड पहुँचा तो वहाँ के प्राकृतिक दृश्य देखकर उनके फोटो लिये। वापिस लौटते समय पेरिस मे अपने एक मित्र के यहाँ

ठहरा। मित्र की मोटर मे बैठकर वह पेरिस की सैर करता रहा। जहाँ भी रमणीय दृश्य देखे, अनेक फोटो लिये। वहाँ से वह लदन गया। लदन मे अपना केमरा सभाला तो केमरा गुम! बहुत ढूढने पर भी केमरा न मिला। केमरे पर कोई नाम-पता भी न था। इसलिए अगर किसी को वह मिलता तो भी किसको, कहाँ भेजता? इग्लैड पहुँचकर उसने पेरिस मे अपने मित्र को पत्र लिखा, उसमे केमरे खो जाने की बात लिखी। मित्र ने पत्र पढते ही तुरन्त जवाब दिया—'तुम्हारा केमरा मिल गया है। वह दो रोज बाद तुम्हे दे जाएगा। तुम वही रहना।' दो रोज बाद पार्सल से भेजा हुआ केमरा मिल गया। मित्र ने अपने पत्र मे केमरे के मिलने का सारा वृत्तान्त विस्तार से लिखा था। केमरे मे लिए हुए फोटो मे से एक फोटो का इन्लार्ज करने पर मोटर के नम्बर से केमरे का पता लग गया। फिर उन्होने थाने मे उसे जमा करा दिया, वहाँ से तुम्हे भेजा गया।

यह है कुछ विदेशियो की ईमानदारी कि वे रास्ते मे पडी हुई चीज को स्वय अपने उपयोग मे न लेकर या स्वय कब्जा न करके उसके असली मालिक का पता लगाकर सौप देने की वृत्ति!

उपकार चोरी

चौर्यकर्म का चौथा प्रकार है—उपकार चोरी। जो व्यक्ति किसी के द्वारा किये हुए उपकार को भूल जाता है, बल्कि अपने उपकारी को बदनाम करता है, या अन्य प्रकार से अपकार करता है, वह कृतघ्न उपकार चोर है। वस्तुत जब मनुष्य के पास धन हो जाता है या सुख के साधन बढ जाते ह, तब अहकारवश वह अपने पूर्व उपकारी का नाम छिपाता है, कोई पूछता है कि आपको यह कार्य किसने सिखाया? अथवा आपने यह मत्र किससे सीखा? तब वह उत्तर देता है—"यह तो मैंने अपने आप सीखा है, अथवा इस मत्र की मैंने स्वय साधना की है। भगवद्गीता मे भी स्पष्ट कहा है—

'तैर्दत्ताऽनप्रदायैभ्यो यो भुक्ते स्तेन एव स.'

समाज के अमुक-अमुक लोगो से लेकर बदले मे कुछ भी न देकर जो अकेला सब चीजो का उपयोग करता ह, वह स्तेन (चोर) ही है।

इसके अतिरिक्त चोरी के और भी अनेक प्रकार ह, जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को बचना चाहिए।

विनिमय चोरी

विनिमय चोरी व्यापार-धन्धे से खास सम्बन्धित है। यह चोरी विशेषत नाप और तोल मे गडबड से, वस्तु मे मिलावट से, एक चीज दिखाकर दूसरी घटिया किस्म की चीज देने मे, अथवा चीजो के दाम दुगुने, ड्योढे बढाकर कहने मे होती है।

आजकल इस प्रकार की चोरी बहुत अधिक प्रचलित है। जो व्यक्ति सेंध लगा कर या डाका डालकर चोरी करते है, वे तो शीघ्र गिरफ्तार किये जा सकते हैं, मगर ऐसे विनिमय चोरो को गिरफ्तार करना बडी टेढी खीर है।

मिलावट की समस्या इन दिनो भयकर रूप धारण कर रही है। खाद्य पदार्थो तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओ मे मिलावट करना आज आम बात हो गई है। यद्यपि घटिया और वढिया चीजें तो बाजार मे सदा से बेची जाती थी, और कुछ चीजें, जो बहुत महँगी होती थी, नकली बनाकर भी बेची जाती थी। जैसे कपूर, केसर, कस्तूरी वशलोचन आदि। परन्तु इस समय प्राय सभी चीजो मे नकलीपन की बाढ-सी आ गई है। नमक जैसी वस्तुओ मे भी पत्थर का चूरा, मिट्टी आदि हानिकर वस्तुएँ डाल दी जाती हैं, जिसकी शिकायत गृहणियाँ बार-बार करती रहती है।

इसी प्रकार आटा, चीनी, घी, तेल, पिसे हुए मसाले, चाय आदि प्रतिदिन के इस्तेमाल की चीजें है, जिनके खरीदे बिना गृहस्थी का काम नही चल सकता, उन सब मे ऐसी मिलावट की जा रही है, जिसका पता प्रकट मे नही चलता, पर व्यवहार मे लाने पर उनमे कई तरह के दोष मालूम पडने लगते है। आटे मे गेहूँ के साथ जौ, मक्का, ज्वार आदि मिला देना तो सामान्य बात हो गई है। लोग उसे घटिया किस्म का आटा मानकर काम मे भी लाते हैं। चीनी और बूरे मे भी सीरा और सज्जी आदि हानिकारक पदार्थ मिलाये जाते हैं। लाल मिर्चों मे गेरू, हल्दी मे पीले रग की मिट्टी, धनिये मे जानवरो की लीद, अमचूर मे लकडी का बुरादा, काली मिर्चो मे पपीते के वीज, जीरे मे सीको से निकलने वाला फूह, हीग मे उर्द का आटा आदि की मिलावट करना भी आम बात हो गई है। एक ओर तो इन सब चीजो का भाव पहले से दुगुना चौगुना कर दिया गया है, फिर ऊपर से ऐसी निकम्मी और हानिकारक चीजो की मिलावट, इस प्रकार दुहरी बेईमानी से ग्राहक को लूटना, एक बहुत बडी चोरी और अनैतिकता है।

दूध, दही, घी आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो भारत मे निरामिषभोजियो मे शक्ति-वर्द्धक साधन माने जाते हैं। दूध तो बच्चो और बीमारो के लिए अनिवार्य खाद्य पदार्थ है। पर उसमे इतनी मिलावट की जाता है कि आजकल शुद्ध दूध मिलना दुर्लभ हो गया है। दूध मे पानी मिलाने की बात तो सुनते थे, पर अब उसे गाढा करने के लिए अरारोट, सिंघाडे का आटा और सपरेटा मिलाकर वेचने का काम जोरो पर है। दूध मे से मक्खन निकाल कर उसका पूरा दाम वसूल कर लेना और फिर उसमे से फेंक दिये जाने वाले पदार्थ को भी ज्यो का त्यो अथवा असली दूध मे थोडा-बहुत मिलाकर रुपया बारह आना सेर बेच देना भी मामूली काम हो गया है। यो वह दूध चिकनाई की दृष्टि से सर्वथा नि सार हो जाता है।

एक बार तो समाचार पत्र मे यह समाचार छपा था कि इलाहाबाद के किसी इन्कमटैक्स अधिकारी ने एक बडे हलवाई की आमदनी का पता लगाने के लिए उसके

वहीखातो की जाँच की तो उसमे कही सौ रुपये के ब्लाटिंग पेपर खरीदने का भी हिसाब मिला। अधिकारी ने पूछा—'क्या आपने स्टेशनरी बेचने का भी व्यवसाय कर रखा है ? जिसके लिए ब्लॉटिंग मगाया जाता है ? तब उसे बतलाया गया कि अधिकाश लोग दूध पर कडक मलाई की मॉग करते है, इसलिए दूध पकने पर उस पर एक पतला ब्लॉटिंग डाल दिया जाता है, जो थोडी देर मे फूलकर असली मलाई के साथ मिलकर मोटी मलाई-सा दिखाई देने लगता है। इस घटना से यह रहस्य खुल गया कि मिलावट करने वाले कैसी-कैसी अखाद्य वस्तुएँ लोगो के पेट मे पहुँचा देते है।

और तो और अब तो दवाइयो मे भी मिलावट करके असली के दाम मे बेची जाती हैं। सीबाजोल जैसी चीजे अब रोगी पर कोई असर नही करती। जो दवाइयाँ जीवन-रक्षा के लिए काम मे ली जाती थी, उनका भी सर्वसाधारण को कोई भरोसा नही रह गया है। डाक्टरो द्वारा नुस्खे मे लिखी हुई पेटेंट दवाइयो और इजेक्शनो मे भी नकलीपन की बाढ आ गई है। रोगी के प्राण सकट मे हो, उस समय डाक्टर कोई विशेष इजेक्शन या केपसूल लाने को कहे और ये बेईमान दूकानदार पूरा मूल्य लेकर भी खरीददार को कोई नि सार पदार्थ या पानी से भरी शीशी दे दे, जिसका प्रयोग करते ही बीमार की जीवन-लीला समाप्त हो जाय तो बताइए कितना भयकर अपराध है, उस दवा विक्रेता का ? इस प्रकार निर्दोष व्यक्तियो की जिंदगी के साथ खिलवाड करना नि सन्देह घातक चोरी है। कुछ वर्षों पूर्व पटना मे एक नकली दवा बनाने का कारखाना पकडा गया था, जिसमे लाखो रुपयो की ऐसी नकली दवाइयाँ थी, पर अपराधी रिश्वत दे-दिलाकर छूट गए। वास्तव मे यह एक बहुत बडा विश्वासघात का काम है। एक तो इजेक्शनो की चिकित्सा बडी खर्चीली है, फिर ये दूकानदार नकली दवा और इजेक्शन देकर रोगी के परिवार की आशाओ पर पानी फेर देते है। यह भयकर दुष्कर्म है।

घटिया चीजो को देखने मे आकर्षक और विशेष सुन्दर बनाने के लिए जो उपाय काम मे लिए जाते हैं, वे जन-साधारण के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और धोखा देने वाले सिद्ध हुए है। उदाहरण के तौर पर मिठाइयो मे तरह-तरह के रग डालना, आइसक्रीम को रगीन करना, शर्बतो मे रग मिलाना, हल्दी को पीले रग मे रग देना, मिर्च को लाल रग से रगना आदि रगो मे शीशे के कुछ अश मिश्रित होने के कारण स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुए हैं। इनसे अनेक बार लकवा आदि रोगो की उत्पत्ति हो जाती है। आजकल बाजार मे बिकने वाले सुगन्धित तैल इतने बनावटी होते है कि उन्हे निर्गन्ध मिट्टी के तेल और एसेंस से बनाए जाते हैं, जो भयकर हानिकारक हैं।

मिलावट की सुरसा का कहाँ तक वर्णन करें, जहर तक मे भी यह पहुँच चुकी है। अखबारो मे एक दिलचस्प घटना प्रकाशित हुई थी कि किसी व्यक्ति ने सासारिक

झझटो से ऊब कर आत्म-हत्या करने का विचार किया। इसके लिए वह बाजार से कोई विष खरीद लाया, जिसे खाकर रात्रि को सो गया। वह निश्चय करके सोया था कि आज रात को मेरी जीवन-लीला समाप्त हो जाएगी, पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब दूसरे दिन प्रात काल वह भला चगा उठ खडा हुआ। उसे यकीन हो गया कि इस जमाने मे जहर का शुद्ध मिलना भी असम्भव-सा हो गया है।

सरकारी कर्मचारी या अधिकारी मिलावट की रोकथाम करने के लिए नियुक्त किये जाते ह, इसकी विशेष जाच करने के लिए गुप्तचर और इन्सपेक्टर भी नियत किये जाते ह, पर नतीजा बहुत कम आता है। दस बीस व्यक्ति पकडे भी जाते है, तो उन्हे कुछ अर्थदण्ड और कुछ महीनो की कारावास की सजा देकर छोड दिया जाता है रिश्वत देकर भी कई चालाक लोग छूट जाते है। यह कार्यवाही तो प्यास मिटाने के लिए ओस की बूद चाटने के समान है। ऐसी छुटपुट कार्यवाहियो से मिलावट का दौर कैसे रुक सकता है ? प्रथम तो सरकारी कर्मचारियो मे भी भ्रष्टाचार का बोलवाला है। वे सैकडो मामलो को रिश्वत लेकर छोड देते है। एकाध को कभी थोडा-बहुत अर्थदण्ड देना भी पडे तो उसे हजारो रुपये प्रतिमास की आय मे से सो-दो सौ रुपये देने भी पडे तो वह घाटे की चिन्ता नही करता।

जूट एव रुई आदि मे भी पानी मिलाकर उनका वजन बढा दिया जाता है और इस प्रकार व्यापारी लोगो द्वारा अनैतिक कमाई की जाती है। पर यह सब विनिमय चोरी, व्यापारी स्वय चाहे, तभी मिट सकती है।

महात्मा गाँधीजी के विचारो मे रगे हुए श्री जमनालाल जी बजाज रुई के व्यापारी थे। उनकी गाठें भी विदेशो मे जाती थी, परन्तु भारत के माल मे विदेशी व्यापारियो को पानी मिलाने की शका होने से वे रुई के दाम कम लगाते थे। जमना लाल जी बजाज को जब इस बात का पता लगा तो उन्होने अपने मुनीमो से कह दिया कि हमारी रुई की गाठो पर जिनमे पानी डाला गया हो 'W' का मार्का लगाकर भेजो और बिना पानी मिली गाठो पर ऐसा कोई मार्का न लगाओ।" मुनीमो ने कहा—"इससे तो दाम बहुत कम आएँगे। ऐसा क्यो किया जाय ?" जमनालालजी ने कहा—इसकी चिन्ता मत करो। जिसे बढिया माल खरीदना होगा, वह ऊँचे भाव मे लेकर खरीदेगा। जिसे घटिया माल लेना होगा, वह कम दाम देगा, हम अपनी ईमानदारी क्यो खोएँ।" मुनिमो ने सेठ की बात मानकर ऐसा ही किया। जब जमनालाल जी की रुई की गाठे विदेश मे पहुँची तो व्यापारी जगत् मे तहलका मच गया। पहले तो उन्हे विश्वास नही हुआ कि भारत का माल इतनी बढिया क्वालिटी का हो सकता है, परन्तु उन्होने स्वय गाठो की जाँच कराई, तब प्रसन्न होकर बिना भीगे माल को ऊँचे भावो मे खरीदा। उसके बाद जमनालाल जी की साख इतनी जम गई वे पानी मिली हुई गाठें भेजना तो बद कर दिया, बिना पानी मिली बढिया रुई की गाठें भेजते, वह उनके विश्वास पर ऊँचे भावो मे खरीद ली जाती।

इसलिए विनिमय चोरी का मूल-आधार व्यापारी है, वह चाहे तो स्वय इसे बद कर सकता है।

परन्तु आजकल तो बड़े-बड़े लखपती लोगो द्वारा भी यह मिलावट का धधा अपनाया जा रहा है। कानपुर मे कई स्थानो पर नकली सीमेट पकडा गया। गुप्तरूप से कई जगह ऐसी चक्कियाँ लगाई गई थी, जिनमे काली मिट्टी को बहुत बारीक पीसा जाता था। आधी सीमेट और आधी मिट्टी मिलाकर, उसे थैलो मे भरकर मुहर आदि लगाकर बडे ऊँचे दामो मे बेचा जाता था, पुलिस भी कई बार पता नही लगा सकती, ऐसे नकली माल बनाने वालो का।

सोने-चादी आदि बहुमूल्य धातुओ मे तो सदा से मिलावट होती आई है। पर पहले जहाँ रुपये मे दो-चार आने भर मिलावट होती थी, वहाँ अब रुपये मे दस-बारह आना भर मिलावट करने मे भी कोई सकोच नही किया जाता। दूकानदार लोग जो पैरो के तोडिया, बिछियाँ, कानो के इयररिंग, अगूठी आदि छोटे-छोटे गहने बने हुए बेचते है, वे खरीदते समय तो बहुत चमकते है, लेकिन बाद मे बिलकुल काले पड जाते है। पर ये कितने ही जेवर असली चादी के जेवरो की तरह पूरे दामो मे ही बेचे जाते है।

रिश्वत और घूसखोरी की वृद्धि चोरी का भयकर रूप

इससे भी बढकर चोरी का भयकर रूप है—सरकारी कर्मचारियो द्वारा घूस, रिश्वत आदि। हर सरकारी महकमे मे रिश्वतखोरी और घूसखोरी का बाजार गर्म है। पुलिस विभाग, न्यायालय, रेलवे विभाग आदि तो रिश्वतखोरी मे पूरी तरह डूबे हुए है। हर जगह पद-पद पर दक्षिणा लेने वाले बैठे है। बिना दक्षिणा लिये वे कोई कार्य ही नही करते। वे सरकार से चाहे वेतन लेते हो, पर उन्हे इस ऊपरी आमदनी की चाट इतनी लग गई है कि कोई भला ईमानदार व चरित्रवान कर्मचारी या अधिकारी इनके साथ टिक ही नही सकता। उसे तो ये कोई न कोई इलजाम लगाकर उखाड फेंकते है या उसका तबादला करा देते है। रेलवे माल गोदामो के कई बाबू तो अपनी तनख्वाह से दुगुनी रकम तक घूस द्वारा प्राप्त कर लेते है। जब किसी चीज को अधिक मात्रा मे भेजने के लिए मालगाडियो के वैगनो की जरूरत पडती है, तब तो ये बाबू लोग प्रति वैगन सौ-पचास रुपया तक अपना कमीशन वसूल कर लेते है।

बाजार के साधारण व्यापारी तो जो जानते है कि बिना कुछ दिये लिये उनका काम जल्दी और ठीक तरह से न हो सकेगा, मजदूरो के मारफत प्रत्येक बिल्टी के पीछे बधा हुआ चार-आठ आना, भेज देते है। पर जब कभी सरकारी लोगो से ही काम अटक जाता है तो झगडा पैदा हो जाता है। कुछ वर्षो पूर्व दिल्ली के किसी सरकारी महकमे को कुछ दवाइयाँ बाहर भेजनी थी। दफ्तर का आदमी कई बार मालगोदाम गया, पर उसे वापस खाली लौटना पडा। काम जरूरी था और बडे अधिकारियो की ओर से उसे जल्दी पूरा करने की ताकीद भी थी। अत विवश होकर उस विभाग का

सर्वोच्च अधिकारी स्वय स्टेशन पर गया और उसने स्टेशन मास्टर से इसकी शिकायत की। उसे सरकारी हुक्म भी बतलाया। स्टेशन मास्टर ने उसे स्पष्ट कह दिया कि मालगाडी के डिब्बे किसी व्यक्ति या सस्था को निर्धारित कमीशन लिए बिना नही दिये जाते, चाहे वह सरकार ही क्यो न हो। क्योंकि यह रकम किसी एक कर्मचारी की नही होती, वरन् दूर-दूर के लोगो का भी उसमे हिस्सा होता है। अगर मैं आपके कहने से इस माल को यहाँ से बिना कुछ लिए भिजवा भी दूँ तो आगे चलकर इस तरह रोक दिया जाएगा कि काम समय पर नही हो सकेगा।" कहा जाता है, वह मामला बडे सरकारी मन्त्रियो के पास भी पहुँच गया, पर कोई भी इस सम्बन्ध मे प्रभावशाली कदम न उठा सका।

इसी प्रकार अदालतो मे किसी सम्पत्ति या लेन-देन की रजिस्ट्री कराने के अवसर पर प्रति सैकडा कुछ कमीशन लेने का नियम बना दिया गया है, और बडी सम्पत्ति की रजिस्ट्री के मामलो मे तो क्लर्क और अफसर सैकडो रुपया वसूल कर लेते हैं।

एक जानकार ने तो एक बार इसकी चर्चा उठाने पर बतलाया था कि रजिस्ट्री कार्यालयो मे तो रिश्वत की यह प्रथा इतनी जड जमा चुकी है कि वहाँ छोटे-बडे किसी का काम बिना लिये-दिये हो सकना असम्भव है। नियत दस्तूरी अदा किये बिना किसी का भी काम नही हो सकता।

दो-चार नही प्राय सभी सरकारी महकमो की ऐसी ही गति है। उद्योग-धन्धो के विस्तार, व्यापारिक प्रतिबन्धो, कन्ट्रोल, लायसेंस आदि की प्रथा के कारण जन-जीवन मे सरकारी कर्मचारियो का हस्तक्षेप बहुत बढ गया है। पचासो जीवनोपयोगी पदार्थों के लिए सरकार से लायसेंस लेना पडता है। चीनी, सीमेण्ट, मिट्टी का तेल, लोहा, कोयला, जैसे सामान्य पदार्थो के लिए परमिट की प्राय आवश्यकता रहती है। इन सब कारणो से सरकारी कर्मचारियो के अधिकार और शक्ति पहले की बनिस्पत काफी बढ गए हैं। इसीलिए घूसखोरी दिन-ब-दिन बढती जा रही है। शासन के मुख्य सचालनकर्ता इन सब बातो से भलीभाँति परिचित भी है, इन्हे रोकने के लिए भ्रष्टाचार-उन्मूलन विभाग भी कायम किया गया है। लेकिन बडे चालाक और दु साहसी लोगो या गुण्डे-बदमाशो द्वारा उसे छिपाकर लाने का प्रयत्न किया जाता है। कई बार चुगी विभाग के गुप्तचरो के प्रयत्न से कई तस्करियो का पता लग जाता है। प्रतिवर्ष करोडो का सोना और घडियाँ आदि माल पकडा जाता है। बम्बई, मद्रास, पाँडीचेरी आदि के समुद्रतटो पर अनेक बार तस्करी का सोना और घडियाँ आदि अन्य माल कई बार पकडा गया है, कई बार तो नाव वाले पुलिस को आते देखकर माल को समुद्र मे फेंककर भाग जाते हैं। बडे-बडे सरकारी अफसरो की पत्नियाँ हवाई जहाजो से लाखो रुपयो की घडियाँ लाते हुए पकडी गई हैं। विदेशो के कई राजदूत भी अपने विशेष अधिकारो का दुरुपयोग करके तस्कर

व्यापार मे सहयोग देते पाये गए ह। यह बेईमानी की प्रवृत्ति यहाँ तक बढी हुई है कि स्वार्थी व्यापारी लडाई के समय चोरी छिपे चावल, चीनी, गुड और सीमेण्ट नेपाल होकर तिब्बत भेजते रहे और उनके बदले मे चीन के बने ट्रांजिस्टर, रेडियो, घडियाँ, अफीम आदि वस्तुएँ भारत लाई जाती रही। इस तरह के तस्कर व्यापार मे नामी बदमाशो के अतिरिक्त कई सरकारी अधिकारियो का भी सहयोग रहता था।

ब्लैक मार्केट या काले बाजार की उत्पत्ति : चोरी का नया रूप

विभिन्न प्रकार के सरकारी कन्ट्रोलो और राशनिग आदि की प्रथा ने चोरी (चोर बाजारी) से अधिक कीमत पर माल वेचने की वृत्ति मे भयकर वृद्धि की है जिससे जन-भाषा मे ब्लैक या काला बाजार नामक नया शब्द जुड गया है, जिसे ३० वर्ष पहले कोई जानता ही न था। किसी चीज की कमी के कारण जब सरकार की ओर से उसकी कीमत बाँध दी जाती है अथवा उसे लायसेस लेकद बेचने की व्यवस्था की जाती हे तो अनेक व्यापारी उसे छिपे तौर पर अधिक भाव मे खरीदने और वेचने लगते ह। आजकल ऐसी खरीद-बिक्री नि सकोच की जाती है, यह कहना आम बात हो गई है कि अमुक पदार्थ का कण्ट्रोल दाम तो इतना है, पर ब्लैक मे कितने मे मिलेगा ? लोग इसप्रकार के गैर कानूनी और दण्डनीय व्यापार मे अभ्यस्त हो गए हैं कि न कहने वाले को कोई सकोच होता है, और न सुनने वाले को आश्चर्य होता है। बेईमानी को इस काले बाजार से बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलता है, आम जनता भी लूटी जाती है। आम जनता को आवश्यक सामग्री खरीदने मे बहुत ही परेशान होना पडता है।

इस काले बाजार के काले धन और तस्कर व्यापार की सम्पत्ति से वह तब तक कामयाब नही हो सकता, जब तक सरकारी कर्मचारी भ्रष्टता से दूर न हो। यह दुष्प्रवृत्ति घटने के बजाय नित-नये रूपो मे बढती ही जा रही है। यह अनैतिकता भी विनिमय चोरी का भयकर रूप है।

विद्या के पवित्र मन्दिरो (विद्यालयो) मे भी रिश्वत और घूंस का बाजार गर्म है। सावनेर (मध्यभारत) मे एक ऐसे स्कूल का पता लगा है, जहाँ ६ मास से कोई स्कूल नही है, पर शिक्षको का वेतन बराबर दिया जा रहा है। इसी प्रकार जहानाबाद (गया) मे एक आयुर्वेदिक स्कूल की जाच करने पर पता चला कि वह एक फर्जी सस्थान है। परन्तु उसके नाम से कई साल से हजारो रुपया प्रति वर्ष सस्कृत शिक्षा विभाग से वसूल किया जा रहा है। इसी प्रकार वीरपुर शिक्षा केन्द्र (पटना) मे प्रान्तीय शिक्षा बोर्ड की परीक्षा देने वालो से खुलकर घूस ली गई। प्रथम श्रेणी मे पास होने की फीस ५००), द्वितीय श्रेणी मे ३००) और तृतीय श्रेणी मे पास करने की २००) फीस रखी गई थी। प्रश्नो के उत्तर ब्लेक बोर्ड पर लिख दिये गये, जिनकी सारे विद्यार्थियो ने नकल कर ली। फीस के अनुसार पास कर दिये गए। बाद मे

सारा भडाफोड हुआ, अत उस केन्द्र मे परीक्षा देने वाले ४७२ परीक्षार्थियो का परीक्षा फल रद्द कर दिया गया।

तस्कर व्यापार . विनिमय चोरी की विभीषिका

सरकारी नियन्त्रणो, अनेक विदेशी पदार्थों पर बहुत अधिक टैक्स, वडी आमदनी पर लगाए गये विशेष आयकर आदि ने एक नये प्रकार के व्यापारिक भ्रष्टाचार को जन्म दिया है, जिसे 'तस्कर व्यापार' कहा जाता है।

इसमे बडे-बडे करोडपतियो का हाथ रहता है, जो विदेशो से चोरी से माल मगाते हैं और उसे बहुत नफे पर इस देश मे वेचते हैं। ऐसे पदार्थो मे सबसे मुख्य सोना है, जिसकी कीमत भारत वर्ष मे अन्य देशो की अपेक्षा लगभग दुगुनी है। इस गहरी असमानता ने बहुत से लक्ष्मीनन्दनो को विदेशो से चोरी छिपे सोना लाकर एक ही रात मे करोडो रुपये कमा लेने को प्रेरित किया है। चूंकि प्रत्येक समुद्री वन्दरगाह पर सरकारी कस्टम विभाग के कर्मचारी तैनात रहते है, जो वाहर से आने वाले माल की तलाशी करते है। पर ये तस्कर व्यापारी ऐसी-ऐसी तरकीबें ढूंढते रहते हैं कि जिनसे वहुधा उनकी पकड मे नही आते।

सोना लाने के लिए प्राइवेट नावो, मोटरो, जीपो और हवाई जहाजो तक का प्रयोग किया जाता है। भारतवासी ही नही, यूरोप-अमेरीका के वडे-सेठ लोग वडी-वडी आलीशान कोठियाँ वनाते है, कार खरीदते है, अन्य मौज-शौक की सामग्री भी खरीदते है। करोडो का काला धन तिजोरियो, तहखानो और लॉकरो मे घर के अलग अलग सदस्यो के नाम से रखा जाता है। ऐसे धन को छिपाकर रखा जाता है, जिस पर आयकर भी किसी तरह का नही दिया जाता। सरकार ने आयकरके नियम बना रखे है, पर ये ब्लैकमार्केट एव तस्करी के व्यापारी नम्बर दो की अपनी ऊपरी आमदनी को विलकुल छिपा कर रखते है और टैक्स वसूल करने वालो की आंखो मे धूल झोकने के लिए तीन-तीन तरह के हिसाव के रजिस्टर और बहियाँ वना कर रखते है। पिछले वर्षो मे इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए कई जगह छापे भी मारे गए, लगभग ४०-५० करोड के सोने, जवाहरात, नोटो आदि का भी पता लगाया गया, लेकिन फिर भी यह दो नम्वर का धन अभी तक बहुत अधिक मात्रा मे लोगो के पास पडा है।

इसी प्रकार सडको और मकानो आदि के ठेकेदार और अधिकारी मिलकर करोडो रुपयो की हेराफेरी करते हैं। कई जगह सरकारी रजिस्टरो मे सडक वनाई हुई बता दी, ठेकेदार को रुपये भी दे दिये गये, पर उस सडक का अभी तक पता नही लगा। कई जगह सडक या पुल आदि मे मेटेरियल बहुत कम, घटिया किस्म का लगाया गया, जो कुछ ही महीनो मे टूट-फूट कर साफ हो गए।

देश मे फैले हुए व्यावसायिक भ्रष्टाचार को देखते हुए भ्रष्टाचार की रोकथाम के लिए 'सदाचार समिति' 'अध्ययनदल' आदि की स्थापना बहुत ही मामूली कदम

था। 'फिर भी इनकी सूचनाओ के अनुसार देश मे काला धन अनुमानत १० अरब से १०० अरब तक के बीच मे माना जाता है, इस परिस्थिति मे देश के कुछ लोग तो ऐसे हो गये है कि जिनके पास इतना अधिक धन छिपा पडा है कि उनकी समझ मे भी नही आता कि वे उसका क्या करे ? दूसरी ओर कितने ही करोड व्यक्तियो के पास एक सप्ताह के लायक खाद्य-सामग्री खरीदने के लिए भी पैसा नही है । नतीजा यह होता है कि धनिक लोग तो किसी भी कीमत पर जीवन-निर्वाह की आवश्यक सामग्री खरीद लेते है, किन्तु साधारण लोगो को उसकी कमी पडने लगती है। उसे हर तरह के अभाव मे जीवन व्यतीत करना पडता है। अमीर लोग ऐश-आराम, मौजशौक, विदेश यात्राओ तथा सैर-सपाटो मे अपना पैसा पानी की तरह बहाते है, जबकि गरीब लोगो को खाने के भी लाले पडते है।

जनता मे बेईमानी की प्रवृत्ति

व्यावसायिक एव मुफ्तखोर लोगो की इस अर्थलोलुपता का प्रभाव साधारण जनता पर भी बहुत बुरा पड रहा है। उनमे बेईमानी की प्रवृत्तियाँ दिन पर दिन बढती जाती है। जब जनता यह देखती है कि केवल व्यापारी और उद्योगपति ही नही, बल्कि सरकारी कर्मचारी, अधिकारी, बडे-बडे देश नेता, मन्त्री तक भी ऐसे गैर्कानूनी उपायो से धनोपार्जन करते हैं, भ्रष्टाचारी लोगो की सहायता भी करते है, तो वह भी इसी तरफ झुकती है और हर क्षेत्र मे कानून की अवज्ञा करके बेईमानी से अपना स्वार्थ सिद्ध करने मे कोई बुराई नही समझती। जब यह प्रवृत्ति राशनिंग और कट्रोल के साथ जुड जाती है, तो उसके परिणाम और भी विषैले हो जाते है। कदम-कदम पर प्रत्येक क्षेत्र मे चालाकी, धूर्तता, बेईमानी और असत्य व्यवहार से व चोर-बाजारी से काम चलाया जा रहा है। यह दूषित मनोवृत्ति इस समय देश-व्यापी हो गई है।

एक तत्कालीन केन्द्रीय खाद्यमन्त्री ने बतलाया था कि अकेले कलकत्तानगर मे दस लाख जाली राशनकार्ड चल रहे हैं, जिनसे अनाज का बडा अपव्यय होता है। राय-बरेली की एक तहसील मे चीनी की राशन-दूकान की जाच करने पर पता चला कि जिन उपभोक्ताओ के नाम से चीनी बेची जा रही है, उनमे से अधिकाश मृत या अज्ञात थे, जिनके नाम से प्रति सप्ताह चीनी दी जा रही थी।

इन सब बेईमानी और धूर्तता के कामो को साधारण जनता ही नही, सुशि-क्षित कहलाने वाले व्यक्ति भी करते है। उत्तर प्रदेश के पुलिस विभाग की वार्षिक रिपोर्ट मे बतलाया गया था कि कितने ही कालेजो के छात्र और अध्यापक पढते-पढते अब हथियारबन्द डकैतियो मे भाग लेने लगे है। ऐसे एक दल ने एक कस्बे मे पुलिस की तरह खाकी वर्दी पहन कर डाका डाला था। कानपुर मे दो अप-टू-डेट पोशाक पहने शिक्षित युवको ने चुगी के अफसर का वेश बना कर एक बाहरी व्यक्ति के थैले की तलाशी ली, और उसमे से २८०) रुपये गायब करके भाग गए।

इस प्रकार देश के बडे और छोटे वर्गों मे वेईमानी, हराम प्रवृत्ति दिन पर दिन वृद्धि पर है और हर एक व्यक्ति की यही मनो वह कम से कम परिश्रम मे अधिक से अधिक धनोपार्जन कर ले । इ क्या पाप है ? कैसी वदनामी होगी ? अथवा देश और समाज होगी ? इसका किसी को ख्याल तक नही आता । रिश्वत लेने वाले हो गए है कि अफसरो के बार-बार कहने पर भी सुनी-अन काम मे ढील करते रहते है और जब तक उनको अपनी दक्षिणा कोई न कोई बहाना निकाल कर काम को पूरा नही होने देते । रेशन के एक बडे अधिकारी ने बतलाया कि उनको किसी माम निकलवानी थी, पर वह कई वार कहने पर भी नही निकाली असिस्टैंट इजीनियर से कहा कि 'फाइल तीन दिन के अन्दर अव कर उपस्थित की जाय ।" असि० इजीनियर दफ्तर के कर्मचारियो के भेद था । इसलिए उसने किसी प्रकार का हुक्म देने के बजाय अपने पास से ५ अपने क्लर्क को रिकार्ड आफिस भेजा । फलत वह क्लर्क तुरन्त फाइल गया । घूसखोर कर्मचारियो ने अपने विभाग के इन्जीनियर के साथ भी नही की ।

अधिकाश व्यक्ति इस दूषित परिस्थिति का उत्तरदायित्व सरकार पर है । यह सच है कि इस प्रकार असत् कार्यों को रोकने का दायित्व सरकार सरकार के अधीन चलने वाली अदालतो और पुलिस दल पर है । पर साथ यह भी ध्यान मे रखना है कि सरकारी कर्मचारी किसी दूसरे लोक के जीव होते । वे भी हमारे भाई, वेटे या सम्बन्धी होते है, जो सरकारी कार्यालयो विभागो का सचालन करते है । अत यदि हम सब लोगो का, समस्त समाज या का नैतिक आदर्श नीचा है, आचार-विचार निम्न कोटि का है, हम सच्चाई कर्तव्य की अपेक्षा धन कमाने को ही सर्वाधिक महत्व देते है, तो ऐसी 'सरकार' इस परिस्थिति के सुधार की अपेक्षा कैसे रखी जा सकती है ? यो तो सरकार के ब वडे अधिकारी अपने नियमो और साधनो के अनुसार इसे रोकने की चेष्टा अवश्य करते है और उन्हें कुछ सफलता भी मिल जाती है । पर यह केवल ऊपरी उपचार होता है, रोग की जड इससे नही कटती । अत उचित यही है कि केवल सरकार के भरोसे ही न रहा जाय, जनता भी इस विनिमय चोरी को मिटाने मे जोरशोर से सामूहिक रूप से जुट जाए ।

विभाग चोरी

कई वार व्यक्ति को बँटवारा या विभाग करने का काम सौंपा जाता है, या परिवार वगैरह मे व्यक्ति बहुत-सी वार कोई चीज लाता है तो वाँटता है । परन्तु वँटने के समय अपने वच्चो और अपनी पत्नी या अपनो को पक्षपात करके अधिक दे

दिया और दूसरे के (भाई वगैरह के) वच्चो या पत्नी आदि को कम दिया तो यह भी अधिकारहरण होने के कारण चोरी है। अचौर्यवृत्ति वाले गृहस्थ या साधु को अपने-पराये का भेदभाव छोडकर विभाजन के समय समत्वभाव रखना चाहिए।

वाजार से कोई व्यक्ति मिठाई लाया। वच्चे स्कूल गये हुए हैं, या खेलने मे लगे हुए हैं, अत उनके परोक्ष मे चुपचाप मिठाई का दोना अकेला चट कर जाना, भी विभाग चोरी है। वच्चो का उस पर मवसे पहले हक है, उनका हक हरण करके अकेले ही किसी चीज को गटका जाना सचमुच कर्तव्यहीनता है और विभाग चोरी है। कई लोग वाजार मे चाट पकोडी वाले से चाट आदि लेकर अकेले ही खा जाते है। उन्हे अकेले खाना कैसे अच्छा लगता है ? कोई व्यक्ति तो दुष्काल वगैरह के समय भी परिवार को छोडकर अकेले खाने मे हिचकते नही हैं।

एक जगह सर्वोदयी वहनो की पदयात्री टुकडी पहुँची। उनके पास खाने की चीज कुछ अधिक थी। अत उन्होने जहाँ पडाव रखा था, वहाँ एक गरीव वहन ने उनकी वहुत सेवा की, अत उन्होने उस वहन को वची हुई सारी मिठाई देदी और कहा—"यह लो मिठाई, खालो यही।" उसने मिठाई का दोना अपने पास रख लिया, जव पदयात्री वहनो ने उसे खाने का अधिक आग्रह किया एक कौर मुँह मे डाल कर वाकी का रख लिया। उसने कहा—"मैं अपने वच्चो को छोडकर अकेली यह मिठाई नही खा मकती।" सचमुच उस वहन मे वच्चो के लिए विभाग करके खाने की वृत्ति थी। यही समाजवाद है। समाज मे भी सवके हिस्से मे थोडा-थोडा अन्नादि आए, यही नीति होनी चाहिए अन्यथा, विभाग चोरी का दोप लगता है। उपनिपद् मे वताया है—

केवलाघो भवति केवलादी

जो अकेला खाता है, वह पाप खाता है, पाप का सग्रह करता हे। इसीलिए जैनशास्त्र मे स्पष्ट कहा है—

'असंविभागी न हु तस्स मुक्खो'

जो सविभाग नही करता, केवल अकेला उपभोग करता है उसको मोक्ष नही मिलता।

कर्तव्य चोरी

माता, पिता, सतान आदि परिवार, सस्था, समाज एव राष्ट्र आदि के प्रति व्यक्ति के विभिन्न कर्तव्य होते है। उन कर्तव्यो के प्रति उपेक्षा करना या कर्तव्य से जी चुराना भी कर्तव्य चोरी है। आजकल अधिकाश व्यक्ति अधिकार चाहते ह। वे अधिकार के लिए सघर्प करते ह, आन्दोलन करते ह, हडताल और वन्द करते हैं। लेकिन कर्तव्य के प्रति लापरवाही करते हैं, जो कार्य एक दिन मे ही नही, एक घंटे मे हो सकता है, उसके लिए कई दिन, सप्ताह या महीनो लगा देते हैं। सरकारी

महकमो मे यह दीर्घसूत्रता बहुत अधिक पाई जाती है। लालफीताशाही देश की उन्नति मे बहुत ही बाधक है। जब तक सरकारी कर्मचारियो की मुट्ठी गर्म न करो, तब तक वे देश और समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझ कर कोई भी काम नही करते।

एक डाक्टर है, उसका कर्तव्य है कि कोई भी बीमार किसी भी समय आए या देखने के लिए बुलाए तो अन्य सब कार्य छोडकर तुरन्त वहाँ पहुँचे। झडु भट्ट सहृदय वैद्य थे। कोई गरीब से गरीब व्यक्ति भी आ जाए तो वे उसे देखने मे आनाकानी नही करते थे। तुरन्त उसके यहाँ चल देते थे। एक डॉक्टर था। वह अत्यन्त प्रामाणिक एव कर्तव्यपरायण था। एक दिन वह अपने दवाखाने से घर आकर चाय पी रहा था, तभी एक व्यक्ति अपने रोगी को दिखाने हेतु बुलाने आया। बोला—केस बहुत ही गम्भीर है, इसी समय चलिए।" डॉक्टर चाय अधबिच मे छोडकर तुरन्त चलने को उद्यत हुए। उनकी पत्नी ने कहा—"ऐसी क्या जल्दी है ? चाय पीकर जाइए। पाँच मिनट बाद जाइए।" परन्तु कर्तव्यनिष्ठ डॉक्टर ने उत्तर दिया—जब मुझे रोगी का बुलावा आ गया तब यहाँ एक मिनट भी ठहरना और चाय पीना ठीक नही है। अगर मैं रोगी की पुकार सुनकर एक मिनट भी ठहरता हूँ तो कर्तव्य से च्युत होता हूँ।" यो कहकर डॉक्टर उसी समय रोगी को देखने चल पडा।

इसी तरह सिपाही एव सैनिक भी कर्तव्यनिष्ठ होने चाहिए। ज्यो ही रक्षा के लिए बुलावा या पुकार आए तो तुरत दौड कर जाए। अपने प्राण होम कर भी देश की रक्षा करना सैनिक का कर्तव्य है, लेकिन अगर वह देश-रक्षा के लिए युद्ध के मोर्चे पर जाने मे आनाकानी करता है तो वह अपने कर्तव्य से च्युत होता है।

व्यापारी, उद्योगपति एव कारखानेदार आदि के भी देश व समाज के प्रति कुछ कर्तव्य हैं, लेकिन उन कर्तव्यो के प्रति निष्ठा रखने के बदले देश के गद्दार या द्रोही बनकर समाज के प्रति बेवफा बनकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने मे लग जाय तो यह भी कर्तव्यचोरी है।

इसी प्रकार देश व समाज के प्रति वकीलो, अध्यापको, विद्यार्थियो एव न्यायाधीशो के भी कुछ कर्तव्य है, परन्तु आज ये सब अपने कर्तव्यो को कितने अशो मे निभाते है, यह विचारणीय है। इनमे से अधिकाश लोग अपने कर्तव्य-पालन मे पीछे ही रहते है।

साधु-समाज से भी लोग कर्तव्य-पालन और दायित्व-निर्वाह की आशा रखते है। अधिकाश साधु समाज से केवल लेना ही लेना जानते हैं, देने के नाम पर कह देते है, साधु को ससार से क्या वास्ता ? कोई मरे, चाहे जीए, हमे तो भगवान् का भजन करना है, या अपना कल्याण करना है। वास्तव मे साधुवर्ग गृहस्थ की जिम्मेवारी तथा एक परिवार के भार से मुक्त होकर सारे विश्व का कुटुम्बी बनता है, उस पर ह काया (प्राणिमात्र) के प्रतिपादन की जिम्मेवारी है, षड्जीवनिकाय का वह रक्षक

होता है, प्राणिमात्र का माता-पिता होता है। जब ससार गलत रास्ते पर जा रहा हो, समाज और राष्ट्र मे बुराइयाँ पनप रही हो, धर्मसघ मे नीति-न्याय विरुद्ध प्रवृत्ति हो रही हो, उस समय वह उदासीन और निरपेक्ष होकर चुपचाप नही बैठ सकता, वह उस उस समाज, राष्ट्र या वर्ग को अपना कर्तव्य निर्देश करेगा, मार्गदर्शन देगा, जहाँ उपदेश की जरूरत होगी, उपदेश देगा, प्रेरणा भी देगा, पर यह सब देगा, अपनी साधुता की मर्यादा मे रहकर ही।

सारा ससार कर्तव्य विमुख हो जाय, उत्तरदायित्व से अलग हो जाय, पर साधुवर्ग अपने कर्तव्यो और उत्तरदायित्वो से विमुख नही हो सकता। उसे सर्वप्रथम उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है। जीवन की अटपटी गुत्थियो को सुलझाने और कर्तव्य जगत् को सत्पथ पर चढाने का उसका दायित्व उसे पूरा करना है। अन्यथा कर्तव्यचोरी होगी! कर्तव्यपालक साहूकार है और कर्तव्यविमुख चोर है। जो अपने दायित्वो और कर्तव्यो से भागता है, वह पलायनवादी है, कायर है, कृपण है।

शक्तिचोरी भी चोरी है

मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रिय शरीर आदि मे विशिष्ट शक्तियाँ छिपी है। कई बार मनुष्य को अपनी शक्ति का अदाजा नही होता। परन्तु बहुत-सी बार कार्य करते करते उसमे बौधिक क्षमता, मानसिक दक्षता, कर्तृत्वकुशलता और शरीर शक्ति बढ जाती है। आत्मबल इतना बढ जाता है कि स्वय उसे आश्चर्य होता है, परन्तु इतनी शक्ति होते हुए भी जानबूझ कर उसे छिपाना, शक्ति होते हुए भी स्वय उस कार्य के करने से जी चुराना दूसरो पर भार डाल देना, स्वय आलस्य करना, या स्वार्थवश होकर कार्य करने से इन्कार करना, अशक्ति का बहाना करना भी एक प्रकार से चोरी है। आचार्य जिनदास महत्तर ने बहुत ही अनुभवयुक्त बात इस सम्बन्ध मे कही है—

सते वीरिए ण णिगूहियव्व।
सते वीरिए अण्णो ण आणाइयव्वो।

शक्ति होने पर उसे छिपाना नही चाहिए। शक्ति होते हुए भी स्वय न करके दूसरे को आज्ञा नही देनी चाहिए।

किसी व्यक्ति मे वाणी की महत्वपूर्ण शक्ति है। वह अवसर आने पर उचित सलाह, योग्य मार्गदर्शन न देकर उस शक्ति को छिपाता है, चुप रहता है तो यह ठीक नही है। कहा भी है—

रुसउ मा वा परो मा वा, विस वा परियत्तउ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया॥

दूसरा चाहे रुष्ट हो या तुष्ट, अथवा विषमरूप [illegible], [illegible] मे गुणकारी, हितकर भाषा बोलनी चाहिए। जिसमे [illegible] का हित हो, वह वचन कहना चाहिए।

इसी प्रकार किसी की बौद्धिक शक्ति उर्वरा है। वह सुन्दर एव तर्कसगत विचार दे सकता है, उसे अपनी शक्ति स्वार्थवश छिपानी नही चाहिए। किसी को उत्तम विचार दे देने से बुद्धि घिस नही जाती, बल्कि बार-बार विचार, चिन्तन करने से बुद्धि पैनी और सूक्ष्मतर होती जाती है।

परिवार और समाज से प्राप्त शक्ति को जो मनुष्य छिपाता है, उसे वह शक्ति पुन प्राप्त नही हो सकती। इसके विपरीत जो भी अपनी शक्तियो का खुलकर स्वपरहित मे उपयोग करता है, उसकी शक्तियाँ उत्तरोत्तर बढती जाती है। वह लोकवन्द्य व पूज्य बन जाता है। दान देने की शक्ति है तो उसे छिपाओ मत, शील-पालन करने की ताकत है तो पीछे मत हटो, तपस्या करने का सामर्थ्य है तो उससे मुख मत मोडो और शुद्ध भावो मे विचरण करने की शक्ति है तो उससे विमुख मत बनो। शक्ति को छिपाना ही चोरी है। ससार मे कई व्यक्ति ऐसे थे, जो अगविकल, अधे, गूँगे और बहरे थे, उन्होने अपनी शक्ति को छिपाया नही, विकसित किया और स्वपरहित मे उसका उपयोग किया।

भिक्षाचोरी से बचो

आचार्य हरिभद्रसूरि ने तीन प्रकार की भिक्षा बताई है—

त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राद्या सर्वसपत्करी मता।
द्वितीया पौरुषघ्नी स्याद् वृत्तिभिक्षा तथान्तिमा॥

सर्व सम्पत्करी, पौरुषघ्नी और वृत्तिभिक्षा। जो व्यक्ति अपना घरबार, कुटुम्बकबीला छोड कर समाज पर निर्भर रहता है, सयम का पालन करता है। समाज से कम से कम और वह भी सम्मान सहित लेकर बदले मे समाज को बहुमूल्य उपदेश देता है, जीवन-निर्माण की शिक्षा देता है, समाज की उलझी हुई गुत्थी को सुलझाता है उसकी भिक्षा सर्वसम्पत्करी है।

दूसरी भिक्षा पौरुषघ्नी है। जो लोग हट्टे-कट्टे है। जिनके पास मकान है, धन है और आजीविका कमाने के योग्य है, फिर भी आलसी और अकर्मण्य होकर जीवन बिताते है, विलासिता और मौजशौक मे तल्लीन रहते हैं। ऐसे लोगो का समाज से माँगकर मुफ्त मे खाना पौरुषघ्नी भिक्षा के अन्तर्गत है।

तीसरी भिक्षा, उन लोगो से सम्बन्धित है, जो अगविकल, अन्धे, अशक्त एव अपाहिज हैं, कमाने-खाने के अयोग्य है, बच्चे है, बूढे है, वृद्धाएँ हैं, वे समाज से दान-रूप मे उपकृत भाव से लेकर निर्वाह करने के अधिकारी हैं, उनको भिक्षा देना समाज का कर्तव्य है।

परन्तु आज भारत मे भीख माग कर जीने वाला वर्ग भी छोटा नही है। भीख उनकी आदत मे इतनी घुलमिल गई है कि न तो भीख मागने मे वे शर्म महसूस करते है, न स्वाभिमान और आत्मप्रतिष्ठा की बात वे कभी सोचते हैं। एक प्रकार की घृणित अवस्था का जीवन बिताते है। ऐसे लोगो को किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सेवाकार्य जैसे कि रोगी-सेवा, अगविकल-सेवा या अन्य किसी प्रकार के

समाज निर्माण के कार्य मे हिस्सा लेने या वैसा श्रम करके खाने की बात उन्हे जचती ही नही, इसी दृष्टि से ऐसे लोगो द्वारा भीख मागना एक प्रकार से पौरुषघ्नी भिक्षा है और वह चोरी के अन्तर्गत है।

वैसे आम गृहस्थ को भिक्षा माँगने का अधिकार नही है, क्योकि गृहस्थ अपनी आजीविका के हेतु पुरुषार्थ करने के लिए खुला है। किन्तु आजकल मुफ्त मे लेने की वृत्ति भारत मे बहुत अधिक पनप रही हैं। जो व्यक्ति हाथ-पैर हिला सकता है, गृहस्थ है, उसके पास जीवन निर्वाह के साधन है या साधन जुटा सकता है, फिर भी लोभवश मुफ्त मे लेने की वृत्ति रखता है, वह पौरुषघ्नी भिक्षा मे शुमार है और भिक्षाचोरी है, क्योकि ऐसे व्यक्ति को भिक्षा मागने का अधिकार नही है, किन्तु वह अनधिकार चेष्टा करके अधिकारी के लिए भी जन-मन मे अश्रद्धा पैदा करता है।

प्रमादमूलक चोरी

वैसे तो प्रत्येक चोरी प्रमाद भाव से होती है, लेकिन प्रमादमूलक चोरी से यहाँ आशय यह है कि व्यक्ति के पास जब धन एकत्र हो जाता है, तब वह खर्च करने मे प्राय अविवेकी एव प्रमादी बन जाता है। वह अपने आमोद-प्रमोद मे, सामाजिक कुरूढियो मे, वाहवाही के लिए, नामबरी के लिए हजारो रुपये व्यर्थ खर्च कर देता है। अथवा समाज या सस्था के पैसो को पराया पैसा समझ कर खूब खर्च करता है, अनापसनाप अपव्यय करता है। ऐसे अपव्यय के कारण समाज के जो जरूरतमन्द, अनाथ, अपाहिज या अशक्त लोग है, जिन्हे सहायता की जरूरत है, सहायता नही मिल पाती। प्राय उन जरूरतमन्द व्यक्तियो के प्रति लापरवाही दिखाई जाती है। यह रवैया एक तरह से उनको अधिकारो से वचित रखता है। इसलिए इसे प्रमादमूलक चोरी कहा जा सकता है।

कई लोग प्रत्यक्ष चोरी, बेईमानी अथवा अन्याय आदि नही करते, किन्तु सम्पन्न होते हुए भी जब वे समाज के बेकार, बेरोजगार एव अनाथ एव जरूरतमन्दो को कोई सहायता नही करते। इस विषय मे वे लापरवाही दिखाते है। इसलिए ऐसे लोग बरवस चोरी या अनैतिक कार्यों मे लग कर अपना गुजारा चलाने को विवश हो जाते है। यद्यपि चोरी करने की सीधी प्रेरणा उन सम्पन्न लोगो ने नही दी, लेकिन जब वे उनकी परिस्थिति खराब होती देख कर भी कुछ नही करते, तब उन्हे लाचार होकर अपना पेट भरने को चोरी आदि का अनैतिक धन्धा करना पडता है। अगर वे ऐसे लोगो को अपना बन्धु समझ कर सहयोग दे दें तो उन्हे चोरी आदि अनैतिक धन्धे करने की गुजाइश ही न रहे।

उरण चोरी के प्रकार

मनुष्य जरूरत पडने पर दूसरे से कर्ज लेता है। यह कोई बुरा नही है, किन्तु कर्ज लेने के बाद उसे चुकाने की चिन्ता कर्जदार को होनी चाहिए। और कर्ज देने

वाले का उपकार भी मानना चाहिए। किन्तु अधिकाश लोग इस बात की परवाह नही करते। वे कर्ज लेकर चुकाने का नाम नही लेते। जब उनसे तकाजा किया जाता है तो वे कह बैठते है—दे देंगे, जब होगा तब! तुम्हे इतनी जल्दी क्या है? कौन-से भूखे मर रहे हो?" यह उरणचोरी तो नही, पर उपकार चोरी जरूर है।

कई तो इससे भी आगे बढकर साहूकार से कह देते है—'कब लिया था तुमसे कर्ज? हमने तुमसे कोई कर्ज नही लिया है। इस प्रकार छल-बल से परधन हडप कर जाने वाले लोग उरणचोर है। अथवा माता-पिता आदि उपकारी का ऋण प्रत्येक मनुष्य पर है, उनका ऋण न चुकाकर उनको अपशब्द कहना, मारना-पीटना या उनको दुखित करना भी इसी के अन्तर्गत है।

बडे-बडे व्यापारी अपना सारा धन्धा प्राय बैको से या सरकार से कर्ज लेकर उसी के आधार पर चलाते है। और भी कई लोग कई प्रकार की सच्ची-झूठी आवश्यकताओ के नाम पर कई जगहो से कई प्रकार के कर्ज लेते है। उनकी मनोवृत्ति मुख्यतया 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' 'कर्ज लेकर घी पीओ' की होती है। सामान्यतया कई लोगो मे कर्ज चुकाने की, कर या ऋणमुक्त होने की चिन्ता होती ही नही। इतना ही नही, कर्ज चुकाने से बचने की वृत्ति तथा कोशिश रहती है।

विस्मृति चोरी

कोई व्यक्ति कही चीज रखकर भूल गया हो, उस वस्तु को उठाकर अपने कब्जे मे कर लेना विस्मृति चोरी है। विस्मृति चोरी मे मनुष्य अपना ईमान खो बैठता है, उसकी नीयत बदल जाती है।

कई दफा मनुष्य कोई चीज किसी से माग कर ले जाता है, किन्तु कुछ समय बाद देने वाला इसे भूल जाता है। लेने वाला उसकी विस्मृति का लाभ उठाकर उस चीज को लौटाता नही, अपने कब्जे मे कर लेता है।

मौन चोरी

कई दफा मनुष्य बाहर से तो कुछ चोरी करता नही दिखता परन्तु मौन ही मौन मे लोगो के सामने त्याग का सब्जबाग दिखाकर उनको भक्ति एव श्रद्धा से वश मे करके बहुत-सी चीजें लूट लेना, उनका धन भी लूट लेना, मौन चोरी है। मौन चोर बाहर से चोर नही दिखता पर मन ही मन चोरी के प्लान रचता रहता है। दूसरे के धन या अधिकार को हडपने की स्कीमे बनाता रहता है। इस प्रकार के सकल्प-विकल्प करना मानसिक चोरी के अन्तर्गत है।

शब्द-छल चोरी

मन मे पराये धन का हरण करने की बात हो, पर वाणी मे मधुरता हो, इस प्रकार मीठी-मीठी चिकनी-चुपडी बातो से लुभाना शब्द-छल चोरी है। अथवा ऐसी वाणी बोलकर दूसरो को धोखे मे डाल देना भी शब्दछल चोरी है। एक व्यापारी ने

एक बहुत बडी कम्पनी मे प्रवेश किया। कम्पनी मे बाकायदा मिट्टी के तेल के खाली टीन लगे हुए थे। कई आदमी काम कर रहे थे। एक आदमी ने उठकर उस व्यापारी का स्वागत किया। फिर बात ही बात मे उसे ऐसा छकाया कि हम तुम्हे मिट्टी के तेल की एजेंसी दे देंगे। दस हजार रुपये जमा करा दीजिए। बस, माल आपके पास पहुँच जाएगा।' व्यापारी ने चकमे मे आकर दस हजार रुपये जमा करा दिए। रसीद दे दी गई। लेकिन एक महीने तक जब कोई माल या बिल्टी नही आई तब उसे सन्देह हुआ, वह वापिस वहाँ आया तो न तो वहाँ वह कम्पनी है और न ही कोई आदमी है। इस प्रकार नकली कम्पनी बनाकर लोग लाखो रुपये हजम कर लेते है। इसे वाचिक चोरी भी कह सकते हैं।

जैसे कई व्यापारी ग्राहक को कहते जाते हे—अधिक ले तो, छोरा-छोरी खाय, या गौ खाय।" ग्राहक समझते हैं कि व्यापारी कसम खा रहा है, परन्तु व्यापारी यह कहकर भी वस्तु का मूल्य अधिक लेता है। अधिक ली हुई रकम छोरा-छोरी या गाय के खाते मे जमा कर लेता है। लडके-लडकी के खाते की रकम उनके खाने-पीने या विवाहशादी आदि मे लगा देता है और गाय के खाते मे जमा रकम गाय के खिलाने-पिलाने आदि मे खर्च कर देते है। गाय के खर्च से बची रकम गौशाला आदि मे देकर चोर होते हुए भी अपनी गणना दानवीरो मे कराने लगते है। यह वाचिक चोरी एक प्रकार से शब्दछल चोरी ही ह।

इसी प्रकार जिन कार्यों को करने से दूसरो के अधिकारो को आघात पहुँचता है, दूसरे के हको का हरण किया जाता है, दूसरा अपने हको से वचित रहता है, उन सबकी गणना कायिक चोरी मे है।

सभ्य चोरी के प्रकार

इस सभ्य कहलाने वाले युग मे उन्ही स्थूल उपायो से होने वाली चोरियो की गणना चोरी मे की जाती है, जिन उपायो से चोरी करने पर राज्य नियमानुसार दण्डित हो सके। लेकिन यह भ्रान्त धारणा है। शास्त्रानुसार उन सब कार्य, बात, या विचार की गणना चोरी मे है, जिनके द्वारा दूसरे के हको का अपहरण किया जाए या अनुचित फायदा उठाया जाए। वर्तमान कानून की धाराओ ने कुछ इने-गिने उपायो द्वारा दूसरे के अधिकार-हरण को चोरी मे माना हे, प्रकारान्तर से सभ्य उपायो से जो दूसरे के अधिकार का हरण किया जाता है, वे सब मार्ग खुले रख दिये है, वे कार्य दण्डनीय नही माने जाते। पर शास्त्र उन सभी गलत एव अनैतिक उपायो को दण्डनीय मानता है। परन्तु सभ्य उपायो से चोरी करने वाले, हजारो, लाखो और करोडो रुपयो को ऊपर ही ऊपर डकार जाने वाले साहूकार ही बने रहते है, राज्य-दण्ड से भी वे बचे रहते हे। परन्तु सभ्य उपायो से चोरी करने वालो से जनता की जितनी हानि होती है, उतनी असभ्य उपायो द्वारा चोरी करने वालो से शायद ही होती हो।

क्योकि असभ्य उपायो द्वारा चोरी करने वालो से तो जनता सावधान रहती है, पर सभ्य चोरो से, शाहनामधारी सफेदपोशो से जनता सावधान नही रहती।

कई लोग झूठे विज्ञापनो से लोगो को उल्लू बनाकर ठग लेते है। पत्र-पत्रिकाओ मे विज्ञापन मे अपनी चीज की बढा-चढाकर प्रशसा करते है, किन्तु न तो विज्ञापन के अनुसार माल देते है, न कार्य ही करते है। इसी प्रकार झूठे विज्ञापनो द्वारा लोग लाखो रुपये कमा लेते है, माल का आर्डर देने वाले लोगो के पल्ले माल पूरा नही पडता।

कई लोग किसी सार्वजनिक या लोकोपयोगी कार्य के लिए धन एकत्र करके या तो एकदम हजम कर जाते है या नाममात्र के लिए थोडा-सा खर्च करके शेष राशि हजम कर जाते है। वे ऐसी सस्था को भी तब तक चलाते रहते है, जब तक कि उसके नाम पर धन प्राप्त होता रहता है और अपना मतलब भी उसमे से गाठते रहते है।

कई व्यापारी अपनी सम्पत्ति के जोर से वस्तु का भाव एकदम घटा या बढा कर बाजार पर कब्जा कर लेते है। इस तरह प्राय सभी बाजारो पर अपना आधिपत्य जमा कर वे दूसरे के हको का हरण कर लेते हैं।

कई व्यापारी व्यापार मे अपनी स्थिति का झूठा रौब दिखाकर लोगो से माल ले आते है, दूसरो का रुपया अपने यहाँ जमा रखते हैं। इस प्रकार दूसरो का धन खीच कर झूठा जमाखर्च करके बाद मे अचानक ही दिवाला निकाल देते है।

कई व्यापारी अपढ कर्ज लेने वाले को सौ रुपये देकर एक शून्य बढा कर एक हजार की राशि दस्तावेज मे लिखकर अँगूठा लगवा लेते है। इसी प्रकार ब्याज के मामले मे भी वे छल से ड्योढा, दुगुना, तिगुना लिख देते है।

इस प्रकार की विभिन्न मानसिक, वाचिक और कायिक, सभी प्रकार की चोरियो से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मुक्त होना ही अस्तेय व्रत का आचरण है।

द्रव्य से तात्पर्य है—वस्तु का। वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव, बहुमूल्य हो या अल्पमूल्य। क्षेत्र का अर्थ है—स्थान। जैसे घर, बाग, मार्ग आदि। काल से मतलब है—समय। जैसे वर्ष, महीना, दिन आदि। भाव का अर्थ है—विचार व कार्य। जीवधारियो—पशुओ, मनुष्यो आदि की चोरी हो, या अजीव धन, सिक्के, आदि की हो, वह द्रव्य की चोरी मे शुमार है। किसी पशु, स्त्री, बालक आदि को उसके स्वामी की आज्ञा के विना अपने अधिकार मे करना द्रव्य की चोरी है।

किसी के घर, खेत, बाग, मार्ग, गाँव, देश या राज्य पर बिना उसके स्वामी की आज्ञा के अधिकार जमा लेना, अपने काम मे लेना या फायदा उठाना क्षेत्र की चोरी है।

वेतन, किराया, सूद, कमीशन आदि देने या लेने के लिए समय को न्यूनाधिक बताना और उससे लाभ उठाना काल की चोरी है।

किसी कवि, लेखक या वक्ता के भावो को अपना बताना, उसके लेख, कविता या वक्तव्य पर अपने नाम की छाप लगाना, आशय बदलना, अर्थ छिपाना भाव चोरी है। दूसरे का उपकार न मानने के लिए लोगो को उपदेश देना भी भाव चोरी है।

जैसे कि अदत्तादान विरमण का उपदेश देते हुए प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है—

इस व्रत को धारण करने वाला दूसरो की निन्दा न करे, दूसरो के दोष न निकाले, द्वेष न करे, दूसरे के नाम पर लायी हुई वस्तु आप न भोगे, दूसरे के सुकृत, सच्चरित्रता और उपकार का नाश न करे, दूसरो को दान देने मे विघ्न न डाले, दूसरे के गुण सुन कर असहिष्णुता न बतावे। क्योकि ऐसा करना भाव-चोरी है।

बन्धुओ ! अस्तेयव्रत की आवश्यकता, उपयोगिता, महत्ता और विराट् स्वरूप के सम्बन्ध मे मैं बहुत विस्तार से कह चुका हूँ। आप इसे हृदयगम करें और अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न करें। जीवन के सर्वांगीण निर्माण के लिए अस्तेयव्रत का आचरण बहुत ही आवश्यक है।

7

श्रावक जीवन में अस्तेय की मर्यादा

दो तटो के मध्य मे बहने वाली नदी मानव-जीवन के लिए वरदान होती है। वह प्यासो को पानी पिलाती है। आस-पास के क्षेत्र को सरसब्ज और फल-द्रूप बनाती है। तट पर स्थित सभी पेड-पौधो को हरा-भरा कर देती है। किन्तु वही नदी जब तटो की सीमा को लांघ कर बाढ का रूप धारण कर लेती है, तब वह जीवन के लिए अभिशाप बन जाती है। यही बात मानव-जीवन के लिए है। मानव अपनी मर्यादा मे रहता है, तब अपने और समाज के लिए हितकर एव सुख-दायक प्रतीत होता है, किन्तु जब वही मानव अपने कर्तव्यो और दायित्वो की सीमाओ को लांघकर उच्छृखल बन जाता है, तब वह मानवजाति के लिए अभिशाप बन जाता है।

पिछले प्रवचन मे मैंने बताया था, मानव किस-किस प्रकार से चौर्यकर्म करके अपने और समाज के जीवन को अभिशप्त एव विडम्बित कर देता है। अपने समाज के जीवन को सुखद, सुन्दर एव सुव्यवस्थित बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वह चौर्यकर्म का पूर्णरूपेण त्याग कर दे। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका अलग-अलग होती है, हर व्यक्ति की क्षमता, शक्ति, सामर्थ्य और रुचि भी पृथक्-पृथक् होती है। इसलिए आम आदमी के लिए यह सम्भव नही है कि इस समस्त प्रकार की चोरी का वह मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग कर दे। पूर्ण त्यागी पुरुष किसी के हित को जरा भी ठेस नही पहुँचा सकता, पूर्ण त्यागी अनगार के लिए स्थूल-सूक्ष्म सर्वथा प्रकार से अदत्तादान (बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करने) का त्याग करना होता है। पूर्ण अदत्तादान-विरमण महाव्रत धारक मुनि यह प्रतिज्ञा करता है—

'समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावकम्म णो करिस्सामित्ति समुट्ठाए सव्व भते अदिण्णादाण पच्चक्खामि।'[1]

—हे पूज्य ! मैं गृहत्यागी, अकिंचन, पुत्र, पशु, धन, गृह आदि का त्यागी र दूसरे के द्वारा दिये हुए पदार्थ का उपभोक्ता अनगार (साधु) बनता हूँ। मैं साव

---

१ आचाराग द्वि० श्रु० १६वा अध्ययन

"थूलग अदिन्नादाण समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अदिन्नादाणे दुविहे पन्नत्ते, तजहा—सचित्तादत्तादाणे, अचित्तादत्तादाणे य।"

—श्रमणोपासक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है। वह स्थूल अदत्तादान दो प्रकार का बताया है—सचित्तअदत्तादान, अचित्त-अदत्तादान। स्थूल अदत्तादान की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

दुष्ट अध्यवसायपूर्वक अपने अधिकार से बाहर की, यानी की दूसरे के अधिकार की वस्तु को, उस वस्तु के अधिकारी की आज्ञा के बिना ग्रहण करना स्थूल अदत्तादान है। आचार्यों ने स्थूल चोरी का लक्षण इस प्रकार बताया है—जिसे समाज मे आम आदमी चोरी कहते है, जिस चोरी के करने से समाज मे चोर, बेईमान एव अन्यायी कहा जाता है। तथा लोग घृणा की दृष्टि से देखते है। जो वस्तु सार्वजनिक है, जिस वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है, उसे लेने का उसका उपभोग करने का त्याग श्रावक नही करता।

निष्कर्ष यह कि स्थूल अदत्तादान-विरमणव्रत मे दुष्ट अध्यवसाय पूर्वक दूसरे के हक का हरण करने वाले जो-जो विचार, वाणी या व्यवहार है, उन सबसे निवृत्त होने की मर्यादा आ जाती है। अस्तेयव्रत का पालन साधु तीन करण तीन योग से करता है, जबकि गृहस्थ श्रावक दो करण तीन योग से करता है। उपासकदशाग सूत्र मे आनन्द आदि श्रावको ने इस व्रत की मर्यादा इस प्रकार की थी—

तयाणतर च थूलग अदिन्नादाण पच्चक्खाई। दुविह तिविहेण न करेमि न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा।

—स्थूल मृषावादविरमण के पश्चात् आनन्द श्रमणोपासक ने स्थूल अदत्तादान का त्याग दो करण (करूँ नही, कराऊँ नही) और तीन योग (मन-वचन-काया) से किया।

स्थूल चोरी का त्याग करने पर श्रावक का जीवन लोक-व्यवहार मे विश्वस्त और प्रामाणिक माना जाता है। इससे श्रावक के कोई भी सासारिक काम नही रुकते ऐसे श्रावक का चरित्रबल बहुत ही उन्नत होता है, क्योकि चरित्रबल का मूल आधार अस्तेयव्रत है।

आपने देखा होगा कि साइकिल सैकडो मील की यात्रा कर लेती है। उस पर आदमी भी बैठ जाता है और वजन भी रख लिया जाता है। सबको लेकर चलती है। लेकिन यह तभी सम्भव होता है, जब ट्यूब मे हवा भरी होती है। अगर हवा की शक्ति अदर न हो तो वह गाडी चलती नही, खडी हो जाती है। यदि आप उसे चलाएँगे तो वह आपको लेकर नही चलेगी, उसे ही आपको घसीट कर ले चलना पडेगा। साइकिल मे जब पचर हो जाता है तो उसकी हवा निकल जाती है, फिर उसे आप घसीट कर तो चाहे जितनी दूर ले जायें, किन्तु उसमे स्वय मे चलने की शक्ति नही होती। यही बात जीवन की गाडी के सम्बन्ध मे है। यदि उसमे अदर की साधना है, चरित्रबल है, तो जीवन ठीक रूप मे चलेगा। यदि अदर की शक्ति क्षीण हो जाय या

तो वह मानसिक चोरी कहलाएगी, जो कायिकचोरी की जननी है। जिस वस्तु पर व्यक्ति का वास्तविक अधिकार न हो, फिर भी मन मे उसे पाने की अभिलाषा पैदा होती हो तो वह बीज-रूप चोरी मानी जाएगी।

कोई सोचता है कि मैं अमुक सस्था का व्यवस्थापक वन जाऊँ। अथवा अमुक राज्य का मन्त्री वन जाऊँ। इस प्रकार अपने पास जो अधिकार या पद नही है, उनकी अभिलाषा करता है। अपने मे योग्यता न होते हुए भी वैसी वस्तु या स्थिति पाने की कामना करता है, अथवा अपार धनराशि की इच्छा करता है, यह सब मानसिक चोरी या बीजरूप चोरी है।

कई लोगो का कहना है कि महत्त्वाकाक्षा नही करेंगे तो आगे विकास कैसे कर सकेंगे ? इसके उत्तर मे यही कहना है कि अगर व्यक्ति मे योग्यता है तो उसके अनुकूल वस्तु या कार्य उसे मिले, इस प्रकार की व्यवस्था करना समाज का कर्तव्य है, वह करेगा भी। जब समाज उस व्यक्ति मे योग्यता नही देखता है तो, वैसी व्यवस्था नही करता, उस समय महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति पहले कामना करता है, फिर पाने का प्रयत्न करता है, फिर प्रतिस्पर्धा तथा ईर्ष्या पैदा होती है और अन्त मे सघर्ष भी हो सकता है। इस तरह वह बीजरूप चोरी प्रत्यक्ष चोरी के रूप मे अकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित है।

इस मानसिक चोरी को पहचानना मन का ही काम है। इसे पहचानने का कोई बाहरी साधन नही है। दूसरा कोई इसका पता भी नही लगा सकता। वैचारिक चोरी का जन्म मन मे होता है। यह दूसरे को मालूम भी नही हो सकती। मन की बात जानने का कोई वैज्ञानिक साधन भी नही है। विज्ञान की कक्षा के बाहर की यह वस्तु है। इस प्रकार मन की चोरी को मन ही पहचान सकता है और वही दूर कर सकता है। इस चोरी से बचने का साधन या उपाय भी मन ही है।

अस्तेयव्रत के पालन का दूसरा उपाय है—आवश्यकताओ को कम करना। जीवन मे बहुत-सी आवश्यकताएँ हो सकती है। लेकिन अस्तेयव्रत मे निष्ठा रखने पर जो भी आवश्यकता काल्पनिक यानी अनावश्यक और अतिरिक्त प्रतीत हो, उसे कम किया जा सकता है। उसे घटाने का सकल्प करने से वह अनायास ही घट भी सकती है। मनुष्य चाहे तो उसे छोड भी सकता है। अगर गृहस्थ श्रावक का सकल्प सच्चा हो तो अन्त स्थ शुद्ध आत्मा उसे उस सकल्प को पूरा करने का बल देता है।

अस्तेय के पालन का तीसरा उपाय है—अनुचित या गलत उपायो से धन कमाने की इच्छा न करना। गलत या अनुचित व्यापार से धन कमाना भी चोरी है। सच्चा व्यापारी अत्यन्त प्रामाणिकता से व्यापार करता है। उचित मुनाफा ही कमाने की वृत्ति रखता है, अधिक नफा करने की कोशिश नही करता। वह किसी को लूटता नही, ठगता नही, गलत चीजो की मिलावट करके अधिक धन कमाने की इच्छा नही करता।

सच्चा और ईमानदार व्यापारी समाज की सच्ची सेवा करता है, वह समाज को आवश्यकतानुसार चीजे मुहैया करके उस पर उपकार करता है। अस्तेयव्रत से एक चीज खास सम्बन्धित है, वह है—ईमानदारी। ईमानदारी का वैसे तो जीवन के सभी क्षेत्रो से सम्बन्ध है, चाहे वह सामाजिक हो, कौटुम्बिक हो, धार्मिक हो, शैक्षणिक हो या सास्कृतिक हो। ईमानदारी की ज्योति सर्वत्र जलती रहनी चाहिए। खासतौर से व्यावसायिक क्षेत्र मे तो ईमानदारी की खास जरूरत हैं। व्यापारी श्रावक हो या सामान्य गृहस्थ, उससे ईमानदारी की विशेष अपेक्षा रखी जाती है। व्यापारी का जनता से अधिक वास्ता पडता है। इसलिए उसे इस बात का ध्यान रखना है कि हजारो-लाखो मे अपने जीवन की प्रामाणिकता की छाप डाल सके। जो भी व्यक्ति उसके सम्पर्क मे आए, वह दूसरी बार भी उसके पास आने की इच्छा करे। जहाँ कही भी वह जाए उस व्यापारी के सम्बन्ध मे महान् विचार रख कर जाए। उसके सम्पर्क मे बच्चा आए, बहन आए, बूढा आए या भोला-भाला ग्रामीण आए, सबके साथ ईमानदारी या प्रामाणिकता का व्यवहार करे। सम्भव है, व्यापारी के जीवन मे बाहर की चोरियाँ न दिखलाई दें। वह डाका डालता, ताला तोडता, जेबकतरता न दिखाई दे वह आँख बचाकर किसी की चीज उठाता हुआ न दिखाई दे, किन्तु कुछ चीजें ऐसी हैं, जो व्यापारी के जीवन मे चलती रहती है, वे गलत है। उन पर अगर ध्यान न दिया जाय और पूरी तरह प्रामाणिकता न रखी जाय तो व्यापारी का पद नीचे गिरता चला जाएगा।

जैन सभ्यता के आदिकल से व्यापारी ने विनिमयकार का काम एव हिसाब-किताब का काम सभाला था। उसकी दृष्टि समाज सेवा की रही। फिर वह एक जगह से दूसरी जगह सार्थवाह के रूप मे घूम कर जनता की आवश्यकता की पूर्ति करता और अपनी आजीविका भी व्यापार के द्वारा कमा लेता। वह अपना समय और शक्ति जनता की इसी सेवा मे लगाता था। अपनी तथा अपने परिवार की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरा कोई धधा नही करता था। आखिर तो व्यापारी के साथ भी पेट लगा है, उसके भी स्त्री-बाल-बच्चे है, उनके भरण-पोषण का दायित्व उसके सिर पर है। ऐसी स्थिति मे अगर वह इस आयात-निर्यात-विनिमय मे से ही अपने निर्वाह का साधन न जुटाए तो क्या करे? बस, इसी आयात-निर्यात एव विनिमय के साथ तीसरी चीज पारिश्रमिक—नफा का प्रादुर्भाव हुआ।

यही भारतीय व्यापारी के विकास का इतिहास है। व्यापारी का आविर्भाव जनता के मगल के लिए हुआ था। व्यापारी अपने कुटुम्व के साथ-साथ समाज से भी कौटुम्बिकता बढाता रहता था। इसीलिए वह महाजन कहलाता था। महाजन समाज के सुख-दु ख के समय साथ रहता था। इसीलिए समाज के लोग उसे सहर्ष मेहनताना देते थे। आधी रात को भी महाजन के पास अगर कोई अपनी पुकार लेकर चला आता तो वह उसका दु ख दूर करने को तत्पर रहता था। इसीलिए महाजन को लोग माई-बाप कहते थे। व्यापारी का सम्पर्क किसान की अपेक्षा अधिक लोगो से होता था।

इसीलिए सच्चा व्यापारी जहाँ भी जाता था, वहाँ कौटुम्बिक भावना लेकर पहुँचता था। उत्तराध्ययन सूत्र मे चम्पानगरी के एक विद्वान व्यापारी श्रावक का महिमामय वर्णन मिलता है। वह चम्पानगरी से चल कर पिहुण्डनगर मे व्यापार के लिए पहुँचा। वहाँ के लोगो पर अपनी प्रामाणिकता, मिलनसारी और कौटुम्बिकता की ऐसी छाप डाली कि वहाँ के ही एक व्यापारी ने उसके गुणो से मुग्ध होकर पालित श्रावक को अपनी कन्या दे दी। इतिहास के पन्नो पर जब व्यापारी के उदार हृदय की गुणगाथाएँ पढते है तो हृदय गद्गद हो जाता है। कहाँ तो उस जमाने का व्यापारी समाज के साथ कौटुम्बिक भावना से ओतप्रोत हो जाता था, और कहाँ आज का व्यापारी, जो समाज के साथ स्वार्थ भावना से, लूटने-खसोटने की वृत्ति से और केवल पूँजी बटोरने की नीयत से सम्पर्क मे आता है। उसके अन्दर कौटुम्बिक भावना लगभग समाप्त-सी हो चली है। अगर व्यापारी दूकानदारी के साथ मकानदारी रखे तो उसके जीवन मे ईमानदारी आ सकती है। ईमानदारी का गुण ही व्यापारी को लोकप्रिय बना सकता है। इसके लिए व्यापारी को एकमात्र धन बटोरने की लालसा नही रखनी चाहिए।

कुछ लोगो की ऐसी धारणा है कि धार्मिक व्यक्ति को धन से विरक्ति होनी चाहिए। धन के प्रति अत्यधिक लगाव मोहबन्धन का कारण हो जाता है और उससे फिर आत्मिक आनन्द की अनुभूति नही होती।

यद्यपि गृहस्थी की सुख-सुविधाओ के लिए तथा अपने दायित्वो एव कर्तव्यो की पूर्ति के लिए श्रावक को धन की आवश्यकता रहती है। शास्त्रकार इसका निषेध नही करते। उनका निषेध अनावश्यक लोभ, वित्तैषणा के कारण अनुचित तरीको से धन कमाने की वृत्ति का है। 'बेईमानी, भ्रष्टाचार, अनाचार एव दुराचार के द्वारा कमाया हुआ धन मनुष्य को व्यसनो की ओर आकर्षित करता है जुआ, सट्टा, लाटरी, नशेबाजी तथा वेश्यावृत्ति आदि मे धन का अपव्यय करने वाले लोग प्राय सभी अनुचित तरीको से धनार्जन करते है।

बडे-बडे व्यापारी प्राय अपना धधा बैको से या सरकार से कर्ज लेकर उसी के आधार पर चलाते है। और भी कई लोग कई प्रकार की कर्जदारी से पीडित रहते है। ऐसे लोग कर्ज चुकाने का नाम भी नही लेते। इस तरीके से कर्ज ले-लेकर बहुत से व्यापारी धन एकत्र करने मे लगे रहते हैं। यह भी अनुचित तरीका है, धन बटोरने का। ऐसे लोग, जब ऋण लिया हुआ धन बहुत ज्यादा इकट्ठा हो जाता है, तब अचानक दिवाला निकाल देते हैं और ऋणदाताओ को अगूठा बता देते है।

वर्तमान मे कई महाजन और साहूकार केवल सूद पर अपनी कमाई करते है। ब्याज ही ब्याज मे वे लखपति हो जाते है। और कितने ही लोग बेघर और बेजमीन होकर बरबाद हो जाते है, दीन-हीन और गुलामी का जीवन जीने को विवश हो जाते

है। श्रावक के लिए दूसरे का शोषण करके अन्याय-अनीति युक्त जीवन बिताना वर्ज-नीय बताया है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने बताया है—

न्यायोपात्त हि वित्तमुभयलोकहिताय

न्याय से उपार्जित धन उभय लोक के लिए कल्याणकारी होता है। धन अपने आप मे बुरा नही है। उसकी पृष्ठभूमि मे निहित मनोवृत्ति ही भलाई और बुराई की जननी है। धन इन्सान के लिए अभिशाप भी है और वरदान भी। वह धन व्यक्ति के लिए अभिशाप है, दुःख का कारण है, जो दूसरो के जीवन को सतप्त, त्रस्त एव पीडित करके प्राप्त किया जाता है। ऐसा धन, जो अन्याय, अत्याचार एव अनीति से प्राप्त किया जाता है, मनुष्य को कदापि सुख की साँस नही लेने देता। वह धन उसकी एव उसके परिवार की शान्ति को नष्ट कर देता है। इसी कारण अन्याय, अनीति एव अप्रामाणिकता के द्वारा धन के उपार्जन को स्तेयकर्म बताया गया है। इसके विपरीत जो धन, न्याय, नीति एव प्रामाणिकता से उपार्जित किया जाता है, वह अहितकर नही होता, वह व्यक्ति एव परिवार के जीवन को सुखशान्ति प्रदान करता है, उसके पार-लौकिक व इहलौकिक जीवन को उज्ज्वल बनाता है। सचमुच मे, वह धन उसके लिए वरदान रूप है।

भारतीय सस्कृति के उन्नायको ने धन को ही नही, चरित्र, ईमानदारी एव नैतिकता को महत्त्व दिया है। बाह्य धन को चरित्र के सामने नगण्य माना गया है। विद्वानो का कहना है—'जिसका धन चला गया, समझो कुछ ही गया, किन्तु जिसका चरित्र चला गया, साख मिट गई तो मानो सर्वस्व चला गया।' चरित्र बल को खोना जीवन को खोना है, चरित्र और नैतिकता को बनाए रखना ही, जीवन को बनाए रखना है। इस नैतिकता एव प्रामाणिकता को ही सच्चरित्र एव अस्तेयव्रत कहते है।

इसी प्रकार चोरी के जो मूल कारण है, उन कारणो पर विचार किया जाय तो आस्तेयव्रतधारी श्रावक के लिए उनका निवारण करना अथवा उन कारणो से बचना कोई कठिन नही है। सर्वप्रथम हमे विचार करना है कि मनुष्य चोरी या बेई-मानी, ठगी, अनैतिकता आदि जो चोरी मे ही शुमार है, क्यो करता है? आज से ही नही, सहस्र-सहस्र वर्षों से शासन-व्यवस्था चली आ रही है। प्रत्येक युग के शासक ने चोरी को जघन्य अपराध घोषित किया था, और उसके लिए अपराधी को कडी से कडी दण्ड-व्यवस्था भी रखी थी। कुछ राजा लोग चोरी करने वालो को शिकारी कुत्तो से नुचवा डालते थे, अथवा उनके हाथ-पैर या अन्य अगोपाग कटवा डालते थे। प्रश्न-व्याकरण सूत्र मे चोरी करने वालो को किस-किस तरीके से कठोरतम दण्ड दिया जाता था, इसका रोचक वर्णन मिलता है। अन्य धर्मों के शास्त्रो और ग्रन्थो मे चोरी की सजा का वर्णन मिलता है। इन सब पर से यह बात निश्चित है कि चोरी करना जघन्य अपराध, पाप एव अधर्म है। इस बात का उपदेश भी हजारो वर्षों से शास्त्र और धर्मोपदेशक करते आ रहे है। चोर को न इस लोक मे सुख मिलता है, न परलोक

मे। इस जन्म मे वह अपकीर्ति, बदनामी, तिरस्कार एव सजा पाता है, और दूसरे जन्म मे उसे नरक की भयकर यातनाएँ सहनी पडती है। दण्डशक्ति और नैतिकशक्ति यानी राज्य और धर्म इन दोनो के भय के बावजूद भी चोरी का पेशा एक या दूसरे रूप मे चलता रहा। इसका समूल नाश कदापि नही हुआ, इसका क्या कारण है? राज्य-शासन का डण्डा सिर पर घूमता रहता है, धर्म-शासन का भी दण्ड बताया जाता है, फिर भी मनुष्य चोरी करने मे नही चूकता, इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए।

अगर आप कारणो की तह मे जाएँगे तो उनका निवारण आपको अपने हाथ मे प्रतीत होगा, आप उन कारणो को स्वत मिटा सकेंगे।

चोरी एक अनैतिक वस्तु है, नैतिक-पतन है, अपराध है। ससार का कोई भी व्यक्ति अपना पतन नही चाहता, न घृणित जीवन बिताना पसन्द करता है, फिर भी वह चोरी के विविध उपायो और रूपो को क्यो अपनाता है? क्यो अजमाता है?

चोरी करने का सर्वप्रथम मूल और अन्तरग कारण है—अर्थ-लोलुपता। मैंने पहले बताया था कि मनुष्य अपनी महत्त्वाकाक्षाओ, वित्तैषणाओ, आवश्यकताओ, कामनाओ और स्पर्धाओ के चक्कर मे पडकर किस तरह चोरी करने मे प्रवृत्त होता है। ऐसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अधिकाश लोग जीवन और चरित्र की अपेक्षा धन को अथवा पदार्थों को अत्यधिक महत्त्व देते है। उत्तराध्ययन सूत्र के ३२वें अध्ययन मे शास्त्रीय भाषा मे चोरी का मूल कारण बताते हुए कहा है—

'रूवे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तो व सत्तो न उवेइ तुट्ठि।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्त ॥'

अर्थात्—रूप के ग्रहण करने मे जो तृप्त नही है, यानी जो रूप और रूपवान् के परिग्रह मे अनन्त आसक्त हो गया है, और इनके सग्रह की सदैव लालसा बनी रहती है। वह लोभ का मारा हुआ तथा असन्तोष के वेग से व्याकुल पुरुष दूसरे की चोरी करता है।

जैसे रूप की आसक्ति के कारण मनुष्य चोरी करता है, वैसे ही मनोज्ञ रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श इनके प्रति भी आसक्ति के कारण मनुष्य लुब्ध होकर चोरी करता है। प्राय स्वाद पर काबू प्राप्त न होने तथा सभी इन्द्रियो पर काबू खो जाने और विलासिता के बढने से मनुष्य चोरी पर उतर आता है।

निष्कर्ष यह है कि रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शमय पदार्थ—जिसमे धन भी शामिल है—के प्रति आसक्ति और लालसा से प्रेरित होकर मनुष्य चौर्यकर्म मे प्रवृत्त होता है। परन्तु जो व्यक्ति धन के मोह मे डूबकर अनैतिक कर्म करते रहते है, वे चरित्रसम्पत्ति को तिलाञ्जलि दे देते है। जब धन की बाढ आने लगती है तो उसमे उनकी इज्जत, अन्त करण की पवित्र वृत्तियाँ, नैतिकता और सत्यता आदि सब कुछ डूब जाते हैं। धन के उन्माद मे वे इस अमूल्य चरित्र-सम्पत्ति के नाश की ओर

ध्यान ही नही देते। परन्तु जब बाढ का प्रवाह निकल जाता है तब वे पूर्णत हताश हो जाते है। इस प्रकार धन और धर्म—दोनो से हाथ धो बैठते हैं।

आज मनुष्य धन कमाने मे इतना मशगूल हो गया है कि अपने हाथ से नाना प्रकार की स्थूल-सूक्ष्म चोरी होती जाती है, इसका कोई भान ही उसे नही रहता। यदि बाद मे ध्यान भी आ जाय तो उससे छूट पाना उसके वश की बात नही रहती। क्योकि मनुष्य विलासिता का इतना अधिक अभ्यस्त हो जाता है या आदतो मे इतना अधिक शिकार हो जाता है कि आवश्यकताएँ कम कर पाना उसके लिए सम्भव नही होता। कोई भी नया परिवर्तन वह नही कर सकता। विलासिता मे डूबकर मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाता है। विवेक के बिना अस्तेयव्रत का पालन नही हो सकता।

चोरी के बाह्यकारणो मे से सर्वप्रथम कारण है—आवश्यकताओ की अनाप-सनाप वृद्धि और उसकी पूर्ति न होना। मनुष्य कई बार अपनी आवश्यकताओ के बारे मे ठीक-ठीक निर्णय नही कर पाता। अस्तेयव्रत के पालक मे यह विवेक जरूर होना चाहिए कि कौन-सी वस्तु अत्यन्त आवश्यक है? कौन-सी वस्तु अभी आवश्यक नही है? इस बात के निर्णय करने का काम दूसरे नही कर सकते। दूसरे जो निर्णय करेगे, वह उसके काम नही आएगा। इसमे तो प्रत्येक व्यक्ति को ही आत्मनिरीक्षण करना पडता है। अन्यथा, आवश्यकताओ के प्रवाह मे बहकर मनुष्य अपना भान भूल जाता है। आवश्यकताओ का बढना ही चोरी का कारण बन जाता है।

खाद्य वस्तुओ की आवश्यकता भी मनुष्य को चोरी की ओर प्रेरित करती है। इस आवश्यकतावृद्धि के कारण स्थूल-सूक्ष्म चोरी सहज होने लगती है। फिर मनुष्य अविवेक के कारण इतना विवेकहीन हो जाता है कि उसे जानबूझ कर चोरी करके जीवन जीना कुछ भी खटकता नही है। फिर येन-केन-प्रकारेण अन्याय से, अनीति से, छलबल से धन कमाने की वृत्ति बढती है। बिना चोरी किये ऐशोआराम करना सम्भव ही नही होता। लेकिन चोरी के अनेक स्थूल-सूक्ष्म प्रकार जीवन मे घुल-मिल जाते हैं कि पता ही नही लगता कि उससे चोरी हो रही है। इससे समाजव्यवस्था का सन्तुलन बिगड जाता है। सन्तुलन बिगडने से समाज का स्वास्थ्य यानी समाज की सुख-शान्ति नष्ट होती है। इसलिए भोग और विलासिता के लिए आवश्यकतावृद्धि अस्तेयव्रत का नाश कर देती है। आवश्यकताएँ जब बढती हैं तो जीवन का आधार सच्ची आमदनी का नहीं रह सकता और तब मनुष्य को चोरी करनी पडती है।

स्वादिष्ट खाद्य, पेय, सुगन्धित, कोमल, फैशनेबल, चटकमटक वाली कर्णप्रिय वस्तु की आसक्ति मनुष्य को विलासिता की ओर खीचती है। इसी कारण उसकी आवश्यकताएँ बढती जाती है। इन्द्रियतृप्ति के लिए जिन-जिन वस्तुओ को वह पसन्द करता है, उन सबको आवश्यकता की वस्तु कहने लगता है। वही चोरी का कारण बनती है।

चोरी के बाह्य कारणो मे दूसरा कारण है—भुखमरी और बेकारी। बेकार

लोग भूखे मरते अपने पेट की ज्वाला मिटाने के लिए चोरी का आश्रय लेते हैं। 'बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित्' की कहावत के अनुसार भूखे आदमी को धर्मकर्म नही सुहाता, वह उचित-अनुचित उपायो का ध्यान नही रखता। जैसे-तैसे दूसरो का धन हरण करके वे अपना पेट भरते है। समाचारपत्रो से यह ज्ञात होता है कि केवल भारतवर्ष मे ही प्रतिवर्ष हजारो मनुष्य बेकारी से तग आकर आत्महत्या कर लेते हैं या चोरी, जेबकटी आदि अनैतिक धन्धो को अपनाते है। भुखमरी भी चोरी का कारण है। दुष्काल के दिनो मे जब मनुष्य भूखे मरने लगता है, तब चोरी आदि उपायो का अवलम्बन लेता है। भुखमरी मे भी मनुष्य को किसी प्रकार का भान नही रहता। बेकारी बढाने मे मुख्यत कलकारखानो का हाथ है। गाँवो मे पहले जहाँ १०-२० जुलाहे कपडा बुनकर अपनी जीविका चलाते थे, १०-२० तेली तेलघानियो से तेल पीलकर अपना गुजारा चलाते थे, आज उसी गाँव मे या उसके पास के कस्बे मे मिल लग जाने या एक्सपेलर लग जाने से सब बेकार हो जाते है। जिस काम को करके लाखो-करोडो आदमी अपना गुजारा चलाते थे, कारखाने लग जाने पर उन सबकी आजीविका कुछ ही लोगो को मिल पाती है। इस तरह कल-कारखानो के लगने से बेकारी बढ गई है। बेकार आदमी चोरी की तरफ झुकते हैं। बेकारी बढने का दूसरा कारण है—देश के वाणिज्य और कला-कौशल का नष्ट होना। जब देश का वाणिज्य और हस्तोद्योग कला-कौशल नष्ट होने लगते हैं, तब उनके द्वारा आजीविका चलाने वाले लोग बेकार और भूखे मरते चोरी करने मे प्रवृत्त हो जाते हैं।

बेकारी के ऐसे और भी कई कारण है, जिनका वर्णन करना यहाँ अप्रासगिक है।

चोरी के बाह्य कारणो मे से तीसरा कारण फिजूलखर्ची है। आज लोग अनाप-सनाप खर्च अपने आमोद-प्रमोद के पीछे करते हैं। वे अपने बजट का सन्तुलन नही रखते और न ही अपने आय-व्यय का विवेक करते हैं। इस प्रकार की फिजूलखर्ची के कारण जरूरत पडने पर जेब खाली होती है, तब वे चोरी या पाकेटमारी आदि अनैतिक उपाय अजमाते है।

फिजूलखर्ची बढाने मे भी कुछ कारण हैं। जुआ, सट्टा, लाटरी या फीचरसौदा आदि से हजारो रुपये बिना ही श्रम के आ जाते है, तब ऐसे लोग फिजूलखर्ची पर उतर आते हैं। जब उनकी सम्पत्ति जुए आदि मे स्वाहा हो जाती है, तब वे चोरी करने पर उतर आते है। प्रारम्भ मे तो ऐसे लोगो की चोरी अपने परिवार व अडोस-पडोस तक ही सीमित रहती है, परन्तु जब घरवाले चौकन्ने हो जाते हैं, वहाँ उसकी दाल नही गल पाती, तब दूसरे के घरो मे घुसकर धन पर हाथ साफ करते रहते हैं। फिजूलखर्ची का एक कारण दुर्व्यसनो की आदत है। शराब, भग, अफीम, गाँजा, तम्बाकू, चरस, व्यभिचार या वेश्यागमन आदि बुरे कार्यों का दुर्व्यसन लग जाता है। जब मनुष्य उन दुर्व्यसनो की पूर्ति बिना पैसे के कर नही पाता, तब वह चोरी आदि उपायो से पैसे जुटाकर अपनी आदत का पोषण करता है।

फिजूलखर्ची का एक जवर्दस्त कारण है—सामाजिक कुप्रथाओ एव कुरूढ़ियो का पालन। विवाहशादी, मुक्ते, मृत्युभोज, जन्म या अन्य खुशी-गमी के प्रसंग पर समाज के अगुआ लोग गरीव आदमियो पर प्रभाव व दवाव डालते है या गरीब आदमी भी अपनी प्रतिष्ठा वरकरार रखने के लिए उक्त कुरूढ़ियो मे खर्च करने को विवश हो जाता है। इतना कपडा, इतना गहना, इतना दहेज होने पर ही विवाह हो सकता है, इस प्रकार वाध्य किया जाता है, तव विवश होकर इस कुप्रथा की पूर्ति के लिए गरीव आदमी चोरी करता है। यह वात दूसरी है कि ऐसे लोग असभ्य उपायो से दूसरो के हको का अपहरण करने के वजाय सभ्य उपायो से हरण करे। परन्तु ऐसा करना भी तो चोरी ही है। मतलव यह है कि फिजूलखर्ची भी चोरी का जवरदस्त कारण है।

चोरी के वाह्य कारणो मे चौथा कारण है—यशकीर्ति या प्रतिष्ठा की भूख। मनुष्य अपनी वाहवाही, नामवरी, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि होती देखता है तो आडम्वर, प्रदर्शन, गाजे-वाजे, प्रकाश, शो (दिखावा) आदि मे हजारो रुपये फूकने को तैयार हो जाता है। उस समय वह अपनी हैसियत नही देखता कि मेरी आय कितनी है? कितना खर्च करना मेरे लिए उचित है? इस प्रकार सेठ, साहूकार, राजा, रईस और अमीर लोग कई वार अपनी प्रसिद्धि के लिए दूसरे के धन का चोरी आदि उपायो से हरण करके विवाह-शादी मेहमानवाजी आदि मे खर्च कर देते है। या दानी वनने के लिए किसी सस्था आदि को दान दे देते हैं। इसी प्रकार दूसरो का राज्य छीन कर वीर कहलाना चाहते हैं, अथवा जो दूसरो का रोजगार छीनकर अपने को वडा व्यापारी या उद्योगपति प्रसिद्ध करने के इच्छुक रहते है। इसी तरह अपने को क्रिया-पात्र या चारित्रचूडामणि तपस्वी या विद्वान् न होते हुए भी वैसा वताने का उपक्रम करते रहते हैं।

कई लेखक, वक्ता या कवि भी अपनी प्रसिद्धि के लिए दूसरो के शब्दो, भावो या लेखो को अपने नाम से प्रसिद्ध कर देते हैं। इसी प्रकार मान-वडाई के लिए लोग दूसरे के द्वारा आविष्कृत वस्तु को अपने नाम से प्रसिद्ध कर देते है। और भी अनेक रूप मे चोरी करते सुने जाते हैं, जिन्हे आप लोग जानते-सुनते हैं। चालाक लोग चोरी के अनेक नये-नये हथकडे करते है।

चोरी का पाचवा कारण है—स्वभाव। अशिक्षा और कुसगति के कारण वहुत से लोगो का स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि उनके पास किसी प्रकार की कमी न होने पर भी या अच्छा रोजगार-धन्धा होने पर भी चोरी करने की आदत या मुफ्तखोरी की आदत के कारण दूसरो की चीज का हरण करने को अच्छा समझते है और चोरी करते है।

जिसमे रोटी भी चुरा कर खानी पडती हो, उस समाज या राष्ट्र का सबसे ज्यादा नैतिक पतन और क्या होगा ? भारतीय सस्कृति के प्रचारको ने उस व्यक्ति या समाज को भी चोर की सज्ञा दी है, जो भूखो के हिस्सो का भोजन अपने पेट मे अकेला ठूंस लेता है। मनुष्य को उतना ही खाने और सग्रह करने का अधिकार है जिसमे स्वय भी भूखा न रहे और दूसरे को भी भूखा न रहना पडे। जब वह समाज एव राष्ट्र के व्यक्तियो की बुभुक्षा का विचार न करके केवल अपने स्वार्थ को पूरा करने का प्रयत्न करता है, तो वह चोर है। क्योकि वह अन्य व्यक्तियो के अधिकार पर छापा मारता है, उन्हे चोरी करने को बाध्य कर देता है।

कई बार राष्ट्र एव समाज चोरी करने के अपराधी को दण्ड नियत कर देता है, परन्तु साथ ही समाज एव राष्ट्र का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि उस व्यक्ति की आवश्यकताओ को पूरा करने का ध्यान रखे। याद रखिए, व्यक्ति समाज एव राष्ट्र का अग है। उसका नैतिक पतन समाज व राष्ट्र का नैतिक पतन है। राज्य द्वारा बेकारी और बेरोजगारी तथा भुखमरी को मिटाने की व्यवस्था नही की जाती, दुर्व्यसन मिटाने के लिए कोई प्रयत्न नही किया जाता, सामाजिक कुप्रथाओ तथा मान-बडाई के लिए चोरी करने वालो को रोका नही जाता और शिक्षा का प्रबन्ध नही किया जाता, तब चोरी न हो, ऐसा होना कठिन है। एक तरफ समाज एव राष्ट्र मे पूँजी एकत्रित करने की होड-सी लगी हो, फलत समाज एव राष्ट्र मे पूँजी सिमट-सिमट कर कुछ हाथो मे आ जाती हो, वहाँ स्वाभाविक है कि अधिकाश व्यक्ति गरीब हो जाते है। उनके पास व्यापार एव उद्योग का साधन होने से और नौकरी या मजदूरी न मिलने से उन्हे बाध्य होकर चोरी करनी पडती है। अत चोरी के इस अपराध का दायित्व केवल व्यक्ति पर ही नही, समाज, राष्ट्र या धन-सम्पन्न व्यक्ति पर भी आता है।

कई लोग लाचारी से चोरी करते है, जब समाज या राष्ट्र से भूखे मरते समय किसी प्रकार की व्यवस्था नही होती।

काठियावाड (सौराष्ट्र) मे एक बार भयकर दुष्काल पडा। गरीब किसान व मजदूर भूखो मरने लगे। एक कोइरी (कोली) ने कस्बे के 'राजा' से अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अन्न माँगा, परन्तु उसे देने से साफ इन्कार कर दिया गया। लाचार होकर उस कोली ने दस सेर की एक थैली बनाई। फिर कोठार मे लोहे के छड से एक छेद कर दिया। उस छेद मे से थैली मे अनाज भर कर वह कोली निकालने लगा। एक साल एक यह क्रम चलता रहा। किसी को भी कुछ पता नही लगा कि कोठार मे से अनाज निकाला जा रहा है। दूसरे साल चौमासा आया, खूब वर्षा हुई। मजदूरी भी खूब मिली। बहुत अनाज किसान-मजदूरो के पास हो गया। अत उस ईमानदार चोर किसान ने चुराया हुआ अनाज ड्योढा भर कर ठाकुर साहब को वापस लौटाने की सोची। उसने दो गाडियो मे अनाज भरा

और उसे लेकर वह किले मे पहुँचा। उसने राजा से हाथ जोड कर प्रार्थना की—"अन्नदाता ! दो गाडियो मे भरकर आपका अनाज वापस लौटाने आया हूँ।" राजा ने अपने कामदार को बुलाकर पूछा—"इस कोली ने कितना अनाज कोठार से लिया है ?" कामदार ने कहा—"हुजूर ! इसने कोठार से एक दाना भी अनाज नही लिया।" तब किसान से पूछा गया—यह कौन-सा अनाज देने आये हो ?" अब तो किसान ने अपना चोरी का अपराध स्वीकार किया और घटना यथातथ्य बतला दी।' राजा ने उस किसान की ईमानदारी से प्रभावित होकर सारा अनाज माफ कर दिया। और कहा—"यह अनाज मैं तुम्हे खेत मे बोने के लिए वापस देता हूँ।" फिर कामदार को बुलाकर राजा ने कहा—इसे अच्छी जमीन दो और अपना जोतदार बना दो। बैलो की जोडी भी दो, जिससे यह सुखपूर्वक खेती कर सके। ऐसा ईमानदार किसान दुखी रहे, यह ठीक नही है।"

यह है राज्य-व्यवस्था की कमी के कारण लाचारी से की गई चोरी का उदाहरण। कुछ भी हो, समाज मे जब किसी व्यक्ति को बेकारी और बेरोजगारी से पीडित देखे तो उसकी उपेक्षा करने वाले सम्पन्न लोग भी उसे तुरन्त सहायता न देकर चोरी करने के लिए विवश कर देते हैं। ऐसा व्यक्ति स्वय चोरी करना नही चाहता, किन्तु समाज की परिस्थितियाँ उसे बाध्य कर देती है।

धारानगरी का सेठ जिनदास प्रतिदिन के नियमानुसार उपाश्रय मे सामायिक करने पहुँचे। धर्मस्थान मे जाते ही उन्होने अपना कमीज और कोट उतारा और एक कीमती हार भी उतार कर कोट की जेब मे रख दिया और दोनो वस्त्रो को खूँटी पर टाँग दिये। उसी समय एक भूतपूर्व धनिक, किन्तु वर्तमान मे बेकारी और बेरोजगारी से पीडित गरीब वणिक् 'शान्तनु' यह देख रहा था। उसके पत्नी व बच्चे तीन दिन से भूखे थे। अत उसने विचार किया—"अगर यह हार सेठ जिनदास के कोट की जेब से निकाल कर ले लूँ तो कोई भी व्यक्ति इसके बदले मुझे अच्छी खासी रकम दे देगा, और मैं अपना व्यापार पहले की तरह सुखपूर्वक चला लूगा।" यो सोचकर उसने इधर-उधर देखा और सेठजी को मौन, आँखें बन्द किये अपने आत्म-चिन्तन मे लीन देखा तो आँख बचाकर झटपट उनके कोट की जेब से हार निकाला और अपनी जेब के हवाले किया। फिर भारी कदमो से अपने घर की ओर चला।

सेठ जिनदास ने सामायिक पूर्ण होने पर अपने कपडे पहने, किन्तु कोट की जेब मे वह हार न मिला देख सोचा—"शायद घर ही रह गया होगा।" यो सोच सेठजी भी घर आए परन्तु हार नही मिला अत निश्चिन्त होकर अपने कार्य मे लग गए। इधर जब शान्तनु ने अपनी पत्नी को वह हार बताया तो उसने राय दी कि सेठ जिनदास बहुत भले आदमी हैं, उनके यहाँ यह हार गिरवी रख कर इस पर रुपये ले आओ। सेठ कुछ भी नही कहेगे। वे मन-ही-मन आपकी परिस्थिति पर विचार करके सब कुछ समझ जाएँगे।"

शान्तनु वह हार लेकर सेठ जी की दूकान पर पहुंचा और हार गिरवी रखकर उस पर रुपये देने की प्रार्थना की। सेठ बुद्धिमान थे। शान्तनु की सारी परिस्थिति समझ ली, और कहा—"भाई! हार गिरवी रखने की कोई जरूरत नही! तुम्हें रुपये चाहिए तो यो ही उधार ले जाओ।" परन्तु शान्तनु के बार-बार आग्रह पर जिन-दास ने वह हार अपने यहाँ गिरवी रख लिया और यथेष्ट रुपये दे दिये।

शान्तनु के चले जाने पर सेठ ने सोचा—शान्तनु ने मेरा हार चुराया, इसमे इसका दोप नही है। इसे अत्यन्त लाचारी की स्थिति मे यह हार चुराना पडा है। परन्तु इसकी ऐसी दयनीय परिस्थिति देख कर भी मैंने इसे किसी प्रकार रोजगार धन्धा न दिया, न इसे धन्धे मे मदद दी। एक जाति भाई व साधर्मिक की स्थिति का मुझे ज्ञान होना चाहिए।" यो सेठ मन ही मन पश्चात्ताप कर रहे थे।

इधर शान्तनु ने उन रुपयो से ईमानदारी से धन्धा शुरू कर दिया। व्यापार चमक उठा। एक ही वर्ष मे वारे-न्यारे हो गए। घरखर्च के अलावा भी काफी पूँजी एकत्रित हो गई। अत सेठ के रुपयो की अब आवश्यकता न समझ कर एक दिन थैलियो मे सारी अर्थराशि मय ब्याज के भर कर शान्तनु जिनदास सेठ के यहाँ पहुँचा। सेठजी ने उससे रुपये लेने से पहले तो आनाकानी की, किन्तु शान्तनु की ओर से बहुत कुछ कहने-सुनने के बाद सेठ ने वे रुपये रख लिए और हार वापिस लौटा दिया। इस पर शान्तनु ने कहा—"सेठ जी! आप मुझे लज्जित क्यो कर रहे है? यह हार तो आपका ही है। मैंने विषम परिस्थिति मे यह हार चुराया था। अत आप इसे मुझे न लौटा कर आप ही रखिये।"

सेठ ने कहा—"भाई! यह हार अब मेरा नही रहा, क्योकि यह हार उस समय लिया गया था, जब मैं सामायिक मे था। सामायिक मे तो मैं सब वस्तुओ पर से ममत्व छोड कर बैठा था। इस पर मेरा स्थायित्व उस समय नही था। अत यह हार अब मेरा नही कहा जा सकता। मुझे तुम्हारी दयनीय स्थिति देख कर स्वयमेव सहायता देनी चाहिए थी, लेकिन मैंने तुम्हारे प्रति उपेक्षा की, उसी के फलस्वरूप तुम्हे लाचार होकर यह चोरी करनी पडी। इसलिए इस चोरी मे अपराध मेरा है।"

शान्तनु ने कहा—"सेठ जी! कुछ भी हो। अपराध मेरा है। मैं ऐसी कठिन परिस्थिति मे अपने स्त्री-बच्चो को भूखे देख न सका। मैं बेरोजगार था। अत ऐसी सकटापन्न स्थिति मे मुझे आपका हार चुराना पडा। परन्तु अब मेरी स्थिति आपकी कृपा से अच्छी है। अत मैं ब्याज सहित आपकी रकम और यह हार न लौटाऊँ, यह मेरे लिए भयकर अपराध होगा। अत यह हार आप रखिए। जब दोनो मे से कोई भी उस हार को रखने के लिए तैयार न हुआ तो काफी चर्चा-विचारणा के पश्चात् दोनो महानुभावो ने उस हार की कीमत मानव-सेवा के कार्य मे लगाने का निश्चय किया।

बन्धुओ! जो समाज मे सम्पन्न हैं, किन्तु ऐसे निर्धन एव बेरोजगार सार्धर्मिक

वन्धु को विपन्न स्थिति मे देखकर भी सहायता देने को तैयार नही है, क्या वे चोरी के लिए जरा भी जिम्मेवार नही है ?

इसके पश्चात् चोरी का एक अन्य कारण है—ब्रह्मचर्य पालन न होने के कारण अमर्यादित सतति वृद्धि तथा अनारोग्य। कई लोग अपनी परिस्थिति तग देख कर भी सतान-वृद्धि करते रहते है, अपने जीवन मे सयम नही रख सकते। फिर जब ज्यादा सन्तान हो जाती है, तब उन्हे उनके भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विवाह आदि के लिए पूरा खर्च करना पडता है, या तो वे जिदगीभर कर्जदार बनकर पिसते रहते है, या फिर चोरी जैसे अनैतिक धन्धो से उसकी पूर्ति करते हे।

बीमारी की समस्या भी मनुष्य के सामने चोरी का सकट पैदा कर देती है। बीमारी लम्बी हो, पति की हो या पत्नी की, अथवा किसी बच्चे की हो, तब मनुष्य उसके इलाज मे हजारो रुपये कर्ज लेकर खर्च करता है, जब उस कर्ज को चुकाना पडता है, तब नानी याद आ जाती है, और व्यक्ति मुफ्त मे कही से अधिक से अधिक धन प्राप्त करने के लिए इधर-उधर हाथ-पैर मारता है, चोरी भी करता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र मे यह स्पष्ट रूप मे बताया गया है कि ससार मे कौन-कौन और कैसे-कैसे चोरी करते हैं ?

दूसरो का धन हरण करने मे चतुर, इसके लिए अवसर के ज्ञाता, साहसी, और हाथ की सफाई वाले लोग ही चोरी करते है। वे अपने हुलिए को छिपा कर, बातो का आडम्बर रच कर, मीठी-मीठी बातो मे लोगो को फँसा कर दूसरो को ठगते है। जिसकी आत्मा नीच है, जिसकी धनलिप्सा बढी हुई है, जो देश या समाज से बहिष्कृत है, जिसे मर्यादा-भग करने मे जरा भी हिचक नही है, जो जुआ खेलता है, जो चोरी मे विघ्न-बाधा डालने वाले को या धन मिलने की जिससे आशा है, उसकी हत्या करने मे जिसे कोई झिझक या भय नही होता। जो अपने साथियो की घात करते हुए भी नही हिचकिचाता, जो नगर, ग्राम और जगल आदि को जला देता है, वह चौर्य कर्म करता है। जो ऋण लेकर वापिस लौटाना नही जानता, जो सन्धिभग करता है, जो सुव्यवस्था करने वाले शासक का बुरा चाहता है, जो साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका मे भेद डालता है और जो चोरी करने वालो को उनके चौर्य कर्म मे किसी भी रूप से सहायता देता है, वह चोर है। चोर लोग जबर्दस्ती या गुप्त रहकर एव वशीकरणादि मन्त्रो का प्रयोग करके गाठ काट कर, जेब काट कर या अन्य उपायो से दूसरे का धन, स्त्री, पुरुष, दास-दासी, गाय-घोडा आदि हरण कर लेते है। इसी प्रकार सरकारी खजाना खोलकर धन हरण करते है। इसी तरह दूसरे के धन को हरण करने के त्याग से रहित, विपुल बल, परिवार वाले, अपने धन से असन्तुष्ट, परधनलोलुप, बहुत-से राजा लोग दूसरे राजाओ के राज्य को नष्ट या अपहृत करने के लिए युद्ध के निमित्त चतुरगिणी सेना सजा कर अहअहमिका से गर्वित

योद्धाओ को लेकर व्यूहरचना करके दूसरे के बल का नाश करके उसका धन लूट लेते है।

और भी कहा गया है—अनुकम्पारहित, परलोक के भय से विमुख चोर लोग ग्राम, नगर, खान, आश्रम, आदि तथा समृद्ध देशो को लूट लेते हैं तथा उन्हे नष्ट-भ्रष्ट कर डालते है। चोरी करने मे ही रातदिन मशगूल, कठोर हृदय, दारुण बुद्धि निर्लज्ज पुरुष लोगो के घरो मे सेंध लगा कर, घर मे रखे हुए धन-धान्यादि का हरण कर लेते हैं, सोये हुए गाफिल लोगो को लूट लेते हैं। धन की टोह मे ऐसे लोग काल-अकाल, गम्य-अगम्य स्थान का विचार नही करते। जहाँ रक्त से जमीन लथपथ हो रही हो, जहाँ मृतको के शव रक्त से सने पडे हो, जहाँ डाकिनी-शाकिनी बेखटके घूम रही हो, उल्लू, सियार आदि भयानक पशु-पक्षी आवाज कर रहे हो, ऐसे घोर श्मशानो मे, सूने मकानो मे, पर्वतीय गुफाओ मे, साप-बिच्छू आदि भयकर जहरीले जन्तु रहते है, ऐसे विषम जगलो मे रहकर शर्दी-गर्मी की पीडा सहते है तथा रातदिन इसी उधेड-बुन मे रहते है, कि किसका धन हरण करें। ऐसे भयकर स्थानो मे रहते हुए वे लोग कभी तो लड्डू भात, मदिरा आदि का भोजन-पान करते है, और कभी कन्दमूल, मुर्दे की लाश या जो कुछ भी मिल जाए, वही खा लेते हैं। जिस प्रकार भेडिया खून की तलाश मे इधर-उधर घूमता रहता है, उसी प्रकार परधनहरणकर्ता चोर डाकू आदि भी पराये धन की तलाश मे जान हथेली मे लिये इधर-उधर घूमते-फिरते है और तिर्यंचयोनि मे होने वाले कष्टो को सतत यही भोग लेते है। चौर्यकर्म मे प्रवृत्त ये लोग सज्जनो द्वारा निन्दित, पापी, राजाज्ञा-भजक एव प्राणियो के दु ख के कारण है। वे सतत अनेक मानसिक चिन्ताओ से तथा इसी लोक मे सैंकडो दु खो से ग्रस्त रहते है।

चोरी घृणित एव त्याज्य कर्म है

इसी प्रश्नव्याकरण सूत्र के तीसरे आश्रवद्वार मे चोरी को निन्दित एव घृणित कर्म बताते हुए कहा है—

"हे जम्बू ! तीसरा आश्रवद्वार अदत्तादान यानी नही दिये हुए धनादि का ग्रहण करना है। यह अदत्तादान हरण करने, जलाने, मरने, भय पाने आदि पापो से लिप्त है। अदत्तादान की उत्पत्ति दूसरे के धन मे रौद्रध्यानयुक्त मूर्च्छा होने से होती है। यानी जिसकी तृष्णा धन से नही मिटी है, चोरी करता है। चोरी करने वाले लोग आधीरात, पर्वतादि के ऊबड-खाबड स्थानो मे बसेरा करते है। उत्सवादि मे गाफिल, तथा सोये हुए को लूट लेना, ठग लेना, दूसरे के चित्त को व्यग्र करना, दूसरे को मार डालना ही उनका काम होता है। यह चौर्यकर्म राग-द्वेष से पूर्ण, निर्दयता से युक्त, आर्यजनो तथा साधुजनो द्वारा निन्दित तथा तस्करो को अत्यन्त प्रिय है। चौर्यकर्म भय, अपकीर्ति, वध, नाश, सग्राम, प्रियजनो तथा मित्र स्नेहीजनो की अप्रीति तथा जन्ममरण का कारण है। यह कार्य दुखो का प्रवेशद्वार है, राजादि द्वारा दण्डनीय

है। इसका फल अत्यन्त भयकर है। यह महापाप का आगमन स्रोत है, इसलिए इस कार्य को आश्रवद्वार कहते है।

चोरी करने वाले का यश नष्ट हो जाता है। ऐसे आदमी का विश्वास करना तो दूर रहा, उसके पास भी फटकना नही चाहते, उसे घृणा की दृष्टि से देखते है। चोरी करने वाले की इस लोक तथा परलोक मे जो दुर्गति होती है, उसका विशद वर्णन भी प्रश्नव्याकरण सूत्र मे किया गया है। यहाँ उसकी सक्षिप्त झाकी देखिए—

निन्द्य कर्मों से पराभूत लोग अपनी इन्द्रियो को सयम मे नही रख सकते, तब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे आसक्त होकर इनके मोह मे मुग्ध बन कर जो दूसरे के धन मे तृष्णा बढी हुई होने से ठग कर, मीठे-मीठे बोलकर और सेंध आदि लगाकर दूसरे का धन हरण करते है, उन नरकगामी चोरो को बेरहमी से पकड कर राजपुरुष अपने अधीन करते है, फिर उन्हे बाँध कर प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मार्गों से घुमाते है और लात, घूँसे, डडे, लकडी आदि से मारते-पीटते है आदि-आदि।

यह तो चोरी के कारण मिलने वाले इहलौकिक कष्टो का वर्णन है, पारलौकिक कष्टो का भी कोई पार नही है। परलोक मे सबसे भयकर गति तो नरक की है। नरक मे भयकर सर्दी, गर्मी तथा भयकर रूप, भयकर शब्द, भयकर दुर्गन्ध तथा भयकर रस आदि का सहन करना तथा भयकर यातनाओ का सामना करना होता है, जिनके नाम सुनते ही रौगटे खडे हो जाते है। ऐसा नीचवृत्ति का मायिक व्यक्ति यदि तीर्यञ्चगति मे जाता है, तब भी वहाँ उसे नरकगति के समान ही भयकर दु ख सहने पडते है। अनेको बार तिर्यञ्चगति एव नरकगति मे भ्रमण करने के पश्चात् मनुष्यगति प्राप्त करते है, लेकिन यहाँ भी वही हाय-हाय और परेशानी होती है, न तो यहाँ उसको उच्चकुल मे जन्म होता है, न ही उसे विकास के कोई अवसर मिलते है। यहाँ भी तिर्यञ्च और नरकगति का-सा दु ख भोगते है तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कामभोग की लालसा आदि निन्द्य एव नरकगमनयोग्य कुकर्म करते है।

निष्कर्ष यह है कि निन्दित, घृणित एव चौर्यकर्म के पाप के फलस्वरूप मिलने वाले कष्टो एव यातनाओ से छुटकारा पाने के लिए सज्जन मानव को सभी प्रकार के चौर्यकर्मों का त्याग करना उचित है।

चौर्यकर्म से मुक्त होने के लिए

पिछले प्रवचन मे मैंने चोरी के विभिन्न प्रकार और स्वरूप बताए थे, उन्हे आपको पहचान लेना चाहिए। सूक्ष्मचिन्तन और सतत विचार करने से यह स्पष्ट हो सकेगा।

चोरी के जो-जो कारण बताए हैं, उनसे दूर रहने का प्रयास अस्तेयव्रती को करते रहना चाहिए। साथ ही आवश्यकता-अनावश्यकता का विवेक और आवश्यकताओ पर सयम करने से चोरी से सहज ही छुटकारा हो सकता है। सयम की

मात्रा—सातवें व्रत—उपभोग-परिभोग परिमाण द्वारा बढाते रहने, और इसके लिए हमेशा परीक्षण और छानबीन करते रहना चाहिए। अस्तेय व्रत के साधक या मुमुक्षु का यह एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है कि वह सदा आत्म-निरीक्षण-परीक्षण करता रहेगा और जहाँ भी अपने मे जो दोष या न्यूनता दीखे, उसका उसी क्षण परिमार्जन करते रहना चाहिए। अस्तेय की दिशा मे प्रगति का प्रतिक्षण परीक्षण करते रहना आवश्यक है। अस्तेय का हार्द कम से कम वस्तु से अपना जीवन चलाना है। जीवन मे बहुत-सी आवश्यकताएँ हो सकती है, लेकिन अस्तेयव्रत मे निष्ठा रखने वाला श्रावक जो आवश्यकताऐं, अतिरिक्त, काल्पनिक, गौण अथवा अनावश्यक प्रतीत हो, उन्हे कम करना या धीरे-धीरे छोडने की दिशा मे प्रयत्न करना चाहिए। यदि आवश्यकताओ को घटाने का सकल्प सच्चा हो तो साधक मे त्याग का बल आ ही जाता है। आवश्यकताएँ कम करने मे नियम, सयम और विवेक बहुत हद तक सहायता दे सकते है। आवश्यकताएँ तथा धन की तृष्णा जितनी कम होगी, उतना ही आत्मसन्तोप बढेगा, देहासक्ति कम होगी, मनुष्य कष्टसहिष्णु बनेगा और हर परिस्थिति का मुकाबला करने मे सक्षम होगा। इससे शरीर भी आरोग्य सम्पन्न और पुष्ट होगा, समाज मे असमानता या वर्गभेद मिटने से अस्तेयव्रत से समाज भी पुष्ट होगा। इस प्रकार अस्तेयव्रत का पालन सहज भाव से हो सकेगा। चाहिए अपने मे आत्मविश्वास, निष्ठा और दृढतापूर्वक आचरण।

जब चोर भी सुधर जाते हैं, तब जो अस्तेयव्रत का साधक है, उसके लिए सुधारना कौन-सी बडी बात है? वर्तमान युग के तस्कर, डाकू, चोर या व्यापारी भी सुधारना चाहे तो सुधर सकते है। जर्मनी का एक चोर किसी धनिक के यहाँ चोरी करने गया। किन्तु उसके घर मे प्रविष्ट होते ही उसे विचार आया कि मेरा यह धन्धा अत्यन्त घृणित और नीच है। मुझे इसे अभी ही छोड देना चाहिए। मैं हृष्ट-पुष्ट हूँ, स्वस्थ हूँ तो क्या मैं सात्विक धन्धा अपनाकर अपना जीवनयापन नही कर सकता? बस, मन मे यह शुभ सकल्प आते ही उसने पुलिस स्टेशन पर फोन किया कि 'मैं यहाँ चोरी करने आया हूँ, मुझे यहाँ आकर पकड लो।'

इस प्रकार एक चोर को भी चोरी करने के स्थान पर सद्बुद्धि सूझती है तो साहूकारो को या अस्तेयव्रती साधको को अपने व्यवसायिक कार्यों मे सुबुद्धि सूझे और वह निष्ठापूर्वक अस्तेयव्रत पालन करे यह कुछ कठिन नही है।

अस्तेयव्रत-पालन मे ये सावधानिया रखी जायें

अस्तेयव्रत का भली-भाँति पालन तो तभी हो सकता है, जब व्रत पालन करते समय प्रमाद या असावधानी से होने वाले दोषो से दूर रहा जाय। व्रत का निरतिचार पालन करने से ही व्रत धारण करने का पूर्ण लाभ है। शास्त्रीय भाषा मे अस्तेयव्रत मे आने वाले दोषो को अतिचार कहते है। ये अतिचार तभी तक अतिचार हं, जबकि उन्हे सकल्पपूर्वक न किये जाएँ। सकल्पपूर्वक का मतलब है—जान-

बूझ कर, इरादे पूर्वक इन अतिचारो को करना। अगर सकल्पपूर्वक इन्ही कामो को किया जाय तो ये अतिचार न रह कर अनाचार की कोटि मे आ जाते है। अनाचार से तो व्रत भग हो जाता है। अत भगवान् ने अस्तेयव्रत के निम्नोक्त पाँच अतिचार उपासकदशाग सूत्र मे इसलिए बताए है कि श्रावक अपनी गृहस्थी मे रह कर भी इन कामो को समझ कर इनसे बचने की सावधानी रखे, अन्यथा व्रत भग होने का अदेशा है—

थूलग-अदिन्नादाणवेरमणस्स पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा तजहा —तेनाहडे, तक्करपओगे, विरुद्धरज्जातिकम्मे, कुडतुल्लकूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे।

अर्थात्—स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत के पाँच अतिचार जानने योग्य है, आचरण करने योग्य नही। वे अतिचार ये हैं—स्तेनाहृत, तस्कर-प्रयोग, विरुद्धराज्या-तिक्रम, कूटतुल-कूटमान, और तत्प्रतिरूपक व्यवहार।

अस्तेय व्रत के पाँच अतिचारो मे सर्वप्रथम अतिचार स्तेनाहृत हैं। इसका मतलब है—चोर के द्वारा दूसरी जगह से हरण करके लाई हुई वस्तु का लोभ से सस्ती समझ कर ग्रहण करना या खरीद लेना।

कई लोग वस्तु को सस्ती देख कर लोभ फँस जाते है। सोचते है, हमे मुफ्त मे तो खरीदना नही है, दाम देकर ही खरीद रहे है, इसमे कोई चोरी जैसी बात नही है, यो सोच कर चोरी की वस्तु को बिना कुछ छान-बीन किये ही सस्ती जान कर खरीद लेते है। चोरी से लाई हुई वस्तु हमेशा सस्ती ही बेची जाती है, जिससे लेने वाले का दिल भी ललचाता है। किन्तु श्रावक को विवेकपूर्वक उसकी छानबीन करनी चाहिए और चोरी की वस्तु हो तो उसे खरीदने का लोभ नही करना चाहिए। प्रत्येक वस्तु लेते समय श्रावक को जाँच कर लेना उचित है कि यह वस्तु चोरी की या नकली आदि तो नही है। चोरी की वस्तु खरीदने वाले को राज्य भी चोर के समान दण्ड देता है। कोई व्यक्ति शक्कर, चावल या अन्य राशन की वस्तुएँ चोरबाजारी से लाया हो और आप उन्हे खरीद लेते हैं, आप चाहे दाम ज्यादा देकर खरीदते है, तो भी वह चोरी का ही माल खरीदना समझा जाएगा, जो इस व्रत का अतिचार है।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह माल चोरी का है? इसकी पहचान कैसे हो सकती है? क्योकि कई दफा व्यक्ति जरूरतमन्द होता है अथवा किसी को विदेश या स्वदेश मे जाना होता है तो वह अपने फर्नीचर या अन्य अनावश्यक चीजें सस्ते दामो मे बेचने को तैयार हो जाता है। अत सस्ते दामो मे मिलने वाले सभी वस्तुएँ चोरी की होती है, यह निश्चित रूप से कैसे कहा जा सकता है?

ससार मे यह आम कहावत है कि जब कोई व्यक्ति किसी चीज को बाजार-भाव से कम मे माँगता है, तब वह चीज लाने वाला माँगने वाले से छूटते ही प्राय यह कहता है कि "यह चोरी का माल नही है, सस्ता माल लेना हो तो चोरी का

प्रकार के चोर शास्त्र मे बताए है। श्रावक को इस विषय मे सावधान रहना चाहिए।

विरुद्ध राज्यातिक्रम तीसरा अतिचार

जो राजा परस्पर विरोधी है, यानी शत्रु हैं, लडते है, उन दोनो के राज्यो को एक-दूसरे राज्य वाले परस्पर विरुद्ध राज्य मानते है। ऐसे विरुद्ध राज्य का उल्लघन करना—यानी राज्य की सीमा का अतिक्रमण करना, विरुद्ध राज्यातिक्रम है। खासतौर से लडाई के समय विरोधी राजा के राज्य की सीमा मे जाना अथवा उस राजा के राज्य की सीमा का अतिक्रमण करके इस राजा के राज्य की सीमा मे आना, ये दोनो ही अतिचार है। लडाई के समय सुव्यवस्था के लिए एक राज्य वाले का दूसरे राज्य मे आवागमन निषिद्ध किया जाता है, क्योकि ऐसा करने से एक राज्य का भेद या गुप्त बात दूसरे राज्य मे चले जाने का खतरा रहता है। इसलिए श्रावक को इस अतिचार से बचने की कोशिश करनी चाहिए।

विरुद्ध राज्यातिक्रम का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि विरोधी राज्य की सीमा का उल्लघन करके करचोरी बचाकर वहाँ के लोगो को माल देना और वहाँ से माल लाना, इस प्रकार राज्यातिक्रम भी करचोरी का कारण होने से अतिचार है।

इस अतिचार का तीसरा अर्थ राज्यविरुद्ध कार्य करना भी हो सकता है। यानी राजा ने जनता के हित के लिए जो कानून-कायदे बनाए हो, उनका भग करना अतिचार है। अथवा शासक ने सुव्यवस्था के लिए कोई नियम बनाया हो, उसका भग करना भी इस अतिचार के अन्तर्गत है।

श्रावक इस अतिचार से बचने की सावधानी रखेगा।

कूटतुला-कूटमान चौथा अतिचार

तराजू से तौलने मे या गज आदि से नापने मे कम देना, अथवा बाँट या गज आदि तौल-नाप मे कम रखना।

सरकार ने जो बाट नियत किये हो, अथवा जो पैमाना निश्चित किया है, उस से कम-ज्यादा वजन के बाट तथा नापने मे मापदण्ड कम-ज्यादा रखना न्यूनाधिक मान-उन्मान नामक अतिचार है। इस अतिचार से बचने की श्रावक को कोशिश करनी चाहिए। श्रावक जानबूझ कर ऐसी ठगाई नही करेगा। अगर व्यापारी बाट-पैमाने पूरे रखकर भी तोलते समय डडी मारता है, नापते समय हाथ सरकाता है तो सरासर चोरी है। भूल या असावधानी से कम ज्यादा नापना-तौलना अतिचार है। इसलिए श्रावक को इस विषय मे सावधानी रखना उचित है कि उसकी दूकान पर बच्चा आए, बूढ़ा आए, नासमझ या भोला-भाला ग्रामीण आए, महिला आए, चाहे दिन हो या रात, एकान्त मे हो या सरेआम बाजार मे हो, [illegible] अप्रामाणिकता का व्यवहार भी सभ्य चोरी मे है। ऐसी चोरी दिखती नही है। [illegible] करने वाला व्यक्ति चाहे धर्मात्मा कहलाता हो, वह सभ्य चोर की गणना मे ही आएगा।

सुनते है, कई लोग दो तरह के बाँट रखते है, लेते समय अधिक वजन के देते समय कम वजन के, इसी तरह पैमाने भी दो तरह के रखते हैं, लेते सम अधिक नाप के, और देते समय कम नाप के। तौलने-नापने मे वे ऐसी चालाक काम लेते हैं कि दी जाने वाली वस्तु तौल-नाप मे कम होती है, और ली जाने व वस्तु तौल-नाप मे ज्यादा।

तत्प्रतिरूपक व्यवहार . पाँचवा अतिचार

किसी अच्छी वस्तु मे उसी के सदृश नकली अथवा उसमे खप जाने वाली ह वस्तु मिलाकर देना, तत्प्रतिरूपक व्यवहार है।

किसी अच्छी वस्तु मे घटिया चीज का मिश्रण करना आज के व्यापारी ज मे आम बात हो गई है। कई व्यापारी नमूना बढिया चीज का दिखाते है और समय घटिया किस्म की चीज दे देते है। ग्राहक के साथ ऐसी धोखेबाजी करना ट बात हो गई हे। गेहूँ मे ककर, मसालो मे विभिन्न चीजें, काली मिर्च मे पपीते बीज, दवाइयाँ नकली घटिया किस्म की मिलाकर बेचना—सरासर अनाचार है। २ कभी भूल से ऐसा हो जाता है तो अतिचार है। पैसे कमाने के लिए इस प्रकार बेईमानी और धोखेबाजी करना चोरी है। जीरे मे रेत मिलाना, जूट या रुई मे पा घी मे वनस्पति घी, तेल मे नकली चीज, दूध मे पानी मिलाना चोरी नही तो ६ है ? श्रावक को अतिलोभ मे पडकर इस अप्रामाणिकता से बचने का प्रयत्न कर चाहिए। क्योंकि इससे श्रावक का सत्य और अस्तेय दोनो व्रत भग होते है।

परिवार, समाज और राष्ट्र मे इस प्रकार सावधान रहकर अस्तेयव्रत पालन किया जाय तो सर्वत्र सुख-शान्ति, सुव्यवस्था और आत्म-विकास हो सकता ह आप भी अस्तेयव्रत के प्रशस्त-पथ पर चलकर अपना कल्याण करें।

8

ब्रह्मचर्य की सार्वभौम उपयोगिता

☆

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके सामने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे प्रकाश डालूंगा। अस्तेयव्रत के बाद ब्रह्मचर्यव्रत का क्रम आता है। जिन दिनो दुनिया इस व्रत को जानती ही नही थी, उस प्रागैतिहासिक युग मे आज से लाखो वर्ष पहले हमारे ऋषि-मुनियो ने ब्रह्मचर्य का उपदेश किया था। उस युग मे भारतवर्ष के सिवाय दुनिया के शेष लोग जगलो मे नगधडग रहकर जीवन बिताते थे। पेड-पौधे, फल-फूल और पत्ते, झरने का पानी, हवा और सूर्य का प्रकाश ही उनका जीवन था। अधिकाश लोग कच्चा मास खाकर अपना जीवन यापन करते थे। उन दिनो भारतवर्ष सस्कृति और सभ्यता मे सिरमौर था। यहाँ के ऋषि-मुनि, योगी और यति, अहर्निश, ध्यान, मौन, योगाभ्यास, सयम, तप और त्याग के अनुष्ठान मे सलग्न रहते थे। उन्होने ब्रह्मचर्य को पहले स्वय अपनाकर, उसके महत्व, उपयोगिता और लाभ को स्वय अनुभव करके विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया था। जब से विश्व मे धर्म की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई, तभी से ब्रह्मचर्य का श्री गणेश हुआ।

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने धर्म के अगो मे ब्रह्मचर्य को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होने अपने ज्ञान और अनुभव के प्रकाश मे देखा कि ब्रह्मचर्य के बिना न तो साधु-जीवन की साधना हो सकती है, और न ही गृहस्थ-जीवन की साधना।

ब्रह्मचर्य के विचार के साथ आचार भी

भगवान ऋषभदेव ने जैन-परम्परा मे विचार के साथ आचार को समान रूप से जीवन मे उपयोगी माना। उन्होने बताया कि अगर कोई व्यक्ति उच्च विचार अपने मन-मस्तिष्क मे भरता रहे, किन्तु उसका कण भर भी आचरण न करे तो वह विचार बोझ रूप हो जाता है, परिग्रह हो जाता है। वह वन्ध्यविचार, जीवन की साधना के उत्तम फल को प्राप्त नही कर सकता। इसलिए ब्रह्मचर्य का विचार करने के साथ-साथ साधक को ब्रह्मचर्य के आचार को भी अपनाना चाहिए। ज्ञान एव विवेक हमारे गन्तव्य-पथ को प्रकाशित अवश्य कर देता है, किन्तु उस प्रकाशमान पथ पर हम

अपने चरण न बढाएँ तो लक्ष्य तक पहुँच नही सकेंगे। इसलिए ब्रह्मचर्य द्वारा उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके विचार और आचार दोनो को समान रूप से स्थान देना होगा।

ब्रह्मचर्य के बिना किसी भी साधना मे प्रगति नहीं

ब्रह्मचर्य के बिना योग, ध्यान, मौन, जप, तप आदि साधनाएँ नही हो सकती। योग-साधना मे वासना, कामना, आसक्ति और तृष्णा आदि बाधक तत्व है। इन क्षुद्र वृत्तियो को अपना कर कोई भी व्यक्ति योग साधना नही कर सकता। इसलिए जो व्यक्ति योग की साधना करना चाहता है, तथा उसके द्वारा अपने ध्येय को प्राप्त करने का इच्छुक है, उसके लिए सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य साधना आवश्यक है। इसीलिए यम-नियम आदि आठ अगो मे से पाँच यमो मे ब्रह्मचर्य को भी एक यम माना है। भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थंकरो ने आचार योग मे ब्रह्मचर्य को साधु के लिए महाव्रत के रूप मे और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप मे स्वीकार किया है।

किसी भी व्रत या नियम के पालन के लिए, धर्म की साधना के लिए, जप-तप की साधना के लिए या ध्यान आदि के लिए मन की पवित्रता आवश्यक है। और मन की पवित्रता ब्रह्मचर्य से आती है। मनुष्य का मन पवित्र नही होगा, इधर-उधर की वासना की गलियो मे भटकता रहेगा, तथा विविध वासनाओ एव इन्द्रियविषयो के आकर्षणो मे घूमता रहेगा तो उसमे एकाग्रता नही आएगी, वह विशृ खलित रहेगा। विशृ खलित मन किसी भी साधना को ठीक ढग से नही कर सकेगा। इसलिए शुद्ध साधना का सिंहद्वार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के बिना किसी भी साधना मे आगे गति नही हो सकती।

ब्रह्मचर्य के बिना मन व इन्द्रिय की शक्ति केन्द्रित नहीं

आपने देखा होगा कि रेलगाडी का इजिन भाप से चलता है। किन्तु भाप तो आपके घरो मे खिचडी बनती है, तब उसकी पतीली मे से बहुत निकलती है, क्या आप उससे इजिन चला सकते है ? कदापि नही। इजिन या स्टीमर जो चलते है, वे वाष्प की शक्ति से ही चलते है, पर किस वाष्प-शक्ति से वे चलते हैं ? जो वाष्प यत्र मे एकत्रित हो जाती है, उसी की शक्ति से वे चल सकते हैं। यदि वाष्प को वाष्पयन्त्र मे एकत्रित न की जाय और उसे हवा मे बिखरने दिया जाय तो उस बिखरी हुई भाप से इजिन या स्टीमर नही चल सकते। यही बात हमारी मन और बुद्धि की आन्तरिक शक्ति के सम्बन्ध मे है। यदि हम मन, बुद्धि, चित्त और हृदय की तथा मन के आदेश मे चलने वाली इन्द्रियो की शक्ति को केन्द्रित नही करते, उन्हे विविध विषयो मे भटकाते रहते हैं, तो उनकी शक्ति भी बिखर जायेगी। इन्द्रियो तथा मन आदि की बिखरी हुई शक्तियाँ, शक्तियाँ नही रहती, बल्कि वे शक्तियाँ नष्टभ्रष्ट हो जाती है। क्योंकि वे व्यर्थ चली जाती है। यदि उन्ही शक्तियो को सयम मे रखा

जाय तो उनसे बहुत अद्भुत और महान् कार्य हो सकते हैं, स्वपरकल्याण के। मन और इन्द्रियों पर तथा अन्तःकरण पर संयम ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा ही हो सकता है। इसीलिए आचारांगसूत्र और ऋग्वेद जैसे प्राचीन धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचर्य का विस्तारपूर्वक उल्लेख मिलता है।

वर्तमान युग में ब्रह्मचर्य अनिवार्य हो

कई व्यक्ति सीधा ही यह आक्षेप करते हैं कि ब्रह्मचर्य की जरूरत ही क्या है? यह तो इन्द्रियों और मन की स्वतन्त्रता पर ताला लगाना है, मन, बुद्धि और इन्द्रियों को स्वतन्त्र रूप से विचरण करने से रोकना तो उनके विकास को रोकना है। कुछ मानसशास्त्रियों का मत है कि "ब्रह्मचर्य इच्छाओं का दमन है और इच्छाओं के दमन से आदमी विक्षिप्त हो जाता है। बलपूर्वक रोकी हुई मन और इन्द्रियों की वासना द्विगुणित वेग से उछलती है। परन्तु यह सब भ्रान्ति है।

ये संकट अब्रह्मचर्य की ही देन हैं

आज देश एवं समाज में यत्र-तत्र रोग, शोक, दुःख, अकाल, मृत्यु, दरिद्रता आदि संकट उपस्थित हो रहे हैं, वे सब अब्रह्मचर्य, असंयम या वीर्यनाश की देन हैं, वे ब्रह्मचर्य के कारण नहीं हैं। आज अश्लील सिनेमा, नाटक, अश्लील चित्र, गलत खान-पान, गलत रहन-सहन एवं अत्यधिक भोगविलास में इन्द्रियों और मन की शक्ति का अपव्यय किया जा रहा है। बेकार वस्तु की तरह वीर्य का नाश किया जा रहा है। विषयभोग को खुले आम छूट दी जा रही है, उसके परिणाम तो हम देख ही रहे हैं, बहुत ही दुर्बल, क्षतवीर्य बालक-बालिकाओं का जन्म, असमय में ही वृद्ध बने हुए युवक-युवतियाँ अनेक रोगों के शिकार बने हुए लोग!

मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या ये दुष्परिणाम ब्रह्मचर्य की देन हैं? आप कहेंगे कि नहीं, ये सब दुष्परिणाम इन्द्रियों और मन को खुली छूट देने के हैं। ये बुरे नतीजे इन्द्रियों और मन को नियन्त्रण में न रखने और उन्हें स्वच्छन्दतापूर्वक विषयों के दलदल में फँसाने के हैं।

आज हम देख रहे हैं कि कई युवकों और युवतियों की आँखें कमजोर हैं, गाल पिचके हुए हैं, चेहरा मुर्झाया हुआ है, जब देखो तब किसी न किसी बीमारी का आक्रमण उनके शरीर पर होता रहता है, आए दिन सिर में दर्द रहता है, असमय में ही बुढ़ापा आकर उन्हें घेर लेता है, उनकी कमर झुक जाती है। यह सब क्या ब्रह्मचर्य की है या अब्रह्मचर्य की? याद रखिये, ये सब खुराफातें अब्रह्मचर्य—इन्द्रिय-मन पर असंयम—की हैं। इसलिए स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य या इन्द्रियसंयम व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अत्यन्त हितकारी है। यह भ्रम है कि ब्रह्मचर्य रखने से मनुष्य की वासना द्विगुणितवेग से उछलती है, बल्कि वासना सेवन से ही वासना अविच्छिन्न भड़कती है, शान्त नहीं होती। इस बात की साक्षी मनुस्मृति का यह कथन है—

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात्—कामवासनाओ के उपभोग करते रहने से कामवासना कदापि शान्त नही होती। आग मे घी डालते रहने पर आग शान्त नही होती, बल्कि बार-बार अधिकाधिक भडकती रहती है।

वर्तमान युग की एक देन और है—आजकल के युवको मे किसी भी अच्छे कार्य को करने का उत्साह बहुत कम पाया जाता है थोडा-सा परिश्रम का कार्य करते ही थकान आ जाती है, हॉफने लगते है, किसी भी नये कार्य को करने का प्राय साहस नही होता, जरा-सी विघ्नबाधा से, जरा-सी विपत्ति से या जरा-से भय दिखाने मात्र से वे घबरा उठते हैं। किसी भी विपत्ति, सकट या कष्ट का सामना करने को सहस तैयार नही होते। जरा-सी सर्दी, गर्मी या वर्षा अधिक हुई कि उनका स्वास्थ्य बिगड जाता है, किसी भी कष्ट को अधिक बर्दाश्त करने की उनमे शक्ति नही होती। कष्ट देखते ही दूर से पलायन करने लगेंगे, खतरा उपस्थित हो जाने पर हृदय की धुकधुकी बढ जाएगी, कई दफा भय के मारे उनका ब्लडप्रेशर बढ जाएगा। क्या ये सब मानसिक एव शारीरिक दुर्बलताएँ ब्रह्मचर्य की देन है ? नही, ये सब अमर्यादित अब्रह्मचर्य की देन हैं।

और फिर आजकल विद्यार्थियो की स्मरणशक्ति अत्यधिक दुर्बल होती जा रही है। आज याद किया हुआ पाठ, दूसरे दिन प्राय भूल जाते है। अथवा उनकी यह शिकायत रहती है कि पाठ याद नही होता, पढने मे मन नही लगता। बात-बात मे माता-पिता से लडने-झगडने को तैयार हो जाते हैं, अपने प्रिय अध्यापको से भी कलह करने और उन पर प्रहार करने को आमादा हो जाते है।

माता-पिता की प्राय अपने लडको के विषय मे यह शिकायत रहती है कि वे उनकी आज्ञा का पालन नही करते, जब देखो तब इधर-उधर आवारा फिरते रहते हैं, ऐसे ही दुर्व्यसनियो की टोली मे मटरगश्ती करते रहते है, उनके न तो खाने-पीने की कोई मर्यादा है, न धर्म और सस्कृति का कोई विचार है। सिनेमा के लिए बार-बार माता-पिता से आग्रह करके पैसा ले जाएँगे। परन्तु पढने-लिखने के नाम पर बारह बजे रहते हैं। जब परीक्षा आती है, तब प्राय नकल करके या तिकडमबाजी करके पास हो जाते है।

माता-पिता कहलाने वाले भी प्राय यह नही समझते कि जब हम मे कमाने या भरणपोषण करने की अधिक शक्ति नही है, तब अधिक सन्तान क्यो पैदा की जाए किन्तु वीर्य की शक्ति न पहिचान कर उसे अन्धाधुन्ध विषय-भोगो मे खर्च की जा रही है, उसी मे आनन्द माना जा रहा है ? ऐसा करने से जब अधिक सन्तान उत्पन्न हो जाती है और आर्थिक बोझ बढ जाता है, तब उनकी आँखें खुलती हैं, तब वे घबराते हैं और रो-रोकर, कर्जदारी करके जिंदगी बिताते हैं। अब आप स्वय सोच सकते

है कि ब्रह्मचर्य से दु ख है या अब्रह्मचर्य से ? मैथुन त्याग मे सुख है अथवा मैथुन सेवन मे ?

ब्रह्मचर्य की महत्ता को समझो

विदेशी लोग भले ही ब्रह्मचर्य की महत्ता न समझने के कारण पाचो इन्द्रियो के विषय-भोग मे ही आनन्द मानते हो, यद्यपि वहाँ के लोगो की भी अब आँखें खुलने लगी है और वे पाचो इन्द्रियो के भोगो से इतने ऊब गये है, शरीर निचुड जाने के कारण इतने सन्तप्त हो गये है, कि कई लोग आत्महत्या करने पर उतारू हो जाते है, कई हिन्दुस्तान के योगियो, ऋषि-मुनियो एव सन्यासियो की शरण मे आकर सुखशान्ति का रास्ता पूछते है। किन्तु भारतवासी लोगो को तो ऋषि-मुनियो के द्वारा ब्रह्मचर्य का उत्तम मूलमत्र वरदान रूप मे मिला है, उसे पाकर भी वे इसे आँखो से ओझल क्यो कर देते है ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि रत्न पाकर भी वे इसे पामर जीव की तरह फेंक देते है और उसके बदले काच को उससे चमकीला समझ कर ग्रहण कर लेते है। हिन्दुस्तान के लोगो को तो यह विचार करना चाहिए। भारत के महान् ऋषि-मुनियो ने ब्रह्मचर्य रूप चिन्तामणिरत्न पाकर जगत् के समक्ष महान् आदर्श प्रस्तुत कर दिया है कि विषय-भोगो से मनुष्य का जीवन सुखी नही हो सकता, ब्रह्मचर्य ही सुख-शान्ति का मार्ग है, सर्वेन्द्रियसयम ही कल्याण का पथ है, स्वेच्छा से मनोनिग्रह या वासना नियत्रण ही रोग-शोक-दु ख निर्बलतानाशक है, स्वस्थता एव आत्मशक्ति का प्रदाता है। यह समझ-बूझकर भी विषय-भोगो मे सुख मानना, वीर्य को व्यर्थ ही बहाने मे आनन्द मानना कितनी घोर मूर्खता व अज्ञान है।

विषय-भोगो मे आनन्द कहाँ ?

एक भावुक भक्त एक सन्यासी के पास गया और उनसे धन की याचना की। सन्यासी ने कहा—'मेरे पास कुछ भी नही है।"

भक्त ने बहुत आग्रह किया—"किसी भी तरह से आपको मेरी दरिद्रता दूर करनी पडेगी।" सन्यासी बोले—"अच्छा जाओ, सामने नदी के तट पर जो पत्थर पडा है, उसे उठा ले आओ।" वह गया और उस पत्थर को उठा लाया। सन्यासी ने उससे कहा—'यह पारसमणि है। इससे लोहा सोना बन जाता है।" यह सुनकर भक्त बहुत प्रसन्न हुआ और सन्यासी को प्रणाम करके वहाँ से चल पडा। कुछ दूर जाने पर उसे विचार आया कि यदि पारसमणि ही सबसे श्रेष्ठ और आनन्ददायक होता तो वह सन्यासी इसे क्यो छोडता ? सन्यासी के पास इससे भी उत्तम कोई चीज है, जो उन्हे अधिक आनन्द देती है।" वह लौटकर वापस आया और सन्यासी से कहने लगा—"बाबा ! मुझे वह चीज दो, जिसे पाकर आपने अधिक आनन्द पाया और इस पारसमणि को ठुकरा दिया।"

पारसमणि को ठुकराने की शक्ति किसी भौतिक सत्ता मे नही होती, अध्यात्म

ही एक ऐसी सत्ता है, जिसकी दृष्टि मे पारसमणि का पाषाण से बढकर कोई मूल्य नही है।

कामभोग को आप पारसमणि मान लें, क्योकि भौतिक जगत् मे वह अच्छी चीज मानी जाती है, लेकिन वह आध्यात्मिक जगत् की दृष्टि से दुनिया मे सर्वश्रेष्ठ एव सर्वाधिक आनन्ददायी साधन नही है। सर्वाधिक आनन्ददायी एव सर्वश्रेष्ठ साधन तो ब्रह्मचर्य है, जिसे सन्यासी ने ग्रहण कर रखा था। जिसके लिए उपनिषदो के ऋषियो ने गाया—'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।' ब्रह्म को हमने आनन्दमय अनुभव कर लिया है। यदि ब्रह्मचर्य आनन्दमय नही होता तो हमारा जीवन बुझी हुई ज्योति जैसा होता। हमारी समग्र चेतना मे आनन्द का सागर लहरा रहा है, हमारे मन बुद्धि चित्त, हृदय एव समस्त इन्द्रियो मे आनन्द की अभिव्यक्ति हो रही है। परन्तु हमारा मन आनन्द की खोज मे बाहर भटक रहा है। कस्तूरी मृग की नाभि मे कस्तूरी होती है, किन्तु वह कस्तूरी की खोज मे इधर-उधर मारा-मारा फिरता है, यही दशा आज भौतिकवादियो की हो रही है, जो चाहते स्थायी आनन्द हैं, असीम सुख की जिन्हे वाञ्छा है, किन्तु वे असीम सुख या परम आनन्द-स्रोत ब्रह्मचर्य को (जो स्वय के पास है,) न अपना कर विषयो के उपभोग मे, स्वच्छन्द वासना सेवन मे, अपने अमूल्य वीर्य को लुटा कर स्थायी आनन्द एव सुख की आशा रखते हैं। विषयो की अनुभूति मे जो सुख है, वह असीम नही है तथा शारीरिक-मानसिक अनिष्ट के परिणामो से मुक्त नही है। शास्त्रीय शब्दो मे कहे तो—

'खाणी अणत्थाण हु कामभोगा,'

कामभोग क्षणिक एव अनर्थों की खान है। उनमे आनन्द कहाँ?

चिन्तामणि रत्न से गाजर-मूली खरीदना मूर्खता

एक चरवाहे को गायें चराते-चराते एक जगह एक चमकीला पत्थर मिल गया। वह उस चिन्तामणि रत्न को पत्थर समझ कर बाजार से कई दिनो की सडी-गली गाजर-मूली खरीद लेता है। क्या चिन्तामणिरत्न का उपयोग केवल गाजर-मूली खरीदना ही है कि मनोवाञ्छित वस्तुओ को पाना? उसका यथार्थ उपयोग अपने मन के सकल्पो और उद्देश्य को पूर्ण करना है। परन्तु मूर्ख इस बात को नही समझता। उसने चिन्तामणिरत्न की वास्तविक कद्र नही की, उसका मूल्याकन वह नही कर सका।

मानव-जीवन भी चिन्तामणिरत्न के तुल्य है। आपको जो मनुष्य-जीवन मिला है, वह इतना सुन्दर, बल-बुद्धि आदि गुणो से परिपूर्ण मिला है कि उससे आप लौकिक एव लोकोत्तर सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते है, जितना ऊँचा उठना चाहे, उठ सकते है। इस जीवन के द्वारा समस्त लौकिक सुख-समृद्धि एव लोकोत्तर आध्यात्मिक समृद्धि प्राप्त की जा सकती है। इतना शानदार उन्नत एव श्रेयस्कर जीवन बनाया जा सकता है कि उससे यहाँ भी आनन्द और जन्म-जन्मान्तर मे भी आनन्द प्राप्त किया

जा सकता हे। ऐसे महान् एव अनमोल जीवन को वासना-पूर्ति मे व्यय कर देना, विपय-भोगो को पाने मे लुटा देना, आचार्य की दृष्टि मे वैसी ही महामूर्खता है, जैसी चिन्तामणिरत्न को गाजरमूली के वदले दे डालने वाले चरवाहे ने की। चिन्तामणि देकर बदले मे गाजरमूली लेकर पेट भरना कोई बुद्धिमानी नही है, तथैव मानव-जीवन पाकर विषय-वासना मे लिप्त रहना भी बुद्धिमानी नही है। यदि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य भोगो मे ही लिप्त रहना और सासारिक विपय-वासनाओ मे रचे-पचे रहकर जीवन को वर्बाद कर देना है तो फिर पशु-जीवन से मानव जीवन मे क्या विशेपता रही ? फिर 'दुल्लहे खलु माणुसे भवे' कहकर शास्त्रो ने मानव-जीवन की महिमा का गुणगान क्यो किया है ? सासारिक वासनाओ की पूर्ति तो पशु-पक्षी, कीट-पतग आदि सभी करते है, मनुष्य मे कुछ विशेपता होनी चाहिए। इसीलिए ऋपि मुनियो ने अन-मोल एव दुर्लभ मानव-जीवन को विपय-वासनाओ की पूर्ति मे न लगाकर ब्रह्मचर्य के द्वारा जीवन को शानदार एव उन्नत बनाने का सकेत किया है।

ब्रह्मचर्य जीवन-अमरत्व की साधना

महापुरुषो ने ब्रह्मचर्य को जीवन और अब्रह्मचर्य को मृत्यु कहा है। ब्रह्मचर्य अमृत है, और अब्रह्मचर्य या वासना पर असयम विप है। ब्रह्मचर्य अनुपम सुख शान्ति का मूलस्रोत है, जवकि वासना अशान्ति और दुःख का अपार सागर है। ब्रह्मचर्य आत्मा का शुद्ध प्रकाश है, जवकि वासना कालिमा है। ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व एव विनय का मूल है, जवकि अब्रह्मचर्य अज्ञान, भ्रान्ति, अश्रद्धा, अविनय, भोग और रोग का मूल हे।

ब्रह्मचर्य द्वारा सोने की खेती करो

मनुष्य का शरीर इतना मूल्यवान है कि उससे स्वर्ण की खेती हो सकती है, हीरे और जवाहरात भी उत्पन्न किये जा सकते है। किन्तु बचपन मे जब तक वासनाएँ पैदा नही होती, तब तक वह उसका यथोचित विकास कर लेता है, शरीर और मन स्वस्थ सुडौल, सुन्दर और उन्नत बन जाते है, किन्तु यौवन काल आते ही सारा [illegible] वासना के चक्र मे पड जाता है, उसके शरीर का ओज और तेज रिसरिस कर समाप्त होने लगता है। अकाल मे वृद्धावस्था बीमारी आ धरती है। सैकडो बीमारियाँ उसके शरीर मे अड्डा जमा लेती है। इस प्रकार वासनाओ और विकारो मे ग्रस्त शरीर का ह्रास हो जाता है। तब वह न तो भोग के योग्य रहता है, न योग साधना के योग्य ही रह जाता है। कच्ची उम्र मे भोग के द्वारा जिसका शरीर निचुड गया है, वह क्या खाक योग का अभ्यास करेगा, क्या त्याग और वैराग्य को जीवन मे अपना-एगा ? जिस भोग के लिए उसने तन को गला दिया, उस भोग की उपलब्धि भी उसमे नही हो पाती।

इसलिए ब्रह्मचर्य एक ऐसी साधना है, जिससे तन भी शक्तिशाली बनता है, मन भी बलवान बनता है और आत्मा भी बलवान बनती है। ब्रह्मचर्य अन्दर और

बाहर दोनो साधनो को ठीक रखता है। जब बाहर के साधन खोखले हो जाते हैं, तब अन्दर के साधन भी काम नही देते, न पवित्र एव ऊँचे विचार आते है, न वाणी ही वजनदार होती है, न आचरण के क्षेत्र मे ही चरण बढते हैं। जीवन सूना-सूना और भारभूत लगने लगता है, ब्रह्मचर्य के अभाव मे। इसलिए मानव शरीर वासनाओ की आग मे झौककर नष्ट कर देने के लिए नही, विवेक भ्रष्ट होकर विकारो के उत्पथ पर दौडने के लिए भी नही है, *अपितु सर्वेन्द्रिय-सयम के द्वारा उत्तमोत्तम आत्मगुणो* का उपार्जन करने के लिए है। यही सोने की खेती है।

सौन्दर्य का मूल ब्रह्मचर्य

मनुष्य कामिनी का रूप-सौन्दर्य निहार कर उसमे लुब्ध हो जाता है, कई दीवाने तो रूप पर पतगे के समान अपना सर्वस्व होम देते हैं। उनके पल्ले कुछ भी नही पडता, प्रत्युत वे अपने ही रूप, सौन्दर्य, मनोबल, इन्द्रियबल को खो बैठते हैं अपने ही हाथो से अपने सौन्दर्य मे आग लगा देते हैं।

आकाश मे काले-कजरारे बादल मडरा रहे है। सन्ध्या की सुहावनी वेला है। सूर्य अपनी मन्द-मन्द किरणो के साथ विहँसता हुआ अस्ताचल की ओर गमन कर रहा है। ऐसे समय मे आकाश मे तना हुआ इन्द्रधनुष कितना सुन्दर लगता है ? ऐसा लगता है, मानो आप अपलक दृष्टि से उसे नीहारते ही रहे।

शीत ऋतु है। खेतो मे गेहूँ के हरे-भरे पौधे लहलहा रहे हैं। इधर मेघगर्जन भी हो रहा है। उधर हरी-हरी दूब पर ओस की बूंदें टपक रही है, मानो मुक्ता-कण हो।

वसन्तऋतु है। वन मे विविध प्रकार के वृक्षो से वनराजि सुशोभित हो उठी है। लतामण्डप विकसित हो रहे हैं। फुलवाडी मे रगविरगे फूल खिल उठे है। केवडा गुलाब, मोगरा, चम्पा, चमेली, जाई, जूही आदि मनभावने फूलो की सुगन्ध ने प्रकृति के वातावरण मे मादकता भर दी है । प्रकृति रूपी रमणी ने अपनी अद्‌भुत छटा और लावण्य चारो और बिखेर दिया है।

ये सब सौन्दर्य के स्रोत हैं, परन्तु इन्हे देखने के लिए आँखें ही न हो तो ? आँखें तो हो, किन्तु वैसा मानस न हो तो ? नेत्र और मानस तो हो, लेकिन यदि सौन्दर्य-निरीक्षण की रस वृत्ति कुण्ठित हो तो ? चित्त-वृत्ति मनहूस-सी बनी हुई हो, उसमे प्रसन्नता न हो, अथवा आत्मा के पास उसे देखने की सूक्ष्म दृष्टि न हो तो ? कहना होगा कि इन वस्तुओ के अभाव मे प्रकृतिनटी का सारा सौन्दर्य व्यर्थ होगा।

निष्कर्ष यह है कि सौन्दर्य का मूल-स्रोत चेतना की स्वस्थ सूक्ष्म दृष्टि है, जो ब्रह्मचर्य से ही उद्‌भूत होती है। ब्रह्मचर्य के अभाव मे न तो आंखो मे देखने का तेज होगा, न मन की दिव्य पैनी आखें होगी, न चित्तवृत्ति ही इतनी सजग, स्वस्थ और प्रसन्न होगी, और न आत्म-शक्ति ही होगी।

एक सुन्दर, गौरवर्ण स्वस्थ एव हृष्टपुष्ट नवयुवक था। उसके बाल घुघराले थे। मनमोहक वस्त्र पहने हुए, गर्दन मे नेकटाई लगाये हुए था। उसे अपनी सुन्दरता पर अत्यन्त गर्व था।

एक दिन एक दार्शनिक ने उससे पूछा—'क्या तू बता सकता है कि तेरा इतना सौन्दर्य, इतना स्वस्थ, सुडौल शरीर किस कारण से है ? इतनी सुन्दर, स्वस्थ एव बलिष्ठ काया मे से यदि आत्मा निकल जाए तो क्या तेरा यह सौन्दर्य टिका रहेगा ?"

युवक इसे सुनकर क्षणभर विचार मे पड गया। उसने कहा—"फिर तो यह सब खेल बिखर जाएगा ? न सौन्दर्य रहेगा और न ही स्वस्थता और बलिष्ठता। मैं जिस शरीर सौन्दर्य पर इतना गर्व कर रहा हूँ, वह तो सिर्फ हड्डियो का ढाचा और मास का ढेर है। उसमे सौन्दर्य आदि की अभिव्यक्ति का स्रोत तो आत्मा ही है। उस सौन्दर्यमय आत्मा के दर्शन तो ब्रह्मचर्य के पालन से ही हो सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि परिवार, सन्तान, समाज एव राष्ट्र को स्वस्थ, सशक्त एव उत्साही बनाए रखने के लिए वर्तमान युग मे ब्रह्मचर्य की बहुत आवश्यकता है।

ऋषि-मुनियो द्वारा ब्रह्मचर्य का विधान

ऋषि-मुनियो ने ब्रह्मचर्य की प्रेरणा उस समय के समाज को इसलिए दी कि पशुओ मे भी प्राय ऋतुकाल के सिवाय अन्य समय मे मैथुन (अब्रह्मचर्य) क्रिया नही होती, किन्तु मनुष्य होकर भी अगर ब्रह्मचर्य मर्यादा को स्वीकार न करे तो फिर मनुष्य और पशु मे क्या अन्तर रहा ? वर्तमान युग मे मनुष्य वासना सेवन मे पशुओ को भी मात कर गया। प्राकृतिक मर्यादाओ को ठुकरा कर वह जब भी इच्छा हो, उच्छृखल रूप से भोग वासना मे प्रवृत्त हो जाता है इसलिए कहना होगा कि मनुष्य आज इस बारे मे अज्ञानी पशुओ से भी बाजी मार गया है। ऐसे लोगो को मनुष्य केवल सूरत-शक्ल से भले ही कह दिया जाय, परन्तु मनुष्य के लक्षणो से मनुष्य कहना व्यर्थ है। पशुओ की अपेक्षा उनमे शरीर रचना के सिवा कौन-सी विशेषता रही ? इसीलिए नीतिकारो ने, आयुर्वेदशास्त्रियो ने, धर्म-शास्त्रो ने और ऋषि-मुनियो ने मनुष्य के लिए ब्रह्मचर्य का विधान किया।

प्राणिमात्र मे मानव श्रेष्ठ है। क्योकि अन्य प्राणी तो प्राय निसर्ग के अधीन है, जबकि मानव चाहे तो प्रकृति को भी अपने अधीन कर सकता है। वर्तमान युग का मानव अनेक वैज्ञानिक उपलब्धियो के कारण प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है, करता जा रहा है। वर्तमान युग की विकृतियो और प्रबल कामवासना के वातावरण को देखते हुए मानव को प्रकृति का गुलाम न बनकर ब्रह्मचर्य या सर्वेन्द्रिय-सयम के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

इसलिए भारतीय ऋषि-मुनियो ने इस बात का जोरशोर से प्रतिपादन किया कि ब्रह्मचर्य मानवीय सस्कृति का मूलभूत प्रश्न है। भारतीय समाज ने केवल 'सन्ताना

र्थाय मैथुनम्' की बात क्षम्य मानी थी, लेकिन आज यदि ऐसी विकृत सन्तान की आवश्यकता नही है तो ब्रह्मचर्यव्रत का खण्डन क्षम्य नही माना जाना चाहिए, उसे अपराध समझा जाना चाहिए तभी वर्तमान मानव समाज उत्तम होगा, आत्मशक्ति सम्पन्न होगा। क्योकि अब्रह्मचर्य के साथ अनेक अपराध, दोष अथवा शास्त्रीय भाषा मे कहूँ तो अधर्म जीवन के साथ चिपक जाते हैं। उदाहरणार्थ—ब्रह्मचर्य खण्डित करने वाले व्यक्ति द्वारा स्त्रीयोनि मे ९ लाख जन्तुओ की उत्पत्ति मैथुन सेवन से होती है। एक-दो के सिवाय बाकी के प्राय नष्ट हो जाते है, इसलिए हिंसा का दोष तो है ही। आत्मभाव को छोडकर इन्द्रियादि विषय रूपी विभाव मे रमण करना असत्य होने से असत्य का दोष भी है। शारीरिक, मानसिक पतन, दुर्बलता, धातुक्षय, कई दु साध्य रोग आदि से अपने शरीर के सत्व को नष्ट करना भी पाप है, अधर्म है। अब्रह्मचर्य सेवन से व्यक्ति कामी, क्रोधी, लोभी, द्रोही, स्वार्थी आदि अनेक दोषाक्रान्त बन जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि आपने अब्रह्मचर्य को क्यो छोड दिया ? तो उन्होने निम्नोक्त उद्गार व्यक्त किये—

मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सय।
तम्हा मेहुणससग्ग निग्गथा वज्जयति ण ॥[1]

—इन्द्रियो का असयम (अब्रह्मचर्य) अधर्म का मूल है। अब्रह्मचर्य महान् दोषो का उत्पत्ति स्थान है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधक अब्रह्मचर्य (मैथुन) का त्याग करते है।

एक बात निश्चित है कि जहाँ ब्रह्मचर्य से स्खलित होने की बात आती है, वहाँ असत्य, दम्भ, द्रोह, मोह, जड एव भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण, अहर्निश भोगो का चिन्तन आदि जीवन मे एक बार तो आए बिना नही रहते। मुनि रथनेमि गिरनार पर्वत की गुफा मे ध्यानस्थ थे, किन्तु वर्षा से वस्त्र भीग जाने के कारण उन्हे सुखाने के लिए सती राजीमती भी अनजाने उसी गुफा मे जब प्रवेश करती है और अपने गीले वस्त्रो को उतारकर सुखाने लगती है, तभी राजीमती के अगोपाग देख कर रथनेमि का मन चलायमान हो जाता है। राजीमती से वह मुनिदीक्षा छोडकर ब्रह्मचर्य को तिलाजलि देकर कामभोग की तृप्ति के लिए प्रार्थना करता है, उस समय राजीमती साध्वी अपने अगोपाग वस्त्रावृत करके कहती है—

"जिन भोगो को तुच्छ समझकर तुमने वमन कर दिया था, उन्हे ही पुन अगीकार करने—अर्थात् अब्रह्मचर्य को अपनाने से तो अच्छा है, तुम मृत्यु को स्वीकार कर लो। यो तुम जिस किसी नारी को देखकर विकारग्रस्त हो जाओगे तो वायु के झोंके से प्रेरित हड नामक वनस्पति की तरह, तुम्हारी आत्मा भी हरदम अस्थिर, अशान्त, उद्विग्न रहेगी। तुम्हे शान्ति नही मिल सकेगी।"

---

१ दशवैकालिक सूत्र ६

मुनि रथनेमि ने जो अब्रह्मचर्य की प्रार्थना की उसमे असत्य, दम्भ, चोरी (जिनाज्ञा की चोरी), हिंसा, समाज द्रोह, शरीर एव भोगो के प्रति मोह आदि अनेक अधर्म थे। जीवन मे फिर अनेक शारीरिक-मानसिक विकार एव दोप पैदा होते। इसलिए अब्रह्मचर्य को अधर्म का मूल एव अनेक दोपो का आश्रम (स्थान) कहा गया है।

मानव समाज को स्वस्थ, स्वच्छ एव वीतराग भगवान् के निवास के योग्य बनाना है तो रूस के महर्पि टाल्सस्टाय के अनुभव युक्त कथनानुसार ब्रह्मचर्य को स्वाभाविक और अब्रह्मचर्य को अस्वाभाविक माने विना कोई चारा नही ह।

अहिंसा एव सत्य के पालन के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक

यह वात भी निश्चित ह कि अहिंसा-सत्य के पालन मे ब्रह्मचर्य प्रवल साधन है। शास्त्रीय भापा मे कहूँ तो जिसने एक ब्रह्मचर्यव्रत की आराधना कर ली, उसने सभी उत्तमोत्तमव्रतो की आराधना की है, ऐसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है[1] एक ब्रह्मचर्यव्रत के भग होने पर दूसरे प्राय सभी व्रतो का भग हो जाता ह।)इसलिए निपुण साधक को अहिंसा, सत्यादि व्रतो की सम्यक् साधना के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का सदा आचरण करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि काया, वाचा और मन से अहिंसा का पूर्ण पालन करना हो तो विना ब्रह्मचर्य के वह सभव नही है। अहिंसा-पालन का अर्थ है—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारो से रहित होना। अगर ब्रह्मचर्य का रूढ और सकुचित अर्थ लें तो भी, उसके पालन के लिए पुरुप को मन से स्त्रीविपयक विकार और स्त्री को पुरुपविपयक विकार नष्ट करना होगा। स्त्रीविपयक या पुरुपविपयक विकार भी साधारण विकार न समझें, वह भयकर ह, महान् मोह, मूर्च्छा है। इस विकार मे फँसने वाले विवेकहीन हो जाते ह। इसलिए स्थूल अर्थ मे भी ब्रह्मचर्य का भग होना, अहिंसा का भग है।

सयम और तप अहिंसा भगवती के दो चरण ह। सयम और तप के विना अहिंसा का सुचारूरूप से पालन दुष्कर है। इसलिए अहिंसा का एक अर्थ है—वाह्य और आन्तरिक सयमवृत्ति। इसमे देहासक्ति क्षीण होती ह। अहिंसा का फलितार्थ भी देहासक्ति का क्षीण होना है। ब्रह्मचर्य का अर्थ भी सयम की पराकाष्ठा ह। ब्रह्मचर्य सयम अर्थ मे प्रसिद्ध भी है। इसलिए सयमवृत्ति का ह्रास या देहासक्ति होना अब्रह्मचर्य है और वह हिंसा भी है।

अहिंसा का विधेयात्मक अर्थ—अनासक्त प्रेम भी ह। आसक्ति युक्त प्रेम मदु-

चित होता है, जबकि आत्मसवित युक्त प्रेम व्यापक। पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन आदि कुटुम्बियों में प्रकट होने वाला प्रेम अनासक्त होता हो, ऐसा एकान्त नहीं है। इस प्रेम में अनासक्ति न होने पर भी विशदता-पवित्रता पाई जाती है। कुटुम्ब के सदस्यो जैसी प्रेम की उत्कटता प्राय सेवकों या साधकों में नहीं पाई जाती। उस कमी को दूर करना उनका कर्तव्य है। उत्कटता की दृष्टि से कौटुम्बिक प्रेम आदर्श है, पर उसमे निहित आसक्ति त्याज्य है। अहिंसा मे अनासक्ति और प्रेम दोनो समान रूप से उत्कट होने चाहिए। ये दोनों चीजें जिसने साध ली, वह स्वात्माराम है, आत्मतृप्त है या आत्मसन्तुष्ट है। ब्रह्मचर्य जहाँ होगा वहाँ ये चीजें अवश्य होनी चाहिए।

लेकिन जिसकी वासना पचेन्द्रिय विषयो मे फसी हुई है, उसके पीछे काम, क्रोध, लोभ, भय, तृष्णा आदि विकार लगे ही रहेंगे। ये विकार उसका पीछा नहीं छोड़ेंगे। विषयो के प्रति आसक्तिमूलक सम्बन्ध के कारण क्रमश विषयो का चिन्तन, आकर्षण, लालसा, तृप्ति मे भोग का लोभ, अतृप्ति मे क्रोध, क्रोध से मूढता, मूढता से स्वात्मज्ञान का लोप होता है। फिर इससे कार्याकार्य-विवेक शक्ति का नाश—बुद्धि-नाश हो जाता है।

इसी प्रकार विकार सेवन हुआ, वहाँ सत्यनिष्ठा समाप्त हो जाती है। जहाँ सत्य है, वहाँ काम आदि विकार (अब्रह्मचर्य) रह नही सकता। जिन्हें विकारो को क्षीण करना है, वहाँ विकारो का सेवन या विकारो के गुलाम बनकर रहना कैसे सम्भव है? जिन्हे सत्य-दर्शन करना है, उन्हे निर्विकार होना है। अर्थात् उनके जीवन मे ब्रह्मचर्य—सर्वेन्द्रियसयम स्वाभाविक होना चाहिए।

जहाँ सत्य की आराधना मे ही सारी प्रवृत्तियाँ और सारी जिन्दगी रग गई हो, वहाँ विषयवृत्ति, विषयेच्छा, विषयवासना या विषयभोग कैसे हो सकता है? विषयोपभोग नियन्त्रित होता है—सर्वेन्द्रिय-सयम—ब्रह्मचर्य से। अत विषयोपभोग मे रत व्यक्ति सत्य का दर्शन कदापि नही कर सकता। सत्य की प्रेरणा सयम या निर्विकारता की ओर रहती है। असयम या विकार विषयो के अधीन होने से पैदा होता है। इसलिए सत्य की आराधना के लिए भी ब्रह्मचर्य-आराधना आवश्यक है। सत्य, अहिंसा दोनो व्रतो का ब्रह्मचर्यव्रत से मेल है। एक व्रत का पालन दूसरे व्रत के पालन पर अवलम्बित है। एक के पालन के बिना दूसरे का यथार्थ पालन नहीं हो सकता। अत अहिंसा-सत्य के यथार्थ पालन के लिए ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है।

चारों आश्रमो की नींव · ब्रह्मचर्य

भारतीय सस्कृति मे ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण स्थान इसलिए दिया गया है कि यह चारो आश्रमो की नीव है। चारो आश्रमो मे ब्रह्मचर्य को न्यूनाधिक रूप मे आराध्य-साध्य बताया है। चार आश्रमो मे ब्रह्मचर्य को निहित करके भारतीय तत्त्व-

चिन्तको ने ब्रह्मचर्य को समग्र समाजव्यापी बनाने का पुरुषार्थ किया है। भारत के धर्म-विचार मे इसका व्यवस्थित रूप से आयोजन किया गया है। मनुष्य-जीवन मे सबसे प्रथम महत्त्वपूर्ण काल=अध्ययनकाल होता है। इसमे गुरु-निष्ठा, सस्कार-निष्ठा और अध्ययननिष्ठा, तीनो होनी जरूरी है। इन तीनो निष्ठाओ के लिए ब्रह्म-चर्य आवश्यक माना गया है। बाल्यकाल से ही जन्मघुटी मे बालक को ब्रह्मचर्य की तालीम मिल जाय तो उसके भावी जीवन का निर्माण भली-भाँति हो सकता है। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम सर्वप्रथम और आवश्यक माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य है—मनुष्य-जीवन के प्रारम्भ मे जीवन को अच्छी खाद मिले।

आपने देखा होगा, जब तक वृक्ष छोटा होता है, तब तक उसकी सुरक्षा के लिए उसे अधिक खाद की जरूरत होती है। किसान अच्छी और उन्नत खेती के लिए अच्छी से अच्छी खाद देता है। पर्याप्त खाद देने पर थोडी-सी भूमि मे अधिक से अधिक अनाज आदि पैदा हो जाता है। अच्छी और ठीक समय पर दी हुई खाद से दो-तीन तोले वाले टमाटर भी सेर-दो सेर तक के भी पैदा किये जाते है। अगर ठीक समय पर अच्छी खाद न दी जाए तो अधिक भूमि मे भी अच्छी फसल लह-लहाती हुई नजर नही आएगी।

यही बात जीवन की खेती के सम्बन्ध मे समझ लीजिए। जीवन मे उत्तम आध्यात्मिक और उत्तम गुणो की फसल के लिए भी बाल्यावस्था मे ही ब्रह्मचर्य की उत्तम खाद डालनी चाहिए। इससे शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार की शक्तियाँ बढ जाती है। बुद्धिबल और आत्मबल को बढाने के लिए भी ब्रह्मचर्यरूपी खाद की आवश्यकता रहती है। बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्यरूपी खाद डालने का तथ्य ऋषियो ने हमारे सामने रखा—ब्रह्मचर्याश्रम के रूप मे। ब्रह्मचर्याश्रम का हेतु यह है कि मनुष्य को जिन्दगी के प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य की अच्छी खाद मिले। वृक्ष के बडे होने पर खाद देने से जितना लाभ होता है, उसकी अपेक्षा छोटा हो तभी खाद देने से अधिक लाभ होता है। मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध मे भी यही बात है। यह ब्रह्मचर्यरूपी खाद मनुष्य-जीवन को अन्त तक मिलता रहे, यह तो बहुत अच्छा है, परन्तु जीवन के प्रारम्भकाल मे तो यह बहुत आवश्यक है। बालक को बचपन मे दूध पर अधिक रखा जाता है, वह दूध उसे अन्त तक मिलता रहे, तो अच्छा ही है, परन्तु जीवन के अरुणोदय मे तो वह मिलना ही चाहिए। शरीर की तरह आत्मा और बुद्धि को भी जीवन के प्रारम्भकाल मे—गुलाबी बचपन मे तो वह खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए तो ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना की गई है। इसका उद्देश्य है कि जीवन के अरुणोदय से लेकर २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए जीवन की बुनियाद पक्की करके अध्ययन करना। ब्रह्मचर्याश्रम की आवश्यकता इसलिए भी बताई कि शेष तीनो आश्रमो मे ब्रह्मचर्यनिष्ठा और ब्रह्मचर्य-साधन का लक्ष्य रहे।

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का नम्बर आता है, इसमें पति-पत्नी दोनों की परस्परनिष्ठा और निकाम हो, उस रीति से मर्यादित रहन की बात सूचित कर दी है। सिर्फ सन्तान प्राप्ति के हेतु से ही स्त्री सहवास, शेष समय ब्रह्मचर्य का लक्ष्य रखना चाहिए। इस पर से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गृहस्थाश्रम की आधारशिला भी ब्रह्मचर्य है। कई लोग कहते हैं कि गृहस्थाश्रम भोग के लिए है, परन्तु जैनधर्म या भारतीय धर्म इस बात से सर्वथा इन्कार करते हैं। गृहस्थाश्रम में भी सन्तान प्राप्ति की इच्छा के साथ-साथ सन्तान-सेवा, परिवार-सेवा और क्रमश समाज और राष्ट्र की सेवा विहित है। इसलिए गृहस्थाश्रमी भी ब्रह्मचर्यलक्षी होना चाहिए, वासनालक्षी नहीं। स्वपत्नी के सिवाय अन्य सब स्त्रियाँ माता, बहन या पुत्री के समान हैं। स्वपत्नी के साथ भी मर्यादित ब्रह्मचर्य में रहे। गृहस्थाश्रम में भी थोड़ी-सी वासना के सिवाय ब्रह्मचर्य ही अधिकाश मात्रा में है। थोड़ी-सी जो वासना है, उस पर भी नियन्त्रण रखने के लिए गृहस्थ-शब्द के साथ आश्रम-शब्द जोड़ा गया है। रूस के महात्मा टॉल्स्टॉय का भी यही मत है कि गृहस्थाश्रम का अन्तिम आदर्श ब्रह्मचर्य है। उसी को साधने के लिए दाम्पत्यमर्यादाएँ हैं। इसका अर्थ यह है—ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलते हुए जहाँ जरा थकान आए, वहाँ गृहस्थाश्रम विश्रामरूप है।

यही कारण है कि ईसामसीह भी आजीवन ब्रह्मचारी रहे थे। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वनवास स्वीकार किया था, तब सीताजी साथ में थी, फिर भी ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत किया। इसका प्रमाण यह है कि जब सीताजी को रावण अपहरण करके ले गया था, तब सीताजी विमान में से नीचे अपने गहने डालती हुई गई। रामचन्द्रजी को जब पता लगा कि सीताजी को रावण इसी रास्ते से ले गया है, तब वे सीताजी की खोज में निकलते हैं। साथ में लक्ष्मण भी थे। जब उन्हे सीताजी द्वारा डाले गए गहने मिले तो उन्होने अपने छोटे भाई लक्ष्मण से पूछा—

'भाई, देख तो, ये गहने किसके है ? तू तो इन्हे पहिचानता होगा ?" तब श्री लक्ष्मणजी ने उत्तर मे कहा—

> नाऽहं जानामि केयूरे, नाऽहं जानामि कुण्डले।
> नूपुरे त्वभिजानामि, नित्य पादाभिवन्दनात् ॥

—केयूर (बाजूबन्द) और 'कुण्डल' जो ऊपर के भाग के आभूषण है, उन्हे मैं नही पहिचानता, किन्तु नूपुरो (पैर के झाझर) को तो जरूर पहिचानता हूँ, क्योकि मैं सीता माता के चरणो मे नित्य वन्दन करता था।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वनवास के समय लक्ष्मण की झोपडी अलग थी, श्री राम और सीताजी दोनो एक ही बडी झोंपडी मे साथ मे रहते थे। फिर भी श्री रामचन्द्रजी स्वय पति होते हुए भी सीता के गहनो को पहिचान न सके, इसके पीछे क्या रहस्य है ? इसमे से यही फलितार्थ निकलता है कि वनवास मे श्री रामचन्द्र

जी और सीताजी दोनो सहजरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, दोनो एक-दूसरे को ब्रह्मरूप मे ही देखते थे ।

इससे प्रतीत होता है कि भारतीय गृहस्थाश्रम मे ब्रह्मचर्य का कैसा और कितना उच्च स्थान था ।

श्री लक्ष्मणजी भी वनवास के समय चौदह वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे थे । उनके सामने अनेक प्रलोभन आए, फिर भी वे अपने ब्रह्मचर्य पथ पर आरूढ रहे ।

जगद्गुरु आद्य शकराचार्य, कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य, आदि इतिहास प्रसिद्ध नर-नारी रत्न भी गृहस्थाश्रम का सेवन न करके ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे ही सन्यासाश्रम की कोटि मे पहुँच चुके थे । सत विनोवाजी, वालकोवाजी और शिवाजी भावे तीनो भ्राता गाँधी-युग के नैष्ठिक ब्रह्मचारी है । इससे यह सहज प्रतिफलित होता है कि जो आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक रह सकता हो, उसे गृहस्थाश्रम स्वीकार करने की आवश्यकता नही है ।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम आता है । इसमे भी समाजनिष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य को अनिवार्यरूप से जोडा गया है । पति-पत्नी दोनो रहे, परन्तु दोनो परिवार की आसक्ति और जिम्मेवारी से मुक्त एव समाजनिष्ठ होकर रहे । वानप्रस्था-श्रम मे परिवार के प्रति आसक्ति तथा सन्तानवृद्धि का क्रम चलता रहे, यह चल नही सकता । इसीलिए समाजनिष्ठा के लिए वानप्रस्थाश्रम मे पति-पत्नी दोनो को ब्रह्मचर्य-निष्ठ होकर रहना अनिवार्य बताया गया ।

महात्मा गाँधीजी जब दक्षिण अफ्रीका मे थे, तब उनके मन मे राष्ट्र सेवा और समाज सेवा का विचार उठा । तुरत ही उनके मन-मस्तिष्क मे एक और विचार स्फुरित हुआ—एक ओर सन्तान-वृद्धि किये जाना और दूसरी ओर समाज या राष्ट्र की सेवा का दम भरना, ये दोनो कार्य साथ-साथ नही चल सकते । इसलिए मुझे राष्ट्र या समाज की सेवा करनी हो तो पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक है ।" बस, उन्होने कस्तूरबा से इस विषय मे परामर्श किया । वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए सहमत हो गई । तब गाँधीजी ने समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का स्वीकार किया । यह था महात्मा गाधीजी का वानप्रस्थाश्रम ।

जैनागमो मे विजयसेठ और विजया सेठानी दोनो पति-पत्नी के पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन का आदर्श वर्णन मिलता है । एक ने कृष्णपक्ष मे ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ली थी, दूसरे ने शुक्लपक्ष मे ब्रह्मचर्य पालन का प्रण किया था । दोनो ने निश्चय कर लिया कि हम इसी प्रकार पति-पत्नी के रूप मे आजीवन ब्रह्मचारी रहेगे । एक ही शय्या पर शयन करते हुए उन्होने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था ।

इस सम्बन्ध मे बौद्ध सघ का एक उदाहरण जातक मे मिलता है—

मगध देश के महातीर्थ गाँव मे ब्राह्मण परिवार मे महाकाश्यप का जन्म हुआ ।

यौवन मे प्रवेश करते ही उसका विचार आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन करने का था। परन्तु अपनी माता के अत्यन्त प्रेमाग्रह के कारण मद्रदेश र कौशिक ब्राह्मण की पुत्री भद्रा के साथ विवाह सम्बन्ध स्वीकार करना पडा। महाकाश्यप ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता था, वैसे भद्रा भी आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करना चाहती थी। परन्तु उस समय की प्रथा के अनुसार दोनो को एक ही शयनगृह मे, एक ही शय्या पर सोना पडता था। भद्रा दोनो के बीच दो पुष्पमालाएँ रख देती और कहती—"जिसकी पुष्पमाला मुर्झा जाय, समझा जाएगा कि उसके मन मे काम विकार उत्पन्न हुआ।" माता-पिता के जीवित रहते महाकाश्यप प्रच्छन्नरूप से ब्रह्मचारी रहा। माता-पिता के स्वर्गवास होने के बाद वह बौद्ध भिक्षु बन गया, भद्रा ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। वह बौद्धभिक्षुणी बन गई।

गृहस्थाश्रम मे रहते हुए वानप्रस्थाश्रमीवत् ब्रह्मचर्यमय जीवन बिताने का एक ज्वलन्त उदाहरण बगाल के अश्विनीकुमारदत्त का है। विवाह होने के दो वर्ष पश्चात् एक दिन वे ईसाई धर्म के सत सेंट पाल की वाणी का स्वाध्याय कर रहे थे। एक जगह देह को पवित्र रखने का उपदेश पढकर उनके मन मे विचार स्फुरित हुआ —"मैं तो विवाहित हूँ, शरीर की पवित्रता कैसे रख सकता हूँ ?" अश्विनीकुमार ने अपना मन्थन अपनी धर्मपत्नी के सामने प्रगट करने हेतु ८ पृष्ठ का पत्र लिखा। उस समय पत्नी की उम्र १५ वर्ष की थी, लेकिन उस सुसस्कृत भारतीय बाला ने अविचल भाव से उत्तर दिया—मैं आपकी सहधर्मिणी हूँ। आप धार्मिक जीवन मे जिस पथ पर प्रगति करना चाहते हैं, उस पर सुखपूर्वक प्रगति करें। मैं आपके श्रेयमार्ग मे बाधक नही, अपितु सहायक बनूगी।" बस, फिर क्या था। अश्विनीकुमार ने परिणीत होते हुए भी अपना समग्र जीवन ब्रह्मचर्य-पूर्वक बिताया। उन्होने समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए ब्रह्मचारी भाई-बहनो का एक मण्डल भी स्थापित किया था।

रामकृष्ण परमहस और शारदामणि देवी दोनो विवाहित होकर भी आजीवन ब्रह्मचर्य से युक्त रहे। विवाह होते ही रामकृष्ण परमहस ने अपनी धर्मपत्नी शारदामणिदेवी को 'मा' के रूप मे माना। शारदामणि ने भी पत्नी होते हुए भी 'मा' का उत्तरदायित्व निभाया। वासना की बात अपने मन, वचन या शरीरचेष्टा से नही आने दी। दोनो पवित्र भाव से रहे।

ये उदाहरण सिद्ध करते है कि गृहस्थाश्रम मे भी आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा जा सकता है। इसी को 'वानप्रस्थाश्रम' कहते हैं।

चौथा सन्यास-आश्रम है। सन्यासाश्रम मे तो मुख्य रूप से सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठा होती है। इसलिए सन्यास आश्रम मे ब्रह्मचर्य पर पूरा जोर दिया गया है।

इस प्रकार सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम, उसके बाद कुछ समय के लिए वासना पर अकुश लाने वाला गृहस्थाश्रम, उसके बाद पति-पत्नी दोनो के ब्रह्मचर्यपूर्वक वानप्रस्थाश्रम और अन्त मे सन्यासाश्रम। इस प्रकार भारतीय सस्कृति मे मनुष्य जीवन का

भव्य प्रासाद ब्रह्मचर्य की नीव पर प्रतिष्ठित किया गया है। अत मानव जीवन की सम्पूर्ण उन्नत साधना और सार्थकता के लिए ब्रह्मचर्य जीवन के हर मोड पर अगीकार करना चाहिए।

समग्र समाज को शक्तिशाली, उन्नत, विकसित एव बुद्धिशाली बनाने के लिए जीवनभर की यह ब्रह्मचर्य-योजना कितनी लाभदायक है? ब्रह्मचर्य-आराधक व्यक्ति सारे समाज, परिवार एव राष्ट्र मे विश्वसनीय बन जाता है। कही भी उसका अविश्वास नही होता।

जीवन की आधारशिला : ब्रह्मचर्य

मनुष्य का यह महान् जीवन ब्रह्मचर्य की आधारशिला पर व्यवस्थित रूप से टिका हुआ है। क्योकि चरित्र का मूल ब्रह्मचर्य है। मनुष्य के पास विद्वत्ता हो, वक्तृत्व हो, लेकिन चारित्र मे वह खोखला हो तो उसका जीवन सफल नही हो सकता न ही वह सुखी और शान्ति से सम्पन्न रह सकता है। पाश्चात्य दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर के शब्दो मे कहे तो—

'Not education, but character is man's greatest need and man's greatest safe-guard'

अर्थात्—केवल शिक्षण ही नही, मनुष्य का चारित्र्य ही उसकी सबसे बडी आवश्यकता हे और जीवन का सबसे वडा सुरक्षक है। इसलिए चारित्र्य को सुरक्षित रखने के लिए ब्रह्मचर्यपालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्य से शरीर और मन दोनो ही सशक्त बनते हैं, जीवन भी निर्भय, सुखी, शान्तिमय एव शक्ति सम्पन्न बनता है। विचारो मे वल भी ब्रह्मचर्य से आता है और आचरण का वल भी उसी से प्राप्त होता है। धर्मपालन मे उद्यम, साहस, शौर्य, उत्साह, वल, धैर्य, सहिष्णुता, क्षमता आदि जिन उत्तमोत्तम गुणो की आवश्यकता होती है, वे सव ब्रह्मचर्य से प्राप्त होते हैं। सबल जीवन वाला मानव यदि गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करेगा तो वहाँ भी अपनी जीवनयात्रा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकेगा, और यदि वह साधुजीवन अगीकार करेगा, तब भी अपनी जीवनयात्रा श्रेष्ठरीति से स्वपर-कल्याण साधना के माध्यम से पार करेगा। ब्रह्मचर्य से सम्पन्न व्यक्ति को जहाँ भी आप खडा कर देंगे, जिस परकल्याणकारी मोर्चे पर आप उसे नियुक्त कर देंगे, वह अपने प्राणो को झोक देगा, पर कर्तव्य से विमुख नही होगा। वह उत्साह और साहसपूर्वक निर्दिष्ट या निर्धारित कर्तव्य को पूर्ण करेगा। वह जहाँ भी जाएगा, शक्ति का प्रचण्ड झरना प्रवाहित किये बिना नही रहेगा।

शक्ति का मूलस्रोत ब्रह्मचर्य

हनुमानजी मे प्रचण्ड शक्ति थी। तुलसी रामायण के अनुसार जिस समय लक्ष्मणजी के शरीर मे मेघनाद का शक्तिबाण लगा, उस समय वे बेहोश हो गए।

श्री रामचन्द्रजी के शिविर मे सन्नाटा छा गया। श्रीरामचन्द्रजी तथा अन्य योद्धागण चिन्तित हो उठे कि अब क्या होगा ? उसी समय विभीषण रावण के प्रसिद्ध राजवैद्य सुषेण को लेकर आया। सुषेण वैद्य ने लक्ष्मणजी की नब्ज तथा अन्य लक्षण देखकर कहा—"सजीवनी बूटी की जरूरत है। यदि जल्दी से दे दी जायेगी तो लक्ष्मण की मूर्च्छा शीघ्र ही दूर हो जायेगी। परन्तु सजीवनी बूटी लाएगा कौन ? इसकी व्यवस्था आप सोच लें। हनुमानजी ने श्रीरामचन्द्रजी का चेहरा देखकर तत्काल कहा—"स्वामिन् ! सजीवनी बूटी लाने की चिन्ता न करें। मैं आपकी कृपा से उसे ले आऊँगा। परन्तु मैं पहिचानता नही हूँ, उस जडी को। इसलिए मुझे वैद्यजी यह बता दें कि वह कहाँ, किस पर्वत पर मिलेगी ?" वैद्यराज सुषेण ने पर्वत का नाम द्रोण और सजीवनी बूटी की पहिचान बता दी। कहते हैं, हनुमानजी को ब्रह्मचर्य के प्रभाव से आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हो गई थी। वे तुरन्त वहाँ से उडे और वायुवेग से वैद्य द्वारा निर्दिष्ट पर्वत पर पहुँचे। वहाँ देखा तो तरह-तरह की कई जडीबूटियो के पौधे लगे हुए थे। हनुमानजी सजीवनी बूटी को ठीक तरह पहिचान न सके। अत उन्होंने जडीबूटियो की वह सारी पहाडी ही एकदम उठाई और उसे हथेली पर रखकर वहाँ से उडे। सीधे लका मे आकर उतरे। श्रीरामचन्द्रजी के खेमे मे खुशियाँ छा गई। हनुमानजी के आते ही सुषेण वैद्य ने वह सजीवनी बूटी लेकर लक्ष्मणजी को सुघाई तथा उनके मुँह मे जरा-सा टुकडा दिया। फौरन ही उनकी चेतना लौट आई। एकदम स्वस्थ होकर लक्ष्मण खडे हो गए। सबके जी मे जी आ गया।

हनुमानजी मे इतना पराक्रम कहाँ से आया ? इस प्रचण्ड शक्ति का स्रोत क्या था ? ब्रह्मचर्य ही तो था। योग दर्शन मे ब्रह्मचर्य के परम लाभ के सम्बन्ध मे बताया है—

'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभः'

जब साधक मे ब्रह्मचर्य की पूर्णतया दृढ स्थिति हो जाती है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर मे अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। साधारण मनुष्य उसकी समता नही कर सकते।

अखण्ड ब्रह्मचारी मे अद्भुत शक्ति होती है। उसके लिए कोई भी बात असम्भव जैसी नही होती। (अखण्ड ब्रह्मचारी अकेला सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता है।) अखण्ड ब्रह्मचारी उसे कहा जा सकता है, जिसने समस्त इन्द्रियो और मन पर पूर्ण आधिपत्य कर लिया हो। इन्द्रियाँ जिसे फुसला नही सकती, मन जिसे विचलित नही कर सकता। जो अपनी समस्त इन्द्रियो और मन को आत्मा या परमात्मा की सेवा मे सतत लगाये रखता हो, वासना और विकारो का एक कण भी जिसके मन के किसी कोने मे प्रवेश नही कर सकता है। वीर्य की एक बूंद भी जो वासना और काम-भोग के मार्ग मे व्यय नही करता हो। ऐसे अखण्ड ब्रह्मचारी की शक्ति अजबगजब की होती है। उसके पास रोग भी सहसा नही फटकता और न चिन्ता ही उसके दिमाग

पर सवार होती है। बल्कि वह अपने सकल्प से दूसरे के रोगो और कष्टो को दूर कर सकता है।

अखण्ड ब्रह्मचारी ब्रह्म का साक्षात्कार कर मकता है। ब्रह्मचर्य सम्पन्न महान् आत्मा मे आत्मा की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित हो जाती हे। और वह केन्द्रीकरण जितना-जितना सुदृढ होता है, उतनी-उतनी ब्रह्मचर्य की शक्ति मे अभिवृद्धि होती जाती है।

सभी इन्द्रियो पर, मन पर उसका आधिपत्य हो जाता है, मन उसके अनुकूल चलता है, इन्द्रियाँ भी उसकी आज्ञा मे चलती है। तो साधक अपने जीवन पर, अपनी इन्द्रियो, शरीर और मन पर यथार्थरूप मे अपना अधिकार कर लेता है, उसकी आत्मा मे राग-द्वेष की परिणति कम हो जाती है। रागद्वेष की परिणति कम होने से ब्रह्मचर्य का विकास और विशुद्धि उतनी ही अधिक होती जाएगी।

ब्रह्मचर्य साधना का शरीर पर अद्भुत प्रभाव पडता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे शारीरिक शक्तियो के विकास का मूल स्रोत ब्रह्मचर्य को वताते हुए कहा है—

चिरायुष सुसस्थानां दृढसहनना नराः।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यत।

—ब्रह्मचर्य से मनुष्य चिरायु होते हैं, उनके शरीर का सस्थान (ढाचा) सुन्दर सुडौल हो जाता है उनका शारीरिक सहनन मजबूत हो जाता है, ये तेजस्वी और महाशक्तिशाली (पराक्रमी) होते हे।

ब्रह्मचर्य ही हमारे आरोग्य मन्दिर का आधार स्तम्भ है। आधार स्तम्भ के टूटने से जैसे सारा भवन ढह जाता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाने से सम्पूर्ण शरीर का द्रुतगति से नाश हो जाता है। ब्रह्मचर्य ही हमारी मम्पूर्ण विद्या, वैभव, सौभाग्य का आदि कारण है। ब्रह्मचर्य ही हमारी श्रेष्ठता, सम्पूर्ण उन्नति और स्वतन्त्रता का वीजमन्त्र है। ब्रह्मचर्य पर ही हमारा सुख, आरोग्य, तेज, वल, सामर्थ्य, विद्या, स्वातन्त्र्य और धर्म अवलम्बित है। ब्रह्मचर्य ही हमारी मम्पूर्ण सिद्धियो का एकमात्र रहस्य है।

ब्रह्मचर्य सर्वप्रथम हमारे शरीर को सशक्त, स्वस्थ एव सुदृढ बनाता है। जैनधर्म का यह एक सिद्धान्त है कि शरीर जितना भी सुदृढ, सशक्त, स्वस्थ एव सुडौल वनता है, उतना ही वह दुःखो, कष्टो और परिपहो एव उपसर्गो की चोटो को समभावपूर्वक सहने मे समर्थ होता है। वह जिन्दगी मे आने वाले विकट सकटो, उलझनो, परिस्थितियो, चिन्ताजनक दुःखो से घबराता नही, वल्कि समभाव से उनका सामना करता है, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, दारिद्रय-असहायत्व आदि अवसरो पर भी वह दुःख महसूस नही करता है। जो समभावपूर्वक कष्टो, परिपहो आदि को सह लेता है, वही आध्यात्मिक साधना मे प्रगति कर सकता है, वही मनोबल की वृद्धि मे साथ

आत्मगुणो की साधना कर सकता है। तात्पर्य यह है कि मानसिक एव शारीरिक शक्ति जीवन को तितिक्षु, कष्टसहिष्णु, समभावी एव साहसी बनाती है, और यही आध्यात्मिक साधना की पूर्वभूमिका है। जिस व्यक्ति का शरीर अत्यन्त दुर्बल है, रुग्ण है, शरीर का ढांचा भी बेडौल है, मजबूत नही है, वह कष्टो, परिषहो, उपसर्गों या दु खो को समभावपूर्वक सह नही सकेगा, ऐसी दशा मे उसका मनोबल भी कमजोर होगा और वह आध्यात्मिक साधना नही कर सकेगा।

जिस व्यक्ति का शरीर कष्टो और परिषहो को सहने मे समक्त नही है, वह आफतो और उपसर्गो के समय भाग खडा होगा, बात-बात मे इन्द्रियो और मन का गुलाम बन जाएगा। कठोपनिषद् मे भारतीय मनीषियो ने इसी बात का समर्थन किया है—

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।'
'बलवति शरीरे, बलवत आत्मनोनिवास ।'

—जिस शरीर मे बल नही, क्षमता नही, शक्ति नही, वह आत्मा को—आत्मगुणो को—उपलब्ध नही कर सकता। बलवान शरीर मे ही बलवान आत्मा का निवास होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि परीषहो, आपत्तियो और सकटो के तूफान के समय पर अपने सिद्धान्त—आत्म-स्वभाव पर मेरुसम स्थिर रहने वाला ही आत्मा की शुद्ध ज्योति एव आत्मगुणो का साक्षात्कार कर सकता है। कष्टो से घबरा कर पथभ्रष्ट होने वाला व्यक्ति आत्मदर्शन नही कर सकता।

अत आध्यात्मिक साधना के लिए शरीर का स्वस्थ, सक्षम, सुदृढ और सुडौल होना नितान्त आवश्यक है। शरीर को स्वस्थ, सशक्त, सुसस्थान एव सुदृढ बनाने हेतु ब्रह्मचर्य का परिपालन अनिवार्य है।

जैनदर्शन मे जितना आत्मा का विचार किया गया है, उतना ही शरीर आदि निकटवर्ती भौतिक पदार्थों का भी विचार किया गया है। आत्मा पर लगे हुए चार घनघाती कर्मदलिको के बन्धन को, और फिर चार अघाती कर्मों के बन्धन को तोडने और समस्त कर्मों से रहित होकर मोक्ष प्राप्त करने की बात आई, वहाँ जिस आध्यात्म साधना की बात बताई गई है, उसके लिए शरीर का भी उतना सशक्त एव सुदृढ होना अनिवार्य बताया है। शास्त्रीय परिभाषा मे वज्रऋषभ नाराच सहनन का होना आवश्यक बताया है—मोक्ष प्राप्ति के लिए, सम्पूर्ण कर्मबन्धनो को काटने के लिए। मोक्ष के लिए जो अनेक आध्यात्मिक अनिवार्यताएँ है, उनके साथ भौतिक अनिवार्यता मे वज्रऋषभनाराच सहनन भी आवश्यक बताया है। शरीर चाहे कितना सुन्दर, सुरूप, सुडौल क्यो न हो, आकृति या कद चाहे भव्य और ऊँचा हो, लेकिन अगर उस शरीर मे वज्रऋषभनाराच सहनन नही है, तो मोक्ष के अनुरूप साधना करने की शक्ति नही आएगी और शक्ति की इतनी मात्रा नही है तो मुक्ति भी शीघ्र प्राप्त

हो नही सकेगी। यद्यपि मोक्ष प्राप्ति के समय इस भौतिक शरीर को सदा के लिए छोडना होगा, वज्रऋषभनाराच सहनन भी तो यही छूट जाएगा, किन्तु आत्मा के साथ लगे हुए कार्यों को तोडने के लिए साधनाकाल मे वज्रऋषभनाराचमय सुदृढ शरीर होगा, तभी यह शरीरादि छोडना और मुक्ति पाना सम्भव होगा।

इतने विश्लेषण से आप समझ गए होगे कि मोक्ष के लिए जो भी आध्यात्मिक साधना की जाएगी, उसके लिए शरीर का सुदृढ, सबल एव स्वस्थ होना परम आवश्यक है, जिसकी पूर्ति ब्रह्मचर्य करता है। वासनाओ और विकारो से निर्बल आत्मा, कमजोर मन और दुर्बल शरीर कभी जूझ नही सकते, उनसे जूझे विना शुद्ध आत्मा—या परमात्मा के दर्शन नही हो सकते।

अत आत्मदर्शन करने का मूलमन्त्र यह है कि अपनी वासना पर नियन्त्रण रखो, विकारो पर अकुश रखो, सयम से बोलो, चलो, उठो, बैठो, खाओ, पीओ और जीओ। भोगेच्छा और विषयकामना का त्याग करो। यही सच्चे माने मे ब्रह्मचर्य है, जो अपने आप मे शक्ति का भण्डार है। शारीरिक एव स्नायुविक, मानसिक एव बौद्धिक सभी शक्तियाँ ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है ये चारो शक्तियाँ ब्रह्मचर्य के अभाव मे नही होती। अतएव इन शक्तियो द्वारा आध्यात्मिक क्षमता को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्य की महिमा आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे भी बताई गई है—ब्रह्मचर्य ही उत्तम ज्ञान है, वही परम बल है, आत्मा निश्चय रूप मे ब्रह्मचर्यमय है। और ब्रह्मचर्य से ही शरीर मे टिका हुआ है।[1]

कहते है कि हनुमान जी जब छोटे-से बच्चे थे, तब विमान से नीचे गिर गये थे, एक पर्वत की चट्टान पर। उनके मामा और माता अजना दोनो अत्यन्त चिन्तित होकर आर्त्तनाद करने लगे—"हाय! बालक का क्या हुआ होगा?" लेकिन ज्यो ही विमान से नीचे उतरकर वे उस चट्टान की ओर देखते हैं तो वह चूर-चूर हो गई है और हनुमान जी वही एक दूसरी शिला पर आनन्द से सहीसलामत बैठे खेल रहे है। उन्हे कही जरा भी चोट नही लगी! यह किस शक्ति का चमत्कार था? यह था—माता-पिता के द्वारा १२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन का प्रभाव, सदाचारी माता-पिता की सन्तान इतनी सुदृढ, स्वस्थ एव शक्तिशाली होती है कि वे ससार की चोटो, आघातो, कष्टो और आफतो से तनिक भी नही घबराते। किन्तु इसके विपरीत ब्रह्मचर्य मर्यादा का उल्लघन करने वाले माता-पिता की सन्तान भी क्षतवीर्य, दुर्बल, कायर, डरपोक, दब्बू, बुद्धू और प्राय कामी होती है। जरा-सी बीमारी से वह निस्तेज और निष्प्राण हो जाती है। उनका शरीर बचपन से ही जर्जर होने लगता है।

---

१ ब्रह्मचर्यं पर ज्ञान, ब्रह्मचर्यं पर बलम्।
ब्रह्मचर्यमयो ह्यात्मा, ब्रह्मचर्येणैव तिष्ठति॥—चरक

ब्रह्मचर्य से दीर्घजीविता

जिस कुल मे ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उस कुल की सन्तान दीर्घजीवी होती है। जो व्यक्ति या कुल रात-दिन इन्द्रिय विषयो की वासना मे फसा रहता है, सयम नही रखता, वहाँ की सन्तान कैसे दीर्घजीवी हो सकती है ? मुझे बौद्ध जातक का एक उदाहरण याद आ रहा है। तक्षशिला प्राचीनकाल से विश्व विद्याओ का धाम था। वहाँ ब्रह्मचर्य पूर्वक रह कर हजारो विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। मगध देश के एक गाँव का धर्मपाल ब्राह्मण का पुत्र धर्मकुमार भी वही पढता था। एक दिन सभी विद्यार्थी शोकमग्न होकर धर्मकुमार से कहने लगे—"भाई ! अत्यन्त खेद है कि आचार्य के इकलौते तरुण पुत्र का देहान्त हो गया।"

इस पर धर्मकुमार बोला—'क्यो शोक करते हो ? मेरा विश्वास है कि तरुण अपने पिता के रहते नही मरता, बशर्ते कि उस कुल मे ब्रह्मचर्य-पालन होता हो।'

आचार्य के कानो मे यह बात पहुँची। उन्होने धर्मकुमार की बात पर सहसा विश्वास नही किया। अत वे स्वय तीर्थाटन के बहाने इस बात की परीक्षा करने निकले। कुछ ही दिनो बाद धर्मकुमार के घर पर पहुँचे। उसके पिता ने आचार्य का स्वागत किया। आगमन का प्रयोजन पूछने पर आचार्य ने कहा—"तुम्हारा पुत्र मेधावी विद्यार्थी धर्मकुमार मर गया है।" उसके पिता ने कहा—"यह बात मैं मान नही सकता, क्योकि मेरा धर्मकुमार मेरे रहते मर नही सकता।" आचार्य ने कहा—"आपकी बात बिलकुल सत्य है। मैं इसी बात की प्रतीति करने के लिए आया था। कि आपके परिवार मे तरुण क्यो नही मरता है ?" धर्मपाल ने कहा—"आचार्य श्री ! मेरे कुल मे कोई भी स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य मर्यादा का उल्लघन नही करते, इसलिए मेरे कुटुम्ब मे तरुण की मृत्यु कदापि नही होती।"

बन्धुओ ! जरा विचार करिये, ब्रह्मचर्य की कितनी महान् शक्ति और क्षमता है ? क्या वर्तमान भोग-परायण समाज मे जहाँ, अकाल मृत्यु का घटा बज रहा है, वहाँ उसके निरोध के लिए और स्वस्थ तथा दीर्घजीवी सन्तति के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता नही है ?

ब्रह्मचर्य से बौद्धिक लाभ

ब्रह्मचर्य से ज्ञानतन्तु शक्तिशाली बनते है, मस्तिष्क मे शक्ति आती है, जिससे स्मृति, मेधा, बुद्धि आदि सब विकसित होती है। इसीलिए भारतीय सस्कृति मे विद्याध्ययन काल मे विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य रूप से विधान है। विदुरनीति मे स्पष्ट कहा है—

("विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्।")

अर्थात्—विद्यार्थी ब्रह्मचारी बने।

भारतवर्ष के मनीषियो का अभिमत है कि ब्रह्मचर्य के बिना विद्या नही आती। अथर्ववेद भी इसी बात का समर्थन करता है—

'ब्रह्मचर्येण विद्या'

विद्याध्ययन के लिए स्मरणशक्ति का तीव्र होना आवश्यक है। स्मरणशक्ति की तीव्रता मन और बुद्धि की एकाग्रता, इन्द्रिय-सयम, मनोनिग्रह आदि से होती है। ये सब बातें ब्रह्मचर्य पर निर्भर है।

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था—"एकमात्र ब्रह्मचर्य के भलीभाति पालन से समस्त विद्याएँ थोडे ही समय मे प्राप्त हो जाती है।"

ब्रह्मचर्य के बल से चाहे जो व्यक्ति श्रुतिधर या स्मृतिधर बन सकता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा से ही ऐसी अतिमानवीय शक्ति प्राप्त होती है। आज ब्रह्मचर्य रक्षा के अभाव के कारण ही हमारे देश का अध पतन हुआ है। जो ब्रह्मचर्य की साधना करता है, वह विचारो को पवित्र बनाए रख सकता है, उस विचार को अमृत बना लेता है। समय आने पर वह स्मृतिपट पर आ जाता है। किसी भी ग्रन्थ को देखे ३०-४० वर्ष व्यतीत हो गए फिर भी उसकी स्मृति मस्तिष्क मे ज्यो की त्यो बनी रहती है। ब्रह्मचर्य की साधना जीवन मे वर्षो से पडे हुए विकारो के मैल और विचारो की गन्दगी को दूर कर देती है। उसका चिन्तन भी उज्ज्वल परिष्कृत और शुद्ध होता है। वह मनुष्य को महान् बना देती है।

आचार्य मल्लवादी जैन शासन आकाश के देदीप्यमान सूर्य थे। बचपन से वे प्रखर बुद्धिशाली और मनीषी थे। एक दिन उज्जैननरेश की सवारी उपाश्रय के पास से होकर निकली। साथ मे जैन मन्त्री था। सम्राट् ने बालमुनि मल्ल को देखकर मंत्री से पूछा—"यह लडका उपाश्रय मे बैठा-बैठा क्या कर रहा है ? क्या यह साधु बनेगा ?" मन्त्री ने कहा—"राजन् ! यह साधु बनेंगे नही, बन गए हैं।"

"इतनी छोटी उम्र मे गुरु ?" राजा ने यो कहकर गुरुत्व की परीक्षा की दृष्टि से पूछा—'किम् मिष्टम् ? (क्या मीठा है ?)'

बालमुनि ने राजा की ओर देखे बिना ही कहा—"दुग्धम् ।" और छह महीने की अवधि के बाद जब राजा की सवारी पुन वहाँ से निकली तो देखा, वह मुनि उसी प्रकार एकाग्रता से अध्ययन मे लीन हैं। राजा ने अपने पुराने प्रश्न के सन्दर्भ मे पूछा 'केन सह ?" (किसके साथ ?)"

तरुण साधक ने तपाक् से उत्तर दिया—"शर्करया सह।" (शक्कर के साथ)

सम्राट ने ज्यो ही सुना, वह हाथी से उतर पडा और बालमुनि के चरणो मे गिरकर श्रद्धाभाव से कहा—"महाभाग ! सचमुच आपकी साधना अद्भुत है। छह महीने पहले पूछा गया प्रश्न आपकी स्मृति मे ज्यो का त्यो पडा रहा। इतनी प्रखर स्मृति !" यही तरुण साधक आगे चल कर मल्लवादी नाम से प्रख्यात हुआ।

जहाँ ब्रह्मचर्य का बल होता है, उसके मस्तिष्क मे छह महीने तो क्या, अनेक वर्ष पुरानी स्मृतियाँ भी ज्यो की त्यो उपस्थित रहती है। ब्रह्मचारी का मस्तिष्क अत्यन्त उर्वर एव सचयशील होता है।

श्रीमद्राजचन्द्रजी की ब्रह्मचर्यनिष्ठा के कारण उनकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि वे एक साथ एक हजार अवधान कर लेते थे। 'महस्रावधानी' के नाम से वे प्रसिद्ध थे।

जिस भाषा का उन्होंने अध्ययन नही किया था, उसके कठिनतम शब्दो को वे आसानी से स्मृतिकोष मे रख लेते थे, और बाद मे ज्यो का त्यो कह देते थे। यह सब ब्रह्मचर्य साधना का परिणाम है।

जैन शास्त्रो मे पदानुसारिणी लब्धि का उल्लेख है, एक पद या कुछ पदो के देखते सुनते ही उस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय सारा विषय या उन विषयो के पद याद हो जाते थे। जैन इतिहास मे आचार्य आर्यरक्षित को यह विद्या उपलब्ध थी। इस युग मे स्वामी विवेकानन्द को भी इसी प्रकार की उपलब्धि प्राप्त थी। छोटा बालक एक-एक अक्षर पढता है, पर शिक्षित व्यक्ति एक ही नजर मे सारी लाइन पढ लेता है, मगर स्वामी विवेकानन्द की आँखें तो सारा पेरेग्राफ या सारा पृष्ठ एकदम पढ सकती थी।

एक बार स्वामी विवेकानन्द जर्मन विद्वान् डायसन के यहाँ भोजन करने पहुँचे। वहाँ उसकी टेबल पर एक पुस्तक पडी थी। स्वामीजी ने खडे-खडे ही थोडी-सी देर मे सारी पुस्तक देख डाली, फिर वे डायसन से बातचीत करने लगे। बात-चीत के दौरान जब वे इस पुस्तक के उद्धरण देने लगे, तब डायसन ने साश्चर्य पूछा—'आपने यह पुस्तक कब पढी है ?'

विवेकानन्द—"अभी कुछ देर पहले ही।" यह सुनकर डायसन ने आश्चर्य प्रगट किया—"इतने कम समय मे इतनी बडी पुस्तक कैसे पढ डाली ?" विवेकानन्द ने कहा—"इसमे आश्चर्य की कोई बात नही। मैं तो एक साथ अध्याय के अध्याय पढ डालता हूँ। और मेरे मस्तिष्क मे वे विचार जम जाते हैं।"

स्वामी विवेकानन्द को इतनी बौद्धिक शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई थी ? कहना होगा कि यह शक्ति उन्हे ब्रह्मचर्य—इन्द्रियनिग्रह, मन सयम, वीर्यरक्षा आदि से प्राप्त हुई थी।

ब्रह्मचर्य से धर्मरक्षा

धर्म मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट अमृत है। उसकी रक्षा मानव-जीवन की सुरक्षा है। परन्तु धर्म की रक्षा का प्रमुख साधन ब्रह्मचर्य है। वास्तव मे यह धर्म का प्रधान अग है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे इसी बात का समर्थन किया गया है—

"ब्रह्मचर्य धर्मरूप पद्मसरोवर की पाल के समान रक्षक है, यह दया, क्षमा

आदि गुणो का आधारभूत एव धर्म की शाखाओ का आधार स्तम्भ है। ब्रह्मचर्य धर्म रूप महानगर का कोट है, धर्म रूप महानगर का रक्षक द्वार है । ब्रह्मचर्य के खण्डित हो जाने पर सभी प्रकार के धर्म, पर्वत से गिरे हुए कच्चे घडे के समान खण्ड-खण्ड हो जाते हैं । यह विनय, शील, तप, नियम आदि गुणो का पु ज है ।[1]

ब्रह्मचर्य तप है

कहने को तो लोग उपवास आदि को तप कह देते हैं, परन्तु कोरा उपवास सिवाय लघन के और कुछ नही है । वास्तविक तप तो वह है, जिसमे इन्द्रिय विषयो के उपभोग पर नियन्त्रण हो, मनोविकारो पर सयम हो। इसीलिए ब्रह्मचर्य के लिए सूत्रकृतागसूत्र मे कहा गया—'तवेसु वा उत्तम बमचेर' तपस्याओ मे ब्रह्मचर्य उत्तम तप है । वैदिक धर्मग्रन्थो मे ब्रह्मचर्य[2] को ही वास्तविक तप कहा है । भगवद्गीता मे भी कहा है—

'ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीर तप उच्यते ।'

—ब्रह्मचर्य और अहिंसा, ये दोनो शारीरिक तप है ।

ब्रह्मचर्य रूप तप से शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि सभी विकसित होते हैं । यही नही, ब्रह्मचर्य[3] रूप तप के प्रभाव से देवो ने मृत्यु को भी जीत लिया था ।' ब्रह्मचर्य-रूपी तप तेज और ओज को बढा देता है ।

ब्रह्मचर्य से पारलौकिक लाभ

ब्रह्मचर्य से इहलौकिक लाभ तो मैंने अगणित बता दिये है, इससे पारलौकिक लाभो की भी कमी नही है। क्या जैन, क्या वैदिक और क्या बौद्ध सभी धर्मों ने ब्रह्मचर्य को महत्व दिया है। इहलौकिक एव पारलौकिक सभी साधनाओ के लिए ब्रह्मचर्य को सभी धर्मों ने आवश्यक माना है। जैन एव वैदिक धर्म-शास्त्रो मे ब्रह्मचारी[4] के लिए स्वर्गगमन तो अनिवार्य माना है, लेकिन मोक्ष के लिए भी ब्रह्मचर्य को मूल कारण बताया है । स्मृतिकार कहते है—

'समुद्रतरणे यद्वत् उपायो नौ प्रकीर्तित ।
ससारतरणे तद्वत् ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ।'

— जैसे समुद्र पार करने के लिए नौका श्रेष्ठ साधन बताया है, वैसे ही ससार

---

१ पउमसरतलागपालिभूय, महासगड अरगतुम्बभूय महानगरपागारकबाडफलिह भूय रज्जुपिणद्धोव्व इदकेऊ विसुद्धणेगगुण सपिणद्ध जम्मिय भग्गमि होइ सहसा सव्व सभग्ग मह्यिचुण्णियकुसल्लियट्ट पव्वय पडिय खडिय परिसडियविणासिय, 'विणयसीलतवनियमगुणसमूह । —प्रश्नव्याकरण सूत्र ९

२ तपो वै ब्रह्मचर्यम् —उपनिषद्

३ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।

४ स्वर्गे गच्छन्ति ते सर्वे ये केचिद् ब्रह्मचारिण· ।

समुद्र पार करने के लिए ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट साधन कहा है। प्रश्नव्याकरण सूत्र इस बात का साक्षी है, वहाँ उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य के धनी तीर्थंकर महावीर ने अपना अनुभव बताया है कि "ब्रह्मचर्य अन्त करण को पवित्र व स्थिर रखता है, साधुजनो द्वारा आचरित है, मोक्ष मार्ग है, सिद्ध गति का धाम है, शाश्वत है, बाधा-रहित है, पुनर्जन्मनाशक (अपुनर्भव) है, प्रशस्त है, रागादिक का अभाव करने से सौम्य है, सुखरूप होने से शिव है, दु खद्वन्द्वादि से रहित होने से अचल, अक्षय है, मुनिवरो द्वारा सुरक्षित, सुचरित, सुनिरूपित, भव्य है, भव्यजनो द्वारा आचरित है, शकारहित, भयरहित है। विशुद्ध है, प्रपचो से मुक्ति दिलाने वाला, खेद एव अभिमान का नाशक है।[1]

विद्वान् लोग ब्रह्मचर्य की प्रशसा करते नही थकते। ब्रह्मचर्य के गुणो का एव उससे होने वाले लाभो का वर्णन करते हुए विद्वान् कहते हैं—

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभो भवत्यपि।
सुरत्व मानवो याति, चान्ते याति परा गतिम्॥
ब्रह्मचर्य पालनीय देवानामपि दुर्लभम्।
वीर्ये सुरक्षिते यान्ति सर्वलोकार्थसिद्धय।"

ब्रह्मचर्य की निष्ठा प्राप्त करने से वीर्य (शक्ति) का लाभ तो होता ही है, मनुष्य भी देवत्व (दिव्यता) प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मचर्य साधना परिपक्व हो जाने पर परमगति को प्राप्त करता है। इसलिए देवताओ के लिए भी दुर्लभ ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। वीर्य को सुरक्षित रखने से समस्त लोको का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

ब्रह्मचर्य का बाह्य जगत् पर प्रभाव

आजकल अधिकाश लोग चमत्कारो के चक्कर मे पडे हैं। पर वे यह नही जानते कि समस्त चमत्कारो का मूल क्या है ? जिन्हे साधारण लोग चमत्कार कहते हैं, वह तो जादू का खेल दिखाने वाले जादूगर या टोना-टोटका करने वाले भी बता सकते हैं। परन्तु जिस चमत्कार का प्रभाव केवल मनुष्यो पर ही नही, भौतिक जगत् पर भी पडे, वह चमत्कार इन जादूगरो या मन्त्रविदो के पास भी नही है। वह है—अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतधारी के पास। क्या देवताओ के पास चमत्कार दिखाने की

---

१ अज्जव साहूजणाचरिय मोक्खमग्ग, विसुद्धसिद्धिगइनिलयं सासयव्वाबाहमपुणब्भव पसत्थ, सोय, सुमं, सिवमक्खयकरे।

जडवर सारक्खिय सुचरिय, सुभासिय, नवरि मुणिवरेहिं महापुरिस-धीरसूर धम्मिय धिइमताणा व समा विसुद्ध भव्व भव्वजणाणुचिण्ण निसकिय, निब्भयं, वित्तुस निरायास।
—प्रश्न व्याकरण

शक्ति कम है पर वे भी इन ब्रह्मचर्य के चमत्कारियो के सामने नत मस्तक हो जाते हैं। जैनशास्त्रो मे स्पष्टत इस बात को प्रकट किया है—

देव-दाणव-गंधव्वा जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसति, दुक्कर जे करेंति त॥

—जो महान् आत्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसके चरणो मे देव दानव, गन्धर्व, यक्ष राक्षस, किन्नर आदि समस्त दैवी शक्तियाँ समक्ति भाव से नमस्कार करती है।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति है, फिर भी बाह्य पदार्थों मे परिवर्तन करने की अद्‌भुत क्षमता रखता है।

सीता सती के चमत्कार को कौन भारतीय नही जानता। वे अपने सत्य एव शील की परीक्षा के लिए धधकते हुए भयानक अग्निकुण्ड मे कूद पड़ी। हजारो दर्शको के मुख से चीख निकल पड़ी थी, किन्तु दूसरे ही क्षण पलक मारते ही वह अग्निकुण्ड शीतल शान्त सरोवर के रूप मे बदल गया। विकसित कमलो पर देवी-सी शील के अद्‌भुत तेज से प्रदीप्त सीता सती विराजमान थी।

लाखो वर्षों बाद भी ब्रह्मचर्य के अद्‌भुत चमत्कार की यह कहानी हम सबको प्रेरणा दे रही है।

और वह सुदर्शन सेठ, जिस पर ब्रह्मचर्य भग का कलक लगाकर शूली पर चढ़ा दिया गया था। नागरिको का दिल उस दृश्य को देख कर दहल उठा था, लेकिन दूसरे ही क्षण जब शूली के बदले सिंहासन पर विराजमान सुदर्शन को देखा तो राजा-प्रजा सभी आश्चर्य चकित हो उठे। यह सब ब्रह्मचर्य के सिवाय और किसका चमत्कार था?

शीलवती सोमा को मारने के लिए एक घड़े मे विषधर साँप डाल कर रखा गया और उसे कहा गया—"घड़े मे फूलो की माला रखी है, उसे ले आओ।" जब उसने माला लेने के लिए घड़े मे हाथ डाला तो सबके आश्चर्य के बीच सचमुच वह साँप पुष्पमाला ही बन गया। वह प्रसन्न भाव से पुष्पमाला ले आई। यह चमत्कार ब्रह्मचर्य का ही तो था।

ब्रह्मचारी हनुमानजी के आदेश से लका का समुद्र भी छोटी नदी-सा बन गया था। अन्य ब्रह्मचारी पुरुषो के प्रभाव से सिंह, सर्प जैसे क्रूर प्राणी भी मित्र बन गये थे। स्वामी रामतीर्थ ने जब हिमालय की बर्फीली चट्टानो को आदेश दिया—ओ हिमालय की बर्फीली चट्टानो! शाहंशाह राम तुम्हे हट जाने का आदेश देता है। तब सचमुच वे बर्फीली चट्टानें पिघल गईं। इसीलिए तो योगीराज भर्तृहरि अपने अनुभव की आँच मे तपे हुए उद्‌गार निकालते हैं—

वह्निस्तस्य जलायते, जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्।
मेरुः स्वल्प शिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरंगायते॥

व्यालो माल्यगुणायते, विषरसः पीयूषवर्षायते ।
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतरं शीलं समुन्मीलति ॥

जिसके अंग-अंग में अखिल लोक का वल्लभतर शील (ब्रह्मचर्य) प्रकाशित हो रहा है, उसके लिए अग्नि जल बन जाती है, समुद्र छोटी-सी नदी बन जाता है, मेरुपर्वत शिलाखण्ड बन जाता है, सिंह हिरन की तरह व्यवहार करने लगता है, सांप पुष्पमाला बन जाता है, विष अमृत वर्षा करने लगता है। सचमुच ब्रह्मचर्य का प्रभाव इतना दूरगामी और चमत्कारिक है।

काठियावाड़ के देवड़ा राजपूत की कन्या राणक देवी की सगाई जूनागढ़ के राजा रायखेंगार से हुई थी, लेकिन सिद्धराज ने उस पर कुदृष्टि रख कर उसे हथि-याने के लिए जूनागढ़ पर आक्रमण किया। बारह वर्ष यह हुआ कि बारह वर्ष तक वह जूनागढ़ दुर्ग को जीत न सका। आखिर कपट से रायखेंगार को पराजित किया। राणक देवी को ले जाने के लिए सिद्धराज ने बहुत पापड़ बेले। लेकिन वह सिद्धराज के चंगुल में न फँसी। जिस समय सिद्धराज उसे पाटण ले जाने को तैयार हुआ, उस समय उसके मुख से वाणी फूट पड़ी—

"ऊँचा गढ़ गिरनार, बादल से बातें करे ।
हारत राणा खेंगार, तू क्यों ना गिर पड़े ॥"

—बस, यों कहते ही, देखते ही देखते, गिरनार पर्वत से टूट कर चट्टानें धड़ाधड़ गिरने लगीं। यह था ब्रह्मचर्य का अद्भुत प्रभाव।

ब्रह्मचारी के मुख से जो कुछ भी निकल जाता है, वह यथार्थ होकर रहता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के एक से एक बढ़कर अद्भुत चमत्कार देख कर क्या इसकी उपयोगिता में सन्देह हो सकता है? क्या लौकिक, क्या लोकोत्तर सभी क्षेत्रों में ब्रह्मचर्य की उपयोगिता, महत्ता और आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आप भी इस महान् व्रत को जीवन में अपना कर स्वयं इसका चमत्कार देख सकते हैं।

*

9

श्रावक जीवन में ब्रह्मचर्य की मर्यादा

ब्रह्मचर्य मानव-जीवन का मेरुदण्ड है। चारो आश्रमो और चारो वर्णो मे, तथा सभी वर्गो मे ब्रह्मचर्य की आवश्यकता को एकस्वर से स्वीकृत किया गया है। इसीलिए भगवान् महावीर ने सद्‌गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओ के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने का विधान किया है।

प्रश्न होता है—गृहस्थ ब्रह्मचर्य-पालन करने का ध्यान रखे, किन्तु वह व्रत-रूप मे ब्रह्मचर्य का स्वीकार करके अपने आपको बन्धन मे क्यो बाधे ? अगर ब्रह्मचर्य का व्रत स्वीकार किये बिना ही ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय तो क्या आपत्ति है ?

बात यह है कि जो मनुष्य व्रत, सकल्प या प्रतिज्ञा न लेकर यो ही उसका पालन करने का कहता है, समझ लो, उसके मन मे अभी दुर्बलता है। प्रतिज्ञाबद्ध या सकल्पबद्ध न होने पर जरा-सी भी अडचन आने या बाधा उपस्थित होने पर व्रत से विचलित होने की आशका रहती है। थोडा-सा सकट उत्पन्न होते ही वह फिसलने लगेगा। किन्तु व्रत या सकल्प लिया होगा तो कार्य मे होने वाले सकटो, विघ्न-बाधाओ या अडचनो को सहने की शक्ति आ जाएगी, मन मे दृढता रहेगी। प्रतिज्ञा भ्रष्ट होने का डर रहेगा। इसके अतिरिक्त व्रत या सकल्प न लेने पर इहलोक या परलोक मे जो पुण्यलाभ या पुण्यफल अथवा धर्मलाभ या धर्मफल जितना मिलना चाहिए, उतना नही मिलेगा। इसीलिए जितने भी श्रावक-श्राविका हुए है, सबने व्रत बद्ध या सकल्प लेकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है। अन्य धर्मग्रन्थो मे भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

सकल्पेन बिना राजन् ! यत्किंचित् कुरुते नर ।
फल चाऽप्यल्पक तस्य, धर्मस्यार्द्धक्षय भवेत् ।[1]

"राजन् ! सकल्प के बिना जो कुछ किया जाता है, उसका फल बहुत थोडा होता है। और उस कार्य से होने वाले धर्म का आधा भाग नष्ट हो जाता है।

ससार मे भी आप देखते हैं कि विवाह आदि मगल कार्यों को करने के लिए

---

१ पदमपुराण

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्यपालन से पुण्यलाभ भी कम नही होता। यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत धारी की आकाक्षा ब्रह्मचर्य पालन के पीछे पुण्य लाभ की दृष्टि न होकर धर्मलाभ की होनी चाहिए, क्योकि पुण्यलाभ तो अनायास ही उसे प्राप्त होता है, जिसका फल इहलोक मे स्वस्थ, सशक्त, सुदृढ, सहिष्णु शरीर, उन्नत एव उदार विचारक मन, स्मरणशक्ति से ओत-प्रोत बुद्धि, कर्तव्यपरायण सुखी शान्तिमय जीवन एव स्वस्थ सयमी पारिवारिक वातावरण प्राप्त होना है। समाज को भी उक्त सद्गृहस्थ के ब्रह्मचर्य-पालन से बहुत अच्छा स्वस्थ एव प्रेरणादायक वातावरण मिलता है। वह समाज का खासतौर से महिला वर्ग का विश्वसनीय पुरुप माना जाता है। परलोक मे भी पुण्यफल स्वरूप उसे उत्तम सद्गति, स्वस्थ वातावरण एव सुन्दर विचार मिलते ह। इस प्रकार ब्रह्मचर्यपालन से पुण्यफलस्वरूप इहलौकिक और पारलौकिक हित एव सुख-समृद्धि का लाभ अनायास ही मिलता है।

ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने वाला गृहस्थ यह शुभ-चिन्तन भी करता है—"मुझे ये इन्द्रियाँ पाप से नही, पुण्य से मिली ह। पुण्य से प्राप्त इन्द्रियो (साथ ही मनुष्यजन्म, स्वस्थ शरीर आदि) को पुण्य की ओर लगाना ही उचित है, पाप की ओर लगाने से तो पाप की परम्परा ही बढेगी, न उससे आत्मा का विकास ही होगा, बल्कि जन्म-मरण का चक्र ही वृद्धिगत होगा। इसलिए जब इन पुण्य से प्राप्त इन्द्रियो द्वारा धर्मलाभ लिया जा सकता है, तब इनसे पाप की परम्परा क्यो बढाई जाय ? इन्द्रियो को विपय-भोगो मे प्रवृत्त करना पुण्योपार्जित इन्द्रियो को पाप के उपार्जन मे लगाना है। इन्द्रियो की सार्थकता तभी है, जब इन्हे असयम या विषयो मे न लगाकर आत्मा की सेवा मे, सयम मे लगाया जाय।"

मानवजीवन की सार्थकता उच्छृखल रूप से विषयोपभोग मे नहीं

मनुष्य का जन्म, शरीर और मन अन्य सर्वप्राणियो से उत्तम हे, दुष्कर है और देवदुर्लभ है। अत इसकी सार्थकता ब्रह्मचर्य पालन करने मे है, न कि विपयोपभोग करने मे। ब्रह्मचर्य रूप धर्म का पालन करने पर ही मनुष्य समस्त प्राणियो मे उत्तम हो सकता है। अमर्यादित रूप से विपयोपभोग करने या अब्रह्मचर्य-सेवन करने से मनुष्य की श्रेष्ठता नही है।

आप से मैं पूछता हूँ, यह आत्मा मनुष्य जन्म को कैसे प्राप्त कर सका है ? आप कहेगे पुण्य राशि के बढने से। आपकी बात सच है, पर आप यह तो बताइए कि मनुष्य का पुण्य दूसरे प्राणियो की अपेक्षा क्यो बढा-चढा है ? मनुष्य ने किस साधना से इतना पुण्यपुञ्ज प्राप्त किया ? शास्त्र कहते ह कि मनुष्य इस जन्म से पूर्व निगोद, एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यच-पञ्चेन्द्रिय तक जिन-जिन योनियो मे गया, वहा इसे धर्म और पुण्य का कोई भी बोध प्राप्त न हो सका। वहाँ इसने दुर्विपयभोगो को ही इष्ट मान रखा था, इसलिए उन्हे खूब भोगा, लेकिन उन दुर्विपयो को बार-बार भोगने पर भी उसे तृप्ति नही हुई, न मुक्ति या मुक्ति-कारणरूप धर्म प्राप्त हुआ। उस समय तो

शिखर पर पहुँचना है, दोनो को मुक्त बनना है, दोनो अपनी आत्मा को अनन्त बल-वीर्य से सम्पन्न करना चाहते हैं, दोनो का पथ भी एक है, भगवान महावीर ने साधु और गृहस्थ दोनो के ब्रह्मचर्य की आराधना का मार्ग एक बताया। दोनो के ब्रह्मचर्य को चारित्र धर्म, अनुत्तर योग, आर्य धर्म, उत्तम मार्ग कहा है। अन्तर केवल चलने का है।

गन्तव्य स्थान—मोक्ष एक है, ब्रह्मचर्य-पथ भी एक है—ब्रह्मचर्य पालन के नियम जो साधु के हैं, वे ही गृहस्थ के लिए है, अन्तर है उस पथ पर चलने वाले साधको का। गृहस्थ साधक उसी ब्रह्म पथ पर धीमी गति से—रास्ते मे विश्राम लेता हुआ चलता है, जबकि साधु उसी ब्रह्मपथ पर तीव्रगति से विश्राम की अपेक्षा रखे बिना चलता है। परन्तु यह तो मानना ही होगा कि गृहस्थाश्रम का अन्तिम आदर्श पूर्ण ब्रह्मचर्य है, उसी की साधना हेतु पति-पत्नी दोनो मिलकर एक-दूसरे को सयम मार्ग मे प्रेरित करते हुए, सहयोग देते हुए ब्रह्मचर्य के उच्च शिखर पर पहुँचते हे। गृहस्थाश्रम मे वासना के आक्रमण के समय कदाचित् जूझा न जा सके, फिर भी कुल मिलाकर ब्रह्मचर्य-पालन का अश गृहस्थाश्रम मे अधिक है। थोडा-सा वासना का अश है, वह भी पति-पत्नी दोनो मिलकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करने पर केवल धर्मज सन्तान प्राप्ति के लिए होता है। गृहस्थाश्रम की अधिकतर मर्यादाएँ ब्रह्मचर्य-पालन के लिए है, जिनसे शीलवान सदाचारी बना रहकर गृहस्थ अपनी जीवनयात्रा करता हुआ एक दिन मजिल तक पहुँच जाता है। मैं गृहस्थाश्रम की वे ब्रह्मचर्य मर्यादाएँ आपको बताऊँगा, किन्तु आप यह हृदय मे निश्चित कर लीजिए कि गृहस्थाश्रम ब्रह्म-चर्य के शिखर पर पहुँचने के लिए है। इसलिए गृहस्थजीवन मे ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करना अनिवार्य, स्वाभाविक एव उपयोगी है।

गृहस्थजीवन मे ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण न करने पर

जो लोग यह कहते है कि गृहस्थजीवन मे स्वपत्नी-सन्तोषव्रत की आवश्यकता क्यो है ? क्या स्वपत्नी और क्या परपत्नी, अब्रह्मचर्य-सेवन मे पाप तो एक सरीखा ही लगता है, तब यो मर्यादाओ मे बँधने से क्या लाभ है ?

भारतीय सस्कृति और धर्मो का मत इसके बिलकुल विपरीत है। भारतीय धर्मों का मत है कि गृहस्थ जीवन मे जो लोग इतनी मर्यादा का भी पालन नही करते, उनके ध्यान मे गृहस्थाश्रम का लक्ष्य केवल वासनापूर्ति करना ही नही, अपितु ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करना है। वहाँ पत्नी केवल भोगवासना की पूर्ति की पुतली नही, अपितु ब्रह्मचर्य मार्ग पर बढने मे सहायिका है। शास्त्रो मे उसके 'धम्म-सहाया', धर्मपत्नी, सहचारिणी, पतिव्रता आदि अनेक सुन्दर और सार्थक नामो का उल्लेख किया गया है। इसलिए वहाँ ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करने के साथ स्वपत्नी-सन्तोष ही नही, अब्रह्मचर्य-सेवन पर अन्य कई अकुश आ जाते है। किन्तु ब्रह्मचर्यव्रत का स्वीकार न करने पर व्यक्ति उच्छृखल, अमर्यादित और अविश्वसनीय हो जाता है।

ऐसे उच्छृङ्खल व्यक्ति कामी कुत्ते बनकर जगह-जगह कामवासना की भूख के लिए ताकते-फिरते हैं। उनकी गृहस्थी में अशान्ति होती है, समाज में ऐसे व्यभिचारियों का अपमान होता है, राष्ट्र में उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। चाहे उनके पास पर्याप्त धन हो, सत्ता भी मिल गई हो, परन्तु इस रोग ने उनका व्यभिचारी जीवन उन्हें वर्बाद कर देता है। लाखों वर्ष बीत जाने पर भी आज तक जो अपमान और घृणा का भाव राक्षस जाति और रावण के नाम पर बरस रहा है, वह केवल इसी दुर्गुण के कारण ही तो है? परस्त्री के अपहरण और स्वस्त्री सन्तोष न होने के कारण रावण को आज तक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो पाई है। संसार का अपार वैभव पाकर भी राक्षस-जाति और यादव जाति क्या बर्बाद हो गई? लंका और द्वारिका दोनों सोने की नगरियाँ थीं। किन्तु सोने की चकाचौंध में दोनों अपने जीवन का निर्माण करना भूल गए। एक ओर रावण का विशाल साम्राज्य इसी उच्छृङ्खल व्यभिचारी वृत्ति के कारण धूल में मिल गया तो दूसरी ओर द्वारिका को यादवों के इसी असंयमी जीवन ने आग में झोंक दिया।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण न करने के कारण व्यभिचार का शिकार बना हुआ व्यक्ति धन और वैभव में कितना ही बढ़ा-चढ़ा हो, नैतिक बल न होने के कारण संसार में उसे प्रतिष्ठा और सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसलिए गृहस्थ-जीवन में इस चतुर्थ अणुव्रत का ग्रहण करना बहुत ही आवश्यक है। इस व्रत को ग्रहण करने वाला गृहस्थ अपनी एक पाणिगृहीत पत्नी के सिवाय संसारभर की नारियों को माता समझता है, वह उन्हें पवित्र मातृ भावना से देखता है।

बुन्देलखण्ड के राजा छत्रशाल की परस्त्री के प्रति पवित्र दृष्टि थी। वे प्रजा-वत्सल एवं धर्मनिष्ठ शासक थे। वे प्रतिदिन सन्ध्यासमय प्रजा के सुख-दुःख का पता लगाने के लिए नगर में भ्रमण करने निकलते थे। एक धनिक विधवा स्त्री उनका रूप देखकर मोहित हो गई। उसने अपनी नौकरानी को भेज कर राजा छत्रशाल से कहलाया कि वह बहुत दुःखी है, और आपसे अपना दुःख कहना चाहती है। प्रजा-वत्सल राजा यह सुनकर शीघ्र ही उसके घर में पहुँच गए। महिला ने उन्हें अत्यन्त आदरपूर्वक एक सुसज्जित कमरे में उच्च आसन पर बिठाया। महिला से उसके दुःख का कारण पूछे जाने पर उसने कहा—"मैं बहुत दुःखी हूँ मेरे पति गुजर चुके हैं। कोई पुत्र नहीं है। मैं आप जैसा सुन्दर पुत्र चाहती हूँ। कृपया आप मुझे स्वीकार करें, मैं अपना हृदय आपको समर्पित करती हूँ।"

राजा छत्रसाल ने कुछ देर विचार करके कहा—"पुत्र होगा तो पता नहीं, मेरे जैसा सुन्दर होगा या नहीं? तुम मुझे ही अपना पुत्र समझ लो। तुम मेरी माता और मैं तुम्हारा पुत्र! स्वीकार कर लो।"

महिला यह सुनते ही अत्यन्त लज्जित हो गई, उसका कामविकार वात्सल्य-भाव के रूप में परिणत हो गया। राजा छत्रसाल उसी दिन से उसे अपनी माता

मानने लगे और प्रतिवर्ष कुछ न कुछ भेंट उसे दिया करते थे। जब तक वह जीवित रही, उस माता के भरणपोषण का वे ध्यान रखते थे।

यह है गृहस्थ-जीवन मे मर्यादित ब्रह्मचर्य का ज्वलन्त उदाहरण! राजर्षि नमि ने एक बार अपनी सेना को इस सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण नैतिकबल का सन्देश दिया था—"जब तुम दूसरे देश के विजेता बन जाओगे, तब तुम्हारे सामने वहाँ की प्रजा का वैभव और भोग-विलास की सामग्री होगी, सैनिक के हाथ मे शक्ति रहती है और वह उसके मद मे पागल हो जाता है। परन्तु तुम्हारे अन्दर इतना चरित्रबल होना चाहिए कि तुम वहाँ की जनता की एक भी वस्तु न छुओ। उस देश की सुन्दरी महिलाएँ तुम्हारी माताएँ और बहनें होनी चाहिए।"

जिन सैनिको मे नैतिक बल होता है, वे किसी देश को जीतने पर भी न तो धन लूटने का प्रयास करते हैं, और न वहाँ की महिलाओ की इज्जत लूटने का प्रयास करते हैं। जनता के हृदय मे ऐसे सैनिको के उच्च चरित्र की छाप अंकित हो जाती है।

ऐसे सैनिको के जीवन जैसा ही गृहस्थ का जीवन होना चाहिए। गृहस्थ मे यदि चरित्र बल है तो वह जिस घर मे रहता है, वहाँ भी प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और जहाँ भी वह नाते-रिश्तेदारो मे जाता है, तब भी आदर पाता है। जिसमे चरित्र-बल है, उसके लिए 'मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्' अप्सरा-सी सुन्दरियाँ (पर-स्त्रियाँ) माताएँ, बहनें हैं, परद्रव्य चाहें लाखो का ढेर हो, उसके लिए ढेले के समान है।

एक व्यापारी या दूकानदार किसी भी देश या प्रान्त मे रहे, कोई भी सात्त्विक व्यवसाय या व्यापार-धन्धा करे, मगर उसमे इतना चरित्रबल होना चाहिए कि कोई भी महिला उसके सम्पर्क मे आए, कुछ भी सौदा ले, देखे, किन्तु उसकी दृष्टि मे उसके प्रति मातृभाव या भगिनीभाव होना चाहिए। अगर उसकी दृष्टि मे सात्त्विकता होगी तो ससार मे उसके लिए किसी वस्तु की कमी न रहेगी, उसका जीवन सबके लिए विश्वसनीय, स्पृहणीय और आदरणीय बन जाएगा। उसके सदाचार का प्रभाव अमिट होगा।

परस्त्री के प्रति ऐसी मातृभावना या भगिनी भावना से उक्त गृहस्थ का जीवन आदरणीय एव विश्वसनीय तो बनता ही है, साथ ही उसके अपने हृदय मे भी विकारभाव नही आता। उसका दाम्पत्य-जीवन भी सुखी और शान्तिमय बनता है। वह एक सुन्दर परम्परा भी अपने परिवार मे छोड जाता है।

एक लखारा था। वह अपनी गधी पर बैठकर आसपास के गावो मे चूडियाँ बेचने जाया करता था। एक दिन वह गधी पर बैठे कहीं जा रहा था। गधी धीरे-धीरे चलने लगी। तब लखारा उसे हाकते हुए कहता जाता था—बेटी चल! बहन

श्रावक के ब्रह्मचर्य व्रत की मर्यादा

इन सब दृष्टियो से गृहस्थ-जीवन मे भी मनुष्य ब्रह्मचर्य से रह सकता है। यद्यपि पूर्ण ब्रह्मचारी और गृहस्थ ब्रह्मचारी मे बहुत अन्तर होता है। तथापि यदि गृहस्थाश्रम मे भी सयम, नियम से चले तो वह भी वासना के जहर को बहुत अशो मे कम कर देता है। यद्यपि पूर्ण ब्रह्मचर्य मे मैथुनागो सहित सभी प्रकार के मैथुनो का मन-वचन-काया से करने कराने और अनुमोदन करने का त्याग किया जाता है, इस अपेक्षा से आशिक ब्रह्मचर्य (देशविरति ब्रह्मचर्य) व्रत का आदर्श काफी नीचा है, तथापि देशविरति, ब्रह्मचर्य धारक भी बहुत अशो मे अब्रह्मचर्य का त्याग कर देता है, प्रत्येक विवाहित स्त्री-पुरुष इस देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत का भली-भाँति पालन भी कर सकते है। देशविरति ब्रह्मचर्य का स्वीकार करने से विवाहित स्त्री-पुरुष के सासारिक कार्यो मे किसी प्रकार की बाधा नही आती। इसलिए देशविरति ब्रह्मचर्य का पालन करना नैतिक, धार्मिक सभी दृष्टियो से प्रत्येक गृहस्थ के लिए उचित है। देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत को अगीकार करने वाला सद्गृहस्थ इस प्रकार प्रतिज्ञा लेता है—

"सदार-सतोसिए अवसेस मेहुण पच्चक्खामि जाव-जीवाए (देवदेव सम्बन्धी) दुविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा (मनुष्य मनुष्यणी तथा तिर्यन्च-तिर्यचणी सम्बन्धी) एगविह एगविहेण न करेमि कायसा।"

—"मैं (देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत मे) स्वदार-सन्तोष के अतिरिक्त शेष समस्त (स्त्रीजाति के प्रति) मैथुन का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ, यावज्जीव तक, देव-देवी-सम्बन्धी मैथुन का दो करण—तीन योग से (यानी मैथुनसेवन न करूँगा, न कराऊँगा, मन से, वचन से और काया से) इसी प्रकार मनुष्य-मनुष्यणी सम्बन्धी, तथा तिर्यञ्च-तिर्यञ्ची सम्बन्धी मैथुन सेवन का एक करण एक योग से (अर्थात् काया से) त्याग करता हूँ।"

जरा विचार कीजिए, गृहस्थ-जीवन मे ब्रह्मचर्यव्रत की इस प्रतिज्ञा से श्रावक का कोई भी कार्य रुकता नही, साथ ही वासना का विष भी कितना अल्पतम हो गया। मान लीजिए, विष से परिपूर्ण एक कलश है, उसमे से सारा विष निकल जाए और केवल एक बिन्दु विष रह जाए तो वह भी कितनी उच्च स्थिति है। यद्यपि एक बूंद जो विष रह जाता है, उसका भी उपयोग वह बहुत विवेकपूर्वक विवश होकर करता है। औषध के रूप मे ही वह उसका उपयोग करता है। इसलिए कहना होगा कि गृहस्थ-जीवन मे भी ऐसा मर्यादित ब्रह्मचारी श्रावक सारे विश्व मे पवित्रता की लहर दौड़ा देता है। वह घर, बाहर, कुटुम्ब-परिवार या समाज मे जहाँ भी जाता है वह सर्वत्र पवित्र मन, पवित्र नेत्र, पवित्र श्रवण, पवित्र हृदय रखता है। उसकी दृष्टि मे अपनी विधिवत् विवाहिता पत्नी के सिवाय ससारभर की समस्त महिलाओ के प्रति मातृभाव और भगिनीभाव का पवित्र निर्झर प्रवाहित होता रहता है। ससार के किसी कोने मे चला जाएगा, तब भी वह मातृजाति के प्रति इसी

निर्मल दृष्टि को रखेगा। आप अनुमान लगाइए, उस सद्गृहस्थ की कितनी उच्च भूमिका है ? कितना विष उसने त्याग दिया है।

कई लोग कहते हैं कि "विवाह तो ब्रह्मचर्य का भग है। जब कोई व्यक्ति विवाह के क्षेत्र मे उतरता है, तब वासना की दृष्टि लेकर ब्रह्मचर्य मे नीचे उतरता है। जैनधर्म जैसा निवृत्तिवादी धर्म विवाह का समर्थन कैसे कर सकता है ? अथवा स्वदारसन्तोष भी स्वकीय पत्नी के साथ मैथुन प्रवृत्ति-परक होने से उसका विधान भी कैसे कर सकता है ?"

वास्तव मे यह प्रश्न बडा विकट भी है, और महत्त्वपूर्ण भी है। इस अटपटे प्रश्न को हल करने मे कभी-कभी महान् दार्शनिक और विचारक भी उलझ जाते हैं, और उचित निर्णय नही कर पाते।

इस प्रश्न को हल करने के लिए हमे विवाह प्रथा के श्रीगणेश के इतिहास को टटोलना होगा। जैन इतिहास की दृष्टि से आदिम युग मे भगवान् ऋषभदेव ने सर्व प्रथम विवाह के क्षेत्र मे प्रवेश किया। उससे पहले यौगलिक-युग था, उस समय विवाह की प्रथा नही थी। सामाजिक विधान के रूप मे इस प्रकार का विवाह विहित नही था। भाई-बहन दोनो स्त्री-पुरुष साथी बनकर जीवन के क्षेत्र मे चल पडते थे। जैन इतिहास कहता है—उसमे जब विकृति आने लगी तो भगवान् ऋषभ-देव ने सर्वप्रथम समाज की साक्षी से विधिवत् पाणिग्रहण किया। उस विधि को उन्होने विवाह-विधि नाम दिया। उस समय की जनता से उन्होने कहा—"आज से यदि किसी को अपनी जीवन-यात्रा का सगी-साथी चुनना चाहे—चाहे स्त्री-पुरुष को या पुरुष-स्त्री को—तो उसे विवाह के रूप मे ही चुनना चाहिए। विवाह के अति-रिक्त जो भी पुरुष-स्त्री के सम्बन्ध होगे, वे वैध नही समझे जायेंगे। पशुओ की तरह उच्छृखल सम्बन्धो मे नैतिकता नही होती, प्रत्युत अनैतिकता और व्यभिचार ही होता है।

इससे यह समझा जा सकता है कि भगवान ऋषभदेव जैसे ज्ञानी पुरुषो ने विवाहप्रथा को प्रचलित करके वासना के व्यापक विष को, अत्यन्त अल्प करने की विधि बताई है। उन्होने कर्मभूमि के आदिकाल मे गृहस्थ-जीवन के प्रवेश मे विवाह करने की बात कहकर जीवन की एक बहुत बडी अनैतिकता को दूर कर दी। उन्होने विवाह करने वाले को बहुत बडा पाप करने वाला नही बताया। इन्होंने इस रूप मे गृहस्थ को अपनी जीवनयात्रा पवित्रतापूर्वक तय करनी सिखाई है।

पशु-पक्षी भी अपनी जीवनयात्रा तय करते है, परन्तु वहाँ विवाह जैसी कोई सीमा नही बाँधी हुई है। उनकी वासना की लहरे समुद्र की तरह असीम और तूफानी है। किन्तु गृहस्थ अपनी जीवनयात्रा तय करते समय विवाह के रूप मे वासना का जरा-सा द्वार खुला रखकर शेष वासना—समुद्र को बन्द कर देता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो वासना के लहराते हुए सिन्धु को प्याले मे बन्द कर देता है।

नेपाल मे एक बहुत बडा द्रह है। वहाँ वर्षाऋतु मे चारो ओर से पानी इकट्ठा हो जाता और तटो को तोडकर जब उच्छृखल रूप से बहने लगता तो कई गाँवो को जलमग्न कर देता था। कुछ बुद्धिमान इजीनियरो ने गाँवो को जलमग्न होने से बचाने के लिए वही एक पहाडी के नीचे एक बाँध बाध दिया। साथ ही इजीनियरो ने यह भी अनुमान लगाया कि बाँध बाध देने पर भी अगर पानी अत्यधिक आ गया तो बाध उस पानी को हजम नही कर पाएगा। पानी बाँध की दीवार को तोडकर बाहर निकल जाएगा तो फिर उसी तरह गाँवो की तबाही हो जाएगी। अत इजीनियरो ने बाँध बनाते समय ही एक बहुत बडा कपाट बना दिया, ताकि पानी बहुत जोरो से आने लगे और बाँध मे पानी को सामने की क्षमता न रहे, तो इस बडे कपाट को खोल दिया जाय।

बाँध मे क्षमता से अधिक भरा हुआ फालतू पानी अपने निकलने के मार्ग से निकल जाए और बाँध की दीवार सुरक्षित रहे। सचमुच, एक बार उस जलाशय मे पानी इतना अत्यधिक भर गया कि बाध की दीवार के टूटने का खतरा पैदा हो गया, अत कुशल इजीनियरो ने बाध का बडा कपाट खोल दिया, इससे पानी का उच्छृखल प्रवाह एक निश्चित मार्ग से बाहर निकल गया। ऐसा करने से नुकसान कम हुआ, आसपास के गाँव विनाशलीला से बच गए।

क्या इजीनियर ने फालतू पानी को निकलने का बडा कपाट खोलकर कोई अपराध किया? नही, ऐसा तो नही कहा जा सकता। कुशल इजीनियर का बडा कपाट खोलने का उद्देश्य तो यही था कि सारा का सारा बाध न टूट जाए और जन-धन की अपार क्षति और भयकर बर्बादी होने का अवसर न आए।

यही बात गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध मे है। कामवासना के उफनते हुए प्रवाह को रोकने के लिए आदि तीर्थंकर ऋषभदेव जैसे कुशल जीवन-इजीनियर ने गृहस्थ जीवन मे ब्रह्मचर्यव्रत रूपी बाँध बाँध दिया वासनाओ के उफनते हुए प्रवाह को नियत्रण मे रखना गृहस्थ साधक का कर्तव्य है। यदि उसकी क्षमता उस पर पूर्ण नियन्त्रण करने की है, तब तो सोने मे सुगन्ध की तरह शास्त्रीय भाषा मे वह पूर्ण ब्रह्मचर्य के शिखर पर पहुँच सकता है। परन्तु अगर वह वासनाओ के तूफानी प्रवाह को पूरी तरह से रोकने की क्षमता नही रखता है, समस्त वासनाओ एव विकारो को वह पचा नही सकता, उसके लिए विवाह के रूप मे एक बडा कपाट छोडा गया है, ताकि वासना का अतिरिक्त जल पति-पत्नी के रूप मे विहित एव नियत मार्ग से बह जाय। आप देखेंगे कि श्रावक के ब्रह्मचर्यव्रत की मर्यादा मे चारो ओर ब्रह्मचर्य का अखण्ड, अभेद्य बाँध है, केवल एक विवाह रूपी कपाट है, जिसके जरिये वासना का जल दम्पति रूपी विहित व निश्चित मार्ग से प्रवाहित हो सकता है। यो तो विवाह रूपी कपाट बद रहता है, किन्तु अत्यधिक विवशता मे, अतिरिक्त ऐसे सकटापन्न समय मे ही खोला जाता है, जिससे अतिरिक्त वासना जल सारे बाध को ही न तोड दे। किन्तु ऐसे समय मे

कपाट के उद्घाटन से ससार मे कोई उपद्रव नही होता, कोई धन-जन की बर्बादी, प्रतिष्ठा की हानि नही होती। सामाजिक मर्यादा रूपी बाध की दीवार के टूटने का अवसर नही आता और जीवन की पवित्रता भी सुरक्षित रहती है।

इस प्रकार विवाह-प्रथा के प्रचलन के पीछे भगवान ऋषभदेव का आशय यह था कि गृहस्थ विराट् वासना को एक पत्नी के साथ विधिवत् सलग्न होकर बद करके और ब्रह्मचर्य की काफी अशो मे रक्षा करते हुए भविष्य मे पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ़े। वासना को पशु-पक्षी की तरह उच्छृखल रूप से सेवन करते हुए मानव-समाज को उन्होने एक पत्नी मे केन्द्रित करने की बात कही। अन्यथा, मानव की जिंदगी पशुओ की-सी बन जाती। इस प्रकार मूल मे, श्रावक के लिए आशिक ब्रह्मचर्यव्रत की प्रेरणा है, विवाह के क्षेत्र मे भी उनका आशय ब्रह्मचर्य रक्षा का है।

इस दृष्टिकोण को आप हृदयगम कर लेंगे तो आपको विवाह की मर्यादा और ब्रह्मचर्यव्रत के रहस्य को भलीभाँति समझ सकेंगे।

शास्त्रो के गहन चिन्तन-मनन पर से मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि जो विवाह पूर्णतया दायित्व समझ कर ईमानदारी के साथ उसे निभाने के लिए किया जाता है, तो वह भी ब्रह्मचर्य-साधना का ही एक रूप है। विवाह कर लेने पर गृहस्थ श्रावक के स्वस्त्री के रूप मे सिर्फ एक द्वार के सिवाय ससारभर के समस्त वासना द्वार बद हो जाते है। इस प्रकार विवाह के अर्थगाम्भीर्य को समझ कर जब स्वीकार किया जाता है, तभी विवाह सच्चे माने मे सार्थक होता है। तभी उससे ब्रह्मचर्य साधना मे चमक आती है।

इस रूप मे जैनधर्म की दृष्टि से (विवाह वासनाओ का केन्द्रीकरण है। असीम वासनाओ को सीमित करने का मार्ग है) पाशविक जीवन से मुक्त होकर मानवीय जीवन को नैतिक रूप मे व्यतीत करने का साधन है। अन्ततोगत्वा पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर गति करने का कदम है। अत जैनधर्म मे विवाह के लिए स्थान है परन्तु पशु-पक्षियो की तरह निरकुश भटकने के लिए कोई स्थान नही है। यहाँ वेश्यागमन और परस्त्रीगमन के लिए अथवा अप्राकृतिक मैथुन के लिए कोई छूट नही है। जैनधर्म वासना को केन्द्रित एव मर्यादित करने की बात को तो स्वीकार करता है, साधक की शक्ति के अनुरूप उसे उपयुक्त भी मानता है। मगर वासना को उच्छृखल रूप से सेवन करने की बात बिलकुल उपयुक्त नही मानता।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विवाह अधिकाधिक विषयोपभोग का साधन नही, किन्तु (कामवासना को नियत्रित करने का साधन है। यह एक प्रकार का मरहम है, और मरहम का उपयोग तो तभी किया जाता है, जब शरीर के किसी अग-प्रत्यग मे घाव हो गया हो। मगर घाव के भरने के बाद कोई भी बुद्धिमान मानव शरीर पर मरहम लगाकर पट्टी नही बाँधता। मरहम की अपेक्षा घाव को मिटाने तक थी, उसके बाद हरदम मरहम लगाते रहना उचित नही, न वह सुख का साधन है।

इसी प्रकार विवाह भी काम-विकारो के प्रवल रोग को क्षणिक शान्त करने के लिए एक मरहम है।) पर न उससे विपय-विकार रोग सदा के लिए शान्त होता है। इसलिए विवाह के बाद भी दम्पत्ति के जीवन मे उच्छृखल-मुक्त सहचार नही होना चाहिए। कोई मर्यादाहीन क्रीडा नही होनी चाहिए, जिससे वासना को भडकने का प्रोत्साहन मिलता है।

यद्यपि विवाह के क्षेत्र मे दोनो चीजें हैं—वासना भी है, ब्रह्मचर्य भी। इन दोनो चीजो के होते हुए भी, देखना होगा कि विवाह मे ब्रह्मचर्य का अश अधिक है या वासना का ? हमे यह मालूम करना होगा कि यदि कोई विवाह के क्षेत्र मे प्रवेश करता है तो ब्रह्मचर्य की दृष्टि से करता है, या वासना की दृष्टि से ? विवेकी, समझदार और ब्रह्मचर्याणुव्रत धारक गृहस्थ की दृष्टि तो विवाह के पीछे ब्रह्मचर्य की ही होगी, किन्तु जो वेसमझी से, लकीर का फकीर वनकर दुनियादार लोगो की तरह विवाह के क्षेत्र मे प्रवेश करता है, उसकी दृष्टि तो वासना की ही होगी।

एक वगीचे मे गुलाव का पौधा लहलहा रहा था। उसमे सुन्दर और सुगन्धित गुलाव के पुष्प खिले हुए थे। उसी समय दो व्यक्ति उस गुलाव के पौधे के निकट पहुँचे। दोनो ने गुलाव का पौधा देखा। उनमे से एक ने कहा—"इस पौधे मे कितने सुन्दर और सुगन्धित गुलाव के फूल लगे है ?" यह सुनकर दूसरा बोला—'इसमे तो काटे ही काटे दिखते है। देखो न, जरा-से पौधे मे कितने काटे है ?" एक की दृष्टि फूलो की सुन्दरता और सौरभ की ओर गई, जबकि दूसरे की दृष्टि गई नुकीले काटो की ओर।

इसी तरह विवाह के क्षेत्र मे भी दो दृष्टियाँ हैं, एक ब्रह्मचर्य की, दूसरी वासना की। शास्त्रकार और विवेकवान् व्रती श्रावक की दृष्टि तो ब्रह्मचर्य की ही होगी, जवकि अविवेकी और गतानुगतिक की दृष्टि वासना की होगी।

विवाह : किसके लिए आवश्यक, किसके लिए अनावश्यक ?

अव यह सोचना है कि क्या विवाह सभी पुरुषो या स्त्रियो के लिए आवश्यक है ? यदि ऐसा नही है तो कौन-सा थर्मामीटर है, जिससे कामज्वर को नापा जा सके, और विवाह को आवश्यक या अनावश्यक बताया जा सके। वस्तुत मानव-जीवन की सफलता और चरित्र की सम्पूर्ण आराधना तो पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन मे है, लेकिन पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना गृहत्यागी साधु-साध्वी के लिए तो अनायास और आसान है। उनके लिए विवाह अनावश्यक है। इसी प्रकार जो व्यक्ति गृहस्थ-जीवन बिताना चाहते है, उनमे भी पुरुप को कम से कम २५ वर्ष तक और महिला को कम से कम १६ वर्ष तक विवाह करना आवश्यक नही है तव तक तो उन्हे अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए।

वैदिक धर्म मे विधान है कि चार आश्रमो मे पूरी आयु के ४ भाग मे पहला

भाग यानी १०० मे से २५ वर्ष तक, गुरुकुल मे रहकर अविलुप्त रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करके फिर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करें।[1]

तात्पर्य यह है कि २५ और १६ वर्ष की आयु तक तो पुरुष और स्त्री को विवाह के सम्बन्ध मे कुछ भी सोचना नही है, सिर्फ अखण्ड ब्रह्मचारी रहकर अपना जीवन अध्ययन मे बिताना है। तत्पश्चात् उन्हे अपने आपको परखना है, अपनी शक्ति को विवेक के बाटो से तौलना है, अपने आपको जाचना है कि मेरी कितनी क्षमता है? मैं कौन-सा मार्ग तय कर सकता हूँ, कौन-सा नही ?

भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य धर्म के दो रूप बताए हैं—(१) वासनाओ पर पूर्ण नियन्त्रण और (२) वासनाओ का सादा बन्धन। दूसरे शब्दो मे इन्हे पूर्ण ब्रह्मचर्य और आशिक ब्रह्मचय कहा जा सकता है। जिस साधक मे पूर्णरूप से वासनाओ पर कण्ट्रोल करने का सामर्थ्य नही है, वह अगर उच्छृ खलरूप से बहते हुए वासना प्रवाह को विवाह करके एक परिगृहीत पत्नी मे सीमित कर लेता है, तो वह कोई भयकर पाप नही करता, बल्कि आत्मा को भयकर अघ पतन से बचा लेता है। क्योकि वासना का अनियन्त्रित रूप तो जीवन की बर्बादी है, आत्मा का पतन है। परन्तु जिस साधक मे यह क्षमता होती है कि मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन कर सकता हूँ, वह विवाह के झझट मे नही पडता। भीष्म पितामह पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने मे समर्थ थे। उन्होने विवाह करने का मन मे विचार ही नही किया। बल्कि उन्होने पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की भीष्म प्रतिज्ञा ले ली थी।

लेकिन जो लोग ससार मे रहते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन करने मे अपने आपको असमर्थ पाते हैं, वे विवाह करके मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करते है, लेकिन दुराचार मे प्रवृत्त नही होते।

आजकल पाश्चात्य देशो के या पाश्चात्य देशो के सम्पर्क मे आए हुए भारतीय स्त्री-पुरुषो मे यह धारणा बढती जा रही है कि हम विवाह करके क्यो बन्धन मे पडें ? क्यो अपनी स्वतन्त्रता खोऐं ? क्यो किसी एक स्त्री या पुरुष के साथ आजीवन *बँध कर बालक-बालिका आदि के पालन-पोषण तथा स्त्री आदि के स्थायी व्यय मे* पडें ? इससे तो यही अच्छा है कि कुछ देर के लिए किसी स्त्री या पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय।

ऐसे लोगो की यह मान्यता बनती जा रही है कि सहवास चाहे स्वस्त्री या स्वपति से किया जाए अथवा परस्त्री या पर-पुरुष से किया जाय, रजवीर्य का नाश दोनो अवस्थाओ मे एक सरीखा ही होगा। बल्कि विवाहित जीवन मे इनकी क्षति अपेक्षाकृत अधिक है। क्योंकि स्वस्त्री या स्वपति के साथ तो जरा-सी इच्छा होते ही

---

१ चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ कुले।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ —मनुस्मृति

सम्भोग किया जा सकता है, लेकिन परस्त्री या परपुरुष के साथ तो दुर्विषय तभी भोगेंगे, जब कामेच्छा बहुत प्रबल और दुर्निवार्य होगी। इस प्रकार की युक्तियों द्वारा पाश्चात्य या पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आए हुए भारतीय लोग विवाहित जीवन की जिम्मेवारियों से बचने के लिए और स्वच्छन्द रहने के लिए ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर भी अविवाहित रहना अच्छा समझते हैं। इन विचारों के समर्थक कुछ भारतीय अपनी नवीन युक्ति भी प्रस्तुत करते हैं कि "स्वस्त्री या परस्त्री, अथवा स्वपति तथा परपुरुष के साथ सहवास करने में पाप तो एक ही समान होता है, फिर विवाह के बन्धन में नाहक क्यों पड़ा जाय? बल्कि विवाह करने में अधिक पाप होता है। विवाह के समय कितना आरम्भ-समारम्भ व दहेज आदि का प्रपंच करना होता है, तथा विवाह के पश्चात् भी स्त्री के भोजन-वस्त्र आदि में और सन्तान के भरण-पोषण, विवाह आदि में नाना आरम्भ-समारम्भ होता है। इस तरह के आरम्भ-समारम्भों से कितनी अधिक पाप-परम्परा बढ़ती है। इसलिए परस्त्री तथा परपुरुष से मैथुन-सेवन करने की अपेक्षा विवाहित होने में अधिक पाप है। अतः विवाह न करना ही श्रेष्ठ है।"

ये और इस प्रकार के कई कुतर्कजाल बिछा कर वे मुक्त सहचार की आकर्षक बातों का समर्थन करते हैं। विवाह-व्यवस्था को मानव-जीवन के लिए निरुपयोगी और अनावश्यक समझते हैं।

ऐसे विचार वाले लोग प्रथम तो विवाह के उद्देश्य से ही अनभिज्ञ हैं, दूसरे ब्रह्मचर्य की महिमा और उपयोगिता को भी नहीं समझ पाए हैं। वे मानो यही समझे बैठे हैं कि विवाह का प्रयोजन केवल विषयोपभोग है। इससे अधिक विवाह की कोई महत्ता, पावनता, नैतिमत्ता, उपयोगिता या आवश्यकता वे नहीं समझते। अपनी इस एकांगी मान्यता पर वे दूरदर्शिता से कोई विचार नहीं करते। जो स्त्री-पुरुष नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवनयापन करना चाहते हैं, उनके लिए विवाहित जीवन की आवश्यकता नहीं है, इस बात से सभी धर्मशास्त्र सहमत हैं।

सार्थक हो सकता है, अत पति-पत्नी एक दूसरे के सुख-दुःख एव दायित्व को वहन करने का प्रयत्न करें।

स्त्री-पुरुष के धर्म-पालन मे सहचारिणी बने। पुरुष स्त्री के धर्मपालन मे सहचर बने। विवाह मे केवल वहन करना ही नहीं है। अपितु त्यागरूप मे अपने जीवन की आहुति देकर भी उसे वहन करना है।

इसका पर्यायवाची शब्द 'लग्न' है, जिसका अर्थ होता है—पति-पत्नी दोनो का एक-दूसरे से सलग्न होना—मिलना—लीन होना। लग्न (विवाह) केवल पति-पत्नी का देहमिलन (देहलग्न) ही नहीं, अपितु मनोमिलन और आत्ममिलन है। इस दृष्टि से विवाह का आदर्श है—पति-पत्नी के निर्दोष प्रेम का निर्झर एकरूप होकर बहना। यही गृहस्थाश्रम का मगलमय प्रवेशद्वार है।

अगर विवाह का प्रयोजन केवल विषयभोग ही माना जाता अथवा विवाह प्रथा का प्रचलन न होता तो ससार मे मानव जाति मे अराजकता, स्वच्छन्दता और अशान्ति का बोलबाला होता। यह काम-मनोविज्ञान का अनुभव सिद्ध मत है कि एक प्रेमी पुरुष अपनी प्रेमिका के साथ दूसरे पुरुष का लगाव नहीं सह सकता। अत प्राय देखा जाता है कि कामिनियो के लिए ससार मे अनेक लड़ाई-झगडे व मारकाट मची है। एक ही पुरुष को चाहने वाली अनेक स्त्रियाँ अथवा एक ही स्त्री को चाहने वाले अनेक नर भ्रमर आपस मे लडझगडकर मर जाते है। आए दिन समाचार-पत्रो मे हम पढते है, अमुक सुन्दरी या वेश्या के पीछे अनेक नर हत्याएँ हुई। यदि वह सुन्दरी या वेश्या किसी एक की ही विधिवत् पत्नी होती तो इतनी मारकाट या हिंसा का अवसर न आता। इसी प्रकार विवाहप्रथा न होती तो पुरुष-स्त्री दोनो के स्वच्छन्द हो जाने पर कुत्ते-कुतियो की तरह केवल दुर्विषयभोग भोगने तक ही सम्बन्ध रहता, उक्त स्वार्थपूर्ति होते ही, पुरुष-स्त्री एक-दूसरे को आँखें दिखा देते, कोई किसी के सुख-दुख, बीमारी, आपत्ति या सकट के समय सहयोग न देता। सहानुभूति, दया, प्रेम और मानवता तक भी देखने को न मिलती। पुरुष या स्त्री दोनो मे से कोई विकलाग या सहचार के अयोग्य या अशक्त, असाध्यव्याधि से पीडित हो जाने पर किसी की सेवा भी न करता, बल्कि विषयभोग भोगने की शक्ति क्षीण होते ही जीवन दु खमय, आश्रयरहित, असहाय व पश्चात्तापमय बन जाता।

विवाहप्रथा के बदले यदि स्त्री-पुरुष का नैमित्तिक सम्बन्ध ही प्रचलित होता तो जितने समय तक विषयभोग नही भोगा गया है, जब तक स्त्री-पुरुष विषयभोग भोगने के लिए लालायित हैं तब तक ही एक-दूसरे से प्रेम करते, एक-दूसरे को चाहते व परवाह करते। विषयभोग भोग चुकने पर या उसके योग्य न रहने पर स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को उसी प्रकार फेंक देते, जिस प्रकार वेश्या की उसका जारपति और जारपति की वेश्या अपेक्षा कर देती है।

विवाहप्रथा अगर प्रचलित न होती तो सन्तान की जिम्मेवारी से जिस प्रकार

पुरुष बचना चाहते है, उसी प्रकार महिलाएँ भी बचना चाहती। फलत या तो भ्रूण हत्या होती या बाल हत्या होती। या सन्ततिनिरोध के कृत्रिम उपाय अजमाए जाते और धीरे-धीरे जनन-क्रिया के साथ ही नारी मे जो सन्तान के प्रति नारीसुलभ दया, वात्सल्य, सहानुभूति या कोमलता होती है, उसका भी लोप हो जाता।

विवाहप्रथा का स्थान स्त्री-पुरुष-स्वैराचार के ले लेने पर स्त्री-पुरुषो का सासारिक जीवन नीरस, निरुद्देश्य, मनहूस एव रूक्ष हो जाता। तब तो जीवन का उद्देश्य धर्मपालन द्वारा आत्मोन्नति या मुक्ति न होकर अच्छे से अच्छा वस्त्र, खानपान आदि तथा सुन्दर से सुन्दर स्त्री या अधिक सुरूप पुरुष के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक काम-भोग-सेवन करना ही होता। पशुओ की तरह रात-दिन इन्ही भोग-विलास के साधनो की टोह मे मनुष्य आवारा-गर्द भटकता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि धर्मांग इस स्वच्छन्द भोगविलास पूर्ण उद्देश्य मे बाधक माने जाते। इसलिए विवाह का उद्देश्य दुर्विषयभोग होकर स्त्री-पुरुष का मुक्त सहचार माना जाए तो जीवन की शान्ति, स्वस्थता, स्वस्थ सास्कृतिक परम्परा आदि सब चौपट हो जाते है।

निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन करने मे असमर्थ है, उनके लिए जैनधर्म जबरन पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने की बात नही कहता, लेकिन पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन मे असमर्थ लोगो के लिए विवाह न करके स्वच्छन्दाचार या दुराचार मे प्रवृत्त होने का सख्त निषेध करता है। वह कहता है, यदि किसी से विवाह नही करना है तो पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करो, किन्तु दुराचार या स्वच्छन्दाचार मे प्रवृत्त न होओ। जैन-शास्त्रो मे दुराचार प्रवृत्ति का निषेध विवाहित एव अविवाहित दोनो प्रकार के जीवन मे है। जो परस्त्रीगमन या वेश्या-गमन करता है, वह विवाहित हो या अविवाहित दुराचारी माना गया है, लेकिन विवाहित होकर परस्त्रीगमन या वेश्यागमन से बचने वाले व्यक्ति को दुराचारी नही कहते, अपितु शीलवान या सदाचारी कहते है।

जो लोग यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने मे सक्षम है, दुर्विषयो मे इन्द्रिय और मन को प्रवृत्त न होने देने का सामर्थ्य रखते है, उनके लिए विवाह न करना ही श्रेयस्कर है। लेकिन जो ऐसा करने मे अभी अपने को असमर्थ समझते है, जिन्हे विवाह न करने पर दुराचार मे प्रवृत्त होने का डर है, नीतिज्ञो की दृष्टि मे ऐसे व्यक्तियो का विवाह करना दुराचार मे प्रवृत्त होने की अपेक्षा बुरा नही, अच्छा माना जाता है।

एक रूपक द्वारा इसे समझने का प्रयत्न करिये—एक मकान है, उसमे आग लगने की आशका थी, किन्तु कुशल गृहपति ऐसा प्रयत्न करता है कि उसमे आग लगे ही नही, अथवा आग लगने पर तत्काल ही विवेकपूर्वक बुझा दी जाती है। किन्तु यदि वह गृहपति आग को लगने न देने का सामर्थ्य नही रखता, और न ही तत्क्षण आग लगने पर बुझा सकता है, ऐसी दशा मे आग के बढ जाने पर जिस मकान मे आग लगी होती है, उस मकान से सटे हुए दूसरे मकानो का सम्बन्ध वह गृहपति तोड देता है,

ताकि वह आग दूसरे मकानो मे न फैले। यानी उस मकान की सीमा बाधकर उस आग को बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। वह आग जो लगने के समय नही बुझाई जा सकी, इस उपाय से बुझ जाती है, बढ़ने नही पाती। अत वह आग लगने के समय ही बुझाई न जाने के कारण केवल सीमान्तर्गत घर की हानि कर सकी, लेकिन उस आग के सीमित कर दिये जाने से अनेक मकान भस्म होने से बच गए। ठीक यही बात विवाह के विषय मे कही जा सकती है। यदि मनुष्य अपने मे कामवासना की आग ही उत्पन्न न होने दे, अथवा उत्पन्न होते ही विवेक व सयम द्वारा बुझा सके, तब तो विवाह करने की आवश्यकता ही नही रहती। लेकिन न दबा सकने पर वह आग विवाह द्वारा सीमित कर दी जाए तो वह आगे बढने से रुक जाती हे। इस प्रकार मनुष्य असीम हानि से बच जाता है।

यदि कामवासना की आग का प्रादुर्भाव न होने देने या विवेक द्वारा उसे दवा सकने की क्षमता न होने पर भी उत्पन्न विषयेच्छा की पूर्ति विवाह द्वारा न करके स्वच्छन्दता से दुराचार द्वारा की जाए तो वह भयकर हानिकारक हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि विवाह दुर्विषयभोग की इच्छा को बढाने या सिर्फ दुर्विपय-भोग-सेवन के लिए ही नही है, अपितु ब्रह्मचर्यपालन की निर्वलता को शनै -शनै घटा-कर एव पति-पत्नी दोनो के परस्पर धर्म्य सहयोग से मिटाकर ब्रह्मचर्यपालन की पूर्ण क्षमता प्राप्त करने के लिए है। यदि प्रतिक्षण बढती हुई दुर्विपयभोगलालसा को विवाह किये बिना ही विवेक से दबाने की शक्ति हो तो विवाह करना आवश्यक नही है। उक्त शक्ति के अभाव मे ही विवाह किया जाता है। इसके अतिरिक्त विवाहित जीवन विताने मे दया, अनुकम्पा, सेवा, सहयोग, सहानुभूति आदि सद्गुणो के विकास का लाभ हो सकता है, वह स्वच्छन्द-सहचार मे कहाँ सुलभ है ? इसलिए ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर दुराचारपूर्ण जीवन नीतिरुद्ध एव निन्दनीय है। महात्मा गॉधीजी के विचारो मे विवाह सामाजिक जीवन का केन्द्र है, एकपत्नीव्रत या एकपतिव्रत उसका आदर्श है। यह तभी हो सकता है, जब स्वच्छन्दता को विवाह-बन्धन द्वारा त्याज्य समझा जाए।"

पाश्चात्य सत फ्रासिस का कथन है कि विवाह कामवासना की दवा के रूप मे वडी अच्छी वस्तु है, लेकिन वह कठोर है। इसलिए यदि उसका व्यवहार सभल कर न किया जाय तो खतरनाक भी है।" दवा लेने की आवश्यकता उन्ही लोगो को होती है, जो रोग को और किसी उपाय से नही मिटा सकते। तात्पर्य यह है कि विवाह वे ही लोग करते हैं जो विवेक रूपी औषधि से कामवासना रूपी रोग को दबाने मे अस-मर्थ है। जिनके पास विवेक रूप औषधि नही है, या इसकी कमी है, अथवा पूर्ण विवेकी होते हुए भी पुण्यफलो की निर्जरा करना जिनके लिए आवश्यक है और जो निकाचित बन्ध मे पडे हुए हैं, वे ही विवाह करते हैं। पश्चिम के एक विचारक का कहना है—"कामवासना इतनी प्रबल नहीं होती कि उसका पूर्णतया दमन, विवेक या

नैतिक बल से किया न जा सके। विषयेच्छा भी निद्रा एव क्षुधा के समान ऐसी कोई वस्तु नही है, जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो।

निष्कर्ष यह है कि कामवासना का दमन विवेक द्वारा भावना एव सम्यग्ज्ञान के बल से किया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह करना कोई आवश्यक नही है।

कई लोगो का कहना है—**"प्रजार्थं गृहमेधिनाम्"** या **"सन्तानार्थाय मैथुनम्"** इन सूत्रो के अनुसार सन्तानोत्पत्ति की दृष्टि से गृहस्थ बनने हेतु विवाह करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। अगर सभी लोग ब्रह्मचारी होने लगेंगे तो जगत् का अन्त हो जाएगा।" ऐसे लोगो की शका निर्मूल है। ससार अनादि है, इस कारण न तो कभी उसका अन्त आ सकता है, न सभी लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन ही कर सकते है। कदाचित् ऐसा मान भी लें तो भी सन्तानोत्पत्ति और ससार के अन्त की आपको चिन्ता क्यो ? अगर सारा ससार ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा तो इससे किसी की हानि ही क्या है ? आपको तो यह देखना चाहिए कि हमारा उद्धार विवाह करके प्रजावृद्धि (ससारवृद्धि) करने से है या ब्रह्मचर्य पालन से है ? महात्मा गाँधीजी का इस सम्बन्ध मे बहुत सुन्दर चिन्तन है—"आदर्श ब्रह्मचारी को कामेच्छा या सन्तानेच्छा से कभी जूझना नही पडता। ऐसी इच्छा उसे होती ही नही।"

भीष्म पितामह के उद्‌गार भी इस सम्बन्ध मे मननीय है—"ब्रह्मचारी को सन्तान या ससार की इच्छा नही होती, न इनकी उत्पत्ति या वृद्धि के लिए वह अपने ब्रह्मचर्य को खण्डित कर सकता है।"

अत सभी लोगो के लिए विवाह करना आवश्यक नही हे।

स्वपत्नीसन्तोष-परदारविरमणव्रत की निष्ठा

श्रावक के ब्रह्मचर्याणुव्रत की मर्यादा यह है कि विवाह होने से पहले तक समस्त स्त्रियो को माता या बहन समझे। विवाहबद्ध हो जाने पर पुरुष को उन सभी स्त्रियो के प्रति किसी भी प्रकार की कामवासना या मैथुन-भावना का मन, वचन, काया से पूर्वोक्त अगो सहित त्याग करना आवश्यक है, जो स्त्री अपने साथ विधिवत् विवाहित नही है। जिस स्त्री का अपने साथ विधिवत् पाणिग्रहण नही हुआ है, वह स्त्री चाहे कुमारिका हो, वेश्या हो, विधवा हो, रखेल हो या कितनी ही सुन्दरी और चाहने वाली क्यो न हो, वह परस्त्री ही समझी जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्याणुव्रत धारी स्त्रियो के लिए अपने पति के सिवाय सभी पुरुष परपुरुष समझे जाते हैं, इसीलिए इस व्रत का नाम शास्त्रकारो ने स्वदारसन्तोप (स्त्रियो के लिए स्वपति सन्तोप) व्रत रखा गया है, इसमे परस्त्री के साथ सर्वप्रकार से मैथुनसेवन का त्याग किया जाता

स्वदारसन्तोपव्रत की निष्ठा तभी समझी जाती है, जब पुरुप एकपत्नी और स्त्री एकपतिव्रत का पालन करे। बहुविवाह किसी जमाने मे समाज मे

जाता होगा, परन्तु वर्तमान युग मे वह सर्वथा अवैध है। इससे पुरुष मे भी कामवासना की वृत्ति अधिकाधिक भडकती है, और स्त्रियो के भी प्राय. असन्तुष्ट होकर व्यभिचारिणी बन जाने की सम्भावना रहती है। बहुत-से पुरुष अपनी पत्नी को तो पतिव्रता देखना चाहते है, उसे परपुरुषगामिनी नही देखना चाहते, मगर स्वय पत्नीव्रत का पालन नही करना चाहते, स्वय परदारगमन की छूट चाहते है। ऐसे व्यक्ति बबूल बोकर आम खाने की इच्छा रखते है। जब तक पुरुष इस नियम का यथार्थरूप से पालन नही करेगा, तब तक स्त्री को इस नियम के पालन के लिए बाध्य करने का उसे अधिकार भी नही है, न उसे उस नियम का पालन कराने मे सफलता ही मिलनी है, जिसका पालन स्वय नही करता। यह बात दूसरी है कि परस्त्रीगामी पुरुष की पत्नी अपना धर्म समझकर स्वय सदाचारिणी एव पतिव्रता रहे। भारतीय स्त्रियाँ प्राय परपुरुषगामिनी नही होती, किन्तु परदारसेवी-पुरुष ही प्राय उसे परपुरुषगामिनी बनने को बाध्य कर देते हैं। अत जो अपनी स्त्री को सदाचारिणी, पतिव्रता एव स्वपति-सन्तुष्टा रखना चाहते है, दाम्पत्य-प्रेम स्थायी रखना चाहते है, उन पुरुषो को स्वय स्वदारसन्तोषव्रत के अन्तर्गत एकपत्नीव्रत धर्म का पालन करना चाहिए। इसीलिए इस व्रत के साथ-साथ **'परदारगमनविरमण'** शब्द भी जोडा गया है।

परस्त्री-सेवन से अपार हानियाँ

स्वदार सन्तोषव्रत रहित यानी परदारगामी पुरुष दुराचारी, निन्द्य एव समाज मे अप्रतिष्ठित समझा जाता है, परलोक मे भी उसको दुर्गति प्राप्त होती है। इहलोक मे भी उसका परिवार सुखी नही रहता, ऐसे पुरुष का विश्वास न उसकी स्त्री करती है और न ही परस्त्री ही। उसके घर मे गृहिणी से सदा कलह होता रहता है। घर क्लेशमय हो जाता है। सन्तान या तो होती ही नही, होती है तो रोगिष्ठ, अल्पायु और व्यभिचारिणी होती है। परस्त्रीगामी पुरुष का जीवन कलकित, दूषित और पापपूर्ण रहता है। उसमे बल, साहस और धैर्य समाप्त प्राय हो जाता है। प्राय सभी सद्‌गुण एक-एक करके विदा हो जाते है। उसे भय, क्रोध, रोग, शोक, अपमान, दैन्य आदि दुख घेर लेते है। वह सदा नीति-धर्म से विरुद्ध कार्य करता रहता है। इस लोक मे भी वह राजदण्ड के भय से आशकित रहता है, लोकनिन्दा के भय से सदा चिन्तित रहता है। धम्मपद मे परस्त्रीगामी के लिए चार फल बताये है—(१) अपयश, (२) निद्रानाश (३) चिन्ता, (४) नरक। परस्त्रीगमन से केवल आयुष्यबल ही क्षीण नही होता, किन्तु अन्यबल, साहस, धनवैभव आदि सब नष्ट हो जाते है। परस्त्रीगामी स्वय ही बदनाम नही होता, अपने साथ-साथ वह अपने कुल, जाति, वश समाज, धर्म और राष्ट्र को भी बदनाम कराता है।

राजा रावण मे बल कम न था, लेकिन स्वदारसन्तोषी न होने के कारण परिवार सहित नष्ट हो गया। उसका बल-वैभव किसी काम न आया। यही बात मणिरथ, पद्मोत्तर आदि परस्त्रीगामी राजाओ के लिए कही जा सकती है। महात्मा

गाँधीजी ने परस्त्री-गामी को रोग का घर कहा है। उन्होने कहा कि 'जहाँ परस्त्री-गमन न होगा, वहाँ ५० प्रतिशत डॉक्टर बेकार हो जायेंगे। परस्त्रीगमन से होने वाले दुसाध्य रोगो का इलाज भी सहसा नही हो पाता। जहरीली दवाइयो से एक रोग दबने के साथ-साथ अनेक रोग उभर आते है, जो पीढी-दर-पीढी चलते रहते है।' परस्त्रीगामी के इस भयकर दूषण का फल भावी सन्तान को भी भोगना पडता है। कुरल मे परस्त्रीत्याग के सन्दर्भ मे कहा है[1]—"मनुष्य की श्रेष्ठता किस काम की जबकि वह व्यभिचारजन्य लज्जा का किंचित् भी विचार न कर परस्त्रीगमन करता है।"

स्वदार-सन्तोषव्रत से लाभ

स्वदारसन्तोपव्रत को अगीकार करने वाला पुरुप असीम कामवासना के पाप से बच जाता है। परस्त्री सेवन का त्याग करने वाले पुरुप का चित्त परस्त्री की ओर जाता ही नही। ऐसा पुरुप राज्य भडार अन्त पुर मे, साहूकार के महल मे या कही भी चला जाए, किसी को उसके प्रति अप्रतीति नही होती। समाज, राष्ट्र, परिवार और जाति मे सभी लोग उस पर विश्वास करते है। उसका शरीर और मन प्राय स्वस्थ, मेधावी, सुडौल, बलिष्ठ एव दीर्घायु होता है। उसकी सन्तान भी ऐसी ही होती है। व्यास-स्मृति मे इस व्रत की बहुत महिमा बताई है—

> स्वदारे यस्य सन्तोष. परदार-निवर्तनम्।
> अपवादोऽपि नो यस्य, तस्य तीर्थफल गृहे॥

'जो पुरुप अपनी स्त्री मे सन्तुष्ट रहता है और परस्त्री-सेवन से विरत हो जाता है, उसकी कोई निन्दा नही होती, न किसी प्रकार का अपवाद होता है। घर मे ही उसे तीर्थ का फल मिल जाता है।'

स्वदार-सन्तोपव्रत का स्वीकार करने से दाम्पत्य कलह कदापि नही होता, दोनो मे शुद्ध प्रेम, परस्पर विश्वास एव निष्कपट हृदय रहता है। लोक मे खास कर महिलाओ मे वह विश्वास भाजन माना जाता है। उसमे धन, वैभव, बल, यश, बुद्धि, कीर्ति, निर्भयता एव साहस आदि सद्गुण सुरक्षित रहते हैं। परलोक मे भी उत्तमगति प्राप्त होती है, यहाँ तक कि वह मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है।

स्वदार-सन्तोष की मर्यादाए

कई लोग अज्ञानवश यह समझ बैठते है कि इस व्रत मे स्व-स्त्री सेवन खुला रखा है तो चाहे जब और चाहे जिस परिस्थिति मे वे स्वदार के साथ मैथुनसेवन करने के लिए स्वतन्त्र है। लेकिन स्वदारसन्तोष का अगर यही उद्देश्य या अर्थ होता तो

---

1 [illegible] [illegible] रमते य परस्त्रियाम्।
[illegible] [illegible], [illegible] येन च हेलिता॥

—कुरल परिच्छेद

फिर उसे ब्रह्मचर्याणुव्रत या देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत नाम न दिया जाता। क्योंकि स्वस्त्री के साथ दिन हो या रात, समय हो या असमय, गर्भवती हो या लघु सन्तानवती हो, अष्टमी हो, चतुर्दशी हो, पर्वतिथि हो या रोगिणी, विपद्ग्रस्त, चिन्तित कैसी भी अवस्था में हो, विषय-सेवन किया जाता और फिर ब्रह्मचर्य का कोई भी अर्थ न रहता, न कोई अंकुश रहता। मगर ऐसी बात नहीं है, स्वदारसन्तोषव्रत में स्वच्छन्दता को कोई स्थान नहीं होता।

महात्मा गांधीजी, विनोबाजी तथा भारतीय ऋषियों एवं नीतिकारों ने बताया है कि विवाह करने में केवल सन्तानोत्पत्ति का ही विचार होना चाहिए। कामेच्छा की तृप्ति नहीं। कामेच्छा के वश होकर जिस सन्तान को मनुष्य जन्म देता है, वह कामज कहलाती है, वह धर्मज सन्तान नहीं है। जहाँ धर्मज सन्तान की उत्पत्ति ही विवाह का उद्देश्य हो, वहाँ अधिक सन्तान पैदा करने का अधिकार नहीं है।

आजकल विवाहितों में उच्छृंखल कामवृत्ति तथा अविवाहितों में अनाचार प्रायः देखने में आता है, इस पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रत्येक स्त्रीपुरुष को विचार करना चाहिए। नीतिकारों का इस विषय में स्पष्ट कथन है—

'सन्तानार्थाय मैथुनम्'

मैथुन का विधान सिर्फ सन्तानोत्पत्ति के लिए है—

स्वदार-सन्तोषव्रती को निम्नलिखित मर्यादाओं का पालन करना आवश्यक है—

(१) नीतिज्ञों और वैद्यकमत के अनुसार रजोदर्शन से पहले स्त्री-पुरुष सहचार न हो, क्योंकि ऋतुस्नान के पूर्व किए गए सम्भोग से वीर्य व्यर्थ जाता है।

(२) स्वच्छन्दता से स्वस्त्री के साथ भी अति मैथुन न करे। इससे कई रोगों की उत्पत्ति होती है। साथ ही असमय में मैथुन भी न करे। दिन के समय, रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में, तथा स्त्री गर्भवती हो, बालक अभी छोटा हो, तब स्त्रीप्रसंग न करे। यह भी अत्यन्त हानिकारक है।

(३) द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी अमावस्या एवं पूर्णमासी आदि पर्वतिथियों में ब्रह्मचर्य का पालन किया जाए। विशेष धर्माराधन के लिए जैन-आचार्यों ने ६ अठाइयाँ (आठ-आठ दिनों के ६ पर्व) नियत किये हैं बैठती, उठती और फाल्गुनी (होली) तीन चौमासी की तीन, दो नव-पद-आराधना के लिए आयम्बिल की ओली (चैत्र और आसोजमास में) की एक पर्युषणपर्व की इस प्रकार सालभर में ६ अठाइयाँ आती हैं। इन ६ अठाइयों में धार्मिक सद्गृहस्थ को ब्रह्मचर्यपालन करना चाहिए। इस प्रकार वर्ष में १४४ दिन ब्रह्मचर्य पालन करें। तात्पर्य यह है कि करीब ६ महीने तो ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिए।

शेष ६ महीनों में भी पूर्वोक्त अवस्थाओं में स्त्रीप्रसंग न करे। उनमें भी दिन

के १२ घटे और निद्रा के ६ घटे, यो १८ घटे तो वैसे ही अब्रह्मचर्य सेवन से बचना चाहिए।

(४) स्वदारसन्तोषी को स्वस्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री, फिर वह चाहे विधवा हो, रखैल हो, कुमारिका हो, वेश्या हो या सिनेमा तारिका हो, के साथ हसी-मजाक, छेडछाड, कुचेष्टा, कुदृष्टि से देखना, एकान्त मे वार्तालाप, अतिससर्ग आदि से बचना चाहिए।

(५) इसी प्रकार अप्राकृतिक मैथुन (हस्तमैथुन, गुदामैथुन) या जननेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य अगो से कामक्रीडा करना भी स्वदार-सन्तोपी के लिए वर्जित है।

(६) स्वस्त्री के साथ भी उसकी इच्छा के विरुद्ध गमन करना बलात्कार है, वह भी व्रतभग माना जाएगा। पति-पत्नी परस्पर मिले, तब गदी चाह प्रगट करना, कामोत्तेजक बाते करना या गन्दी-अश्लील भद्दी गालियाँ बकना भी उचित नही है।

(७) परस्पर विधिवत् विवाह न हो जाय, तब तक प्रणय (प्रेम) पत्र-व्यवहार एकान्त मे मिलन, अकेले सहभ्रमण, आलिगन या चुम्बन आदि भी वर्जित होना चाहिए, ताकि शील की मर्यादा पवित्र रह सके।

(८) पतिपत्नी दोनो के दाम्पत्य सम्बन्ध मे दरार पडे, या परस्पर अविश्वास पैदा हो, इस प्रकार का कोई भी कारण उपस्थित न किया जाय, न दोनो मे किसी प्रकार का दुराव-छिपाव रखा जाय, और न ही एक-दूसरे पर सहसा मिथ्यारोपण किया जाय।

(९) घर मे बहन, बेटी या पुत्रवधू विधवा हो जाय, तो उस समय घर के प्रौढ या वृद्ध स्त्री पुरुपो को स्वय शील-पालन करके उसके समक्ष सुन्दर वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए।

(१०) जब बडा पुत्र घर सँभालने लायक हो जाय तो पति-पत्नी दोनो को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत अगीकार करके कौटुम्बिक कार्यों से निवृत्त होकर समाज-सेवा के कार्यों मे सलग्न हो जाना चाहिए।

(११) अपनी पत्नी का देहान्त हो जाने के बाद दूसरा विवाह न करके पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने का आदर्श उपस्थित करना चाहिए।

(१२) विवाहबद्ध हो जाने के बाद भी यदि पति-पत्नी दोनो के उच्च विचार हो, विश्वात्मभाव से सर्वस्व-अर्पण की वृत्ति या विश्वव्यापक भावना हो तो उसे क्रियान्वित करने के लिए रामकृष्णपरमहस एव शारदामणि की तरह या महात्मा गाँधी एव कस्तूरबा की तरह पति-पत्नी दोनो को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का स्वीकार कर लेना चाहिए। इसका उपाय यह है कि जो विवाह हो गया है, उसे भूल जाय। अर्थात् पत्नी और बालको के बीच रहते हुए भी मन मे से यह भावना निकाल दें कि हमारा विवाह हुआ है। पति-पत्नी दोनो आपस मे अविवाहित व्यक्तियो की तरह—भाई-बहन

की तरह या गांधीजी तथा रामकृष्णपरमहंस की तरह पत्नी को माता मानकर रहे। फिर उन दोनो के सम्बन्धो मे विकार को कोई स्थान नहीं रहेगा।

पति-पत्नी दोनो का सम्बन्ध शुद्ध, निर्विकार रहेगा। इस प्रकार काम विकार की वृत्ति, जो दुःख की जड है, और पति-पत्नी के सम्बन्ध के साथ जुडी हुई है, कट जाएगी।

इसके साथ ही एक बात और विचारणीय है, वह यह कि केवल पत्नी के प्रति भावना को वदल देने से पुरुष कामविकार से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य किसी स्त्री को देखकर मन मे विकार पैदा हो सकता है। इसलिए पत्नी सहित समूची नारी जाति के प्रति उक्त ब्रह्मचर्यव्रती गृहस्थ को अपनी भावना वदलने की आवश्यकता है। वह भावना है—मातृभावना, जो कामविकार से मुक्ति पाने के लिए अचूक उपाय है।

ऐसा होने पर पति-पत्नी के बीच जो वासनामय आकर्षण था, वह समाप्त हो जाता है और विकाररहित सम्बन्ध मे सात्त्विक आकर्षण विशेष रूप से उत्पन्न होता है। वासनामूलक आकर्षण चित्त मे समता और शान्ति को नष्ट कर देता है, जबकि सात्त्विक आकर्षण से चित्त मे समता, स्वस्थता और आनन्द बने रहते हैं। इस प्रकार पति-पत्नी सम्बन्ध की संकुचित वृत्ति समाप्त होने पर सीमित कौटुम्बिक दायरा टूट-कर विशाल और असीम होने लगता है। संकुचित सम्बन्धो के बारे मे ममत्व कम हो जाता है, विशाल व्यापक सम्बन्धो के प्रति वात्सल्य-भावना विकसित होने लगती है। यानी शनैः-शनैः कुटुम्ब वात्सल्य विश्ववात्सल्य के रूप मे परिणत होने लगता है। स्वार्थी, संकुचित और एकांगी प्रेम का स्थान विश्वप्रेम लेने लगता है। यह है—स्वदार-सन्तोषव्रती श्रावक की मर्यादित ब्रह्मचर्य से लेकर पूर्ण ब्रह्मचर्य तक की यात्रा।

यद्यपि शिवाजी पूर्ण ब्रह्मचारी नही थे, फिर भी जब उनके समक्ष एक सिपाही किसी सुन्दरी को जबर्दस्ती ले आया। उसने सोचा कि महाराजा शिवाजी को भेंट करूँगा तो वे मुझ पर प्रसन्न होंगे। परन्तु जब उन्होंने रोती-कलपती हुई रमणी की करुण आवाज सुनी तो वे तुरन्त गुफा से बाहर निकलकर आए और कडककर सिपाही से कहा—अरे मूर्ख! इस बहन को यहाँ किसलिए लाया है। जाओ! इस बहन को पालकी मे बिठाकर आदर के साथ इसके घर पहुँचा आओ।" सिपाही 'बहन' शब्द सुनते ही चौंक उठा। उसके सिर पर कई घडे पानी पड गया। वह लज्जित होकर चुपचाप उस महिला को वापिस यथास्थान पहुँचा आया।

इसी प्रकार वीर दुर्गादास पर औरंगजेब बादशाह की बेगम गुलेनार मोहित हो चुकी थी। दुर्गादास को कैद कराकर वह जेलखाने मे उससे मिली और हावभाव के साथ दुर्गादास के सामने स्वय के हृदयसमर्पण का प्रस्ताव रखा। लेकिन दुर्गादास ने

कहा—'मा' ! मुझे क्षमा करो । तुम मेरी मा के समान हो । मैं पराई स्त्रियो को जगज्जननी दुर्गा के समान समझता हूँ ।"

बेगम गुलेनार ने वीर दुर्गादास को बहुत ही भय और प्रलोभन दिखाए, मगर वह अपने व्रत से जरा भी विचलित न हुआ । आखिर वीर दुर्गादास की जीत हुई ।

धर्मवीर सेठ सुदर्शन के सामने भी अभयारानी, पुरोहितानी आदि कई नारियो ने कामजाल मे फँसाने का उपक्रम किया, मगर वह दृढशीलव्रती नरपुगव जरा भी भ्रष्ट न हुआ ।

श्रावक को इसी प्रकार अपने ब्रह्मचर्य-अणुव्रत पर दृढ रहना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य-रक्षा के उपाय

श्रावक को अपने ईष्टदेव को नमस्कार करके अपनी प्रतिज्ञा या व्रत सकल्प पर प्रतिदिन विचार करना चाहिए और प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि "मै अपने व्रत-सकल्प पर दृढ रहूँ ।" उसे ब्रह्मचर्य रक्षा के हेतु कामवासना पर विजय पाने के लिए वीर बनना होगा । वीर बनने के लिए वीर्यरक्षा अनिवार्य है । उसे वीर्य का एक बिन्दु भी व्यर्थ न गिराना चाहिए । व्यर्थ वीर्यपात करना वीर्य का अपमान है । वीर्य ही हमारा जीवन है, माता-पिता है, हमारा तेज व बल है, हमारा सर्वस्व है । निर्णय सिन्धु मे बताया है कि 'वीर्य को वृथा खोने से ब्रह्महत्या का पाप लगता है ।'[1] वह उस मूर्ख के समान है, जो करोड रुपये तोले का इत्र गधे के शरीर पर चुपड देता है । वह नही समझता कि वीर्य रक्षा मे बडी शक्ति है । इस शक्ति के प्रभाव से इन्द्र आदि बडे-बडे देव भी हाथ जोडे खडे रहते है । अत श्रावको ! वीर्य का अपमान मत करो । लुभावने रगराग मे लीन होकर भोग विलासमय जीवन व्यतीत करना और गृहस्थ धर्म की मर्यादा का उल्लघन करके परस्त्री के मोह मे पडना, वेश्यागामी होना अथवा अप्राकृतिक कुचेष्टाएँ करके वीर्यनाश करना वीर्य का अपमान है । अपनी विवाहिता पत्नी के साथ भी सन्तानोत्पत्ति के सिवाय—ऋतुदान के अतिरिक्त वीर्यनाश न करना चाहिए । महिलाओ को भी चाहिए कि वे अपने मोहक हावभाव से अपने पति को विलासी बनाने का प्रयत्न न करें । जो स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के सिवाय सिर्फ विलास के लिए अपने पति को भोगवासनाओ मे फँसाती है, वह धर्मपत्नी नही, पति का सत्व चूसने वाली पिशाचिनी है ।

महाभारत मे एक जगह वर्णन आता है कि अर्जुन ब्रह्मचर्य-पालन करता हुआ तप कर रहा था । इन्द्र ने अपनी पदभ्रष्टता की आशका से रम्भा नामक अप्सरा को अर्जुन का ब्रह्मचर्य खण्डित करने के लिए भेजा । रम्भा सुसज्जित होक अर्जुन को विचलित करने आई । उसने कहा—"प्रियतम ! आओ, जिसके लिए आप तप कर

---

१ 'व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात् ।'

रहे हैं, वह मैं आपके सामने उपस्थित हूँ। मुझसे बढ़कर और कौन-सी श्रेष्ठ वस्तु आप तप से प्राप्त करेंगे। लो, मुझे अपनाओ [illegible] मनाओ और [illegible] मनाओ और छोड़ो इस कायाकष्ट को।

अर्जुन अपनी तपस्या में मग्न था, रम्भा की [illegible] के [illegible] में [illegible] रहा था। अत रम्भा ने अपना सारा कौशल अजमा लिया, फिर भी अर्जुन ब्रह्मचर्य से रत्तीभर भी भ्रष्ट न हुए। आखिर रम्भा ने अन्तिम अस्त्र फेंका। वह नग्न हो गई। रूप सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति अप्सरा ने मोहित करने के लिए दैवी बल से आकर्षक रूप बनाया। फिर भी वह अर्जुन का वीर्य न खींच सकी, न तपोभ्रष्ट कर सकी। अन्त में अर्जुन ने कहा—"माता! अगर आपने इस सुन्दर शरीर से मुझे जन्म दिया होता तो मुझमे और अधिक तेज आ जाता।" रम्भा लज्जित और परास्त होकर वहा से चल दी।

अर्जुन ने जिस प्रकार ब्रह्मचर्य रक्षा की, वैसे ही श्रावक को अपने जीवन मे ब्रह्मचर्य रक्षा को महत्त्व देना चाहिए।

वीर्यनाश होने की किसी प्रवृत्ति मे न तो स्वय भाग लेना चाहिए और न ही दूसरो को प्रेरित करना चाहिए। वीर्यरक्षा की साधना करने वाले को अपनी भावना पवित्र रखनी चाहिए। कुत्सित विचारो को अपने पास न फटकने देना, सदा शुद्ध वातावरण मे रहना, पवित्र विचार रखना, आहार-विहार सम्बन्धी विवेक रखना वीर्यरक्षा के लिए आवश्यक है।

जो वीर्यरक्षा का पक्षपाती है, उस श्रावक को अपनी सतान का भी बाल्यवय मे विवाह करके वीर्यनाश कराना उचित नही है। न उसे अनमेल विवाह और वृद्ध विवाह करना-कराना चाहिए। उन्हे बालको मे भी ब्रह्मचर्य के उत्तम सस्कार भरना चाहिए।

वीर्यनाश का एक कारण स्त्री-पुरुष का एक ही कमरे मे एक ही शय्या पर शयन करना भी है। ऐसा करने से वीर्य स्थिर नही रह सकता।

निष्क्रिय बैठे रहना भी वीर्यनाश का कारण है। जो लोग अपने तन और मन को किसी सत्कार्य मे लगाए नही रखते, उनका भी वीर्य-स्खलन हो जाता है। शरीर और मन को निष्क्रिय न रखा जाय तो वीर्य को कोई आच नही पहुँचती।

रात्रि मे देर तक जागना और सूर्योदय के बाद भी सोते रहना, अश्लील सिनेमा एव नाटक व नृत्य देखना, भद्दे व गदे उपन्यासो एव कहानियो को पढना, अश्लील गीत, असभ्य हँसीमजाक शृ गारिक सिनेचित्र और गदे उपन्यास ये सब वीर्य मे आग लगाने के समान है।

स्वदार-सतोषव्रती को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विलासपूर्ण वस्त्रो, आभूषणो, मादक वस्तुओ, मिर्च-मसालेदार गरिष्ठ, दुष्पाच्य तामस पदार्थों से सदैव बचना चाहिए।

स्पर्शेन्द्रिय की तरह उसे रसनेन्द्रिय पर भी सयम रखना आवश्यक है। श्रावक को अपने भोजन मे विवेक की बहुत आवश्यकता है, जब भी जी चाहा, जैसा चाहा अटसट खा लिया, यह वीर्य विघातक है।

इसके अतिरिक्त सर्वविरति ब्रह्मचारी के लिए जो शास्त्रीय नियम (नव बाड, दस समाधि) आदि बताए गए हे, उनका पूर्णरूपेण नही तो आशिक रूप से पालन करना आवश्यक है।

इसके साथ ही भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्याणुव्रत मे ५ अतिचार (दोप) लगने की सम्भावना बताई हे। उनसे बचना अत्यावश्यक है। वे पाच अतिचार ये है—

स्वदार सन्तोपव्रत के ५ अतिचार जानने योग्य ह, आचरण करने योग्य नही ह। वे पाँच अतिचार यो हे—**इत्वरिक परिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनगक्रीडा, परविवाहकरण और कामभोग-तीव्राभिलाषा।**

इत्वरिक परिगृहीतागमन—यह स्वदारसन्तोषव्रत का प्रथम अतिचार है। इसका अर्थ है—थोडे समय के लिए पैसे देकर या और किसी तरह से अपने यहाँ रखी हुई स्त्री के साथ गमन करना। व्रती श्रावक भ्रान्तिवश यह गुजाइश निकालने लगता हे—मैंने स्वपत्नी का तो आगार (छूट) रखा ही है, अत किसी स्त्री को कुछ दिनो के लिए धन या अन्य वस्तु देकर अपनी बना लूँ और उसके साथ स्वपत्नी की तरह गमन करूँ, इसमे क्या दोष है ? किन्तु वह यह नही सोचता कि 'स्वदार' से शास्त्रकार का आशय, उसी स्त्री से है, जिसके साथ विधिवत् पचो या समाज के समक्ष पाणिग्रहण हुआ हे। इसलिए जो अपनी नही है, उस महिला को कुछ देर के लिए अपनी बना लेने से वह विधिवत् विवाहिता पत्नी नही हो जाती। किन्तु पूर्वोक्त भ्रम से उसके साथ सम्भोग के लिए तैयार हो जाना अतिचार है, लेकिन उसके साथ मैथुन क्रिया कर लेना अनाचार है। इस शब्द का एक अर्थ यह भी निकलता है कि जो इत्वरिक यानी अल्पवयस्का पाणिगृहीता पत्नी है, जो अभी बालिका है, सम्भोग योग्य नही है, उसके साथ सहचार करने को तैयार होना—बलात्कार करना—अतिचार है। ऐसा कार्य बाल-विवाह के कारण होता है।

अपरिगृहीतागमन—परदारविरमण का अर्थ जो लोग भ्रम से यह लगाते ह, जो दूसरे की विवाहिता पत्नी है, उससे निवृत्त होना। परन्तु जो वेश्या है, विधवा है, परित्यक्ता है या कुमारिका है, वह तो वर्तमान मे किसी की परिगृहीता नही है, पतिविहीना हे अत उनके साथ गमन किया जाए तो क्या आपत्ति है ? मगर परस्त्री-त्याग मे उन सभी स्त्रियो का त्याग हो जाता है, जिनके साथ विधिवत् गृहस्थ का

---

१ सदारसतोसिए पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तजहा-इत्तरिय परिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अनग क्रीडा, परविवाहकरणे कामभोगतिव्वाभिलासे।

—१।५५

10

इच्छा का सरोवर : परिमाण की पाल

☆

अब तक हम ब्रह्मचर्य-व्रत तक पहुँच चुके। अब हम अपरिग्रहव्रत को छूने जा रहे है। अपरिग्रह व्रत के सम्बन्ध मे अधिक विश्लेषण करने से पूर्व मैं आपको मानव-जीवन मे इसकी उपयागिता और आवश्यकता समझा दूँ।

आप जानते है कि इस वसुन्धरा मे अनन्त पदार्थ है, उनमे एक से एक बढकर बहुमूल्य पदार्थ भी है। सोना, चादी, आदि धातु भी है, हीरा, पन्ना, माणिक्य आदि रत्न भी है, और सिक्के भी है, मोती भी है, तथा एक से एक बढकर सुख के साधन है, शृ गार प्रसाधन की सामग्री भी है, शरीर और शरीर से सम्बन्धित अगणित पदार्थ है। परन्तु उन सब पदार्थों को कोई एक ही व्यक्ति अपने कब्जे मे कर ले या करना चाहे तो उसका परिणाम क्या आएगा ? यही कि तू-तू-मैं-मैं और छीनाझपटी शुरू हो जाएगी। कट्रोल के दिनो मे आपने देखा होगा कि लोग अधिक से अधिक चीजो का सग्रह करने लग जाते है। कपडो से चाहे उनकी पेटियो पर पेटियाँ भरी हो, फिर भी मन मे अभाव और असन्तोष महसूस करते है और सोचते हैं कि 'कुछ और सग्रह कर लिया जाय तो अच्छा रहेगा।' क्या किसी एक ही व्यक्ति को असीम धन का ढेर दे दिया जाय, तो उसे शान्ति मिल जाएगी ?

भगवान् महावीर के केवलज्ञान रूपी दर्पण मे प्रतिबिम्बित इसका उत्तर यह है—

> सुवण्ण-रूवस्स उ पव्वया भवे,
> सिया हु केलास समा असखया।
> नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
> इच्छा हु आगाससमा अणतिया ॥ —उत्तरा० ९।४८

—कैलाश के समान सोने और चादी के असख्य पर्वत भी किसी के पास हो जाय, परन्तु अगर वह मनुष्य लोभी है, तृष्णातुर है, तो वे उसकी तृप्ति के लिए कुछ भी नही हैं। क्योकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।

क्या इच्छाओ का कभी अन्त आ सकता है ? मनुष्य की आयु का तो एक दिन अन्त आ सकता है, परन्तु इच्छाओ का अन्त सहसा नही होता। मनुष्य की देह बूढी

हो सकती है, लेकिन इच्छा, तृष्णा और आशा कभी बूढी नही होती। इच्छाएँ पानी मे उठने वाली तरगो की तरह है। एक इच्छा पूरी नही होती, उससे पहले दूसरी सौ इच्छाएँ तैयार रहती है। मनुष्य जब लोभ और तृष्णा के अधीन हो जाता है, तब उसे इच्छापूर्ति की हविस उठती है, उस समय व्यग्रमनस्क मनुष्य पशोपेश मे पड जाता है कि किस-किस इच्छा की पूर्ति करूँ ? अन्त मे वह इसी निर्णय पर पहुँचता है कि उसे सभी इच्छाओ की पूर्ति करनी है और फलत वह अपना सारा जीवन तेली के बैल की तरह अपनी इच्छाओ की पूर्ति मे ही लगा देता है। जीवन समाप्त हो जाता है, लेकिन इच्छाएँ समाप्त नही हो पाती।

(मनुष्य इच्छाओ का पुतला है। उसके व्यावहारिक जीवन मे प्रतिक्षण अनेक इच्छाएँ—आकाक्षाएँ उत्पन्न होती है। कभी स्वास्थ्य की, कभी धन की, कभी सत्ता-प्राप्ति की, कभी स्त्री और कभी पुत्र की तो कभी यश, पद एव प्रतिष्ठा की कामना उदित होती है।) इच्छा के विविध काल्पनिक चित्र मानस मे उभरने लगते हैं, कई कल्पनाएँ मनुष्य के मस्तिष्क मे घुडदौड लगाने लगती है।

स्थिर शान्त सरोवर के जल मे कोई व्यक्ति ककड या मिट्टी का ढेला फेंकता है तो तुरत उसमे लहरें उठने लगती है। ककड, पत्थर या मिट्टी के ढेले के वजन तथा उसके फैंकने की गति के अनुरूप ही तीव्र-मन्द लहरे उठा करती है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के मन मे ज्यो ही कोई इच्छा प्रविष्ट होती है, त्यो ही उसकी तीव्र-मन्द गति एव प्रबलता-निर्बलता के अनुरूप मानस मे लहरें उठने लगती हैं। अर्थात् वह मूल इच्छा अपने समान छोटी-बडी अनेक इच्छा तरगो को जन्म दे देती है। इस प्रकार शान्त एव स्थिर मन-मस्तिष्क मे तूफान उठने लगता है, हलचल मच जाती है, वह अशान्त और चचल हो जाता है।

वह सोचने लगता है कि जिंदगी बहुत लम्बी-चौडी है। इस इच्छा को तो मिनटो मे ही पूरी कर लू गा। वह अपनी इच्छा की तृप्ति के लिए कल्पनाओ के घोडे दौडाता है, उस इच्छा के साथ उत्पन्न हुई अन्य इच्छाओ को साथ लेकर उनके पीछे-पीछे भागता है। लेकिन वे (इच्छाएँ परछाई की तरह आगे से आगे बढती जाती है—दिन दुगुनी और रात चौगुनी।) इच्छा पर जब तक ब्रेक नही लगाया जाता, तब तक वह न तो कम होगी और नष्ट होना तो बहुत दूर की बात है, बल्कि वह नये-नये तेवर बदलेगी और आदमी को परेशान कर देगी।

उत्तराध्ययन सूत्र मे महर्षि कपिल के जीवन की झाकी इच्छाओ के प्रतिक्षण बदलते हुए नये-नये रूपो को प्रगट करते हुए उनके इशारे पर नाचने वाले मनुष्य की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्रण किया है।

कपिल ब्राह्मण पुत्र था, धन और मन दोनो से दरिद्र। उसने सुना कि यहाँ का राजा का यह नियम है कि जो ब्राह्मण उसे प्रात-काल सबसे पहले जाकर आशीर्वाद देगा, उसे वह दो माशा सोना इनाम देगा।" दो माशा सोना पाने के लिए

उस युग मे न मालूम कितने ब्राह्मणो का समय नष्ट होता होगा। पर सोना पाने की लालसा जब जाग जाती है तो वह जैसा नाच नचाए उसके इशारे पर नाचना ही पडता हे। उस शहर मे भी दो माशा सोना पाने के लिए प्रतिदिन हजारो मनुष्यो का जमघट लग जाता था। परन्तु उम भीड मे से उसी भाग्यशाली को इनाम मिलता था, जिमका नम्बर सबसे पहला होता। बाकी के सब विप्र हताश होकर लौट जाते थे।

कपिल ने भी कई बार अपना भाग्य अजमाया, लेकिन हर बार निराशा ही पल्ले पडती थी। महीनो तक दौड-धूप करने के बाद भी जब दोमाशा सोना नही मिला, तो एक दिन उसकी सहचरी ने तमककर कहा—"यो तुम-से आलसियो को सोना थोडे ही मिल सकता है ? सोना उसी को मिल सकता है, जो समय पर उठ कर राजा के पास पहुँचे।"

कपिल ने अपनी प्रियतमा की बात मान ली और उसी दिन सोने से पहले कहा—'अच्छा, आज मैंने जल्दी उठकर राजा को सबसे पहले आशीर्वाद देने की ठान ली है। तुम भी ध्यान रख कर मुझे जल्दी उठा देना।' यो शीघ्र जागने का सकल्प करके कपिल बिछौने पर लेट गया। मगर आज निद्रा देवी रूठ गई थी। इधर-उधर करवटे बदलते-बदलते आधी रात हो गई। आकाश मे चाद उदित हो गया था। चारो ओर चन्द्रमा की चादनी देखकर कपिल ने सोचा—'समय काफी हो गया है, अब तो जल्दी उठकर चल देना चाहिए।' वह उठ-बैठा और वहाँ से सीधे राजमहल की ओर भागने लगा। सडक पर गश्त लगाते हुए पहरेदारो ने देखा कि एक आदमी भागा जा रहा है। आधी रात का समय है। इस समय यो भागने वाला कोई चोर ही हो सकता है।

अत पहरेदारो ने कपिल को चोर समझ कर गिरफ्तार कर लिया। कपिल ने कहा—"मैं चोर नही हूँ। मैं तो दो माशा सोना लेने के लिए जल्दी-जल्दी राजमहल की ओर जा रहा था, ताकि सबसे पहले पहुँच कर राजा को आशीर्वाद दे दूं।' पर किसी ने कपिल की बात पर विश्वास नही किया। बल्कि डाँटते हुए कहा—"हमे क्यो बेवकूफ बना रहे हो ? क्या यह समय सोना पाने का था ? अपनी सफाई रहने दो।'

प्रात काल होते ही कपिल को राजदरबार मे राजा के सामने उपस्थित किया गया। राजा ने कपिल का मुर्झाया हुआ उदास चेहरा देखकर पूछा—"क्यो क्या बात थी, सडक पर यो आधीरात को क्यो भागे जा रहे थे ? "क्या कही चोरी की थी ?"

कपिल ने कहा—"नही, महाराज! मैं चोर नही हूँ। मैं आज सवेरा होने के भ्रम मे जल्दी ही उठ गया और जल्दी-जल्दी पैर बढा रहा था, ताकि सवेरा होते ही सर्वप्रथम मैं आपको आशीर्वाद देकर दो माशा सोना प्राप्त कर लूं। परन्तु दुर्भाग्य मेरा कि इन सिपाहियो ने चोर के सन्देह मे मुझे गिरफ्तार कर लिया।' राजा कपिल

यहाँ एक प्रश्न होता है कि इच्छा एक भाव है, जो किसी अभाव, सुख या आत्मतुष्टि के लिए उदित होता हे। इस प्रकार की इच्छाओ का सम्बन्ध भौतिक जगत् से होता है। गृहस्थ को अपने दैनिक जीवन मे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वो एव विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए धन, साधन एव अन्य अधिकारो की अपेक्षा रहती है, कामेच्छा भी गृहस्थ-जीवन मे सहसा मिट नही सकती, तो क्या जीवन को गतिमान बनाए रखने के लिए स्वप्रधान इच्छाएँ आवश्यक नही है? मनुष्य को अपने विकास और प्रगति के लिए क्या इच्छाओ की उपयोगिता नही है? ससार मे जो बडे-बडे निर्माण और सृजन दृष्टिगोचर हो रहे है, क्या ये मनुष्य की इच्छाओ का मूर्तरूप नही है, अथवा मनुष्य की प्रारम्भिक इच्छा का क्रमानुगत परिणाम नही है? बिना इच्छा के मनुष्य सृजन, विकास, उन्नति और प्रगति कैसे कर सकेगा?

इसके उत्तर मे जैन सिद्धान्त की दृष्टि से कहा जा सकता है कि वीतरागता की भूमिका से पहले इच्छा का उदय होना कोई अस्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है। क्योंकि मनुष्य भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक विकास की जो साधना करता है, उसके मूल मे भी इच्छा की प्रधानता रहती है। मनुष्य जब से अपना होश सम्भालता है, और अपने चारो ओर प्राकृतिक प्रचुर साधन बिखरे हुए देखता है, उस समय उसे उनको अपनी सुख-सुविधा के लिए प्रयोग मे लाने की इच्छा करता है। यही से उसकी इच्छा का विकास प्रारम्भ हो गया। यह ठीक है कि इच्छा ने ही मनुष्य की सृजन-शक्ति और विवेकबुद्धि को उत्तेजित किया है, उसने ऊँचे-ऊँचे महल, लम्बे-लम्बे राजमार्ग बनाए, बडे-बडे उद्योगो की स्थापना की, विविध कलाकौशलो के साथ अच्छी से अच्छी सभ्यता और सस्कृतियो का विकास किया।

इच्छाए निकृष्ट न हो

इच्छा करना गृहस्थ-जीवन के लिए कोई पाप या बुरी बात नही है। परन्तु इच्छाओ का विश्लेषण अवश्य करना चाहिए, और जो निकृष्ट इच्छाएँ है, उनका त्याग करना सद्गृहस्थ श्रावक के लिए आवश्यक है। इच्छा के दो रूप होते है—एक शुभरूप और दूसरा अशुभ रूप। एक मनुष्य समाज-सेवक, देश-सेवक बनने की इच्छा करता है, यह शुभ इच्छा है। इसी प्रकार दूसरो से प्रेम करने, मैत्री करने परोपकार करने और आत्मीयता स्थापित करने, तथैव स्वपरकल्याण की शुभ इच्छा रखता है। इसी प्रकार हर परिस्थिति मे समता रखने, कषायभाव कम करने, ममत्व कम करने, आत्मभाव मे रमण करने, मुक्ति प्राप्त करने आदि आध्यात्मिक इच्छाएँ उत्कृष्ट है। इच्छा का दूसरा रूप अत्यन्त निकृष्ट एव अशुभ है। इच्छा की निकृष्टता उसके सीमित या साधारण होने मे नही है, अपितु उसके उद्देश्य की तुच्छता मे अथवा इच्छापूर्ति के लिए अनुचित उपायो या साधनो को काम मे लाने मे है।

एक व्यक्ति डॉक्टर या वकील इसलिए बनना चाहता है कि वह डॉक्टर बन

प्रकार हृदय मे अन्धाधुन्ध इच्छाएँ उठती रहे तो इच्छाओ की एक भीड जमा हो जाएगी और उनकी पूर्ति की आसक्तिवश अपूर्ण रहने की पीडा पैदा होगी, जो मानव का जीना हराम कर देगी। जिसका हृदय अज्ञानवश ऐसी अपूर्ण इच्छाओ का क्रीडा-स्थल बन जाता है, उसके लिए किसी अन्य नरक की आवश्यकता नही रहती। उसकी वे इच्छाएँ ही नारकीय यत्रणा देने के लिए पर्याप्त है।

इस प्रकार इच्छाओ की अति के साथ प्राय फलासक्ति या उन इच्छाओ की पूर्ति की तीव्र आसक्ति जुड जाती है, तो व्यक्ति की तृप्ति न होने से वह अत्यधिक दु खी हो जाता है। कोई व्यक्ति यह सोचे कि मैं करोडपति बन जाऊँ। परन्तु परिस्थिति, शक्ति, योग्यता और तदनुरूप परिश्रम का विचार न करे, साथ ही यह विवेक भी न करे कि क्यो और किसलिए मै करोडपति बनना चाहता हूँ? तो इच्छापूर्ति होगी नही, वह इच्छा के पीछे मारा-मारा फिरेगा, दु खी होगा। किसी की शैक्षणिक योग्यता मेट्रिक की भी न हो और वह कलेक्टर बनना चाहे तो उसकी यह इच्छापूर्ति कैसे सम्भव होगी? इसलिए विचारशील व्यक्ति वैसी इच्छा नही करते, जिसकी पूर्ति के लिए उनके पास योग्य साधन, परिस्थिति, शक्ति, योग्यता एव क्षमता न हो।

अति और अनुचित इच्छाएँ कभी-कभी महत्त्वाकाक्षा का रूप ले लेती है। महत्त्वाकाक्षा के भी इच्छा की तरह दो रूप होते है। एक महत्त्वाकाक्षा शुभ होती है—जो अपनी आत्म-शक्ति बढाने, साधना मे आगे बढने और ससार के कल्याण मे योगदान देने की होती है। परन्तु दूसरी महत्त्वाकाक्षा अशुभ होती है—जो अति और अनुचित दोनो ही प्रकार की होती है। जैसे किसी गरीब की महत्त्वाकाक्षा हुई कि मैं मिलमालक, उद्योगपति, धनकुबेर बन जाऊँ, मेरी प्रतिष्ठा दशो दिशाओ मे फैल जाए, मेरे पास प्रचुर सम्पत्ति हो, जीवन का स्तर उच्च हो, मैं महामन्त्री, मन्त्री या शासन-कर्ता का कोई पद प्राप्त कर लूं। किन्तु ऐसी महत्त्वाकाक्षा के पीछे प्राय कोई उद्देश्य स्पष्ट नही होता और होता भी है तो व्यक्तिगत सुखभोग की कामना होती है। इसलिए ये महत्त्वाकाक्षाएँ शुभ नही मानी जा सकती।

अशुभ महत्त्वाकाक्षी इतिहास के पृष्ठ पर तो अकित होता है, परन्तु वह देखा-सुना जाता है पतित और कलकी के रूप मे, घृणा और तिरस्कार के साथ।

सारे ससार पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला सिकन्दर महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति था। यद्यपि उसकी आकाक्षा बहुत ही बडी थी, जिसे मूर्तरूप देने के लिए अपार कष्ट उठाए, बहुत उद्योग किया, परन्तु उसकी महत्त्वाकाक्षा अशुभ थी। वह उसके व्यक्तिगत दम्भ और शक्ति प्रदर्शन की उद्धतता से दूषित थी। उसने अपने व्यक्तिगत अहकार को तुष्ट करने के लिए न जाने कितने देशो को रौद डाला, हजारो-लाखो निरपराधो को मौत के घाट उतारा और अपनी सेना के असख्य सैनिको को निरुद्देश्य समराग्नि मे आहुति बना डाला। निरर्थक रक्तपात, नगरदग्धता, युद्ध और

इन्द्रियो और मन की विपयासक्ति से होती है। अत स्पष्ट शब्दो मे हम कह सकते हैं कि मन की चचलता और इन्द्रियो की निरकुशता से इच्छाओ का जन्म होता है। पूर्वोक्त क्रम से इच्छाएँ बढती जाती है और मनुष्य उन-उन पदार्थों की भी कल्पना करता रहता है, जिन्हें उसने देखा तक नही है, किन्तु कभी सुनकर, कभी किसी ग्रन्थ मे पढकर उसकी इच्छा वलवती होती जाती है। अर्थात् इहलौकिक पदार्थो की इच्छा के साथ-साथ उसकी पारलौकिक पदार्थों की इच्छा भी असीम हो जाती है। उसके मन मे वृद्धावस्था आने पर भी इच्छा कम नही होती। ऐसा नही होता कि अव इच्छा नही है। आयु क्षीण होती जाती है, लेकिन इच्छा क्षीण नही होती।

असीमित इच्छाएँ · सघर्ष का कारण

आज विश्व मे जो सघर्प है, जोकि प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है, उसके मूल को खोजें तो पता लगेगा कि इच्छाओ की विपुलता ही उसका प्रधान कारण है। विश्वयुद्धो के पीछे ये असीम इच्छाएँ ही प्रधान कारण हैं। मनुष्य की इन असीमित एव दूपित उद्देश्यो से युक्त इच्छाओ ने ही विश्व मे लाखो मनुष्य का रक्त वहाया है।

श्रेणिक और कोणिक दोनो मे पिता-पुत्र का रक्त-सम्वन्ध था। लेकिन कोणिक मे इस वात को न समझकर श्रेणिक मे शीघ्र ही राज्य पाने की लालसा (इच्छा) जाग उठी। कोणिक को राज्य की कोई आवश्यकता हो, ऐसी वात भी नहीं थी। पिता के सारे साम्राज्य का उत्तराधिकारी तो कोणिक ही था। उसकी सव आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। कोणिक को अव भी इतना अधिकार था कि वह मनचाहा उपभोग कर सकता था, हजारो का पालन-पोपण भी कर सकता था, कोई रोक-टोक नही थी उसे। श्रेणिक तो सिर्फ एक-दो घटे के लिए सिंहासन पर बैठ जाते थे, राज्य का सचालन तो सारा कोणिक के हाथ मे था। फिर भी कोणिक मे अनुचित इच्छा (महत्त्वाकाक्षा) जाग गई, उसी से प्रेरित होकर श्रेणिक के प्रति दुर्भावना भी उसके मन मे उत्पन्न हुई कि वूढा न तो सिंहासन खाली करता है, और न ही परलोक विदा होता है। अत अव इनसे दोनो कार्य जवरन करा देने चाहिए। इस प्रकार की निरकुश एव अनुचित इच्छा का शिकार वना हुआ कोणिक पिता को कैदखाने मे डाल देता है। और अपनी दूपित महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए स्वय सम्राट वन वैठा। मैं आपसे पूछता हूँ, क्या कोणिक को इस प्रकार की अनुचित एव दूपित इच्छाओं की पूर्ति करने के वाद तृप्ति एव शान्ति हो गई ? कदापि नही। ऐसी निरकुश इच्छाओ मे कभी तृप्ति नही होती। विश्व के पामर लोगो की तरह कोणिक पिता को कारागार मे डालकर एव स्वय सम्राट् वनकर भी तृप्त नही हुआ। उसकी दृष्टि अपने भाई हल्ल-विहल्लकुमार के पास जो हार और हाथी था, उन पर पडी और किसी भी तरह से हार और हाथी को अपने कब्जे मे करने की हविस (अनुचित इच्छा) जागी। कहाँ मगध का विशाल साम्राज्य और कहाँ हार और हाथी!

इच्छाओ का परिमाण नही किया—नियत्रण नही किया, जो महारम्भ और महापरि-ग्रह की भूमिका पर ही रहा, वह चाहे हजार बार महापुरुष के चरण छूले, उससे क्या उसकी दुर्गति रुक जाएगी ? कदापि नही।

भारत के मुगल सम्राट औरगजेब ने क्या किया था ? उसने भी अपनी अनुचित राज्यलिप्सा की पूर्ति के लिए अपने पिता को कैद कर लिया, भाइयो को बुरी तरह मरवा डाला और स्वय सिंहासन पर बैठ गया। अपने इस अत्याचार (पाप) पर पर्दा डालने के लिए उधर वह कट्टर धर्मांध मुसलमान बना पाच बार नमाज पढता, रोजे करता तथा अन्य धार्मिक क्रिया काण्ड करता था। पर इससे क्या वह परमात्मा की दृष्टि मे धर्मात्मा कहला सकता है ? औरगजेब भी निरकुश इच्छाओ का शिकार बनकर इस प्रकार के घोर अत्याचार करता रहा।

दुर्योधन के सिर पर भी अनुचित एव स्वच्छन्द इच्छाओ का भूत सवार था। उसने जब देखा कि पाण्डवो को एक छोटा-सा राज्य मिला था, लेकिन उन्होंने अपने पराक्रम से बहुत बडा साम्राज्य प्राप्त कर लिया है और मुझे तो जितना साम्राज्य मिला था उतना का उतना ही पडा है। वह बढ नही सका। अत दुर्योधन ने अपने भाइयो का साम्राज्य हथियाने की दुष्ट इच्छा से प्रेरित होकर पाण्डवो को जुआ खेलने के लिए बहकाया और शर्त यह रखी कि जो जुए मे सर्वस्व हार जाएगा, उसे अपना सर्वस्व साम्राज्य विजेता को देना पडेगा। पाण्डव दुर्योधन की इस कुटिल चाल को भाप नही सके। बाद मे जुए मे हार जाने के कारण पाण्डवो को अपना राज्य दुर्योधन को छोडकर वन की राह लेनी पडी। आखिर पाण्डव १२ वर्ष का वनवास, एक वर्ष का अज्ञातवास करके लौट गए।

श्री कृष्णजी के समक्ष पाण्डवो ने अब अपनी न्यायोचित माग रखी, लेकिन दुर्योधन जब बिलकुल कुछ भी देने को तैयार न हुआ तो पाण्डवो ने अपनी इच्छाओ को रोक कर अपने पूर्वोपार्जित साम्राज्य मे से सिर्फ पाच गाँव लेने को तैयार हो गए। उन्होने कहा कि हम इतने से ही अपना काम चला लेंगे, अधिक कुछ नही चाहिए।

मगर जब श्री कृष्णजी दुर्योधन की राजसभा मे शान्तिदूत बन कर गए और पाँच गाँव दे देने के लिए मनवाने लगे, तो दुर्योधन अपनी इच्छा को रोक न सका। उसने साफ कहा—"सूच्यग्र नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !" "केशव ! युद्ध के विना तो मैं सुई की नोक पर आए, इतनी-सी जमीन भी देने को तैयार नही हूँ।"

भला बताइए, दुर्योधन के पास किस बात की कमी थी ? खाने-पीने, पहनने-ओढने या अन्य किसी चीज का अभाव नही था, जिसके लिए उसे इतनी निरकुश इच्छा से ग्रस्त होकर इतनी उखाड-पछाड करने की आवश्यकता पडती। आखिर दुर्योधन की इसी निरकुश इच्छा के कारण महाभारत हुआ, जिसमे रक्त की नदियाँ बह चली। लाखो मनुष्यो का सहार हुआ सिर्फ एक दुर्योधन की राज्यलिप्सा के कारण।

गृहस्थो के लिए इच्छा-मूर्च्छा का सर्वथा त्याग आवश्यक नही है, किन्तु उनके लिए इच्छाओ का परिमाण (सीमित) करना आवश्यक है। क्योकि वीतराग प्रभु जानते थे कि गृहस्थ श्रावक के लिए ससार-व्यवहार मे रहते हुए इच्छा का सर्वथा निरोध दुष्कर है। जिस दिन वह इच्छा का सर्वथा त्याग कर देगा, उस दिन या तो वह सथारा (आजीवन अनशन) कर लेगा, या ससार व्यवहार मे रहने का त्याग कर देगा। लोक-व्यवहार मे रहते हुए गृहस्थ श्रावक को पूर्ण अपरिग्रह व्रत बता दिया जाएगा, तो उसका पालन भी न होगा, दम्भ और अनाचार बढेगा तथा अनेक अनर्थ पनपेंगे। इस-लिए जब तक गृहस्थ श्रावक मे ससार व्यवहार से निकलने का सामर्थ्य न हो, वह पूर्ण सन्तोष और धैर्यवृत्ति से अभ्यस्त न हो, तब तक उस पर सर्वथा अपरिग्रहव्रत का बोझ डालना अनुचित है, वह उस बोझ को उठा नही सकेगा। इन सब दृष्टिकोणो से भगवान महावीर ने श्रावको के लिए इच्छापरिमाणव्रत बताया है।

इच्छा और आवश्यकता की भेद रेखा

एक बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिए कि धर्मशास्त्रो मे श्रावक के पाँचवें व्रत को 'इच्छापरिमाणव्रत' बताया है 'आवश्यकता परिमाणव्रत' नही। क्योकि आव-श्यकताएँ तो आवश्यकताएँ है, वे तो जीवन-निर्वाह के लिए जरूरी है, उनकी मर्यादा क्या होगी ? मर्यादा इच्छाओ की होगी। आवश्यकता अलग चीज है, और इच्छा या मूर्च्छा अलग चीज। आज बहुत-से सघर्ष तो आवश्यकता और इच्छा के अन्तर को न समझने के कारण होते है। मनुष्य अपनी इच्छा, हविस या पदार्थासक्ति को ही प्राय आवश्यकता मान बैठता है और उसकी पूर्ति के लिए इन्सानियत को भी भूला बैठता है, रक्त सम्बन्धो को भी विस्मृत कर देता है। इसीलिए भगवान ने स्पष्ट कहा—इच्छाओ पर नियन्त्रण करो, उनकी सीमा करो।

चाहे कोई सम्राट् हो या सम्पत्तिशाली हो, सर्व साधन-सम्पन्न एव सम्पत्ति-सम्पन्न होते हुए भी स्वेच्छा से गरीबी धारण करता है, अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण करता है, वही इच्छा परिमाणव्रत को भलीभाँति समझता है। बाहर से लादी हुई या सरकार के द्वारा बलात् कण्ट्रोल की गई इच्छाओ या आवश्यकताओ से शान्ति नही मिल सकती। शान्ति मिलती है, अपनी इच्छा से अपनी इच्छाओ को सीमित करके दूसरो को सुखपूर्वक जीने और विकास करने का अवसर देने से।

वल्लभाचार्य के समय मे कुम्भनदास नामक एक वैष्णवभक्त हुए है, वे भगवान् की स्तुति मे भक्तिरसपूर्ण मधुर गीतो को तन्मय होकर गाते थे तो राह चलते लोग खडे होकर सुनने लगते थे। वे स्वय कृषक थे। कृषिकार्य करने के बाद इतना समय बचा लेते थे कि उसमे वे भक्तिरसपूर्ण सुन्दर गीतो की रचना करते थे। वे चाहते तो अनेक धनिको से भगवद्भक्ति के गीत सुनाने के बदले पर्याप्त पुरस्कार पा सकते थे, किन्तु भगवान् का यह परमभक्त निर्धनता को वरदान समझता था। स्वेच्छा से

धर्मध्यान, आत्मकल्याण के कार्य कर सकता है, सुख शान्तिपूर्वक निश्चिन्तता से जीवन-यापन कर सकता है, गार्हस्थ्यजीवन भी सुखमय हो जाता है। इच्छाओ और तृष्णाओ पर जिसने नियन्त्रण नही किया, वह असीम इच्छाओ के चक्कर मे पडकर रात-दिन अशान्त रहता है। आग मे घी डालने से वह और अधिक भडकती है, उसी प्रकार वस्तुओ के मिलने से इच्छा और अधिक बढती जाती है, कम नही होती। इच्छाओ के भार से आक्रान्त मनुष्य का जीवन कितना भारभूत, कितना चिन्तातुर और कितना व्यथामय बन जाता है? ऐसा व्यक्ति न तो शान्ति से खा-पी सकता है, न निश्चिन्तता से जीवनयापन कर सकता है, और न ही परमात्म-भजन आदि आत्मकल्याण के कार्य ही कर सकता है? उसके पास कितना ही वैभव बढ जाए, यहाँ तक कि सारे ससार का वैभव मिल जाए तब भी उसे अशान्ति रहती है, वह अपनी प्रवृद्ध इच्छा की पूर्ति की चिन्ता मे प्रतिक्षण डूबा रहता है। किन्तु इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार कर लेने पर इस प्रकार की कोई भी अशान्ति नही रहती।

इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार करने पर श्रावक को अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की चिन्ता नही रहती, न दुख होता है। यदि वह नयी डिजाइन के, नूतन ढग से बने हुए पदार्थों के विषय मे सुनता है या उन्हे देखता है, तब भी इच्छापरिमाणव्रती उन पदार्थों को पाने की न तो इच्छा करता है, न ही चेष्टा करता है, तथा उनके न मिलने पर दुखित नही होता है। यदि व्रत मे रखी हुई सीमा के बाहर की कोई भी वस्तु बिना इच्छा या परिश्रम के प्राप्त होती हो तो भी वह उसे स्वीकार नही करता, और न ही किसी वस्तु की इच्छा से पीडित रहता है।

इच्छापरिमाणव्रतधारी धर्मकार्य मे रुचिपूर्वक झटपट तल्लीन हो जाता है। उसके मन मे उतनी चचलता या अस्थिरता नही होती, जितनी चचलता और अस्थिरता असीम इच्छा वाले मे रहती है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि जो अपनी इच्छाओ का जितना अधिक निरोध कर लेता है, उसका मन धर्मध्यान मे उतना ही अधिक लगता है। वह धर्मध्यान भी विना किसी नामना-कामना के करता है। इच्छा-परिमाणव्रत स्वीकार करने पर श्रावक निर्ग्रन्थ धर्म के योग्य पात्र बन जाता है। परन्तु जिसकी इच्छाएँ अनियन्त्रित हैं, उसकी निर्ग्रन्थ धर्म पर हार्दिक रुचि नही होती।

मरणवेला मे भी आनन्द

इच्छापरिमाणव्रत ग्रहण करने वाले श्रावक को मृत्यु के समय किसी प्रकार का दुख नही होता, जबकि इच्छापरिमाणव्रत से विमुख महापरिग्रही को मृत्यु के समय मे घोर कष्ट होता है। उसे खासकर अपने धन और साधनो के वियोग होने का दुख होता है, जिनमें उसके प्राण अटके रहते हैं।

कहते हैं, मुहम्मदगजनवी जब मरने लगा, तब उसने अपनी सारी सम्पत्ति, जिसे उसने भारत को बडी बुरी तरह लूटकर सचित की थी, अपने सामने मँगवाई। उस सम्पत्ति का अवलोकन करके उसके मुँह से दुखपूर्ण उद्गार निकले—"हाय! आज

मेरी प्यारी दौलत मुझसे छूट रही है।" और उसके पश्चात् वह फूट-फूटकर रोने लगा। सचमुच, शास्त्र के कथनानुसार महापरिग्रही को मरते समय आर्त्त-रौद्र ध्यान आता है, जो दुर्गति का कारण है, लेकिन इच्छापरिमाणव्रती श्रावक के पास ऐसा दुख नही फटकता।

इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार करने वाला कभी इस बात से चिन्तित या दुखी नही होता कि मेरी वस्तु कोई छीन लेगा, चुरा लेगा या नष्ट कर देगा। क्योंकि वह यह जानता है कि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। जब तक मेरा पुण्य प्रबल है, तब तक ही ईष्ट वस्तु मेरे पास टिक सकती है, उस अवधितक कोई भी उसे नही ले जा सकता, और जब मेरा पुण्य निर्बल हो जाएगा, तब लाख प्रयत्न करने पर भी वह वस्तु मेरे पास टिक न सकेगी। फिर मुझे चिन्ता करने या दुखी होने की क्या जरूरत है?

एक सघन वृक्ष है। उसका सहारा एक बदर भी लेता है और एक पक्षी भी। पक्षी वृक्ष पर बैठा हुआ भी वृक्ष के आश्रय पर नही रहता, वह अपने पखो के आश्रय पर रहता है, वृक्ष के गिरने पर उसे कोई कष्ट न होगा, वह पखो के सहारे उड जाएगा। मगर बन्दर के लिए वृक्ष का ही आश्रय है। अगर वृक्ष टूट पडे तो बन्दर को बहुत हानि पहुँच सकती है। यही अन्तर इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार करने वाले और न करने वाले मे है। इच्छापरिमाण करने वाले को अपनी मर्यादा मे गृहीत सासारिक पदार्थों का आधार छूट जाने पर भी पक्षी की तरह कोई दुख नही होता, क्योंकि वह उन पदार्थों पर भी इतनी ममता नही रखता, जिससे कि उसे दुख हो, जबकि इच्छा परिमाण न करने वाले को बन्दर की तरह बहुत ही दुख होता है, पदार्थों के छूट जाने पर।

इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार करने वाला महान् परिग्रह से बच जाता है, क्योंकि उसने इच्छाओ को सीमित कर दिया है। इस कारण जितने अश मे उसकी इच्छा शेष है, उतने अश के परिग्रह के सिवाय शेष समस्त परिग्रह से निवृत्त हो जाता है। उसे सम्पूर्ण परिग्रह की क्रिया नही लगती, अपितु जितने अश मे परिग्रह रहा है, उसी की क्रिया लगती है। इसलिए वह महापरिग्रही न रहकर अब अल्पपरिग्रही हो जाता है। जितना परिग्रह शेष है, उसमे भी वह जल कमलवत् निर्लिप्त रहता है तो उसी भव मे, नही तो सात-आठ भवो मे मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यद्यपि उसने पूर्णतया परिग्रह त्याग नही किया है, तथापि आशिक रूप से परिग्रह त्याग एव इच्छा-परिमाण किया है, अत उतने अशो मे वह जन्म-मरण के कष्टो से छूट जाता है, नीच गति का पथिक होने से बच जाता है, या तो वह सुगति मे जाता है, या मोक्ष मार्ग का पथिक हो जाता है।

इच्छापरिमाण करके भी मर्यादा मे रहते हुए पदार्थों के प्रति निर्ममत्व रहे, उनमें वृद्धि न करे तो वह परिग्रह से निर्लिप्त व्यक्ति शीघ्र ही अपना बेडापार कर लेता है। जैसे भरत चक्रवर्ती षट्खण्डाधिपति होते हुए भी राज्य-वैभव के प्रति

निर्ममत्व, निर्लेप-से रहते थे, इस कारण उन्हे शीशमहल मे खडे-खडे ही केवलज्ञान हो गया था। नमिराज के पास समस्त राज्य सम्पदा थी, फिर भी वे निरासक्त होकर राज्य करते थे, इस कारण वे राजर्षि कहलाते थे और अपना आत्म-कल्याण भी शीघ्र ही कर सके थे।

इच्छापरिमाणव्रत का अर्थ और उद्देश्य

इन सब पूर्वोक्त पहलुओ को दृष्टिगत रखते हुए इच्छा परिमाण व्रत का अर्थ है—सासारिक पदार्थों से सम्बन्धित अशुभ (निकृष्ट, अति और अनुचित) इच्छाओ को छोडकर शुभ (उत्कृष्ट, और उचित दूसरो के हितो को हानि न पहुँचाने वाली) इच्छाओ को सीमित करना।

यह सकल्प करना कि मै अमुक, इतने पदार्थो से अधिक की इच्छा नही करूगा इच्छापरिमाणव्रत है। सम्पूर्ण अपरिग्रह व्रत का स्वीकार करने वाले को तो ससार के समस्त पदार्थों पर से इच्छा और मूर्च्छा का त्याग करना होता है, लेकिन इच्छा परि-माणव्रतधारक को ससार के समस्त पदार्थों पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग नही करना पडता, उसे उन्ही पदार्थों पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग करना पडता है, जो पदार्थ महापरिग्रह मे माने जाते है, या जिन पदार्थों की इच्छा निकृष्ट है, दूसरो के लिए घातक है, अनुचित है, बलबूते से बाहर है।

इच्छापरिमाणव्रत के ग्रहणकर्ता को इस बात का सकल्प करना होता है कि मैं इन-इन पदार्थो से अधिक पदार्थो पर स्वामित्त्व और ममत्व नही रखूँगा, न ही उन पदार्थों के अतिरिक्त किसी पदार्थ की इच्छा करूगा। आशिक रूप से परिग्रह से विरत होकर महान् परिग्रही न होने की जो प्रतिज्ञा ली जाती है, उसे भी इच्छा-परिमाणव्रत कहते हैं। इस व्रत को स्वीकार करने के बाद कुछ पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों की ओर अपनी इच्छाओ का निरोध करना पडता है।

इच्छापरिमाणव्रत का उद्देश्य दुनियाभर के समस्त पदार्थो की विस्तृत इच्छाओ से अपने मन को खीचकर एक सीमित दायरे मे कर लेना है।

इच्छापरिमाण मे मर्यादा जितनी कम होगी, उतना ही दु ख एव ससार-भ्रमण कम होगा। इसलिए इच्छापरिमाणकर्ता को विस्तीर्ण मर्यादा को सकीर्ण और अल्पतम करना है। क्योकि उसका ध्येय तो एक दिन परिग्रह या इच्छा का सर्वथा त्याग करने का होता है। वह अपनी मजिल तक तभी पहुंच सकता है, जब इच्छा-मूर्च्छा को न्यून से न्यूनतम कर लेगा।

यद्यपि सासारिक पदार्थों का जितना भी त्याग किया जा सके, इच्छाओं को जितनी सीमित एव नियन्त्रित की जा सके, उतना ही अच्छा है। परन्तु जहाँ श्रावक यह देखता है कि इच्छाओ को इतना अधिक सीमित करने पर गार्हस्थ्य जीवन निर्भर नही रहा है, वहा वह आवश्यकताओ और इच्छाओं का तालमेल बिठाता है।

जैसे एक व्यक्ति के पास पाच सौ रुपये है। अब वर्ष भर की आवश्यकता के अनुरूप मर्यादा न करके एक लाख रुपयो की मर्यादा करता है। वैसे तो इस मर्यादा मे भी लाख रुपये से अधिक की इच्छा का त्याग हो जाता है, किन्तु ऐसा करना वर्तमान मे तृष्णा और इच्छाओ का समुचित निरोध करना नही है। इसलिए प्रशस्त मार्ग यही है कि आवश्यकताओ के साथ इच्छाओ की सगति बिठा कर मर्यादा की जाय।

निष्कर्ष यह है कि आवश्यकता के अनुरूप इच्छाओ को घटाया जाय, परन्तु यथार्थ आवश्यकता का सम्यक् पर्यवेक्षण न करके, इच्छाओ के अनुरूप आवश्यकताएँ बना ली जाएँ तो वह मार्ग-प्रशस्त नही होता। श्रावक का उद्देश्य इच्छा और मूर्च्छा के साथ-साथ आवश्यकता मे भी कटौती करना है, तभी वह एक दिन निर्ग्रन्थ-निस्परिग्रह की मन्जिल पर पहुँच सकेगा। उसका उद्देश्य इच्छाओ की मर्यादा को बढा कर वर्तमान स्थिति से पीछे हटना नही है, अपितु इच्छाओ की मर्यादा को क्रमश घटाते हुए आगे बढना है।

आशा है, आप इच्छापरिमाणव्रत के हृदय को समझ चुके होगे और इसी पथ पर चल कर अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने का प्रयास करेंगे।

11

परिग्रह : हानि, परिमाणविधि, अतिचार

पाप और साप दोनो ही जगत् मे हानिकारक माने जाते है, दोनो से बच कर चलना विवेकी मनुष्य के लिए अनिवार्य है। दोनो ही त्याज्य है, इसलिए उनका सग न करना ही उचित है।

परिग्रह भी एक प्रकार का पाप है। क्योकि वह मानवजीवन को पतन के गहरे गर्त मे डाल देता है। उसकी विवेक-बुद्धि, विचार-शक्ति और सत्यशोधन की रुचि को नष्ट कर देता है।

'परिग्रह पाप है', इस बात को आज समाज मे से विस्मृत कर दिया है। जो जितना अधिक धन-वैभव से सम्पन्न होता है, उसे उतना ही बडा आदमी माना जाता है। बडे आदमी का मतलब ही आज अधिक परिग्रहसम्पन्न हो गया है। उसे ही पुण्यवान समझा जाता है, जिसके पास अपार धन हो। यह कैसी विचित्र बात है कि धन की आकाक्षा रख कर रात-दिन धन की धुन मे बहने वाला, धन के ही सपने देखने वाला येन-केन-प्रकारेण श्याह-सफेद करके धन कमाने वाला व्यक्ति आज पुण्यात्मा माना जाता है, और जिसके पास धन नही है, किन्तु सच्चरित्र है, सेवाभावी है, उसे लोग अकसर पुण्यहीन कह देते है, कदाचित् उसके मुह पर उसे पुण्यहीन नही कहते हैं तो भी अपने मनमस्तिष्क मे उसे वैसा समझते है। उसे किसी सभा, सोसाइटी या सार्वजनिक सस्था का सभापति, अध्यक्ष या प्रमुख बनाने मे प्राय· हिचकिचाते है और उस परिग्रहसम्पन्न को, जिसने गरीबो का चूरा कर, उनके श्रम का शोषण करके पैसा कमाया है, उसे ही प्राय उच्चासन या अग्रासन दिया जाता है, उसे ही उच्च पद पर अधिष्ठित किया जाता है। पुण्य के ४२ भेदो मे धन का नामोनिशान भी नही आता, फिर भी पता नही, धनसम्पन्न को किस आधार पर पुण्यवान् माना जाता है ? धन मिलना कोई पुण्य नही है, अपने आप मे। मनुष्य-जन्म मिलना ही पुण्य का फल है। लेकिन आज तो परिग्रह—धन के सग्रह को ही पुण्य कहा जाता है। परिग्रह को शास्त्रकार तो पाप (पापास्रव) कहते हैं। परिग्रह के आसपास भी कई पाप लगे हुए है। जहाँ तक मूल पाप को नही छोडा जाएगा, वहाँ तक दूसरे पाप कैसे समाप्त हो सकते है ?

इसीलिए तो भगवान् ने पाच आस्रवो को मूल पाप बताया है, और सर्वप्रथम इन पापो के द्वार बद करने के लिए पाच मूलगुण बताए है। ये ही पांच मूलगुण साधु के लिए महाव्रतो के रूप मे और गृहस्थ श्रावक के लिए अणुव्रतो के रूप मे बताए है। इन पाचो मे से पाचवा मूल गुण परिग्रहपरिमाणव्रत बताया है।

अगर आप इन ५ मूलगुणो—मूल अणुव्रतो को छोडकर अगर उपवास, पौषध सामायिक आदि बाह्य क्रियाएँ करें और उतने से सन्तोष मान लें तो उसमे कोई आत्मिक लाभ होना सम्भव नही है।

अगर कोई व्यक्ति वृक्ष की जडो मे पानी सीचने की अपेक्षा उसके पत्तो और शाखाओ को ही सीचता रहे तो क्या इससे वह वृक्ष हराभरा रह सकता है ? कदापि नही। इसी प्रकार यदि आप मूलव्रतो का पालन करने के बजाय केवल उत्तर व्रतो (सामायिक पौषध, देशावकाशिक आदि धर्मक्रियारूप उपव्रतो) का ही पालन करते रहेंगे तो उससे धर्मरूपी वृक्ष को पुष्पितफलित नही रख सकेंगे।

एक आचार्य ने बहुत ही मार्मिक शब्दो मे इस सम्बन्ध मे चेतावनी दी है—

यमानभीक्ष्ण सेवेत, न नित्य नियमान् बुध।
यमान् पतत्यकुर्वाणो, नियमान् केवलान् भजन्॥

—विवेकी साधक यमो (मूलव्रतो) का आचरण प्रतिदिन बार-बार करे, किन्तु नियमो (उत्तरव्रतो) का आचरण नित्य नही, कभी-कभी करे। जो साधक यमो का आचरण प्रतिदिन नही करता, वह पतित हो जाता है, और वह भी भटक जाता है, जो केवल नियमो का आचरण करता है।

यम यहाँ मूलव्रतो के अर्थ मे है, और नियम है उत्तरव्रतो के अर्थ मे। जब-जब मूलव्रतो (यमो) की उपेक्षा कर दी जाती है और केवल उत्तरव्रतो (नियमो) को मुख्यता दे दी जाती है, तब-तब धर्म और धार्मिक दोनो निस्तेज हो जाते हैं। जीवन मे जब यम मुख्य बन जाते है और नियम गौण, तभी धर्म और धार्मिक का तेज बढता है। आज धर्म की शक्ति इसलिए क्षीण हो रही है कि उसमे मूलव्रतो की अनिवार्यता समाप्त कर दी है, उत्तरव्रतो को मुख्यता दे दी गई है। वे अनिवार्य बन गए हैं। वास्तव मे नियम का उपयोग यम के होने पर ही है। अपरिग्रह या परिग्रह परिमाण यम (मूलव्रत) है। आज इस मूलव्रत की उपेक्षा करके परिग्रह को बहुत इकट्ठा किया जा रहा है, दूसरी ओर उत्तरव्रतो (नियमो) पर जोर दिया जा रहा है। अत यह याद रखिये कि परिग्रह का पाप छोडे बिना अथवा परिग्रह की मर्यादा किये बिना धर्मक्रियाओ के रूप में उत्तरव्रतो का पालन राख पर लेपन करने के समान है।

पापो का केन्द्र - परिग्रह

यह तो सर्वविदित है कि परिग्रह पापबन्ध का कारण है। यह पांचवाँ आश्रवद्वार है। पहले के चार आश्रवो को पोषण प्राय इस परिग्रह-आस्रव से मिलता

है। भगवतीसूत्र के दूसरे शतक मे गणधर इन्द्रभूति गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर मे श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—"गौतम ! इच्छा, मूर्च्छा और गृद्धि (परिग्रह) से क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायो का तादात्म्य सम्बन्ध है। जहाँ परिग्रह होता है, वहाँ क्रोधादि चार कषाय अवश्य होते है, जहाँ क्रोधादि चार कषाय होते है, वहाँ परिग्रह आदि पाप अवश्य होते है। इस प्रकार परिग्रह क्रोध, मान, माया और लोभ इन पापानुबन्ध चतुष्टय का जनक है। परिग्रह समस्त पापो का केन्द्र भी है। समस्त पाप परिग्रह से उत्पन्न होते है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र मे इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—"परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते है, असत्य-भाषण करते है, बडी-बडी चोरियाँ-डकैतियाँ परिग्रह के कारण होती हैं। मिलावट, तौलनाप मे गडबडी, बेईमानी, जालसाजी, धोखेबाजी, गिरहकटी आदि सब पाप भी परिग्रह को लेकर किये जाते हैं, परस्त्रीगमन और पर-नारीहरण भी परिग्रह के लिए करते है, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि कष्ट भी लोग परिग्रह के लिए सहते है, परिग्रह के कारण सम्बन्धित व्यक्तियो से मनुष्य क्रोध करता है, लोभ करता है, द्रोह और कपट करता है, अभिमान करता है, कलह भी करता है, दम्भ भी करता है, दूसरे पर झूठा दोपारोपण भी परिग्रह के लिए करता है, दूसरे को अपशब्द कहकर अपमानित भी परिग्रह के लिए किया जाता है। स्वय भी अपमानित होता है।

मनुष्य परिग्रह के कारण सदैव चिन्तित, आतकित, त्रस्त एव भयभीत रहता है। व्यक्ति दूसरो के हृदय को आघात पहुँचाता है, वह भी परिग्रह के लिए। इस प्रकार शास्त्रकारो ने समस्त पापो का उत्पत्ति स्थान परिग्रह को बताया है। आप भी ससार-व्यवहार मे यह अनुभव करते होगे कि ससार मे जितने भी पाप हैं, वे प्राय परिग्रह को लेकर होते है। कोई भी ऐसा पापकर्म न होगा, जो परिग्रह के निमित्त से न होता हो। अपनी निकृष्ट इच्छाओ, गलत महत्वाकाक्षाओ एव वस्तुओ के प्रति आसक्ति तथा मोह-ममता को लेकर ससार मे बडे-बडे पाप होते हैं। इसलिए जहाँ इच्छा-मूर्च्छा नही होती या सीमित होती है, वहाँ प्राय पापकर्म नही होता।

हिंसा को लीजिए। ससार मे परिग्रह के लिए लोग बडी हिंसा—मानवहत्या तक कर बैठते है। पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे आसक्ति के कारण, सत्ता, सम्पत्ति, पद-प्रतिष्ठा और नारी के लिए ससार मे बडे-बडे घमासान युद्ध हुए हैं। आज भी होते देखे जाते हैं। कोणिक ने जो अपने मातामह चेटक राजा के साथ शिलाकटक महायुद्ध छेडा था, वह किसलिए ? हार और हाथी के परिग्रह को लेकर ही तो। परस्त्री सती (मदनरेखा) को अपने अधीन (परिगृहीत) करने के लिए मणिरथ राजा ने अपने भाई युगवाहु की कपटपूर्वक हत्या कर दी थी। औरगजेब ने अपना सिंहासन सुदृढ करने के लिए अपने पिता शाहजहाँ को कैदखाने मे डाल दिया था, और अपने भाइयो को बुरी मौत मरवा डाला था। रावण ने राजा रामचन्द्रजी की पत्नी सीता-

सती को अपने कब्जे मे करने के लिए भयकर युद्ध किया था, किसलिए ? स्त्रीरूप परिग्रह के लिए ही तो ! परिग्रह के लिए मनुष्य मनुष्य की हत्या कर डालता है। इतना ही नही, परिग्रह के लिए अपने निकट सम्बन्धी माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी, साले, ससुर, सास, मामा, मौसी आदि की हत्या करते भी मनुष्य देर नही लगाता। कौरव-पाण्डवो के बीच महाभारत सग्राम हुआ था, जिसमे अगणित सेना का ध्वस हो गया, वह राज्य लिप्सारूप परिग्रह के लिए ही तो हुआ था ! इसी प्रकार धन की आशका से बडे-बडे महन्तो और जागीरदारो की हत्या कर दी गई। पिछले दो विश्वयुद्ध हुए थे, जिसमे लाखो मनुष्य गाजरमूली की तरह काट दिये गए, हिरोशिमा और नागासाकी शहरो पर जो अमेरिका द्वारा बम वर्षा की गई थी, जिसके कारण लाखो निर्दोप निरपराध लोगो के प्राण गए, क्या यह लोभवृत्ति (परिग्रह) से प्रेरित नही थी ? युद्ध मे मनुष्य हत्या करने मे योद्धाओ को किसी प्रकार की घृणा न हो, इसके लिए राजा लोग उन्हे शराब दिलाते थे, उन्हे धार्मिक शिक्षा से वचित रखते थे, माँस खिलाते थे, और किसी भी सुन्दरी के साथ व्यभिचार के लिए उन्हे खुल्ली छूट दे देते थे, ताकि वे मन लगाकर युद्ध कर सकें। पश्चिमी पाकिस्तान ने बगला देश के निर्दोप नर-नारियो पर जो अमानुपिक अत्याचार किये, सरेआम कत्ल की, स्त्रियो के साथ बलात्कार किया, बुद्धिजीवियो को गोलियो से भून डाला, क्या यह हिंसाकाण्ड परिग्रह के सिवाय और किसी के लिए हुआ था ? पुराने तथाकथित धर्मग्रन्थो मे प्रलोभन दिया गया कि सैनिको को युद्ध मे मरने से वीरगति प्राप्त होती है, स्वर्ग की देवागनाएँ उनके लिए वरमाला लिये खडी रहती है। ये सब हथकडे परिग्रह के लिए ही तो हुए ! ये तो वे हिंसाएँ है— जिनके करने को तथाकथित समाज, राष्ट्र या धर्मसम्प्रदाय घृणा की दृष्टि से नही देखता था, निन्दनीय नही मानता था, बल्कि ऐसी हिंसा करने वाले को 'वीर' 'बहादुर' आदि पद दिया जाता था।

अब आइए उस हिंसा की ओर, जिसे समाज द्वारा निन्द्य, सरकार द्वारा दण्डनीय और धर्म द्वारा घृणित समझी जाती है। चोर, डाकू, परस्त्रीगामी व्यभिचारी, लुटेरे, हत्यारे आदि साहसिक लोग भी परिग्रह के लिए नरहत्या करते है। परिग्रह के लिए ऐसे लोग बात की बात मे मनुष्य को मौत के घाट उतार देते है। यहाँ तक कि ऐसे साहसिक लोग परिग्रह के लिए स्वजनो तक की हत्या कर डालते है। आत्महत्या का घोर पाप भी परिग्रह के लिए होता है।

मनुष्य परिग्रह के लिए अपने शरीर को भी कष्ट मे, सकट मे, और खतरे मे डाल देता है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, अनिद्रा, ऊबड-खाबड जगह मे निवास, रात-दिन भय, आतक, चिन्ता, मन मे उद्विग्नता, आदि सब कष्ट भी मनुष्य परिग्रह के लिए सहकर शरीर को सादा, नियमित भोजन, निरापद स्थान, समय पर शयन, शीत, ताप, वर्षा आदि से शरीर की रक्षा के लिए उपाय आदि सुख-साधनो से वचित

रखता है। अधिक गरिष्ठ, प्रकृति विरुद्ध, भोजन, अनियमित शयन, अनिद्रा आदि कष्ट देकर शरीर के प्रति द्रोह परिग्रह के लिए किया जाता है। मिथ्या आहार-विहार, अनियमित शयन-जागरण आदि सब शरीर के प्रति द्रोह होता है।

परिग्रह के लिए मनुष्य अपने सहोदर भाई-बहन, सगे माता-पिता, दादा-दादी, नाना-मामा, मित्र, स्वजन एव पुत्र-पुत्री तक से ही द्रोह कर बैठता है। जिन माता-पिता के मनुष्य पर अनन्त उपकार थे, तो क्या उन सम्राट् श्रेणिक और महारानी चेलणा के प्रति मात्र सिंहासन (राज्य) पाने की लिप्सा से कोणिक ने द्रोह नही किया था। सम्राट् श्रेणिक को तो उसने पीजरे मे बन्द कर दिया था। फिर अपने माता-मह से, भाइयो से भी केवल हार और हाथी के परिग्रह के लिए द्रोह कर दिया था। कस ने अपने पिता उग्रसेन को परिग्रह के लिए ही तो कारागार मे डाला था। कई नराधमो ने तो अपनी जन्मदात्री माता को परिग्रह के लिए परलोक धाम पहुँचा दिया था।

परिग्रह के लिए माता-पिता द्वारा अपने पुत्रो या पुत्रियो के वध के उदाहरण भी इतिहास मे अनेक मिल सकते है। पुत्र और पुत्री मे जो भेदभाव किया जाता है, वह परिग्रह की दृष्टि से ही तो किया जाता है। पुत्री का जन्म होते ही माता-पिता का मुख क्यो मुर्झा जाता है? क्योकि उसको धन देना पडेगा। इसी कारण से प्राचीन-काल मे राजपूत लोग जन्म लेते ही पुत्री का गला घोट कर मार डालते थे। परिग्रह के लिए पुत्र या पुत्री को बेच दिया जाता है। पुत्र वाला पुत्रीपक्ष के लोगो से मुँह मागा धन मागता है, दहेज, तिलक, आदि के रूप मे। परिग्रह के लिए माता-पिता अपनी पुत्री के सुख-दुःख की चिन्ता न करके बूढ़े या अनमेल वर के साथ उसका गठ-बन्धन कर देते हैं।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की माता चूलनी ने विषयभोग मे मूर्च्छा रूप परिग्रह के लिए ही अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को लाक्षागृह मे जलाकर समाप्त कर डालने का कुकृत्य किया था।

परिग्रह के लिए भाई-भाइयो के परस्पर युद्ध के तो अनेक उदाहरण मिलते हैं। औरगजेब ने दारा, शूजा और मुराद नामक भाइयो को परिग्रह के लिए मरवा डाला था। भरत चक्रवर्ती ने राजरूप परिग्रह के लिए ९८ भाइयो की स्वाधी-नता छीन लेने का प्रयत्न किया था। कौरवो और पाण्डवो की लडाई परिग्रह के लिए ही हुई थी। दोनो भाई-भाई ही थे।

इसी प्रकार परिग्रह के लिए बहन की हत्या या द्रोह भाई द्वारा या भाई की हत्या या द्रोह बहन द्वारा होने के भी अनेक उदाहरण हैं। मित्रद्रोह भी परिग्रह के लिए होता है। परिग्रह के लिए मित्र अपने गाढ मित्र के साथ विश्वासघात कर देता है। परिग्रह के लिए पत्नी द्वारा पति के प्रति तथा पति द्वारा पत्नी के प्रति द्रोह के उदाहरणो की भी कमी नही है। सूरीकान्ता रानी ने विषयभोगो के प्रति मूर्च्छारूप

—जाति चाहे रसातल मे चली जाए, समस्त गुण चाहे रसातल से भी नीचे चले जाय, शील पहाड से गिरकर चूरचूर हो जाय, स्वजन स्नेही चाहे आग मे जल जाय, वैरिणी वीरता पर शीघ्र ही वज्र गिर पडे तो कोई आपत्ति नही, हमे तो केवल धन चाहिए। हमारा धन सुरक्षित रहे, वह नष्ट न हो, क्योकि उस एक धन के बिना मनुष्य के सारे ही गुण तिनके के समान व्यर्थ है।

साराश यह है कि परिग्रह के लिए मनुष्य धर्म, राष्ट्र, जाति और यहाँ तक कि परमात्मा के प्रति भी द्रोह कर लेता है। धर्म के नाम पर अनीश्वरवाद की स्थापना और प्ररूपणा करने को मनुष्य उद्यत हो जाता है, एकमात्र पद, सत्ता, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति आदि की इच्छामूर्च्छा से प्रेरित होकर। परिग्रह से प्रेरित होकर मनुष्य छल-कपट, व्यभिचार, अन्याय, अत्याचार, दुर्व्यसन, मद्य-मास-मैथुन आदि अनाचार को भी धर्म का रूप दे देता है। परिग्रह के खप्पर को भरने के लिए कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को अपनाने से भी मनुष्य नही हिचकिचाता। धर्म की मर्यादाओ का उल्लघन भी परिग्रह के लिए किया जाता है। परिग्रह के लिए मासभक्षण, मद्यपान, द्यूतकर्म, चोरी, व्यभिचार, निन्दा-चुगली आदि सब दुर्व्यसनो का सेवन कराने को मानव उद्यत हो जाता है। परिग्रह के लिए दम्भ, गुरुडम, तथाकथित धर्मध्वजी साधुवेश, मायाजाल, तिकडम आदि रचे जाते हैं। विश्वासघात-सा भयकर पाप, जासूसी, व्यभिचार-सेवन द्वारा गुप्तचरी भी परिग्रह के लिए की जाती है। न्यायाधीश कहलाने वाले लोग भी परिग्रहवश न्याय के नाम पर अन्याय करते है। यहाँ तक कि समस्त ईश्वरीय नियम विरोधी कार्य परिग्रह के लिये किये जाते है।

निष्कर्ष यह है कि ससार मे जितनी भी मानव हिंसा होती है, उन सबके कारणो की गहराई से छानबीन करने पर पता लगेगा कि वह एक या दूसरे परिग्रह निमित्त से होती है। इच्छा-मूर्च्छा से प्रभावित मानव के लिए नर-हिंसा करने मे कोई विचार नही आता कि ये मेरे भाई या सम्बन्धी है, मेरे मित्र हैं या सहायक-सेवक ह, मैं इनकी हत्या क्यो करूँ या कराऊँ ?

नर-हिंसा के समान मूक पशु-पक्षियो की हिंसा भी प्राय परिग्रह के लिए होती है। बेचारे दीन, मूक, तृण-वनस्पति-चारी, स्वतत्र विचरण करने वाले और किसी का कोई अहित न चाहने या करने वाले पशु-पक्षियो को भी मानव किसी न किसी पदार्थ की इच्छा या मूर्च्छा से प्रेरित होकर ही मारता है, उनका शिकार करता है, उन्हे निर्दयतापूर्वक पीटता-सताता है, उन पर बलबूते से अधिक बोझ लाद देता है, कत्ल-खानो या माँस के केन्द्रो मे उनका वध निर्दयतापूर्वक करता है, उनका रक्त, मास, हड्डियाँ, चर्बी दाँत, चमडा आदि सबको बेच डालता है, अपने मनोविनोद के लिए या शृ गार-प्रसाधन के लिए उन्हे बदूक से मार डालता है। यदि इनमे से किसी पदार्थ की चाह न हो तो पशु पक्षियो को मनुष्य क्यो मारता ? जो भी पशु-पक्षियो की हिंसा करता है, वह ऊपर बताए हुए कारणो से ही करता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि पशु

यदि परिग्रह का पाप न हो तो उपर्युक्त चारो पापो से भी छुटकारा हो सकता है। इसलिए यह कहने मे कोई अत्युक्ति नही है कि परिग्रह सभी पापो का मूल है, सभी पापो का केन्द्र है, तमाम अनर्थों की जड है। सुज्ञ श्रावक को परिग्रह के पाप से बचने का सर्वप्रथम प्रयत्न करना चाहिए।

दोषो का आगार : परिग्रह

जहाँ परिग्रह होता है वहाँ अनेक दोप आकर मनुष्य मे जमा हो जाते है। एक बार वे दोप प्रविष्ट हो जाते है, फिर उन दोषो को निकालना दुष्कर हो जाता है। जिसके जीवन मे परिग्रह आ जाता है उसमे दूसरो के प्रति ईर्ष्या भाव बना रहता है। वह सदैव मन मे कुढता रहता है, और उसकी इच्छा यही रहती है कि दूसरा, मेरे से आगे क्यो बढ गया ? उसके पास इतना धन क्यो हो गया ? इस प्रकार की ईर्ष्या की जलन से वह दूसरो के गिरने, समानता न होने आदि की दुर्भावना करता रहता है। वह दूसरो का अहित ही चाहता है। किसी भी अप्राप्त पदार्थ को वह तभी चाहेगा, जबकि वैसा पदार्थ दूसरे के पास न हो। दूसरो के पास वैसा पदार्थ देखकर तो उसके दिल मे आग लग जाती है, उसे अपने पास वाले पदार्थ मे सुख नही मालूम होता। इसमे क्या है ? ऐसा पदार्थ तो अमुक व्यक्ति के पास भी है, इसमे क्या विशेपता है ? इस प्रकार के दुर्विचारो से वह घिरा रहता है।

परिग्रही व्यक्ति मे प्राय मानवदया या जीवदया के कार्य के प्रति अरुचि हो जाती है। अत्यधिक परिग्रहासक्त मनुष्य के हृदय मे कठोरता और निर्दयता आ जाती है। अगर उसमे निर्दयता और कठोरता न हो और वास्तव मे दया और कोमलता हो तो वह मनुष्यो को दीन-हीन दु खी देखकर भी अपने पास ममत्वपूर्वक अधिक सग्रह नही रख सकता।

परिग्रही व्यक्ति अपने जरा-से कष्ट को बहुत बडा समझता है, जबकि दूसरे के महान् दु ख की भी उसे चिन्ता नही होती। परिग्रही प्राय यही चाहता है कि मेरे कार्य मे कोई रुकावट न आए, दूसरे चाहे मरे या जीए, उसे कोई मतलब नही। कई वार परिग्रहासक्त व्यक्ति दूसरो को सकट मे पडे देखकर सोचता है—इसके जैसे कर्म हैं, उनका फल वह भोग रहा है। हम क्या करें ? इसके जैसे भाग्य। हम दूसरे का क्या कर सकते है। परन्तु वैसा ही कष्ट जब अपने ऊपर आ पडता है, तब इस प्रकार कहकर चुपचाप नही बैठ सकता। तब तो बौखला उठता है, तब कर्मों पर नही छोडता, वह परिवार वालो को परेशान कर देता है। अनेक उपचार कराता है। मेरे लिए दूसरे लोगो को कितना कष्ट होता है ? दूसरे कितने मानसिक व्यथा से आक्रान्त हैं ? इस प्रकार का चिन्तन उसमे बिलकुल नही होता। वह आदमी परिग्रह के भँवर-जाल मे ऐसा स्वार्थी बनकर फसा रहता है कि उसे दूसरो के सुख-दु ख की जरा भी परवाह नही होती। बल्कि कई लोग तो इतने क्रूर होते हैं कि दूसरो को अत्यन्त कष्ट मे पडे देखकर वे नरपिशाच प्रसन्न होते हैं। रोम का क्रूर सम्राट नीरो इसी प्रकार

का पक्का स्वार्थी था। वह फिडल बजाता और अपनी मस्ती मे रहता था, दूसरो के दुख की उसे जरा भी चिन्ता नही थी। ऐसे सत्ता लोलुप परिग्रहियो मे इस प्रकार की क्रूर प्रवृति होती है।

ऐसा परिग्रहासक्त कदाचित् किसी दीन-हीन दुखी व्यक्ति को सहायता के नाम पर कुछ दे भी दे तो प्राय ऐसा नही समझा जाता कि उसने दया या करुणा से प्रेरित होकर यह सहायता दी है, बल्कि अधिकाशत ऐसे लोग प्रसिद्धि पाने, अपनी प्रशसा या वाहवाही सुनने, लोगो को दिखाने या अपनी गणना दानियो मे करने, अखबारो मे नाम फैलाने के लिए सचित या प्राप्त पदार्थ का एक अश दे देता है। इसे दया या सहृदयता कहना उचित नही। अगर उसमे दया और सहृदयता हो तो वह अपने पास परिग्रह सचित करने के लिए किंचित् भी कष्ट नही दे सकता और न ही वह स्वय अधिक रख कर दूसरो को उस वस्तु के अभाव मे तडफा सकता है।

परिग्रहासक्त व्यक्ति मे अभिमान का दुर्गुण तो बहुत जल्दी आ जाता है। वह स्वय का अधिकार जताने के लिए दूसरे का अपमान करते देर नही लगाता। परिग्रहरत मनुष्य को समाज की ओर से उच्च आसन, उच्च पद या प्रतिष्ठा मिल जाने से वह अपने को बडा आदमी समझने लगता है, इस अभिमान के कारण उसका मेल सामान्य जनता के साथ नही खाता, न उसका कोई मित्र ही बनना चाहता है।

परिग्रहासक्त व्यक्ति दूसरो के साथ द्रोह करने मे भी नही हिचकिचाता। जहाँ द्रोह होता है, वहाँ प्रेम या मैत्री भाव टिक नही सकते। अत परिग्रह प्रेम, स्नेह, मैत्रीभाव, आत्मीयता, सहृदयता या सहानुभूति के आग लगाने वाला है।

यह एक परम सत्य है कि जो जिसका अहर्निश ध्यान करता है, वह वैसा ही बन जाता है। आत्मा चेतन है और सासारिक पदार्थ जड हैं। किन्तु जब चेतन आत्मा रात-दिन जड-पदार्थों का ही चिन्तन-मनन, ध्यान करता है, अत उसमे जडता आजाए तो कोई अत्युक्ति नही। इसके अतिरिक्त आत्मा जड दृश्य पदार्थों का ध्यान करने से स्वय—द्रष्टा को भूल जाता है। वह अज्ञानवश कभी यह विचार भी नही करता कि मैं द्रष्टा होकर दृश्य जड पदार्थों मे क्यो अपने आप को खो बैठा ?

इसके साथ ही सासारिक पदार्थों के प्रति इच्छा-मूर्च्छा रखने वाला आत्मा, सासारिक भौतिक पदार्थों को अत्यधिक महत्त्व देता-देता आत्मा और उसके गुणो की उपेक्षा या अवज्ञा कर देता है। रात-दिन सासारिक जड-पदार्थों के प्रति अनुराग के कारण वह प्रतिष्ठा भी उसी को देता है, जिसके पास भज कलदार हो, या सासारिक पदार्थ अधिक हो। परिग्रह के प्रति आकर्षण होना ही अनर्थ का मूल है। जब तक मात्र धन के कारण धनिक को सम्मान मिलता रहेगा, तब तक मानव के हृदय से द्रव्य-लोभ दूर न हो सकेगा। अत चाहे परिग्रह का एकान्तनाश सम्भव न हो, परन्तु उसके प्रति आदर-वृत्ति तो दूर होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त जिसके पास सासारिक पदार्थों की प्रचुरता नही है, उसका आदर-सत्कार करना तो दूर रहा, उसकी ओर आँख उठा

कर भी नही देखता, न उससे दु ख-सुख की बात पूछता है। वह गुणी हो, तब भी उसके प्रति प्रमोद भावना उसमे नही होती, और न ही दु खी के प्रति उसमे करुणा भावना उमडती है। वह रूखा और मनहूस आदमी हो जाता है।

जहाँ परिग्रह का ही अहर्निश सम्पर्क और चिन्तन हो, वहाँ आत्मा की अवहेलना की जाती है, उसके साथ द्रोह किया जाता है। आत्मा को बडा न मानकर परिग्रह को ही महान् समझा जाता है, उसी का आदर किया जाता है।

जहाँ परिग्रह बढ जाता है, वहाँ आलस्य, अकर्मण्यता, दूसरो के श्रम पर गुलछर्रे उडाने की वृत्ति, विलासिता, व्यर्थ अपव्ययवृत्ति, आदि दुर्गुण आ जाते है। परिग्रही इन्ही दुर्वृत्तियो मे जीने का आदी हो जाता है। ऐसी स्थिति मे परिग्रह गरीबो के लिए द्वेष का कारण भी बन जाता है। गरीबो या श्रमिको को ऐसा लगता है कि परिश्रम तो सारा हम करते है, फिर भी हमे भरपेट खाने को नही मिलता, न तन ढकने के लिए वस्त्र ही मिलते है, न रहने का ठीक मकान ही मिलता है, जबकि ये धनिक बिना ही श्रम के सात मजिले मकान मे अमनचैन करते है, मोटर मे घूमते है, बगीचो मे सैर-सपाटे करते है, मेवा-मिष्ठान उडाते है, रेशमी वस्त्र पहनते हैं। इस प्रकार गरीबो के मन मे विद्वेष जागता है। अमर्यादित परिग्रही धनिको का धन, एव साधन उनकी आँखो मे खटकने लगते है।

यूरोपियन लेखक विद्वान् पीटर ने 'निर्धन का वकील' नामक पुस्तक मे बडे ही मार्मिक शब्दो मे लिखा है—"यदि धनवान् ईमानदार होते और निर्धनो को अपनी वस्तुओ का उचित मूल्य चुका देते तो गरीब, गरीब न होते। धन का वैभव और कुछ नही, केवल अनैतिक विजय—भेट है, जो गरीबो का स्वत्व-अपहरण करने से मिलती है।"

इन सब बुराइयो का मूल कारण अमर्यादित परिग्रह है। यही साम्यवाद को न्यौता देने वाला है। विषमता और असमानता दूर करने के लिए यदि अमर्यादित-परिग्रही परिग्रह मर्यादा करके गरीबो के साथ आत्मीयता नही रखेंगे तो वह दिन दूर नही, जब साम्यवाद भारत मे आ सकता है।

परिग्रही व्यक्ति भ्रमवश अपने आपको सबसे अधिक गुण-सम्पन्न समझता है, भले ही उसमें अनेक दुर्गुण ही क्यो न भरे हो। यद्यपि आध्यात्मिक महापुरुषो के कथनानुसार परिग्रहासक्त मे उपर्युक्त दोष होने के कारण गुण तो जरा-सा ही होना सम्भव है, तथापि परिग्रही यही समझता है कि समस्त गुण मुझ मे ही है। ऐसे लोगो का रवैया देखकर ही नीतिकार कहते है—

> यस्यास्ति वित्त स नर कुलीन.
> स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञ.।
> स एव वक्ता स च दर्शनीय.
> सर्वे गुणाः काचनमाश्रयन्ति ॥

[illegible] (पर-पदार्थ) है, [illegible] दुःख [illegible] है, [illegible] है, [illegible] है, [illegible] है, [illegible] है, सभी सुख [illegible]।

[illegible] सुख मानने लगता है, [illegible] सांसारिक पदार्थों [illegible] संग्रह करने [illegible] है, [illegible] है और [illegible] करता है।

परन्तु जो विवेकी है, सम्यग्दृष्टि है, वह समझ लेता है कि परिग्रह दुःखों का मूल है। सांसारिक पदार्थों से अज्ञ आत्मा सुख मानता है, परन्तु उनसे कभी सुख नहीं मिल पाता। अतः व्यक्ति चाहे जितना संग्रह करे, संग्रह करे, उनसे दुःख ही पाता है।

यही कारण है कि अमेरिका के प्रेसिडेण्ट [illegible] ने अपने देशवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा था—"गरीब लोग परमात्मा के अधिक नजदीक होते हैं, इसलिए मुझे वैभव पसन्द नहीं है।" महान् दार्शनिक लूथर का कथन है—"हे परमात्मा! मैं तेरा आभारी हूं, जो तूने मुझे निर्धन बनाने की कृपा की। ऐसा न करता तो मुझे तेरी उपस्थिति का भान न होता।"

ससार के धनकुबेर हेनरीफोर्ड ने अपनी डायरी मे ये वाक्य लिख रखे हैं—"मुझे यदि दूसरा जन्म मिला तो परमात्मा से कहूंगा—मालिक! तुम मुझे किसी कल-कारखाने का मजदूर या खेत-खलिहान का कृषक बनाना। तूने मुझे निर्धन बनाया तो मैं समझूंगा वरदान मिला। धन का अभिशाप तो मैं इसी जीवन मे भोग रहा हूं।" इसके कारणो पर प्रकाश डालते हुए उसने आगे लिखा है—"धन की अधिकता के कारण सारा जीवन अनियन्त्रित वासनाओ और कामनाओ मे बिताने के फलस्वरूप आज मेरी स्थिति ऐसी हो गई है कि विपुल सम्पत्ति होते हुए भी मुझे चाय और सिगरेट के अतिरिक्त और कुछ भी न लेने के लिए डॉक्टरो ने मना कर दिया है।"

यह परिग्रहियो के दुःखो की रामकहानी है। इससे समझा जा सकता है कि परिगृहीत पदार्थों मे कितना दुःख है, कितनी चिन्ता है। परिग्रही को ससार के प्राप्त पदार्थ भी दुःख देते है और अप्राप्त भी। जो प्राप्त है, उन्हें प्राप्त करने मे भी दुःख उठाना पडा है, उनके प्राप्त हो जाने के बाद भी दुःख है—सुरक्षा की चिन्ता है, और उनके वियोग हो जाने पर भी दुःख होता है। जिसके पास जितने अधिक पदार्थ होते है, उसे उतनी ही अधिक व्याकुलता, भय, अशान्ति, चिन्ता और परेशानी है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति के पास थोडे-से रुपये है, दूसरे के पास बहुत अधिक रुपये हैं। जिसके पास थोडे-से रुपये है, उसे भी चिन्ता और भीति तो होती है, लेकिन उतनी

नही, जितनी कि अत्यधिक रुपये वाले को रहती है। उसे रात-दिन भय और चिन्ता लगी रहेगी। धन की सुरक्षा के लिए पहरेदार भी रखने पडेंगे, मजबूत गोदरेज की तिजोरी भी रखनी पडेगी, इतना होने पर भी उसे चिन्ता और भीति बनी रहेगी कि कही कोई मेरा धन चुरा न ले जाए, नौकरो पर भी शका रहेगी, नीद भी हराम हो जाएगी। चोर, डाकू, आग, पानी आदि अनेक खतरो का भय बना रहेगा। यहाँ तक कि सरकार की ओर से भी परिग्रही को भय बना रहेगा कि कही सरकार टैक्स लगाकर या और किसी तरह से छापा मारकर इस धन को ले न जाए। इतना ही नही, धनिक परिग्रही अपने पुत्र, स्वजन, राजा (शासक), दुष्ट, चोर, वैरी, बन्धु, स्त्री, मित्र या परचक्र आदि से यहाँ तक कि समस्त परिग्रहत्यागी गुरु से भी शकित रहता है।

आरुणिकोपनिषद् मे बताया है कि आरुणी ऋषि ने एक बार एक कुत्ते को मुँह मे माँस से सनी हड्डी दबाए अपनी ओर दौडते हुए आते देखा। उस हड्डी को छीनने के लिए दूसरे कुत्ते उसके पीछे दौडे आ रहे थे। निकट आते ही वे कुत्ते उस हड्डी वाले कुत्ते पर एकदम झपटे, उसे घेर लिया और दाँतो तथा पजो से उसे मारने लगे। बेचारा कुत्ता घबराया। उसने वह हड्डी नीचे डाल दी। झटपट एक दूसरे कुत्ते ने वह हड्डी अपने मुँह मे दबा ली। अब क्या था, शेष कुत्ते उस पर टूट पडे। परन्तु वह भी अपनी जान-बचाने के लिए हड्डी छोडकर वहाँ से भागा। अब पीछे रहे हुए कुत्तो मे उस हड्डी के लिए बडी देर तक जम कर लडाई होती रही। वे सब कुत्ते लहूलुहान हो गये। यह तमाशा देखकर आरुणिऋषि ने विचार किया—जो कुछ दुख है, वह ग्रहण करने मे है, त्याग मे नही। हड्डी को ग्रहण किये, जो भी कुत्ता रहा, उस पर दुख का पहाड टूटा, किन्तु जब जिस कुत्ते ने हड्डी छोड दी, वह सुखी हो गया।

बन्धुओ! परिग्रह (ममत्त्वपूर्ण सग्रह) भी दुख का कारण है। एक कवि कहता है—

"दुखमेव धन व्यालविषविध्वस्तचेतसाम्।
अर्जने रक्षणे नाशे पुसा तस्य परिक्षये॥"

—धन रूपी विषधर के विष मे जिनका चित्त खराब हो गया है, उन लोगो को सदैव दुख ही दुख रहता है। उन्हे धनोपार्जन मे भी दुख होता है, रक्षा करने मे भी दुख होता है, और धन के नाश या व्यय मे भी दुख होता है।

निष्कर्ष यह है कि परिग्रह प्राप्त होने से पहले भी दुख देता है, प्राप्त होकर भी दुख देता है, और छूटकर भी दुख देता है। हा, इतना अवश्य है कि अधिक परिग्रह के साथ अधिक और कम परिग्रह के साथ कम दुख लगा हुआ है। किन्तु परिग्रह के साथ दुख अवश्य लगा हुआ है।

पदार्थों के प्राप्त होने से पहले आत्मा को जो शान्ति और स्वस्थता रहती है,

पदार्थ मिलने पर वह चली जाती है। एक उदाहरण ले लीजिए। एक आदमी पैदल चल रहा है उसे पैदल चलते देख किसी ने उसे घोडा देना चाहा। उसने घोडा ले लिया। घोडा पाकर वह आदमी कुछ देर के लिए तो यही समझता है कि मुझे शान्ति और स्वतन्त्रता मिली है, लेकिन वस्तुत देखा जाय तो घोडा पाकर वह व्यक्ति परतन्त्र हो गया है। अब उसे घोडे की रक्षा और उसे खिलाने-पिलाने की चिन्ता ने आ घेरा। वह पैदल था, तब चाहे जहाँ और चाहे जब जा सकता था, लेकिन घोडे पर तो तभी जा सकता है जब घोडा उसे ले जाना चाहे, स्वस्थ एव सशक्त हो। इसी प्रकार ससार की अन्य वस्तुओ के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए। सासारिक पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्ति, सुरक्षा-चिन्ता आदि सब दु खो के क्रम से युक्त हे।

सग्रहबुद्धि · विषमता का कारण

पदार्थों के प्रति इच्छा और मूर्च्छा होती है, तब उनके सग्रह करने की बुद्धि होती है। इच्छा-मूर्च्छा होने पर उस पदार्थ की ओर से सन्तुष्टि नही होती, भले ही वह पदार्थ उसे चाहे जितनी सख्या मे या चाहे जितनी मात्रा मे मिल जाए। उस व्यक्ति को अधिकाधिक सग्रह करने की इच्छा रहती है, तृप्ति उतने से नही होती। ससार मे जितने भी दु खी लोग है, वे प्राय सग्रहबुद्धि के प्रताप से दु खी है।

हमारा शरीर इसीलिए स्वस्थ रहता है कि उसके हर अवयव को रक्त का प्रवाह मिलता रहता है। जब शरीर के किसी भाग मे रक्त का प्रवाह रुक जाता है, वह एक ही जगह जमा हो जाता है, तब शरीर मे दर्द प्रारम्भ हो जाता है। क्या आज के समाज का दर्द भी यह नही है ? जब तक गृहस्थ समाज के हर अवयव तक धन या साधन पहुँचता है, तब तक समाज पीडित नही होता। जब वह कुछ लोगो तक पहुँच कर ही रुक जाता है, या एक के पास जमा हो जाता है, तब समाज मे पीडा का प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुत वर्तमान समाज की पीडा धन नही है, उसका अर्जन भी नही है, उसका उपभोग भी नही है, उसकी पीडा है—धन का सग्रह, वैयक्तिक स्वामित्व का विस्तार।

वैयक्तिक स्वामित्व की असीमता समाज के हित मे नही है, यह तथ्य स्वानुभव से सिद्ध हो चुका है। समाजवादी शासन-प्रणाली मे भी वैयक्तिक स्वामित्व को समाप्त करने की व्यवस्था है। अर्जन के साथ जब परिग्रह (ममत्व) का विसर्जन नही होता, तब समाज मे अनेक बुराइयाँ फैलती है।

ससार मे आज अधिकाश लोग नगे-भूखे दिखाई देते है, उसका कारण सग्रह-बुद्धि वाले व्यक्ति है। एक ओर पदार्थों का अम्बार लगा है, उनको इतने पदार्थों की आवश्यकता नही, दूसरी ओर ऐसे लोग भी है, जिनके पास उन पदार्थों का अभाव है, वे उन पदार्थों के उपभोग से वचित है। ऐसी स्थिति मे समाज मे विषमता पैदा होती है, जिसके फलस्वरूप लूटपाट, मारकाट एव रक्तपात आदि होते है। कुछ लोगो के पास धन का अत्यधिक सग्रह है, जबकि दूसरे लोग एक-एक पैसे के लिए तरस रहे है।

एक ओर अत्यधिक अन्न कोठारो मे जमा है, जबकि दूसरी ओर अन्न के दाने के अभाव मे हाहाकार मचा हुआ है। एक ओर सन्दूको मे वस्त्र पडे सड रहे है, उन्हे दीमक खा रहे है, जबकि दूसरी ओर लोग सर्दी से ठिठुर रहे हे। कुछ के पास सीमा से अधिक जमीन है, कुछ लोगो के पाम जमीन पर्याप्त नही है, जिसे जोत-बोकर वे अपने परिवार के गुजारे लायक अन्न पैदा कर सके। इस प्रकार की विपमता इस सग्रहबुद्धि या जमाखोरी की देन है।

सग्रह से मुख्यतया दो बुराइयाँ जन्म लेती ह—विलास और क्रूरता। सग्रह की समस्या को सुलझाने के लिए प्राचीन काल मे दान की व्यवस्था की गई थी। परन्तु वह दान दूसरो पर एहसान करने या प्रतिष्ठा व प्रसिद्धि पाने के लिए होगा तो एक बुराई को छोडने के साथ-साथ अहकार एव यशोलिप्सा की बुराइयाँ (जो कि आभ्यन्तर परिग्रह हैं) आ चमकेगी। अत दान को या तो समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य समझ कर करे, या अपने दोप (सग्रह दोप) का प्रायश्चित्त समझ कर करे। दान वस्तुत अपना सयम बढाने और अपने श्रेय के लिए है। यदि दान शब्द के साथ अहकृति की भीति हो तो उसके बदले विसर्जन—व्यक्तिगत स्वामित्व का विसर्जन शब्द रखा जा सकता है, जो वैयक्तिक सग्रह रोकने का स्वस्थ उपाय है।

जो व्यक्ति सग्रह करते ह, उनमे भी अधिकाश बिना श्रम किये ही सासारिक सुख भोगने की इच्छा वाले होते हैं, पर उनकी वे इच्छाएँ पूरी नही हो पाती।

परन्तु परिग्रह या सग्रह मे सुख नही, दु ख ही है। महाकवि शेक्सपीयर ने ठीक ही कहा है—

[1]मनुष्यो की आत्माओ के लिए सोना निकृष्टतम विप है। इस दु खमय विश्व मे धन का विप अन्य विपो से अधिक रक्त बहाता है।

इसलिए धन या परिग्रह मनुष्य को सुखी बना देगा यह बहुत बडी भ्रान्ति है।

परिग्रह का परिमाण ही सुखप्राप्ति का उपाय

इसीलिए भगवान महावीर अपनी आत्मा को सुखी और शान्तिमय बनाने के लिए घरबार, धन-सम्पत्ति, परिवार आदि सबकी ममता छोडकर निकल पडे। उन्होने परिग्रह को सर्वथा छोड देने और अपरिग्रहवृत्ति धारण करने की प्रेरणा दी। अगर सारा ससार परिग्रह की मर्यादा भी करले और परिग्रह परिमाणव्रत पर चलकर साधना करने लग जाए, अल्पतम पदार्थों से अपना निर्वाह करने लग जाए तो ससार स्वर्ग बन जाय, यहाँ किसी प्रकार का दु ख, अशान्ति या क्लेश न रहे। सभी लोग आवश्यकता के उपरान्त जो भी पदार्थ हो, उसका अतिथि, साधुसत, साधर्मी श्रावक श्राविका आदि सभी पात्रो मे यथायोग्य वितरण कर दें तो किसी प्रकार के सघर्प को

---

1 "Gold is worse poison to men's souls doing more murders in this loath some world, than any mortal drug"

अवकाश ही न रहे, युद्धो की विभीषिका भी सदा के लिए समाप्त हो जाए। ससार मे सभी लोग सन्तोषपूर्वक सुखमय जीवनयापन करने लग जाएँ। परन्तु मुट्ठीभर महापरिग्रही लोग अपनी इच्छा और मूर्च्छा के कारण ससार मे सुख-शान्ति का साम्राज्य होने दें तब न ?

ससार का कोई भी ऐसा पदार्थ नही है, जो छूट न सके। छोडने की इच्छा न होने पर कई वार वे बलात् छूट जाते है। किन्तु यदि सासारिक पदार्थों का त्याग स्वेच्छा से किया जाएगा तो दु ख भी न होगा और समाज मे उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी होगी। परलोक के लिए भी श्रेयस्कर होगा। यदि व्यक्ति इच्छापूर्वक सासारिक पदार्थों को नही छोडेगा तो पदार्थ एक न एक दिन देर-सवेर छूटेंगे तो अवश्य ही, लेकिन उस दशा मे हृदय को अत्यन्त दु ख होगा, प्रसन्नता न होगी। लोगो मे बदनामी भी नही होगी।

मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है, जो इस सम्बन्ध मे अप्रासगिक नही होगा—

एक जाट था। उसका प्रतिदिन किसी न किसी निमित्त को लेकर अपनी पत्नी से झगडा हो जाता था। जव भी झगडा होता, जाटनी धमकी भरे स्वर मे कहती—'अगर इस तरह झगडा करोगे तो मैं चली जाऊँगी।' जाटनी की इस धमकी से जाट जरा सहम जाता और मामले को ठडा कर देता था।

जाटनी की आए दिन कलह के समय दी जाने वाली इस धमकी को सुन-सुन कर चतुर जाट ने सोचा—"यह रोज-रोज जाने को कहती है, शायद किसी दिन चली भी जाय। अगर यह मेरे साथ झगडा और गाली-गलौज करके चली भी गई तो लोगो मे मेरी बदनामी होगी। लोग यही समझेंगे कि जाट मे ही कोई न कोई दोष है, तभी यह उसे छोड कर चली जा रही है। इसलिए जाटनी को मैं ही ऐसी सिफ्त से छोड दूं, ताकि लोगो मे मेरी बदनामी भी न हो, लोग मुझे दोषी न कहकर इसे ही दोषी कहे और प्रतिदिन के कलह से भी छुट्टी मिल जाए।"

अत जाट को एक युक्ति सूझी। उसने मन ही मन जाटनी को निकालने की एक योजना बना ली। आज जव जाटनी के साथ लडाई हुई और जाटनी ने उसी धमकी के अस्त्र का प्रयोग किया तो जाट ने पूर्व-विचारित योजना के अनुसार तपाक् से कहा—"भली मानुष ! तुझे जाना हो तो चली जा, रोज-रोज क्या धमकी देती है ? परन्तु जाने से पहले एक घडा पानी का तो भर ला।"

जाटनी भी कम माया न थी। उसने सोचा—"आज तो मुझे चली ही जाना है, तभी इन्हे आटे-दाल का भाव मालूम होगा। चलो, इतने वर्षों तक साथ रही हूँ, तो कुँए से एक घडा भर लाने मे क्या आपत्ति है ?"

वह सहमत होकर उठी और घडा लेकर कुँए की ओर चल दी। जाटनी कुँए पर पहुँची ही थी कि जाट भी डडा लेकर वहाँ पहुँच गया। जाट ने कुँए पर पहुँचते

ही घडे के एक डडा जमाया और बकने लगा—"निकल जा कर्कशा, मेरे घर से। मेरे घर को यो लुटाने चली है। मानो कोई रखवाला ही न हो। अब मैं एक दिन भी तुझे नही रख सकता।" जाटनी कहने लगी—"तुम क्या निकालोगे, मैं तो स्वय ही तुम्हारे घर से जा रही थी।" वह जाट डडा दिखा कर जाटनी को जल्दी से निकालने का प्रयत्न करने लगा। दर्शक लोग जाट का यह रवैया देख कर बीचविचाव करने लगे, पर जाट उसे निकालने पर ही तुला था, इसलिए कहने लगा—यह चोरटी है, पेटू है, मेरा घर लुटा दिया इसने, स्वार्थी है, कलहकारिणी है आदि।" अत लोगो ने समझा—"बेचारा जाट तो सीधा-सादा है, इस जाटनी मे ही दोष है, इसलिए विवश होकर निकाल रहा है इसे।" यो जाट ने चतुराई से जाटनी को निकाल भी दिया और लोकनिन्दा से भी बच गया।

हाँ तो, यह एक रूपक है। हमे इस पर आध्यात्मिक दृष्टि से सोचना चाहिए कि माया रूपी जाटनी है, आत्मा रूपी जाट है। दोनो का प्रतिदिन झगडा होता है। जो साधक उस जाट की तरह समझदार और विवेकी होता है, वह माया के द्वारा प्रतिदिन 'मैं चली जाऊँगी', इस प्रकार की दी हुई धमकी को सुन कर सोचता है—यह माया (परिग्रह—सम्पत्ति) एक न एक दिन तो जाने ही वाली है, टिकने वाली नही है। अगर यह मेरे द्वारा आसक्ति करने पर, या जबरन रखने पर भी चली जाएगी तो लोगो मे मेरी निन्दा होगी, मुझे भी बडा खेद होगा, अफसोस होगा। किन्तु अगर मैं स्वेच्छा से विवेक का डडा मार कर इसे सिफ्त से निकाल देता हूँ (स्वेच्छा से इसका त्याग कर सकता हूँ) तो मुझे दुःख भी न होगा और लोगो मे मेरी निन्दा भी न होगी।

बन्धुओ! भगवान् महावीर ने यही परामर्श विवेकी श्रावकों को दिया है कि देवानुप्रियो! अगर तुम परिग्रह के प्रति ममत्व स्वेच्छा से छोड कर इसकी मर्यादा कर लोगे तो परिग्रह के चले जाने का तुम्हे दुःख भी नही होगा और लोकापवाद भी नही होगा। समाज-व्यवस्था भी सुचारुरूप से चलेगी।

धन आपको छोडे, उससे पहले ही अगर उसके प्रति स्वत्व और ममत्व को तथा स्वामित्व को क्यो नही छोड देते? स्वत्व के धागे को तोडने का अर्थ उसे फेंकना नही है, अपितु त्याग की पहल करके उसे सार्वजनिक सेवाकार्य मे लगाइये। आपको बैंक पर इतना विश्वास है कि उसमे रुपये जमा कराने पर ब्याज सहित मिलेंगे। तब क्या आपको धर्म या पुण्य की बैंक पर विश्वास नही है कि इस बैंक मे जमा कराया हुआ धर्म रूपी धन वापस नही मिलेगा?

सर्वप्रथम आप अपने आपको समझिए कि आप कौन है? तत्पश्चात् तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सोचिए कि क्या ये धन, साधन आदि सासारिक पदार्थ आपके है? आपका तो यह शरीर भी नही है। धन जब आपका नही है तो धन के गुलाम न बनिये, धन के स्वामी बनिये। जो धन को अपने अधीनस्थ बना लेगा, वह धन को

साधन समझेगा, साध्य नही। वह यही सोचेगा—"धन मेरे लिए व्यावहारिक कार्यो का एक साधन है, मैं धन के लिए नही हूँ। फिर क्यो इसके अधीन बनूँ। धन के लिए समय, शक्ति या जीवन बर्बाद क्यो करूँ ?"

सज्जनो ! निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने का लाभ यही है कि आप स्वेच्छा से परिग्रह का त्याग करें या परिमाण करें। व्रत के स्वीकार किये बिना निर्ग्रन्थ प्रवचन का यत्किञ्चित भी भली भाँति पालन नही होता। तब तक जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नही हो सकता।

इस व्रत को स्वीकार करने से पारलौकिक लाभ तो जन्म-मरण से मुक्त होना और मुक्ति पाना है। इहलौकिक लाभ भी कम नही हैं। सबसे बडा लाभ यह है, इस व्रत के धारण करने से व्यक्ति सब तरह से निर्भय, निश्चिन्त हो जाता है, न उसे राजभय रहता है, न चोरभय, न अग्नि या अन्य किसी प्रकार का भय रहता है। उसके प्रति भी ससार के प्राणी निर्भय एव आश्वस्त हो जाते हैं।

सासारिक पदार्थों का स्वेच्छा से त्याग करने वाला व्यक्ति अपनी सन्तान पर भी सासारिक पदार्थों के स्वेच्छा से त्याग की एक सुन्दर परम्परा छोड कर जाएगा। इससे भावी सतति मे भी त्याग के सस्कार रूढ हो जाएगे।

जो लोग यह कहते है कि हमे सासारिक पदार्थ छोडते नही, हम तो उन्हे छोडने को तैयार हैं, वे आत्मवचना कर रहे है। क्या धन्ना, शालिभद्र, भरत चक्रवर्ती भृगु पुरोहित आदि ने यह बहाना बनाया था कि ये सासारिक पदार्थ हमे छोड नही रहे हैं, बल्कि जब उन्होंने अपने मन मे निश्चय कर लिया तब एक ही झटके मे सब पदार्थों का ममत्व छोड़ दिया। पदार्थो को पकड़ा तो मन ने ही था, मन ही उन्हे छोड़ सकता है। उन पर से ममत्व का त्याग करना ही उन्हे छोडना है।

इस सम्बन्ध मे वेदान्तदर्शन का एक उदाहरण प्रसिद्ध है—

एक जिज्ञासु व्यक्ति वेदान्ताचार्य के पास आया और कहने लगा—"गुरुजी ! मैं तो माया को छोड़ना चाहता हूँ, लेकिन माया ही मुझे नही छोड़ रही है, क्या करूँ।"

वेदान्ताचार्य ने सोचा—'इसे मौखिक रूप से समझाया जाएगा, तो झटपट समझेगा नही। अतः इसे व्यावहारिक रूप से समझा दूँ। वेदान्ताचार्य ने पास मे ही खडे खभे को दोनो बाहो मे पकड लिया और चिल्लाने लगे—"दौडो दौडो ! इस खभे ने मुझे पकड लिया है, यह मुझे छोड नही रहा है।"

जिज्ञासु ने हँसते हुए कहा—"गुरुजी ! खभे ने आपको पकड़ लिया है। या आपने खभे को पकड रखा है ?"

वेदान्ताचार्य ने कहा—"तुम्ही बताओ कि माया ने तुम्हे पकड रखा है या —ने माया को पकड लिया है ?"

जिज्ञासु के झटपट बात गले उतर गई, उसने स्वीकार किया—'गुरुजी! आपका कथन यथार्थ है, मैंने ही माया को पकड रखा है।'

इसी प्रकार दु खकारक सासारिक पदार्थों को आपने पकड रखा है, आप जब चाहे तब छोड सकते है।

अत भगवान् महावीर के उपदेशानुसार यदि आपकी शक्ति हो तो समस्त सासारिक पदार्थों के प्रति स्वामित्व व ममत्व छोड कर निष्परिग्रही बनिये, इसी मे आत्मा का पूर्णतया कल्याण निश्चित है। अगर इतना त्याग करने का आपका सामर्थ्य न हो तो आप महापरिग्रह का तो त्याग कर दीजिए। परिग्रह परिमाणव्रत स्वीकार करने पर आप अल्पपरिग्रही श्रावक कहलाएँगे, मोक्ष के यात्री तो हो जाएँगे।

परिग्रहपरिमाणव्रत—ग्रहणविधि

यो परिग्रह-परिमाणव्रत को नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहो की मर्यादा करके ग्रहण किया जाता है। किन्तु परिग्रह परिमाणव्रत ग्रहण करने वाले को एक बात अवश्य ध्यान मे रखनी है कि परिग्रह मुख्यतया इच्छा एव मूर्च्छा से होता है, इच्छा और मूर्च्छा का उत्पत्ति स्थान मन है। मन का सम्बन्ध आभ्यन्तर परिग्रह के साथ है। आभ्यन्तर परिग्रह के १४ प्रकार मैं पहले बता चुका हूँ। इन १४ प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रहो मे से जो-जो परिग्रह जितनी-जितनी मात्रा मे कम हो सके, कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। आभ्यन्तर परिग्रह जितनी-जितनी मात्रा मे कम होगा, उतनी-उतनी मात्रा मे बाह्य परिग्रह पर से इच्छा-मूर्च्छा कम होती जाएगी। बाह्य परिग्रह तो पदार्थों पर इच्छा-मूर्च्छा के कारण ही परिग्रह कहलाते है। इसलिए जब व्यक्ति आभ्यन्तर परिग्रह से बिलकुल विरत हो जाएगा, तब पदार्थ पास मे होने पर भी बाह्य परिग्रह बिलकुल न रहेगा।

ससार मे जितने भी पदार्थ है, उन्हे दो भागो मे बाटा जा सकता है—एक वे है, जो सचेतन है, सजीव है, जैसे दो पैर वाले नर-नारी, दास-दासी पशु या पक्षी (तोता, चिडिया आदि) अथवा चार पैर वाले—घोडा बैल आदि पशु तथा पृथ्वी, वनस्पति इत्यादि (भूमि, तालाब, बाग आदि)। दूसरे वे है, जो अचेतन है, निर्जीव है, जड-पदार्थ है, जैसा—सोना, चादी, ताबा, लोहा, सिक्का, नोट, वस्त्र, बर्तन, औजार, घर, दूकान, नोहरा आदि। पहले प्रकार के सचेतन पदार्थों की गणना सचित्त परिग्रह मे होती है, और दूसरे प्रकार के अचेतन पदार्थों की गणना होती है—अचित्त-परिग्रह मे।

परिग्रह की मर्यादा करने वाला श्रावक ससार के समस्त सचेतन या अचेतन पदार्थों (जो कि उसके जीवन-निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक है) के विषय मे इस प्रकार का नियम करेगा कि मैं अमुक पदार्थ इतनी मात्रा या सख्या से अधिक अपने स्वामित्व (अधिकार) मे नहीं रखूँगा, अथवा अमुक पदार्थों पर से स्वामित्व का ममत्व

त्याग करता हूँ। अथवा अमुक पदार्थ की अमुक मात्रा या सख्या से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा भी नही करूगा।

शास्त्रो मे श्रावक के परिग्रहपरिमाणव्रत ग्रहण करने मे सुगमता के लिए सचित्त और अचित्त रूप बाह्य-परिग्रह को ६ भागो मे विभक्त कर दिया है। वे ६ भेद ६ प्रकार के बाह्य परिग्रह के नाम से प्रसिद्ध है। वे क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) क्षेत्र (खेत या खुली जमीन), (२) वास्तु (निवास योग्य स्थान या मकानात), (३) हिरण्य (चादी), (४) सुवर्ण (सोना), (५) धन (सोने-चादी के ढले हुए सिक्के, गहने, घडी अथवा घी, गुड, चीनी आदि बहुमूल्य पदार्थ), (६) धान्य (गेहूँ, चावल, मूंग, मोठ, चना, तिल आदि अन्न), (७) द्विपद (जिसके दो पैर हो, वे जीव—मनुष्य, पक्षी आदि), (८) चतुष्पद (चौपाये जानवर, गाय, बैल, घोडा, हाथी, भैस, बकरी आदि) और (६) कुप्य (कपडे, वर्तन, घर का विविध सामान, रथ, मोटर आदि सवारी, पलग, सोफासेट, अलमारी, तिजोरी, कुर्सी पखे, बल्ब आदि फर्नीचर, अर्थात् पूर्वोक्त ८ प्रकार के परिग्रह से बचे हुए सभी पदार्थ इस नौवें कुप्य परिग्रह मे आ जाते हैं।

इन नौ प्रकारो मे सारे ससार के सचित्त-अचित्त या जड-चेतन व स्थावर-जगम, समस्त पदार्थो का समावेश हो जाता है। इन्ही नौ प्रकार के पदार्थो को ग्रहण करने की मनुष्य की इच्छा या ममता-मूर्च्छा होती है। इन्ही नौ प्रकार के पदार्थो के प्रति मनुष्य की इच्छा या मूर्च्छा हो सकती है, इसलिए इन नौ प्रकार के परिग्रहो का परिमाण करना—सख्या या मात्रा की सीमा निश्चित कर लेना परिग्रहपरिमाणव्रत या इच्छा-परिमाणव्रत कहलाता है।

क्षेत्र मे उन सब वस्तुओ का समावेश हो जाता है, जो उपजाऊ तथा खुली (सिंचाई की व बिना सिंचाई की) जमीन हो। इसमे खेत, खलिहान, चारागाह, बाग, पहाड, खान, जगल एव समस्त खुली भूमि आ जाती है। इस व्रत के ग्रहणकर्ता को क्षेत्र के सम्बन्ध मे परिग्रह की मर्यादा करनी चाहिए कि मैं इतनी खुली भूमि—खेत, बाग, पहाड आदि से अधिक अपने स्वामित्व मे न ही रखूगा, नही इससे अधिक अमुक-अमुक भूमि की इच्छा-मूर्च्छा करूगा।

दूसरा भेद वास्तु है। वास्तु का अर्थ है—मकान, फिर वह चाहे जमीन के भीतर हो, अथवा जमीन के ऊपर हो, निवास के लिए मकान हो या नोहरा हो, अथवा दूकान हो, अतिथिगृह हो, कारखाने का मकान हो, बगला या कोठी हो। इस प्रकार के अमुक-अमुक मकानो के विषय मे परिमाण करना कि मैं इतने और अमुक-अमुक मकानो (जो कि इतने मे अधिक लम्बे, चौडे, ऊँचे न होंगे, जिनका मूल्य वर्तमान मे मकानो के मूल्य के अनुसार इतने से अधिक न होगा) से अधिक मकान अपने स्वामित्व मे न रखूगा और न ही इनसे अधिक की इच्छा-मूर्च्छा रखूगा।

तीसरा भेद धन है। धन के अन्तर्गत सिक्के, नोट, रत्न, हीरा, नीलम, पुख-

राज, पन्ना, माणिक, मोती, आभूषण, घडी, आदि बहुमूल्य पदार्थ तथा घी, गुड, चीनी आदि अधिक मूल्यवान् पदार्थ आ जाते है।

इनके सम्बन्ध मे परिमाण करना कि मैं अमुक-अमुक पदार्थ इतने वजन, सख्या, मात्रा से या वर्तमान समय के अनुसार इतने मूल्य से अधिक के नही रखूगा, न ही इच्छा-मूर्च्छा करूगा।

इसके बाद धान्य है, जिसके अन्तर्गत गेहूँ, चना, जौ, मूग, मोठ, चावल आदि तमाम अन्नादि आ जाते हैं। इन सबके लिए परिमाण करना कि मैं अमुक धान्य इतने वजन, इतनी मात्रा से या वर्तमान मूल्यानुसार इतने मूल्य से अधिक का नही रखूगा और न ही इतने से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूगा।

हिरण्य का अर्थ चादी है। चादी के सम्बन्ध मे मर्यादा करना कि मैं इतने वजन या इतने मूल्य (वर्तमान मे चादी के भाव के अनुसार) से अधिक की चादी या चादी की बनी हुई आभूषण, बटन, आदि वस्तुएँ नही रखूगा। सुवर्ण का अर्थ सोना है। सोने के सम्बन्ध मे भी परिमाण करना कि मैं इतने वजन या इतने मूल्य (वर्तमान भावानुसार) से अधिक का सोना तथा सोने से बने हुए पदार्थ—आभूषण, बटन, घडी, अगूठी आदि नही रखूगा, न ही इच्छा-मूर्च्छा करूँगा।

इसी प्रकार द्विपद यानी दो पैर वाले सभी प्राणी—मनुष्य और पक्षी के विषय मे मर्यादा करना। द्विपद मे अपनी स्त्री, सन्तान तथा अन्य सम्बन्धी, दास-दासी, नौकर चाकर, मुनीम, गुमाश्ते, कर्मचारी तथा अन्य सम्बन्धी आदि सब आ जाते है, साथ ही मोर, सारस, चकोर, कबूतर, तोता, हस आदि दो पैर वाले सभी पक्षी भी आ जाते हैं। इनके सम्बन्ध मे मर्यादा करना कि अमुक द्विपद (नाम खोलकर) इतने से अधिक न रखूगा, न ही अधिक की इच्छा करूँगा।

इसी प्रकार चतुष्पद की भी मर्यादा करना। चतुष्पद का अर्थ है—चार पैर वाले जानदार प्राणी, खासकर पशु। चतुष्पद के विषय मे मर्यादा करना कि मैं हाथी घोडा, बैल, बकरी, गाय, भैस, ऊट, खच्चर, गधा, भेड, हिरण आदि चौपाये पशु इतने से अधिक न तो अपने स्वामित्व मे रखूगा, और न ही इतने से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूगा।

नौवाँ भेद कुप्य है। कुप्य मे उन पदार्थों या धातुओ (लोहा, तावा, पीतल, कासा आदि) की गणना होती है, जो पूर्वोक्त ८ भेदो मे न आए हो, यानी पूर्वोक्त आठ प्रकार के परिग्रह से बचे हुए पदार्थ हो। कई आचार्य कुप्य का अर्थ घर की समस्त सामग्री करते है। इस अर्थ के अनुसार कुप्य के अन्तर्गत तमाम बर्तन-भाडो, वस्त्रो, सोफासेट, मेज, कुर्सी, अलमारी, पखे, रेडियो आदि तमाम फर्नीचर, सोने चादी के अतिरिक्त अन्य धातुओ की बनी हुई चीजो, रथ, मोटर, स्कूटर, बैलगाडी साइकिल आदि समस्त वाहन, तथा घर की समस्त खाद्य-पेय सामग्री या छोटी-बडी चीजो, (जिसे बोलचाल की भाषा मे घर-बाखरा-गृहस्थी का पसारा कहते है,) की मर्यादा

करना कि मैं अमुक वस्तु इतनी सख्या, मात्रा (तौल या नाप) या इतने मूल्य (वर्तमान मूल्य के अनुसार) से अधिक की अपनी मालिकी मे नही रखूंगा, और न ही इतने से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूंगा।

इस प्रकार नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहो के सम्बन्ध मे पृथक्-पृथक् मर्यादा करना कि मैं अमुक पदार्थ इतने परिमाण से अधिक न तो अपने स्वामित्व मे रखूंगा और न ही इतने से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूंगा। यही इच्छापरिमाणव्रत या परिग्रह परिमाणव्रत की विधि है।

इस व्रत को तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन) तथा तीन योगो (मन-वचन-काया) मे से अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर सकता है। साथ ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा भी व्रतधारी अपनी इच्छानुसार कर सकता है। फिर भी श्रावक को अपनी गृहस्थी मे रहते हुए अपनी सन्तान को व्यापार-धन्धे मे प्रवृत्त करने हेतु अथवा अन्य धनार्जन के कार्यों के लिए प्रेरणा देनी पडती है, कई बार उसका कार्य-भार विवश होकर सभालना पडता है, अथवा साथ मे रहने के कारण सन्तान के परिग्रह सम्बन्धी प्रवृत्ति को सवासानुमति भी देनी पडती है, इसलिए हो सके तो दो करण, तीन योग से परिग्रहपरिमाणव्रत स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा एक करण, तीन योग से स्वीकार करना चाहिए।

इसी प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के सम्बन्ध मे भी यो मर्यादा कर ले कि द्रव्य से—मैं अमुक-अमुक वस्तु के सिवाय अधिक की इच्छा नही करूंगा, न इनके अतिरिक्त और वस्तु अपने स्वामित्व मे रखूंगा, क्षेत्र से—मैं अमुक क्षेत्र से बाहर की कोई भी चीज न अपनी मर्यादा मे रखूंगा, और न ही अमुक क्षेत्र से बाहर की वस्तु की इच्छा करूंगा, काल से—मैं इतने दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष या जीवनभर इन-इन वस्तुओ से अधिक की न तो इच्छा करूंगा और न ही अपने स्वामित्व मे रखूंगा। इसी प्रकार भाव की भी मर्यादा करना कि इन-इन वस्तुओ से अधिक की न तो इच्छा करूंगा, न ही मूर्च्छा करूंगा। इस मर्यादा को इससे अधिक बढाऊँगा नही, बल्कि अधिकाधिक घटाने या सकुचित करने का प्रयत्न करूंगा। क्योकि इस व्रत का उद्देश्य अपनी इच्छाओ, लालसाओ, मूर्च्छाओ, आसक्तियो या ममताओ को अधिकाधिक घटाना है, इसलिए मर्यादाएँ यथासम्भव अधिक से अधिक सकुचित रखनी चाहिए, विस्तृत नही। विस्तृत मर्यादा रखी जाएगी तो दुख एव जन्ममरण के बन्धन बढते जाएँगे। मर्यादा जितनी सकुचित होगी, उतना ही शीघ्र साधक परिग्रह समुद्र को पार करके एक दिन पूर्ण परिग्रही बन सकेगा, जो कि श्रावक के तीन मनोरथो मे से एक है। अत यथासम्भव मर्यादा की सीमा बहुत ही सकुचित करना चाहिए। अगर हो सके तो, जो पदार्थ उसके अधिकार मे है, उनमे से कुछ का त्याग करके फिर मर्यादा करना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो जो पदार्थ पास मे हो, उनसे अधिक की मर्यादा न की जाए। आनन्द आदि श्रावको ने यही आदर्श रखा था। उन्होने

सम्पत्ति की उतनी ही मर्यादा की थी, जितनी उनके पास उस समय थी। अत श्रावक को भी अपनी अधिकृत सम्पत्ति से अधिक सम्पत्ति मर्यादा मे नही रखनी चाहिए।

बहुत-से लोग व्रत ग्रहण करते समय यह सोचकर कि हमारे पास इतनी अधिक सम्पत्ति तो होने से रही, अपने पास बहुत थोडी पूंजी होने पर उससे कई गुना अधिक सम्पत्ति मर्यादा मे रख लेते है, परन्तु जब भाग्यवश उक्त मर्यादा से भी अधिक पूंजी इकट्ठी होने लगती है, तो वे व्रत मे कपट चलाते है। अपनी बढी हुई पूंजी को वे अपनी स्त्री या सन्तान के नाम कर देते है, या विवाहादि खर्च खाते मे अमानत कर लेते है, परन्तु यह सरासर व्रत भग है।

ऐसा करने से श्रावक के गृहस्थ-जीवन मे किसी प्रकार की अडचन या कठिनाई नही आती और उसकी इच्छा-तृष्णा भी असीम नही रहती। इस व्रत को स्वीकार करने वाला व्यक्ति अव्रती और महापरिग्रही नही रहता, बल्कि उसकी गणना धर्मात्मा श्रावको मे होती है, वह महान् पाप से बचकर मोक्ष-पथ का पथिक हो जाता है।

अतिचारो से बचो!

अन्यव्रतो की तरह इच्छा परिमाणव्रत के भी पाँच अतिचार (दोष) है, जिनसे श्रावक को बचना आवश्यक है। वे पाच अतिचार ये हैं—क्षेत्र-वस्तु-प्रमाणातिक्रम, धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम, हिरण्य-सुवर्णप्रमाणातिक्रम, द्विपद-चतुष्पदप्रमाणातिक्रम और कुप्यप्रमाणातिक्रम।

खेत आदि भूमि, गृह आदि ९ प्रकार के बाह्य परिग्रहो के विषय मे किए गए परिमाण का आशिक और व्रतसापेक्ष उल्लघन करना, क्षेत्रवास्तु आदि प्रमाण का अतिचार है।

प्रश्न हो सकता है कि धन-धान्यादि के परिमाण का उल्लघन करने से तो व्रत का सर्वथा भग (अनाचार) होना चाहिए, अतिचार नही? इसका समाधान यह है कि किये हुए परिमाण का पूर्णतया उल्लघन करने से व्रतभग होता है। यहाँ जो उल्लघन बताया गया है, वह व्रतसापेक्ष—अर्थात् बन्धन, भाव, गर्भ, योजन। और दान की अपेक्षा होने से अतिचाररूप है। मतलब यह है कि यहाँ पाँच अतिचारो मे क्रमश पाँच सापेक्षताएँ है। जैसे—किसी ने धन-धान्य का जो परिमाण रखा है, वह ऋण की वसूली करने पर उससे अधिक हो जाता है, अत देनदार से कहना—यह धन या धान्य अभी अपने पास रहने दो, चौमासे के बाद मैं ले लूगा। इस प्रकार बन्धन करने पर अतिचार लगता है, क्योकि उस धन-धान्य पर वह अपना स्वामित्व—स्वत्व स्थापित कर चुका है, फिर भी साक्षात् न लेकर समझता है कि मेरा व्रत भग नही हुआ है। बर्तन मर्यादा से अधिक हो जाने पर छोटे-छोटे बर्तनो को तुडवाकर बडे बनवा लेना और सख्या को बराबर कर लेना, भाव सापेक्ष अतिचार है। पशुओ की सख्या मर्यादा से अधिक हो जाने पर उनके गर्भ की या छोटे बछडे आदि की अमुक समय तक गिनती न करना गर्भसापेक्ष अतिचार है। खेतो की सख्या अधिक हो जाने पर बीच की मेड

तोडकर दो खेतो को एक बना लेना योजना-सापेक्ष अतिचार है। इसी प्रकार सोने-चाँदी का परिमाण अधिक हो जाने पर कुछ भाग दूसरो को रखने के लिए दे देना दान सापेक्ष अतिचार है। अथवा यह सोचकर कोई वस्तु अपनी मर्यादा से अधिक रख ले कि इसे बाद मे दान कर देंगे या दानशाला मे दे देंगे, यह भी दान सापेक्ष अतिचार है।

अथवा अतिचार का एक रूप यह भी हो सकता है कि जो मर्यादा की है, उसका विस्मरण हो जाने पर या अनजान मे उस मर्यादा से अधिक पदार्थों के हो जाने पर भी यही समझना कि जो पदार्थ मेरे अधिकार मे हैं, वे मर्यादा मे ही है। यह भी एक तरह से अतिचार है।

पाँच विशेष

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे इस परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच विशेप बताए है—

> अतिवाहनातिसंग्रह-विस्मय-लोभातिभारवहनानि।
> परिमित-परिग्रहस्य विक्षेपाः पच लक्ष्यन्ते ॥६२॥

अर्थात्—अतिवाहन, अतिसग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभारवहन ये पाँच परिग्रहपरिमाण के विक्षेप—अन्तराय हैं।

जिस पुरुष के पास वाहन (सवारियाँ) बहुत हो, वह उन्हें छोडने या मर्यादित करने मे हिचकिचाता है, इसी प्रकार अतिसग्रह भी व्रत मे विक्षेप डालता है। अति-सग्रह के कारण मनुष्य त्याग की ओर झुकने मे हिचकता है, इसी प्रकार चक्रवर्ती, धनकुबेर या वैभव सम्पन्न की ऋद्धि और ठाटबाट देखकर विस्मय मे पडा हुआ व्यक्ति सहसा परिग्रह की मर्यादा करने से कतराता है। जिसकी लोभवृत्ति बढी हुई है, वह भी परिग्रह की सीमा करने मे झिझकता है, तथा जो आदमी अनेक प्रकार की जिम्मे-वारियाँ ओढ लेता है, या किसी प्रकार के एहसान के बोझ से दबा है, वह भी परिग्रह परिमाण करने मे आनाकानी करता है। अथवा जिसका जीवन अत्यन्त खर्चीला है, वह उस खर्च की पूर्ति करने हेतु परिग्रह मे वृद्धि करेगा, घटाएगा नही। अत व्रत-धारी का जीवन सरलता, सादगी और मितव्ययता से ओतप्रोत होना चाहिए।

अत परिग्रहपरिमाणव्रती को इन पाँच विक्षेपो से भी अपने आपको बचाकर चलना चाहिए। परिग्रहपरिमाणव्रत का स्वीकार दूसरे मूलव्रतो के पालन मे सहायक है, ऐसा समझकर इसे अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। ☆

गुणव्रत : एक चिन्तन

- दिशा परिमाण व्रत   एक विश्लेपण
- उपभोग-परिभोग परिमाण   एक अध्ययन
- उपभोग-परिभोग मर्यादा और व्यवसाय-मर्यादा
- अनर्थ-दण्ड-विरमणव्रत   एक चिन्तन

1

दिशा-परिमाणव्रत : एक चिन्तन

गुणव्रत क्या और क्यो ?

आज हम पाच अणुव्रतो की व्याख्या पार करके छठे दिशापरिमाणव्रत मे प्रवेश कर रहे है। आप सोचेंगे कि पाच अणुव्रत तो ठीक है, पर ये दिशापरिमाणव्रत आदि क्या है ? ये क्यो आवश्यक है, श्रावक के जीवन मे ? सचमुच यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किसी भी व्रत को अपनाने से पहले उसको सभी पहलुओ से सागोपाग समझ लेना चाहिए।

पाच अणुव्रत तो मूलव्रत है। परन्तु इसके पश्चात् श्रावक जीवन मे अपनाए जाने वाले जो सात व्रत है, वे व्रत तो अवश्य है, परन्तु वे गुणव्रत और शिक्षाव्रत है। गुणव्रत अणुव्रतो मे विशेषता पैदा करने वाले है। अणुव्रत सोना है, तो गुणव्रत उस सोने की चमकदमक बढाने के लिए पॉलिश के समान है।[1] अणुव्रत पुस्तकें है तो गुणव्रत उन पर जिल्द बाध कर और प्लास्टिक कवर लगाकर उनमे सुदृढता, स्थायित्व, और चमक पैदा करने वाले है। तीन गुणव्रत पाच अणुव्रतो मे शक्ति का सचार करते है, उनमे विशेषता पैदा करते है उनके परिपालन मे होने वाली कठिनाइयो को दूर करते है। मूल अणुव्रतो को स्वच्छ रखते है। कुछ आचार्यों ने इन ७ उपव्रतो को शीलव्रत कहा है। उनका कहना है कि जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते है, वैसे ही शीलव्रत अणुव्रतो की रक्षा करते है।[2]

ध्येय की दिशा में आगे बढ़ने के लिए

मानव-जीवन का ध्येय मुक्ति है। वही जीवन की अन्तिम मंजिल है। मुक्ति का अर्थ है—समस्त कर्मों, कषायो और विषयो से सदा के छुटकारा पा लेना और अनन्त सुख (परमानन्द) मे लीन हो जाना। परन्तु मुक्ति की मंजिल तक शीघ्र पहुँचने

---

१. दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोग परिमाणम्।
अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥६७॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार

२ परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि। —पुरुषार्थ०

के लिए सबसे अच्छा रास्ता महाव्रत है, किन्तु है वह अत्यन्त कठोर, बडा ही कष्टप्रद एव दुष्कर मार्ग। उस मार्ग पर चलने के लिए पूर्णत्याग अपनाना पडता है। सभी व्यक्ति इस महामार्ग पर चल नही सकते। इसलिए भगवान महावीर ने[1] दूसरा मार्ग बताया—आगारमार्ग—गृहस्थ श्रावक का मार्ग। उसके लिए कुछ रियायतें देकर आसान रास्ता बताया है।

जो लोग पूर्णता के कठोर मार्ग को नही अपना सकते, जिनके प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम नही हुआ, अथवा विषयोपभोग के साधनो एव लौकिक कार्यकलापो से जिनकी आसक्ति, ममता पूरी तरह से हटी नही है, फिर भी जो मुक्ति-रूप परम ध्येय की ओर बढना चाहते है, उनके लिए शास्त्रकारो ने पाच अणुव्रतो का विधान किया है, और उस आशिक त्याग मार्ग पर बढने की प्रेरणा दी है। किन्तु ऐसे देशविरति (आशिक त्यागी) को भी उसी ध्येय को प्राप्त करने के लिए, धीरे-धीरे बढने के लिए उन्हे अकेले अणुव्रतो का सहारा पर्याप्त नही होता। गृहस्थ जीवन मे उनके सामने अनेक अडचने आकर खडी हो जाती है कि सहसा उन्हे मार्ग नही मिल पाता, अथवा गृहस्थ जीवन मे कई प्रलोभन एव मोहाकर्षण आ जाते है, जो उन्हे उक्त ध्येय की ओर बढने ही नही देते। अणुव्रतो के अगीकार करने के बावजूद उनकी गति-मति वही ठप्प हो जाती है, वहाँ से एक कदम भी आगे बढ नही पाती। इस स्थिति मे परिवर्तन लाने, गृहस्थ श्रावक को इन कठिनाइयो से बचाने और उसकी स्थगित गति-मति मे शक्ति का सचार करके आगे बढाने के लिए शास्त्रकारो ने अणुव्रतो के साथ तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो की योजना की। इन गुणव्रतो के अपनाने पर अणुव्रतो के कारण ठप्प हुई प्रगति अब तीव्रता से होने लगती है और गृहस्थ श्रावक भी महाव्रती साधु की तरह जीवन जीने का कभी-कभी अभ्यास करके मुक्ति रूप ध्येय तक पहुँच जाता है।

उदाहरणार्थ, [2]अणुव्रतो की सहायता के लिए तीन गुणव्रत बताये गए है—दिशापरिमाणव्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत और अनर्थ-दण्डविरमणव्रत। इन तीनो गुणव्रतो द्वारा अणुव्रतो की सीमा मे रही हुई मर्यादा मे और सकोच किया जाता है। जैसे अणुव्रतो मे अमुक मर्यादा मे तो हिंसा आदि के त्याग किये जाने के कारण, हिंसा आदि पापो का आशिक त्याग हो जाता है, किन्तु शेष बहुलांश मे सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे हिंसादि पाप के द्वार खुले हैं। उन हिंसादि आश्रवद्वारो को अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से बन्द करने मे ये गुणव्रत सहायक होते हैं। जैसे

---

१ दुविहे मग्गे पण्णत्ते तजहा-आगारिमग्गे य अणगारिमग्गे य। —स्थानागसूत्र।

२ गुणार्थमणुव्रतानामुपकारार्थं व्रत गुणव्रतम् दिग्विरत्यादीनानणुव्रतानुबृंहणार्थत्वात्। तथा भवति शिक्षा व्रतम। शिक्षायै अभ्यासाय व्रत देशावकाशादीना प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात्। अतएव गुणव्रतादस्य भेद। गुणव्रत हि प्रायो यावज्जीविकमाहु। —सागार धर्मामृत टीका ४-४

दिशापरिमाणव्रत में छहो दिशाओ मे गमनागमन मर्यादा कर लेने से पहले जो सर्वत्र हिंसा, असत्य आदि अमुक अश मे खुल्ले थे, वे इन छहो दिशाओ मे गमन-मर्यादा करने से, उक्त मर्यादा के बाहर गमन न करने से हिंसादिद्वार बन्द हो जाते हैं। इसी प्रकार उपभोग परिभोग-परिमाणव्रत मे भी उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ के उपभोग-परिभोग की सीमा हो जाती है, उक्त सीमा के बाहर की समस्त वस्तुओ का उपभोग परिभोग बन्द हो जाता है। इसी प्रकार अनर्थ दण्ड-विरमण व्रत मे जो सार्थक दण्ड—अमुक सीमा तक है, उनके सिवाय जितने भी अनर्थ (निरर्थक) दण्ड हैं, उनके पाप से श्रावक बच जाता है।

कहना होगा कि अगर दिशाओ मे गमन मर्यादा न की जाती, उपभोग-परिभोग की सीमा न बाँधी जाती और अनर्थदण्ड से विरति न की जाती, सक्षेप मे गृहस्थ के द्वारा की जाने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति मे औचित्य-अनौचित्य का विवेक न किया जाता तो अणुव्रतो के पालन करने मे उपस्थित कठिनाइयाँ कैसे दूर होती, और ध्येय की ओर की जाने वाली जो गति-मति ठप्प हो गई थी, वह ध्येय की ओर कैसे प्रगति करती ? अत पाच मूल-गुणरूप अणुव्रतो के पश्चात् गुणव्रतो का विधान बहुत ही उचित व आवश्यक है।

सर्वप्रथम दिशा परिमाणव्रत क्यो ?

इन तीन गुणव्रतो मे सर्वप्रथम दिशा-परिमाणव्रत बताया गया है। इसका मूल कारण है विस्तृत लोभ रूपी समुद्र को बढते हुए रोकना। आज आप देख रहे हैं, विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य के लोभ मे भी प्रगति हुई है। प्राचीन काल मे विज्ञान इतना विकसित नही हुआ था। दुनिया आज की तरह विशाल नही प्रतीत होती थी। यातायात के साधन इतने नही थे। बडी-बडी नदियो पर और कही-कही समुद्रो पर इतने पुल बने हुए नही थे। इसलिए एक देश से दूसरे की यात्रा और व्यावसायिक यात्रा करना इतनी आसान नही थी। आज विज्ञान की प्रगति के कारण मनुष्य ने भी अपनी यात्रा मे प्रगति कर दी है। वह भी दूर-सुदूर की यात्रा कुछ ही घण्टो मे तय कर लेता है। वर्तमान युग के मानव ने अपने जीवन के वास्तविक ध्येय को भुलाकर प्राय भौतिक सुख-सुविधा की सामग्री जुटाना और उसका अधिकाधिक उपभोग करके इन्द्रियजन्य वैषयिक सुखो को प्राप्त करना ही अपना ध्येय बना लिया है। इस भौतिक सुख की दौड मे मनुष्य किसी प्रकार की सीमा बाधे बिना, कोई मर्यादा रेखा खीचे बिना दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बेतहाशा भागा जा रहा है। कभी वह इस भौतिक सुख-सामग्री एव तृष्णा के प्रवाह मे बह कर अमेरिका जाता है तो कभी लन्दन! कभी वह विमान मे बैठकर पक्षी की तरह आकाश मे उडता है, तो कभी स्टीमर मे बैठ कर समुद्री यात्रा करता है। किसी समय वह स्थल-मार्ग से मोटर बस द्वारा या रेलगाडी द्वारा यात्रा करता है।

इस तरह दिन-रात दौड-धूप करता रहता है, पर वह कभी रुककर यह नही

सोचता कि आखिर इतनी दौडधूप का उद्देश्य क्या है ? क्या केवल वैभव बढाना और उससे वैषयिक सुख-शान्ति प्राप्त करने की आशा रखना ही इस दौडधूप का उद्देश्य है ? सचमुच आज के अधिकाश मानव यही सोचते है कि पहले देश-विदेश मे यात्रा करके वहाँ से प्रचुर धन कमा लाऊ, और फिर मैं आराम से जिंदगी बिताऊँ। परन्तु उसकी यह भ्रान्ति है कि केवल धन से वह आराम पा सकेगा।

एक बहुत बडे व्यापारी थे। दूर-दूर तक विदेशो से उनका व्यापारिक सम्बन्ध था। बम्बई जैसे बडे शहर मे उनकी फर्म थी। व्यापार बहुत अच्छा चलता था। किसी बात की कमी न थी। फिर भी सेठ को रात-दिन व्यापार की एव देश-विदेश से माल मगाने एव भेजने की चिन्ता सताती रहती थी। सेठ के चार लडके थे, परन्तु वह स्वय फर्म पर बैठता था। बुढापा आने पर भी सेठ को धर्म-ध्यान या भगवद्-भजन की बात नही सुहाती थी। कोई उनसे कहता—'सेठ ! अब तो बुढापा आ गया है, आपके चारो लडके काम सभाल सकते है, फिर क्यो स्वय इस व्यापार की खटपट मे पडे हे ? छोडिये इस जजाल को। अब तो आपको अपनी पिछली जिंदगी सुधारने के लिए व्रतग्रहण करना चाहिए, और भगवद्भजन मे समय बिताना चाहिए।" तो सेठ हँसकर कहता—"अजी ! अभी तो मैं सभी कार्य अपने हाथ से कर सकता हूँ। इसी समय तो कमाने का मौका है। जितना कमा सकू, कमा लू। फिर जब हाथ-पैर नही चलेंगे, तब आराम से बैठ कर जिंदगी बिताऊँगा, भगवान् का भजन कर लूंगा।"

क्या आप विश्वास के साथ यह कह सकते है, कि ऐसे लोग, जिनकी दृष्टि रात-दिन धन कमाने की ओर ही लगी रहती है, कभी आराम की जिन्दगी बिता सकेंगे ? क्या यह अर्जित धन उनके लिए सुखदायक बनेगा ? या वे जब शरीर से लाचार हो जाएँगे, तब भी धन के स्वप्न न देखकर धर्म-ध्यान करने मे और प्रभु भजन करने मे जुट जाएँगे ? अनुभव तो इसके विपरीत साक्षी देता है कि ऐसे लोग, जिन्हे पहले से धर्म-ध्यान का अभ्यास नही है या जो लोग धर्म, आत्मा-परमात्मा के चिन्तन से सर्वथा उदासीन है, शरीर से लाचार हो जाने पर भी प्राय धर्म-ध्यान या आत्म-चिन्तन नही कर पाते, प्राय ऐसे लोग अन्तिम समय मे आर्त्त-ध्यान करते हुए परलोक के पथिक होते है, वे धर्म-ध्यान का आनन्द जीवन मे ले नही पाते, बल्कि कदाचित् दबाव डालने पर धर्म-ध्यान के नाम पर एकाध माला फेर ली, कुछ देर भजन भी कर लिया, फिर भी उनका चित्त तो धन के चिन्तन मे ही डूबा रहता है।

हाँ तो, उस सेठ का जीवन भी धनमय हो गया। व्यापार के सिवाय और कोई बात उन्हे विष-सी कटु लगती थी। कोई निकट के धर्मप्रेमी स्वजन आकर उन्हे कहते तो उन पर क्रोध न करके शान्ति से जवाब देते—"भाई ! मुझे कौन-सा लम्बा-चौडा व्यापार करना है ? दो घडी फर्म पर आकर बैठता हूँ तो समय भी

आराम से कट जाता है और थोडा-सा फर्म की गतिविधि पर ध्यान भी रख लेता हूँ। घर मे यो ही खाली बैठे रहना अच्छा नही लगता।"

चारो लडके वडे समझदार थे, वे भी अपने पिताजी को व्यापार से निवृत्ति लेने और धर्मध्यान मे जिन्दगी व्यतीत करने की बार-बार कहा करते थे, पर सेठ उनकी बात सुनी-अनसुनी कर देता था। उनके दूर के सगे सम्बन्धी लडको पर दवाव डालकर कहने लगे—'अव सेठ से कव तक इस प्रकार की वेगार कराते रहोगे ? अव तो इन्हे आराम लेने दो।' लडके कहते—'हम तो वर्षों से कह रहे है। पर पिताजी हमारी बात सुनते ही नही। हम क्या करे ?'

लडको को जव लोग बहुत कहने लगे तो उन्होंने शहर के कुछ प्रतिष्ठित लोगो को समझाकर उनसे सेठ पर दवाव डलवाया कि "अव तो आपको वम्बई छोडकर गाँव मे जाकर आराम से रहना चाहिए।"

सेठजी उनकी बात को टाल न सके। पर उन्होंने एक शर्त पर गांव मे जाकर रहना स्वीकार किया कि "उन्हे व्यापार की गतिविधि की पूरी खवरे मिलती रहे।" सेठ के चारो पुत्र किसी तरह इस बात से सहमत हुए। सेठ बिना मन से भी शहर छोडकर गांव मे पहुँचे। धन की कोई कमी न थी। गाँव मे भी सेठ के लिए सभी साधन जुटा दिये गए। परन्तु गाँव मे सेठ का मन कहाँ से लगता ? उनका मन तो शहर मे था, खासकर व्यापार-धधे मे और पैसे मे था। 'खारे पानी की मछली मीठे पानी मे मर जाती है', वैसे ही सेठजी को व्यापार और धन से विमुख होकर शहर से गाँव मे आना जरा भी अच्छा नही लगता था। पर क्या करें ? इसी उदासीनता और चिन्ता के मारे उन्हे जीर्ण ज्वर होने लगा। ज्यो-ज्यो इलाज किया, रोग घटने के बदले बढता ही गया। स्वास्थ्य अत्यन्त विगडता देखकर चारो पुत्रो को तार देकर वम्बई से बुलाया। परन्तु वे पहुँचे उससे पहले ही सेठ की जवान वन्द हो चुकी थी। लडको ने बहुत कुछ प्रयत्न किया कि वे कुछ कहे, परन्तु उनकी जिह्वा खुली ही नही। आखिर वडे पुत्र ने पिता के कान के पास मुह लगाकर जोर से कहा—'पिताजी ! कुछ कहना है।' सेठ ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया। पुत्र ने कहा—तो कहिए न, क्या कहना है ?" सेठ अपनी सारी शक्ति बटोरकर सिर्फ इतना ही कह सके—'वा सा।' किन्तु इस शब्द का अर्थ किसी की समझ मे नही आया। बहुत देर तक सभी लडके इस पर विचार करने लगे। आखिर सबसे छोटे पुत्र ने कहा—'जरा वहीखाते तो देख लें कि उनमे कही वा सा. सेठ का खाता हो। सम्भव है, पिताजी के हाथ से उन्हे कोई वडी रकम कर्ज मे दी गई हो।"

सबने तुरन्त वहीखाते टटोलने शुरू किये। पर इस नाम के किसी सेठ का खाता उनमे मिला नही। अन्त मे, जव सेठजी ने कुछ नही कहा तो सब चुप हो गए। तीसरे दिन सबके देखते ही देखते सेठजी इस लोक से कूच कर गए। उनके

मन की बात मन मे ही रह गई। न धर्म-ध्यान कर सके, न आत्म-चिन्तन और प्रभुभजन ही कर सके।

यह है मर्यादाहीन, लोभग्रस्त जीवन की दशा!

दिशापरिमाणव्रत लोभवृत्ति और लोभवृत्ति के कारण होने वाली हिंसा (शारीरिक एव मानसिक), असत्य, बेईमानी, चोरी, परिग्रहवृत्ति आदि पापो को, जो कि विस्तृत क्षेत्र मे फैले हुए थे, चाहे वे अणुव्रत के दायरे मे ही थे, सीमित कर देता है। वह लोभ के बढते हुए सागर को एक गागर मे सीमित कर देता है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने दिग्विरतिव्रत की महिमा बताते हुए कहा है—[1] "जिस मनुष्य ने दिग्विरतिव्रत अगीकार कर लिया, उसने जगत् पर आक्रमण करने के लिए अभिवृद्ध लोभरूपी समुद्र को आगे बढने से रोक दिया।' इस व्रत को धारण करने के पश्चात् मनुष्य लोभ के कारण दूर-दूर देशो मे अधिकाधिक व्यापार करने के लिए जाने से रुक जाता है। फलत लोभ पर अकुश लग जाता है।

मनुष्य दूर-सुदूर देश-विदेशो मे मुख्यत तीन कारणो से जाता है—(१) अधिकाधिक धन कमाने के लोभ मे विदेशो से व्यापार सम्बन्ध जोडने के लिए, (२) आमोद-प्रमोद करने, सैर-सपाटे के लिए, विभिन्न देशो के वैषयिक सुखो का आस्वादन करने के लिए और (३) किसी आध्यात्मिक पुरुष की सेवा मे पहुँचकर आत्मकल्याण की दृष्टि से अध्ययन-मनन एव चिन्तन के लिए, अथवा धर्म-ध्यान के लिए, धर्म-प्रचार के लिए। तीसरे कारण की दृष्टि से श्रावक के लिए देश-विदेशो मे गमन कथचित् उपादेय हो सकता है, परन्तु अर्थ और काम (लोभ और आमोद-प्रमोद) की दृष्टि से श्रावक का देश-विदेशो मे पर्यटन या गमनागमन श्रावक-जीवन के उद्देश्य की दृष्टि से, ध्येय की ओर गति करने की दृष्टि से बाधक है।[2]

यही कारण है कि हेमचन्द्राचार्य ने दिग्विरति का पूर्वोक्त लाभ बताया है। दूसरा लाभ भी उन्ही के शब्दो मे देखिये—

"जैसे तपाये हुए लोहे के गोले को कही पर भी रखने से जीवो की हिंसा होती हे, वैसे ही मनुष्य के चलने-फिरने से (फिर चाहे वह उडकर गमन करे या स्टीमर द्वारा पानी पर तैरकर गमन करे) त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा होती रहती है। किन्तु दिग्परिमाणव्रत के कारण आवागमन मर्यादित हो जाने से जीवो का विनाश कम हो जाता है।"

निष्कर्ष यह है कि तृष्णा को घटाने के लिए और अपरिग्रह की दृढता के

---

१ जगदाक्रममाणस्य प्रसरल्लोभवारिधे ।
स्खलन विदधे तेन, येन दिग्विरति कृता ॥३॥

२ चराचराणा जीवाना विमर्दन-निवर्तनात् ।
तप्तायोगोलकल्पस्य मद्वृत्त गृहिणोप्यद ॥२॥ —योगशास्त्र प्र ३, श्लोक, ३-२

लिए तथैव तृष्णा एव लोभ के कारण होने वाले हिंसा आदि दोषो को कम करने के लिए इस व्रत की आवश्यकता है ।

वस्तुत श्रावक जो पाच अणुव्रत स्वीकार करता है, व्रतो मे स्थिर रहते हुए ध्येय की ओर आगे वढना ही उसका लक्ष्य बिन्दु होता है। परन्तु चित्त मे शान्ति न हो तो ध्येयमार्ग मे स्थिर रहा नही जा सकता, फिर आगे वढना वहुत दूर की वात है । चित्तशान्ति तभी हो सकती है, जब वृत्ति मे सकोच हो । जब तक वृत्ति मे सकोच नही होता, तब तक साधक के चित्त मे व्यग्रता एव चचलता रहती है। चचलता एवं व्यग्रता के रहते, व्यक्ति किमी स्थान, या इन्द्रिय-विपयो और लोभ-पोपक पदार्थों के सम्बन्ध मे सुनता है तो उसे उन-उन इन्द्रिय-विपयो या लोभपोपक पदार्थों का उपभोग करने, उस स्थान को देखने, उस स्थान-विपयक अनुभव प्राप्त करने का विचार हो ही जाता है। जिसने वृत्तिसकोच नही किया है, उसके मन-मस्तिष्क मे चचलता के कारण गमनागमन होना भी स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति मे उस व्यक्ति मे त्याग भावना न रहकर विलासिता अपना आधिपत्य जमा लेती है। इसलिए व्रतधारी श्रावक के लिए यह उचित है कि वह अपनी सामान्य आवश्यकताओ को देखते हुए दिशाओ मे गमनागमन की मर्यादा करने हेतु दिशापरिमाणव्रत को अगी-कार करे ।

धर्मप्रधान जीवन के लिए दिशापरिमाणव्रत आवश्यक

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चार पुरुपार्थ माने गए है। परन्तु गृहस्थ श्रावक के लिए एकान्त अर्थ और काम त्याज्य है। या तो धर्म और मोक्ष ये दोनो उनके जीवन मे हो, या फिर व्यावहारिक गार्हस्थ्य जीवन मे धर्मयुक्त अर्थ और काम हो। तीर्थंकरो ने मोक्ष को जीवन का ध्येय या साध्य तथा धर्म को उसका साधन बताया था। पाश्चात्य देशो ने भौतिक विज्ञान के अत्यधिक सम्पर्क के कारण काम को साध्य माना और अर्थ को माना उसका साधन। इसी कारण उनका जीवन अर्थ प्रधान बन गया।

वर्तमान मे धर्मप्रधान भारतवर्ष को भी पश्चिमी सस्कृति का रग लग गया है, इसलिए भारतीयो का जीवन भी अर्थ-प्रधान बनता जा रहा है। दुर्भाग्य से जैन कहलाने वाले लोगो को भी इसकी हवा लग चुकी है। परन्तु भगवान महावीर ने कहा कि श्रावक को अपनी दृष्टि धर्म-प्रधान रखनी चाहिए, अर्थ प्रधान नही। धर्म-प्रधान दृष्टि होने से वह अर्थ को साधन और काम को उसके द्वारा साध्य नही मानेगा। यद्यपि वह नाना प्रकार के पदार्थों (जिनमे धन भी है) को आवश्यकतानुसार जुटाएगा, उनका उपभोग (काम) भी करेगा, परन्तु उसकी दृष्टि उन्हे हेय समझ कर छोडने की होगी। इस धर्मप्रधान दृष्टि के होने पर अर्थ और काम उसके लिए गौण होगा। अपने जीवन का साध्य वह काम को और उसकी पूर्ति के लिए साधन अर्थ को नही मानेगा। ऐसी स्थिति मे वह अपनी लोभवृत्ति को बहुत ही सीमित करेगा, वे

शरीर और परिवार के पोपण के लिए सीधेसादे सरल जीवन के योग्य अर्थ ही वह उपार्जित करेगा। क्योकि वह जानता है कि शरीर और परिवार के लिए आवश्यकता से अधिक अर्थ सग्रह करना बेकार है। शरीर क्षणभगुर है, उसका कोई विश्वास नही है। मुझे केवल अपने शरीर और परिवार को धर्मपालन के लिए उपयोगी एव सशक्त रखने हेतु कुछ अर्थ की जरूरत है, पर उसके लिए इतनी उखाड-पछाड क्यो ? सुदूर देश-विदेश मे इतनी दौड-धूप क्यो ? सादा, सीधा, सन्तोपी जीवन व्यतीत करने से धर्माराधना भी भली-भाँति हो सकेगी, चित्त मे भी शान्ति रहेगी और यथावश्यक इन्द्रिय-सुख भी प्राप्त होगा। इसी दृष्टिकोण से दिशापरिमाणव्रत की योजना गृहस्थ-श्रावक के लिए प्रस्तुत की है। दिशापरिमाणव्रत का ग्रहण करने से गृहस्थ श्रावक के सासारिक जीवन-व्यवहार को कोई आँच नही आती, और न ही शरीर सुख एव मानसिक शान्ति एव स्वस्थता मे कोई रुकावट आती है। और धर्म की आराधना सुचारु रूप से हो जाती है। किन्तु केवल अर्थ काम की वासना होगी तो उसके कारण मनुष्य सुदूर देश-विदेशो मे भाग-दौड करता फिरता है, उसके मन को शान्ति नही मिलती, न उसकी रुचि धर्माराधना मे बढती है।

अर्थप्रधान जीवन की दुर्दशा

मैंने रूस के प्रसिद्ध विचारक टॉल्स्टॉय की एक कहानी पढी थी। एक जमींदार था। वह बहुत लोभी था। रात-दिन उसका चित्त धनवृद्धि मे ही निमग्न रहता था।

एक बार एक बहुत बडे धनाढ्य ने उससे कहा—"तुम्हे जमीन चाहिए तो मैं दूंगा, पर शर्त यह है कि तुम यहाँ से दौड लगाओ और सूरज डूबने तक जितनी दूर जाकर वापिस आ जाओ बस, सूर्यास्त से पहले जितनी जमीन अपने पैर से नाप कर वापिस जहाँ तक लौट आओगे, उतनी जमीन तुम्हे मिल जाएगी।" लोभी जमीदार के मन मे विचार आया कि इसमे क्या है ? यह तो मेरे बाँये हाथ का खेल है।' अत दूसरे दिन सूर्योदय होते ही उसने अपने निवास-स्थान से दौड प्रारम्भ की। वह दौडता गया, दौडता गया।

प्रारम्भ मे तो उसमे उत्साह और शरीर बल था, इसलिए बहुत तेजी से दौड लगाई। परन्तु कुछ दूर जाने पर वह हाँफने लगा, उसकी गति धीमी हो गई। उसके पैर लडखडाने लगे। किन्तु लोभ का भूत उस पर सवार था, इसलिए लोभावेश मे आकर कुछ देर धीमा पड कर फिर तीव्र गति से दौडने लगता। आगे चलकर जब उसने देखा कि सूर्य डूबने मे अब थोडी ही देर है, अत वापिस मुडा और दौड लगाई। सूरज डूबने मे अब जरा-सी देर थी, कि वह एक दम हाँफने लगा, चक्कर खाकर धडाम से गिर पडा और वही दम तोड दिया।

टॉल्स्टॉय ने कथा का उपसहार करते हुए कहा—"उक्त लोभी मनुष्य को कितनी जमीन की आवश्यकता थी ? सिर्फ साढे तीन हाथ ही जमीन उसके लिए

काफी थी।" किन्तु लोभवश उसने अनापसनाप भूमि दौड-दौड कर नापी। लोभ के नशे मे वह अपनी शक्ति को भी भूल बैठा।

इसी प्रकार, मैं आपसे पूछता हूँ कि मनुष्य की आज कितनी आवश्यकताएँ हैं? एक शरीर और परिवार के लिए बहुत ही थोडी, पर मनुष्य अपनी कल्पित आवश्यकताओ के चक्कर मे पड कर सुदूर देश-विदेश मे अनावश्यक दौड लगाता है। किस लिए? इसलिए कि इतना धन कमा लूँ, इतना ऐश-आराम कर लूँगा।

वैभव और एश्वर्य की तृष्णा मानव को सुदूर देशदेशान्तर मे भटकने के लिए प्रेरति करती रहती हे, उसे शान्तिपूर्वक चैन से नही बैठने देती।

पश्चिम के एक देश का सम्राट् पायरस चाहता था कि "मै पहले कुछ देशो पर विजय प्राप्त कर लूं, फिर आराम से जिन्दगी बिताऊं।' जब वह दूसरे देशो पर विजय पाने के लिए अपनी सेना को लेकर निकला तो एक तत्त्ववेत्ता ने उससे पूछा—"महाराज! आप कहाँ जा रहे ह?"

सम्राट् ने उत्तर दिया—मैं इटली पर विजय पाने के लिए जा रहा हूँ।"

इटली को जीतकर फिर क्या करेंगे?" तत्त्ववेत्ता ने पूछा।

सम्राट् बोला—"फिर अफ्रीका जीतूगा।"

तत्त्ववेत्ता—"उसके बाद क्या करेंगे?"

सम्राट्—उसके पश्चात् मैं शान्ति से जीवन बिताऊँगा।"

तत्त्ववेत्ता ने तपाक् से कहा—"सम्राट्! बेअदबी के लिए मेरा अपराध क्षमा करें। आप अभी से ही शान्तिपूर्वक जीवन क्यो नही बिताते? क्या इतनी मारकाट और युद्धो की विभीषिका के बाद आपके मन को शान्ति मिल जाएगी? क्या अभी आपको किसी बात की कमी है, जो इतनी उखाड-पछाड करने को उद्यत हुए हैं? आपके पास अन्न, वस्त्र, आवास आदि किसी चीज की तो कमी है नही, जिसके कारण आप दुखी हो, और उस दुख को मिटाने के लिए इतने देशो पर विजय पाने को लालायित हो रहे है?"

मुझे भी उन लोगो से पूछना है कि कौन-सी ऐसी आफत आ पडी कि आपको अपना देश या प्रान्त छोडकर दूसरे देश या प्रान्त की यात्रा करनी पड रही है? प्रश्नव्याकरणसूत्र मे परिग्रहियो की मनोदशा तथा जीवन की दशा का बहुत ही स्पष्टतया वर्णन किया गया है कि वे नौकाओ मे बैठकर देश-विदेश की दूरसुदूर की साहसिक यात्रा करते है, रास्ते मे उन्हे कई बार समुद्री लुटेरो से सामना करना पडता है। यहाँ तक कि कई तस्कर, दस्यु आदि अपनी जान को जोखिम मे डालकर भी धन-सम्पत्ति के लिए ऐसे विषम स्थानो मे जाते है। ऊबड-खाबड खोहो मे छिपते है, रात-दिन आशंकित रहते हं। न उनके खाने का ठिकाना है, न रहने का ठिकाना है, और न ही उनके सोने का कोई ठिकाना है। कितनी बेचैन, अशान्त और दुख-

मयी कष्टपूर्ण जिन्दगी है, क्या आप समझते है कि ऐसे लोग अधिक धन कमाकर या अनेक राज्यो को जीतकर सोना, मोती चुग लेते है ? वे भी तो उतना ही भोजन कर सकते है, जो उन्हे पचता हो । बल्कि कई बार तो भोजन के भी लाले पड जाते है ! क्या आप इसे आराम की जिन्दगी कहेगे ? कदापि नही ।

मनुष्य मे दो बहुत-बडी वासनाएँ हैं—भोग और और ऐश्वर्य ! ये दो वासनाएँ ही मनुष्य से इतनी दौड-धूप कराती है ।

आपने सुभूमचक्रवर्ती के विषय मे सुना होगा । उसने छह खण्ड जीत लिए थे, परन्तु इतने से उसे सन्तोष नही हुआ । अत उसने धातकीखण्ड के छह खण्डो को जीतने का विचार किया और चल पडा उन छह खण्डो पर विजय पाने के लिए । जब सुभूमचक्री से किसी हितैपी ने कहा—"सभी चक्रवर्ती छह खण्ड ही साधते है, अत आपका इससे आगे बढना उचित नही है ।"

"मैं भी छह खण्डो पर विजय प्राप्त करू", इसमे मेरी क्या विशेपता रही ?" सुभूम ने उत्तर दिया और वह अपनी विशाल सेना एव चर्मरत्न आदि को लेकर बारह खण्ड का स्वामी बनने के लिए चल पडा ।

सेनासहित सुभूमचक्रवर्ती आगे कूचकर रहा था, तभी विशाल समुद्र आया । सुभूम ने सगर्व अपनी सेना को आदेश दिया—"चर्मरत्न को समुद्र की छाती पर रखो और सारी सेना को चर्मरत्न पर बैठ कर इस समुद्र को पार कराओ ।" आदेश मिलते ही चर्मरत्न समुद्र के वक्षस्थल पर स्थापित किया गया । चर्मरत्न के रक्षक एक हजार देवता होते है, वे उसे समुद्र के पानी पर तिराते रहते है । फलत देवो ने चर्म रत्न को समुद्र पर तिराना प्रारम्भ किया । इतने मे एक देव को यह विचार स्फुरित हुआ कि "कब यह सेना समुद्र पार करेगी और कब मुझे यहाँ से छुट्टी मिलेगी ? इसे समुद्र पार करने मे तो कई वर्ष पूर्ण हो जाएँगे । इसलिए जरा अपनी देवी से तो मिल आऊँ ।" वह वहाँ से चल पडा अपनी देवी से मिलने । दूसरे देव के मन मे ऐसा ही विचार स्फुरित हुआ और वह भी चला गया । यो एक के बाद एक सभी देव वहाँ से खिसक गए । सेना तो अपनी मस्ती मे थी, सूभूम अपने चक्रवर्ती पद के गर्व मे था । फलस्वरूप जो चर्मरत्न देवो की शक्ति से समुद्र पर तैर रहा था, वह देवो के जाते ही सहसा समुद्र मे डूब गया । सेना सहित सुभूमचक्रवर्ती उसी समुद्र की गोद मे समा गया । वह मर कर सातवी नरक मे पहुँचा ।

ऐश्वर्य और वैभव के पीछे पागल बनने वालो की यही बुरी दशा होती है । इससे आप समझ गए होगे कि दिशापरिमाणव्रत के अभाव मे मनुष्य ऐश्वर्य पाने के लिए कितनी दूर तक दौड-धूप करता है ।

सच पूछें तो जिन लोगो के इस प्रकार से दिशाओ की मर्यादा नही होती, वे ही इस प्रकार से रातदिन दौडधूप एव उखाड-पछाड करते रहते है । इस प्रकार की

सकटापन्न जिन्दगी मे न आराम है, न सन्तोष है और न ही मानसिक शान्ति है। इसीलिए तो भगवद्गीता मे कहा गया है—

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'

त्याग के बाद शीघ्र ही शान्ति प्राप्त होती है।

मनुष्य के इस लोभी, तृष्णातुर स्वभाव को ध्यान मे रखकर ही शास्त्रकारो ने इस छठे व्रत की रचना की है, ताकि मानव इस व्यर्थ की दौड-धूप से वचकर शान्ति और अमनचैन से जीवनयापन कर सके।

सिकन्दर वादशाह ने आधी दुनिया लगभग जीत ली थी, तथा आधी दुनिया की दौलत इकट्ठी कर ली थी। लेकिन जब उसकी मृत्यु होने लगी, तब उसने अपने मन्त्रियो को आदेश दिया—"मेरे दोनो हाथ मृत्युशय्या (जनाजा) से बाहर रखना।" मन्त्रियो ने पूछा—"जहाँपनाह! यह तो शाही परम्परा के खिलाफ है। दोनो हाथ जनाजे के बाहर रखने का कारण क्या है?"

सिकन्दर रोते हुए बोला—"मेरे सामने धन का यह ढेर रखा है, जो आधे विश्व का है, और मैंने आधे विश्व के बराबर साम्राज्य (भूमि) भी प्राप्त कर लिया है, बोलो, ऐसा कोई उपाय है, जिससे यह सारा धन और इतनी भूमि मेरे साथ परलोक मे आ सके?"

मन्त्रियो ने दुख प्रकट करते हुए कहा—"नही हजूर! इनमे से एक कण भी आपके साथ परलोक मे नही चलेगा।"

"इसलिए तो मैंने आदेश दिया है कि मेरे दोनो हाथ जनाजे से बाहर रखना, ताकि सारी जनता यह स्पष्ट देख सके और इससे एक नसीहत ले सके कि आधे विश्व का विजेता और अपार वैभव का स्वामी सिकन्दर भी खाली हाथ जा रहा है। इसी तरह सबको खाली हाथ जाना पडेगा। कोई भी अपने साथ परलोक मे धन-सम्पत्ति या जमीन-जायदाद नही ले जा सकेगा। इसलिए सुख-शान्ति से जीने के लिए इस प्रकार के उखाड-पछाड की जरूरत नही है।

आप गहराई से सोचिए, निर्धन हो या धनाढ्य सभी हवा, पानी, धान्य आदि का समान रूप से उपभोग कर सकते है। धनिक धन खाकर जिन्दा नही रह सकता। सम्पत्ति किसी के बुढापे या मौत को नही रोक सकती। किसी भी बीमारी को भी अगर अशुभ कर्म प्रबल हो तो धन नही रोक सकता। इतना सब होने पर भी धन-सचय की तृष्णा और उसके लिए भाग-दौड करना मूढता है। वास्तव मे सन्तोष ही शान्ति का स्रोत है। सन्तोष इस प्रकार से दिग्परिमाणव्रत स्वीकार करने से प्राप्त होता है।

ग्रीस मे डायोजिनिस नामक एक प्रखर दार्शनिक हो गया है। वह बहुत ही अल्पसाधनो से अपना जीवन मस्ती से गुजारता था। वह किसी भी शाहशाह की

परवाह नही करता था। सिवाय परमात्मा के वह किसी के प्रति श्रद्धा नही रखता था। एक पाश्चात्य विद्वान् ने सिकन्दर और डायोजिनिस दोनो की तुलना करते हुए कहा है—

'Contenment depends upon what we have A tub was large enough for Diaginous, but the world was too little for Alexander'

'सन्तोष इस बात पर निर्भर नही है, हमारे पास अधिक धन या सत्ता हो। डायोजिनिस के लिए सिर्फ एक टब ही काफी था, जबकि सिकन्दर के लिए सारा विश्व भी छोटा-सा था।'

सुख-शान्ति का मूलाधार सन्तोप है, सत्ता या सम्पत्ति नही। सुख-शान्तिमय जीवन बिताने के लिए ही भगवान् महावीर ने श्रावको के लिए दिशापरिमाणव्रत निश्चित किया है।

विभिन्न सुदूर देशो या प्रान्तो मे भी व्यवसाय पर प्रतिबन्ध

वैसे भी देखा जाय तो आज विदेशो से माल मँगाने या भेजने का लायसेंस लेना पडता है। कई देशो मे तो वहाँ की सरकार दूसरे देशो से अमुक माल मँगाने या भेजने पर प्रतिबन्ध लगाती है। इसका कारण है दूसरे देशो से कच्चा माल मँगाने से या यहाँ से कच्चा माल भेजने से यहाँ के शिल्पी या कारीगर जो पक्का माल बनाते है, वेकार और बेरोजगार हो जाते हैं। उन लोगो का धन्धा छिन जाता है। यह वृत्ति परदेशी व्यापारियो और वहाँ के निवासियो मे परस्पर सघर्ष पैदा कर देती है।

इसी प्रकार विदेशो या अन्य प्रान्तो मे जाकर वहाँ अपना व्यवसाय फैलाने से वहाँ के निवासियो मे उन व्यापारियो के प्रति घृणा की भावना फैलती है। इसे प्रत्यक्ष रूप मे आज भी बगाल या तमिलनाडु मे देखा जा सकता है। वहाँ के मूल निवासियो की आँखो मे दूसरे (राजस्थान या गुजरात) प्रान्त या देश (भारत) से आकर व्यापार का जाल फैलाना और प्रचुर धन कमाकर अपने देश मे भेजना खटकता है। वे अपनी प्रान्तीयता की एक अन्धराष्ट्रीयता की भावना के अनुरूप सघर्ष भी करते है और जव तव दूसरे देश या प्रान्त के व्यापारियो को खदेडने का भी प्रयत्न करते है, वहाँ की (अपनी) राज्यीय या राष्ट्रीय सरकार से इस प्रकार के कानून वना-कर दूसरे प्रान्त या राष्ट्र के लोगो द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय पर प्रतिवन्ध भी लगाने का अनुरोध करते है। कई वार इस प्रकार की प्रान्तीयता एव अन्तरराष्ट्रीयता के फलस्वरूप दगे-फिसाद, लूटपाट, आगजनी आदि हिंसाजनक कुकृत्य भी होते है। वम्बई के द्विभाषी राज्य घोपित किये जाने पर गुजराती-महाराष्ट्रीयनो मे इस प्रकार के सघर्प एव दगो की भयकर स्थिति उत्पन्न हो गई थी। वगाल मे भी मारवाडियो को खदेड देने की कुछ घटनाएँ वहाँ के प्रान्तवादी लोगो द्वारा घटित हुई थी। अफ्रीका और वर्मा मे भी वहाँ वर्षो से व्यापार करने वाले भारतीयो को निकाल दिया था,

तथवा निष्कासित होने को मजबूर कर दिया था। ऐसी स्थिति अन्य राष्ट्रो या प्रान्तो मे भी आ सकती है।

इसलिए भावी दु स्थिति से बचने और सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन करने के लिए अगर मनुष्य दिशापरिमाण कर ले तो कितना अच्छा हो! दिशाओ मे गमन की मर्यादा (सीमा) कर लेने से, जैसे अन्य देशो से माल मँगाया नही जा सकता, वैसे ही उसे भेजा भी नही जा सकता। साथ ही सैरसपाटे ऐशोआराम या व्यापार बढाने के लिए भी गमनागमन नही हो सकता। इसी तरह दूसरे देशो का सहारा लेने की जो परमुखापेक्षी, परावलम्वी मनोवृत्ति है, वह भी दिशापरिमाण कर से मिट जाती है। अपने राष्ट्र एव प्रान्त मे ही व्यवसाय करने, और अपने देश के ही लोगो को रोजगार देकर सन्तुष्ट करने से स्वप्रान्त एव स्वराष्ट्र को ही उन्नति करने का अवसर मिलता है, अपने देश को उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर होने का मौका मिलता है। विदेशी माल का आयात बन्द हो जाने से विदेशी व्यापारिक केन्द्र—बन्दरगाहो के लिए होने वाले सघर्ष एव तज्जन्य विश्वयुद्ध का खतरा ही समाप्त हो जाएगा। भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित करके ब्रिटिश शासन के मान्धाताओ ने भारत से कच्चा माल भेजकर यहाँ का उत्पादन ठप्प कर दिया था, यहाँ के कलाकौशल और शिल्प प्राय नष्ट कर दिये गए थे, यहाँ के बहुत-से उत्पादक एव शिल्पी बेरोजगार हो गए थे। मतलव यह है कि यहाँ का बहुत-सा धन विदेशो मे चला जाता था तथा वहाँ से कपडा आदि जो पक्का माल यहाँ आता था, वह भी बहुत ऊँचे दामो मे बिकता था, इस प्रकार भारतीय जनता का दोहरा शोषण होता था। यह स्थिति किसी भी स्वाभिमानी और स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए अच्छी नही मानी जा सकती। इस दु स्थिति से बचने का सर्वश्रेष्ठ उपाय स्वेच्छिक नियमन के रूप मे दिशापरिमाणव्रत ही है।

जो इस प्रकार से दिशापरिमाण के रूप मे स्वैच्छिक प्रतिबन्ध स्वीकार नही करते, उनको भयकर स्थिति का सामना करना पडता है। इस पर गम्भीरता से प्रत्येक सद्विचारक सद्गृहस्थ श्रावक को विचार करना चाहिए।

जो इस पर गहराई मे विचार न करके अपना व्यापार-धन्धा अमर्यादितरूप से सुदूर विदेशो मे फैला लेता है, वह लोभ के वश महापरिग्रही बनकर अपना पतन कर बैठता है। ज्ञातासूत्र मे वर्णित जिनरक्ष और जिनपाल नामक दो सहोदर भाइयो का दृष्टान्त इस बात का साक्षी है।

दिग्परिमाणव्रत ग्रहण न करने से महा-हानि

जिनरक्ष और जिनपाल के पिता बहुत बडे व्यापारी थे। उनके पास प्रचुर मात्रा मे धन था, सब प्रकार के सुख-साधन भी थे। फिर भी जिनरक्ष और जिनपाल की तीव्र उत्कण्ठा विदेश यात्रा करके अपार धन कमाने की जागी। दोनो ने अपनी इच्छा अपने माता-पिता के समक्ष प्रकट की। माता पिता ने सुनकर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—"पुत्रो! तुम्हारा यह विचार ठीक नही है। हमारे पास इतनी

सम्पत्ति है कि सात पीढी भी उसका उपभोग करे तब भी समाप्त नही होगी। हमारे देश मे ही अपना व्यापार इतना समृद्ध है कि उसे करते हुए भी तुम लोग आनन्द से जीवन बिता सकते हो, फिर तुम्हे विदेश मे जाने की क्या आवश्यकता है ? विदेश मे जाने से लोभवश महापरिग्रह की भावना तुम्हारे हृदय मे घर कर लेगी और इस तरह तुम महापरिग्रह से अभिभूत होकर कही के न रहोगे, न तुम माता-पिता या परिवार के लिए उपयोगी रहोगे, न अपने जीवन के प्रति वफादार रह सकोगे, तुम मे तब स्वाभाविक रूप स्वार्थ—अतिस्वार्थ, अहकार, मौजशौक, दुर्व्यसन विलासिता और धर्मकार्य के प्रति अरुचि, सन्तोषवृत्ति का नाश, आत्मकल्याण की भावना का अभाव आदि दुर्गुणो का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। महापरिग्रह की भावना आत्मकल्याण मे बाधक है, वह नरक आदि दुर्गतियो मे भटकाने वाली है। अत अधिकाधिक धनोपार्जन के लिए विदेश यात्रा करने की इस दुर्भावना को छोडो, सन्तोषवृत्ति धारण करके अपने देश मे ही धर्मपालन करते हुए अर्थ प्राप्त करो।"

जिनरक्ष और जिनपाल ने माता-पिता के समक्ष साहसवृद्धि, विदेश की सस्कृति, रहन-सहन, भाषा-आदि का अध्ययन, स्वतन्त्र व्यवसाय करने की शक्ति आदि कई समाधान के मुद्दे प्रस्तुत किये।

लेकिन माता-पिता ने उन्हे मानव जीवन के ध्येय और धर्म की दृष्टि से बहुत समझाया, लेकिन उनकी बात जिनरक्ष और जिनपाल को रुचिकर न लगी, बल्कि उनकी बात को उन्होने अपने विकास मे बाधक समझी। तब अनिच्छा से उन्होने दोनो पुत्रो को विदेश जाने की अनुमति दी। दोनो भाई व्यापार करके प्रचुर धन कमाने के लिए रवाना हो गए। जहाज पर बैठ कर दोनो भाई समुद्रमार्ग से यात्रा कर रहे थे, किन्तु दुर्भाग्य से बीच मे ही समुद्र मे भयकर तूफान आया। बचाने का प्रयत्न करने पर भी वह बच न सका, जहाज समुद्र मे डूब गया। किन्तु दोनो भाइयो का आयुष्य-बल प्रबल था, इसलिए लकडी का एक तख्ता दोनो के हाथ लग गया। उसके सहारे तैरते हुए वे किनारे से जा लगे। वे दोनो उस तटवर्ती द्वीप मे पहुँचे, जहाँ उनके सामने मनमोहक विषयी वातावरण था। वे जिस उद्देश्य से विदेश आए थे, उसे तो भूल गए। यहाँ आकर वे इन्द्रियो के वैषयिक वातावरण मे लुब्ध हो गए। ऐसे फँस गए कि उसमे निकलना भी दुष्कर हो गया। किन्तु पूर्व सस्कारवश दोनो उक्त मोहक वातावरण के चगुल से छूटने के लिए वहाँ से अन्यत्र चल पडे। मगर उस द्वीप की अधिष्ठात्री रयणादेवी ने ऐसा मोहक जाल फैलाया कि जिनरक्ष तो मोहित होकर उसके चगुल मे पुन फँस गया, और वही मृत्यु का शिकार हो गया। जिनपाल अपना मन दृढ करके किसी तरह से सकुशल घर आ पहुँचा। उसने परिग्रह की असारता से विरक्त होकर मुनिदीक्षा धारण करके स्वपर-कल्याण किया।

बन्धुओ ! यह शास्त्रीय कथा विदेश यात्रा—और वह भी धन लोभ से की जाने वाली विदेश यात्रा से होने वाले अनिष्टो की ओर ध्यान खींचती है। जो इस

प्रकार के अनिष्टो से बचना चाहता है, उसकी जीवन-यात्रा को दिशापरिमाणव्रत दिशादर्शक यन्त्र की तरह सुखद, सन्तुष्ट, आत्मतृप्त और आत्मरत बनाता है।

दिशापरिमाणव्रत का स्वरूप

आप पूछेंगे दिशापरिमाणव्रत का स्वरूप क्या है ? मैं आपको सक्षेप मे बता देना चाहता हूँ कि दिशापरिमाणव्रत या दिग्परिमाण शब्द दिशा और परिमाण इन दो शब्दो से मिलकर बना है, जिसका अर्थ होता है—दिशाओ का—दिशाओ मे गमनागमन का—परिमाण या मर्यादा अथवा सीमा। दिशाओ मे गमनागमन—यातायात करने के सम्बन्ध मे जो मर्यादा की जाती है, स्वेच्छा से जो सीमा का निश्चय किया जाता है कि 'मैं अमुक स्थान, नदी, पर्वत, वृक्ष, समुद्र, जनपद, ग्राम या नगर से अमुक-अमुक दिशा मे या सब दिशाओ मे इतने योजन (कोस, मील, किलोमीटर आदि) से या इतनी दूर तक अथवा अमुक नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, ग्राम या नगर आदि तक जाऊँगा, उससे आगे गमनागमन नही करूँगा, इस प्रकार की मर्यादाबद्धता, स्वैच्छिक सीमा-प्रतिबन्ध या निश्चय को दिशा परिमाणव्रत कहते है।[1]

दिशाएँ मुख्यतया तीन मानी जाती हैं—ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक् (तिरछी) दिशा। इन्ही तीनो मे से तिर्यक् दिशा के ८ भेद है—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। ये चार दिशाएँ है, इन्ही चारो की चार विदिशाएं है—ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य। जिस ओर सूर्योदय होता है, उस ओर मुख करके खडा रहने पर सामने की ओर पूर्व दिशा होगी, पीठ की ओर होगी पश्चिम दिशा, बाँये हाथ की ओर उत्तर और दाँये हाथ की ओर दक्षिण दिशा होगी। सिर की ओर ऊर्ध्व दिशा तथा पैर के नीचे की ओर अधोदिशा (नीची दिशा) होगी। पूर्व तथा दक्षिण दिशा के बीच के कोण को आग्नेय कोण, दक्षिण और पश्चिम दिशा के कोण को नैऋत्य, पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच के कोण को वायव्य एव उत्तर एव पूर्व दिशा के कोण को ईशान कोण कहते है। ये चारो कोण विदिशा कहलाते हैं। विदिशाएँ दिशाओ के ही अन्तर्गत हैं। इस प्रकार दशो दिशाओ की मर्यादा करना दिशापरिमाणव्रत है।

दिशा परिमाणव्रत की विधि

दिशापरिमाणव्रत स्वीकार करने के लिए श्रावक को किसी एक स्थान को केन्द्र बना कर उस स्थान से प्रत्येक दिशा के लिए यह मर्यादा करनी चाहिए कि मैं

---

१ दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽह बहिर्न यास्यामि।
इति सकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपायविनिवृत्यै ॥६८॥
मकराकर सरिदटवी गिरिजन पद योजनानि मर्यादा।
प्राहुर्दिशा दशाना प्रतिसहारे प्रसिद्धानि ॥६९॥

—रत्नकरण्डक श्रावकाचार

अमुक दिशा मे इस स्थान से इतनी दूर मे अधिक न जाऊँगा। जैसे ऊर्ध्वदिशा की मर्यादा इस प्रकार की जा सकती है—'मैं अमुक केन्द्रस्थान से वृक्ष, पहाड, घर या महल पर अथवा हवाई जहाज द्वारा या और किसी तरह से ऊपर की ओर इतनी दूर से अधिक दूर नही जाऊँगा। इसी तरह अधोदिशा की मर्यादा इस प्रकार की जा सकती है—मैं अमुक केन्द्र स्थान मे नीचे की ओर जल, स्थल, खान, भूमिगृह आदि मे इतनी दूर मे अधिक नीचा नही जाऊँगा। इसी प्रकार तिर्यग्दिशा की मर्यादा करते समय ऐसा सकल्प करना चाहिए कि मैं पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओ और आग्नेय आदि विदिशाओ मे अमुक केन्द्र स्थान मे इतनी दूर मे अधिक नही जाऊँगा। इस प्रकार की विधि से गमनागमन के क्षेत्र को सीमित करने का प्रण या संकल्प लेना दिशापरिमाणव्रत कहलाता है।[1]

दिशा परिमाणव्रत स्वीकार करने वाला गमनागमन की मर्यादा इस प्रकार भी कर सकता है कि मैं अमुक दिशा मे अमुक देश, प्रदेश, नगर, ग्राम, पहाड, नदी, वन, झील आदि से आगे नही जाऊँगा। अथवा इस तरह भी कर सकता है कि मैं अपने मनोनीत केन्द्र स्थान से अमुक दिशा मे इतने दिन, सप्ताह, पक्ष या मास मे या इतने समय मे पैदल या अमुक सवारी से जितनी दूर जा सकूँगा, उससे आगे नही जाऊँगा। गमनागमन की मर्यादा वह कोस, मील, किलोमीटर, फर्लांग, गज, फीट, हाथ, इच आदि के रूप मे भी कर सकता है।

यह तो दिशा परिमाणव्रत स्वीकार करने वाले की इच्छा, शक्ति और सुविधा पर निर्भर है कि वह चाहे तो जहाँ व्रत स्वीकार कर रहा है, उसी स्थान को केन्द्र मान ले या जहाँ वह स्वयं रहता है, उस स्थान को केन्द्र मान ले, अथवा किसी अन्य स्थान विशेष को केन्द्र मान ले। वह इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि अमुक दिशा में आवागमन का क्षेत्र कम रखे, और अमुक दिशा मे अधिक रखे। उस पर यह प्रतिबन्ध नही है कि अमुक स्थान विशेष को ही केन्द्र बनाए अथवा अमुक दिशा मे आवागमन का क्षेत्र न्यूनाधिक रखे। दिशापरिमाणव्रती को अपनी सुविधा, रुचि, शक्ति, परिस्थिति एव आवश्यकता का विचार करके ही इसकी मर्यादा निश्चित करनी चाहिए। यो ही सनक मे आकर दिशापरिमाण कर लेने से बाद मे उसमे रद्दोबदल करना या संकल्प को तोडना उचित नही है।

उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितना क्षेत्र आवश्यक हो, उस पर भी विचार कर लेना चाहिए, केवल लालसा के वशीभूत होकर गमनागमन के लिए अधिक क्षेत्र सीमा मे रखना उचित नही है। उसे अपनी जीविका की परिस्थिति देखकर जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक क्षेत्र गमनागमन के हेतु रख कर बाकी के क्षेत्र मे गमनागमन करने का त्याग कर लेना चाहिए।

---

१ तत्रापि च परिमाण ग्रामापण-भवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकाल करणीय विरमण देशात्॥ १४१—पुरुषार्थ०

यह ध्यान रहे कि दिशापरिमाणव्रत का सकल्प जीवनभर के लिए किया जाता है, एक दिन-रात या कम समय के लिए नही। इस बात को दृष्टिगत रखकर ही जिन्दगीभर के लिए सभी दिशाओं मे गमनागमन की सीमा करनी चाहिए। केवल एक दिन-रात (अहोरात्रि) या कम समय के लिए की गई गमनागमन की मर्यादा की गणना देशावकाशिक व्रत में होती है।

दिग्परिमाणव्रत मे सावधानी

जिस मैदान मे फुटबाल का खेल होता है, उसमे खिलाडियों को सावधानी रखनी पडती है कि कही फुटबाल मैदान की सीमा से बाहर न चला जाय। अगर फुटबाल खेल के मैदान से बाहर चला जाय तो आउट हो जाता है, वैसे ही जीवन (व्यापार, व्यवसाय आदि) के खेल का जो मैदान साधक ने निश्चित किया है, उसी मे ही श्रावक को खिलाडी बन कर खेलना है, यदि वह प्रत्येक दिशा मे अपनी निर्धारित सीमा से बाहर निकल जाता है तो उसका भी व्रत आउट हो जाएगा। आउट हो जाने का यहाँ मतलब है—मर्यादा का अतिक्रमण—सीमा का उल्लघन हो जाना। जीवन-क्षेत्र मे आध्यात्मिक खिलाडी—श्रावक को इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जीवन क्षेत्र के खिलाडी को अपने मन, वचन, काया के गेंद को स्वेच्छा से निश्चित की हुई सीमा से बाहर नही जाने देना चाहिए।

दिशापरिमाणव्रत एक प्रकार की लक्ष्मण-रेखा है, जैसे लक्ष्मण ने अपनी भाभी सीताजी के सतीत्व की सुरक्षा के लिए एक रेखा खीच दी थी, और हिदायत दे दी थी कि वह इस रेखा का अतिक्रमण करके बाहर न जाएँ। उनका सतीत्व इसी रेखा के अन्दर सुरक्षित रहेगा।" किन्तु दुर्भाग्य से राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति मे रावण साधु के वेष मे भिक्षार्थ आया और उसने सीताजी को रेखा पार करके भिक्षा देने के लिए मना लिया। सीताजी भी रावण के बहकावे मे आ गईं और ज्यो ही उस लक्ष्मण-रेखा का सीताजी ने उल्लघन किया त्यो ही उनके लिए अपहरण का खतरा उपस्थित हो गया। यही बात दिशापरिमाणव्रतियो के लिए समझनी चाहिए। दिशा-परिमाणव्रती साधक भी अपनी खीची हुई उस लक्ष्मण-रेखा मर्यादारेखा का अतिक्रमण न करे। ज[illegible] भी वह दिग्व्रत की लक्ष्मण रेखा का उल्लघन करेगा, उसके जीवन मे खत[illegible]ता है [illegible] हो सकता है। व्रतधारी को अपनी उस सीमा रेखा का अतिक्रमण न हो, जाती है। [illegible]ानी रखनी चाहिए।

[illegible]ापरिमाणव्रत का स्वीकार करने वाले को अपनी वृत्ति का सकोच और अ[illegible]याग करना पडता है। ऐसा किये बिना इस व्रत की रक्षा नही हो धारण कर

उसके सभी [illegible] व्रत की रक्षा के लिए कभी-कभी व्रतधारी को हानि भी सहन करनी होती मर्यादित क्षे[illegible] [illegible]जिए, दिशापरिमाणव्रती का कोई आभूषण या वस्त्र कोई मनुष्य, देव या त्याग दिशा[illegible] [illegible]दित क्षेत्र से आगे उठा ले जाए, या आधी से उडकर दूर ऐसी जगह

चला जाय, जहाँ उसकी दिशा की मर्यादा समाप्त हो जाती है। अब वह वस्त्र या आभूषण ऐसी जगह पड़ा है, रखा है, जिसे व्रतधारी देख रहा है, फिर भी वह उस वस्त्र या आभूषण को लाने के लिए नही जा सकता, क्योंकि उसने मर्यादा कर रखी है कि मैं अमुक दिशा मे इतनी दूर मे आगे नही जाऊँगा। यह बात दूसरी है कि उक्त वस्त्र या आभूषण जिस तरह से गया था, उसी तरह या किसी दूसरे तरीके से मर्यादित क्षेत्र मे वापिस आ जाय या कोई मनुष्य, देव या पशुपक्षी स्वत लाकर मर्यादित क्षेत्र के अन्दर लाकर रख दे। ऐसी स्थिति हो तो उस वस्त्र या आभूषण को वह दिग्व्रतधारी श्रावक ले सकता है। मगर उस मर्यादित क्षेत्र से बाहर पडी हुई वस्तु को लाने के लिए वह जा नही सकता, अगर जाता है, तो उसका व्रतभग हो जाता है। इस प्रकार वह किसी दूसरे को भी उक्त कार्य के लिए भेज नही सकता। अर्थात् यह व्रत दो करण तीन योग से ग्रहण किया जाता है, प्रत्येक दिशा मे गमन की जो मर्यादा की है, उससे आगे स्वय गमन न करना और दूसरो को भी मर्यादित दूरी से आगे न भेजना—मन, वचन और काया से।

इस प्रकार जो व्रतपालन करने मे आने वाली कठिनाइयो को झेलता है, वृत्ति-सकोच करके ममत्व का त्याग करता है, उसकी आत्मशक्ति और त्याग करने की क्षमता बढती जाती है।

दिग्व्रत का अन्य व्रतो पर प्रभाव

दिशापरिमाणव्रत के धारण करने और भलीभाँ
से वह आत्मबल और त्यागबल बढाने के अतिरिक्त श्राव
व्रतो पर भी प्रभाव डालता है।

आचार्य समन्तभद्र कहते
के द्वारा प्रत्येक दिशा मे नियत मय
निवृत्ति हो जाने के कारण उसके प
जाते है।'[1]

श्रावक जब स्थूल अहिंसाणुव्र
गिनी एव विरोधिनी हिंसा का आगार
व्रत मे सीमा नही की है, किन्तु दिशापा
की भी सीमा हो जाती है। तात्पर्य यह
प्रकार की स्थूल हिंसा खुली रखी है, व
सीमाबद्ध (सीमित) हो जाती, उतनी ही

---

१ अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरते दिग्व्रतानि
पचमहाव्रत परिणतिमणुव्रतानि

की जिस-जिस दिशा मे मर्यादा की है, उसके उपरान्त क्षेत्र में वह हिंसा भी बिलकुल बन्द हो जाती है। यानी श्रावक दिशापरिमाणव्रत स्वीकार करने अहिंसाणुव्रत मे रखी हुई स्थूल आरम्भजादि हिंसा को भी प्रत्येक दिशा की मर्यादा के बाहर नही कर सकता। इससे अहिंसाव्रत की मर्यादा विस्तृत हो जाती है और आगार मे रखी हुई आरम्भजा हिंसा का क्षेत्र सीमित हो जाता है।

श्रावक का दूसरा अणुव्रत है—स्थूल सत्य। सत्याणुव्रत को अगीकार करने वाला श्रावक स्थूल असत्य का तो सभी क्षेत्रो के लिए त्याग करता है, परन्तु गृहस्था-श्रमी होने से जिस सूक्ष्म असत्य का वह त्याग नही कर सका है, इस दिशापरिमाण व्रत का धारक दिशाओ के गमन मर्यादा कर लेने पर उक्त सूक्ष्म झूठ का भी मर्यादित-क्षेत्र से बाहर त्याग कर देता है, वह सूक्ष्म झूठ उसके सीमित क्षेत्र मे रह जाता है, जो क्षेत्र उसने गमनागमन के लिए दिशापरिमाणव्रत मे रखा है। उसके अतिरिक्त शेप क्षेत्र मे जाकर सूक्ष्म असत्य बोलने का भी उसके त्याग हो जाता है।

तीसरा अणुव्रत स्थूल चोरी से निवृत्त होना है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग तो सभी क्षेत्र के लिए करता है, लेकिन सूक्ष्म चोरी सभी क्षेत्र के लिए खुली है, दिशा-परिमाणव्रत धारण करने पर वह सूक्ष्म चोरी भी उतने ही क्षेत्र मे सीमित हो जाती है, जितना क्षेत्र श्रावक ने गमनागमन के लिए प्रत्येक दिशा मे खुला रखा है, बाकी के सभी क्षेत्र मे जाकर सूक्ष्म चोरी का उसके त्याग हो जाता है।

श्रावक का चौथा अणुव्रत स्वदार-सन्तोष-परदारविरमणव्रत कहलाता है। श्रावक इस व्रत को भी आशिक रूप से ही ग्रहण करता है, क्योकि गृहस्थ जीवन मे रहते हुए श्रावक परदार विरमण का त्याग भी एक करण एक योग से ही कर सकता है, तीन करण तीन योग से नही। उसे अपनी सन्तान को अनैतिक पथ मे जाने से रोकने के लिए उनका विवाह सम्बन्ध करना पडता है। परस्त्री का त्याग तो उसका सभी क्षेत्र के लिए होता है, लेकिन स्वस्त्री का जो त्याग वह नही कर सका है, स्वस्त्री का सम्बन्ध सभी क्षेत्र के लिए खुला हुआ है, लेकिन दिशापरिमाण कर लेने पर स्वस्त्री का क्षेत्र भी सीमित हो जाता है। मर्यादित क्षेत्र के बाहर जा कर न तो वह स्वस्त्री के साथ दाम्पत्यव्यवहार कर सकता है, न किसी को अपनी पत्नी ही बना सकता है। इस प्रकार दिशापरिमाणव्रत से चौथे व्रत मे भी विशेपता पैदा हो जाती है।

अब रहा श्रावक का पाचवा परिग्रहपरिमाणव्रत। दिशापरिमाणव्रत के धारण कर लेने पर इस व्रत मे भी विशेपता पैदा हो जाती है। परिग्रह की जो मर्यादा उसके सभी क्षेत्र के लिए खुली हुई थी, वह मर्यादित क्षेत्र मे ही सीमित हो जाती है। मर्यादित क्षेत्र से बाहर तो मर्यादाकृत और अमर्यादाकृत सभी प्रकार के परिग्रहण का त्याग दिशापरिमाणव्रती के हो जाता है। इसके अतिरिक्त जब तक दिशापरिमाणव्रत

का स्वीकार नही किया जाता, तब तक तृष्णा का क्षेत्र भी सीमित नही होता और क्षेत्र सीमित न होने से तृष्णा बढती ही जाती है।

इसलिए पचम अणुव्रत मे भी दिशापरिमाणव्रत के ग्रहण करने से प्रशस्तता आ जाती है।

यो दिशापरिमाणव्रत पाचो अणुव्रतो मे एक विशेषता, एक चमक और त्याग वृद्धि की प्रगति पैदा कर देता है।

दिशापरिमाणव्रत के पाच अतिचार

इस व्रत के आराधक को पाच अतिचारो से बचना चाहिए। भगवान महावीर ने पाच अतिचारो का स्वरूप बताकर श्रावक को इनमे बचते रहने का निर्देश दिया है। शास्त्रीय भाषा मे ये पाच अतिचार इस प्रकार हैं—

"उड्ढदिसि पमाणाइक्कम्मे, अहोदिसि पमाणाइक्कम्मे, तिरियदिसि पमाणाइक्कम्मे, खेत्तवुड्ढी, सइअतरद्धा।" अर्थात्—दिशापरिमाणव्रत के ५ अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नही, वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—ऊर्ध्वदिशा प्रमाणातिक्रम, अधोदिशाप्रमाणातिक्रम, तिर्यक्दिशाप्रमाणातिक्रम, क्षेत्रवृद्धि, स्मृत्यन्तर्धान।

(१) ऊर्ध्वदिशा मे गमनागमन के लिए जो क्षेत्र मर्यादा मे रखा है, उस क्षेत्र को जानबूझ कर नही, परन्तु अनजाने मे भूल से उल्लघन अतिक्रमण) हो जाना **ऊर्ध्वदिशा परिमाणातिक्रम** है।

(२) नीची दिशा मे गमनागमन के लिए जो क्षेत्र मर्यादा मे रखा है, उस क्षेत्र मर्यादा का जानबूझ कर नही, किन्तु भूल से अज्ञातरूप मे उल्लघन हो जाना **अधोदिशापरिमाणातिक्रम'** है।

(३) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चार दिशाओ, नैऋत्य, वायव्य, ईशान एव आग्नेय इन चार विदिशाओ, (तिर्यक् दिशा) मे गमनागमन का जो क्षेत्र-परिमाण किया गया है, उस क्षेत्र मर्यादा का असावधानी से, अनजाने मे अतिक्रमण करना **तिर्यग्दिशापरिमाणातिक्रम** है।

(४) चौथा अतिचार है—**क्षेत्रवृद्धि**। इस अतिचार का अर्थ यह है कि एक दिशा के लिए की गई सीमा को कम करके दूसरी दिशा की सीमा मे जोडकर दूसरी दिशा की सीमा बढा लेना। उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति ने व्रत लेते समय पूर्वदिशा मे गमनागमन करने की सीमा ४० कोस की रखी है, परन्तु कुछ दिनो के अनुभव के पश्चात् उसने सोचा—मुझे पूर्व दिशा मे ४० कोस तक जाने की आवश्यकता नही पडती, और पश्चिम दिशा मे मुझे मर्यादा मे रखे हुए क्षेत्र से अधिक जाने का काम पडता है। इसलिए पूर्वदिशा के लिए नियत मर्यादा मे १० कोस कम करके पश्चिम दिशा की नियत मर्यादा मे बढा दूं। इस तरह सोचकर यदि कोई व्यक्ति अपना मर्यादा

क्षेत्र एक दिशा मे घटा कर दूसरी दिशा मे बढाता है तो वह 'क्षेत्रवृद्धि' नामक अतिचार होगा। यद्यपि व्रतधारी ऐसा समझता है कि मैंने एक दिशा का क्षेत्र घटा दिया है, फिर अतिचार क्यो लगेगा ? यद्यपि उसे अपने मर्यादित क्षेत्र को घटाने का अधिकार तो है, मगर दूसरी ओर दिशा विशेष के नाम पर जो मर्यादा नियत की है, उस मर्यादित क्षेत्र मे बढाने का उसे अधिकार नही है। इस कारण एक ओर की क्षेत्र-मर्यादा कम करने के साथ ही दूसरी ओर की नियत क्षेत्र-मर्यादा मे वृद्धि करना व्रत की अपेक्षा से अतिचार है।

(५) पाचवा अतिचार है—'स्मृति भ्रंश'। कई दफा व्रतधारी प्रत्येक दिशा मे नियत की हुई अपनी क्षेत्रमर्यादा को भूल कर मर्यादित क्षेत्र से आगे चला जाता है, अथवा शायद मैं मर्यादित क्षेत्र तक तो आ चुका हूँगा, इस प्रकार की सदिग्ध अवस्था मे भी आगे बढते जाना, स्मृति भ्रंश नामक अतिचार है।

प्रत्येक दिशापरिमाणव्रतधारी श्रावक को इन पाच अतिचारो से सावधान रहकर अपने व्रत का निरतिचार रूप से पालन करना चाहिए। ऐसा करने वाला सद्गृहस्थ श्रावक ही अपने मूल अणुव्रतो मे विशेषता ला सकता है।

आशा है, आप दिशापरिमाणव्रत के उद्देश्य, महत्त्व, स्वरूप, विधि और अतिचार इन सबको भलीभांति समझ गए होगे तथा इस व्रत का विधिवत् आचरण करने के लिए उद्यत होगे।

☆

2

उपभोग, परिभोग-परिमाण : एक अध्ययन

☆

मनुष्य जीवन केवल सग्रह या उपभोग के लिए ही नही है। इसमे उपभोग के साथ त्याग भी अनिवार्य है। मनुष्य विवेकशील और सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसे अपने परिवार और समाज मे दूसरो के लिए त्याग भी करना पडता है। इस त्याग मे उसे कोई कष्ट नही होता वह सहज स्वाभाविक रूप से होता रहता है। इसी प्रकार यदि वह अपने जीवन मे स्वार्थी न बन कर अपने परिवार और समाज को और अधिकाधिक व्यापक मान कर चले और उनके लिए त्याग करता हुआ, यत्किचित् अनिवार्य वस्तुओ का ही उपयोग करे तो उसका जीवन भी सुखपूर्वक चल सकता है, और उसके साथ-साथ अनेक लोगो का जीवन भी आनन्द से व्यतीत हो सकता है।

त्यागपूर्वक उपभोग सुखदायक

किन्तु त्यागपूर्वक उपभोग के इस सूत्र को भूलकर जब वह केवल अकेला ही सब चीजो का सग्रह कर लेता है, दूसरो को उसके जरा-से अश का भी उपभोग करने नही देता, तब समाज और परिवार मे विषमता और सघर्ष फैलते है, उससे जीवन की सुख-शान्ति और स्वस्थता नष्ट हो जाती है।

एक मन्दिर मे हम ठहरे हुए थे। सन्ध्या की वेला थी। आरती के समय पुजारी आया और उसने दीपक जलाया, आरती की। दीपक की पतली-सी लौ हवा के सहारे इधर-उधर घूम रही थी, उसमे से बहुत ही सूक्ष्म-सी धूमशिखा निकल रही थी। मेरे मन ने कहा—दीपक धुए को त्याग रहा है, इसीलिए वह प्रकाश दे रहा है। त्याज्य वस्तु का त्याग करने पर ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र स्वस्थ रह सकता है, दूसरो को प्रकाश दे सकता है। इसीलिए मस्तसत कबीर बोल उठता है—

'पानी बाढो नाव मे, घर मे बाढो दाम।
दोनो हाथ उलीचिए, यही सयानो काम॥'

नौका मे पानी भर जाय और इतना भर जाए कि वह डूबने लगे, तब बुद्धिमान मल्लाह उस पानी को उलीच कर बाहर निकाल देता है, इसी प्रकार विवेकी सद् गृहस्थ का भी कर्तव्य है कि घर मे धन बढ जाए तो उसे भी दोनो हाथो से नि स्वार्थ-

भाव से दान करके बाहर निकाल दे। यदि घर मे धन बढ जाने पर विवेकी गृहस्थ बाहर नही निकालेगा तो वह धन परिवार मे क्लेश, अशान्ति, असन्तोष और ममत्व के कारण कलह का कारण बन जाएगा, सारे परिवार की सुख-शान्ति को ले डूबेगा।

गृहस्थजीवन मे विनिमय से कार्य चलता है, ले-दे से यहाँ जीवन-व्यवहार सुरक्षित रहता हे। दीपक जैसे तेल लेता है, तो धूआ छोड देता है, तभी वह प्रकाश दे सकता है, वैसे ही जीवन मे सद्गृहस्थ जो समाज से ले, उसके बदले मे समय आने पर त्याग भी देता हे, उसके जीवन मे प्रकाश है, सुख है, स्वास्थ्य है। जो इस जीवन के स्वर्णसूत्र से परिचित नही हं, केवल लेना ही लेना जानते हैं, या उपभोग करना ही जानते हे, किन्तु त्याग करना नही जानते, उन्हे न प्रकाश प्राप्त है, न सुख और न स्वास्थ्य।

जो सासारिक पदार्थों का सग्रह और उपभोग ही करना जानते हे, वे स्वास्थ्य की उपेक्षा करके दूपित वायु को अपने भीतर सचित कर रहे है। वे धन और साधनो को इकठ्ठा कर लेते है, उनका उपभोग भी स्वय ही करते हं, किन्तु उनका त्याग नही करते, वे प्रकाश की उपेक्षा करके धुए को अपने अन्दर सचित कर रहे है।

प्रकृति का कण-कण त्याग की प्रेरणा दे रहा है। क्या ये वृक्ष, बेलें, नदियाँ, सरोवर, बादल, सूर्य, चन्द्रमा आदि थोडा-सा लेकर बदले मे त्याग नही करते ? अगर मैं त्याग न करके केवल उपभोग ही करता रहा तो मैं सुखी एव प्रसन्न नही रह सकूगा।

इसीलिए तो ईशोपनिपद् मे ऋपि की वाणी गूज उठी—

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'

'उसका त्याग करके उपभोग कर।'

मनुष्य यदि मल का विसर्जन न करे और केवल भोजन ही भोजन करता जाय तो उसका स्वास्थ्य, सुख, शान्ति और ज्ञान का प्रकाश चौपट हो जाएगा। इसीलिए गृहस्थ-जीवन केवल उपभोग के लिए नही है, उसमे त्याग भी होना चाहिए।

जितना कम उपभोग उतना ही अधिक सुख

मनुष्य-जीवन की जो प्राथमिक और अनिवार्य आवश्यकताएँ है, उनकी पूर्ति के लिए विचार करते समय-गृहस्थ को इस स्वणसूत्र के माध्यम से चलना चाहिए। उसे चिन्तन करना चाहिए कि वस्तुएँ असीम हं, पदार्थों की कोई सख्या नही है, व्यक्ति मैं अकेला हूं। अकेले व्यक्ति को इतनी सब चीजो की आवश्यकता भी नही और वे चीजें जो मेरे स्वास्थ्य, धर्म और नीति को चौपट करने वाली है—शराब, मास आदि वे तो सर्वथा त्याज्य हं। उनका त्याग तो अनिवार्य है और फिर वे चीजें, जो मेरे दैनिक जीवन मे काम नही आती उनको भी उपभोग्य वस्तुओं की सूची मे से निकाल देनी

चाहिए, उसके वाद जितनी किस्म की वस्तुएँ रहे, वे चीजें भी भागी की भारी (जितनी मात्रा या सख्या मे दुनिया मे ?) उपभोग मे आती नही। अत उनका भी त्याग करके उन चीजो की सख्या या मात्रा नियत कर लू । इस प्रकार श्रावक अनेक प्रकार की चीजो का प्रचुर मात्रा या सख्या मे त्याग करके फिर नियत वस्तुओं का निश्चित मात्रा (वजन) या सख्या मे उपभोग करता है तो उसके जीवन मे ज्ञान एव विवेक का प्रकाश वढता जाता है। उनको स्वास्थ्य एव सुख-शान्ति का लाभ भी मिलता है। दूसरे व्यक्ति भी उन पदार्थो से वचित नही रहते।

यो भी गहराई से सोचा जाय तो भोगो से जो सुख मिलता है, वह विद्युत की तरह चचल और क्षणिक है, जबकि त्याग का सुख सूर्य के प्रकाश के समान स्थिर होता है। कई पदार्थो का उपभोग तो मनुष्य को प्राप्त न हो, वहाँ तक रमणीय एव आकर्षक लगता है, प्राप्त हो जाने के बाद उसे उसमे ग्लानि एव अरुचि होने लगती है। उदाहरण के तौर पर स्पर्शेन्द्रिय का (कामजन्य) सुख ले लीजिए। खुजली को खुजलाने की तरह कामजन्य भोग प्रारम्भ मे बडे सुखकर प्रतीत होते हैं, लेकिन उसका परिमाण दु खकर आता है, कामभोगो से मनुष्य को अरुचि होने लगती है, बल्कि वह अपने जीवन से ऊब जाता है। Old age, its cause and prevention' का लेखक सेन्फोड वेनिट अपनी सक्षिप्त जीवनी लिखता है कि "मैंने अपने जीवन मे सभी प्रकार इन्द्रियजन्य भोगो का सेवन किया। पैसे की मेरे पास कोई कमी न थी, ऐसे ही मित्रो की सोहबत भी मिल गई, जिन्होने मुझे इन्द्रियजन्य विषयभोगो मे आकण्ठ डुबा दिया। मैं भी उनमे अपार सुख मानता रहा। किन्तु जब मेरी इन्द्रियाँ क्षीण होने लगी। शरीर जर्जर एव खोखला हो गया। दिमाग मे सोचने-समझने की शक्ति का ह्रास हो गया, मैं अत्यन्त अशक्त हो गया, मुझे जरा-सा खाया-पीया हजम नही होता था, मुझे भली-भाँति नीद भी नही आती थी, गोलियाँ खाकर मैं नीद लेने की कोशिश करता था, फिर भी वह उचट जाती थी। किसी चीज मे अब मुझे रुचि नही रही। मैं अपने जीवन से ऊब गया। और जगल मे जाकर आत्महत्या करने को उतारू हो गया। तभी एक हितैषी सज्जन ने मुझे भारत के किसी महात्मा की सयम पर अँग्रेजी मे लिखी हुई पुस्तक पढने को दी। मैंने उसके अनुसार अपने जीवन को ढालने का निश्चय किया। पहले जहाँ विषयोपभोगो के कारण मैं असमय मे ही जवानी मे बूढा-सा हो गया था, वहाँ अब इन्द्रिय-सयम, व्यायाम, प्राणायाम, सादे आहार-विहार आदि चर्या के नियमित अभ्यास मे ७० वर्ष के इस बुढापे मे ३०-३५ वर्ष के युवक-सा अपने को अनुभव करता हूँ। यह मेरी भोगो से विरति और सयम मे प्रवृत्ति की रामकहानी है।"

अमेरिका, इग्लैण्ड, जर्मनी आदि भौतिकवादी या सच कहे तो भोगवादी देशो के अधिकाश लोगो की इसी से मिलती-जुलती रामकहानी है। वे भोगो से ऊब गये है, भोगो से उन्हे शान्ति नही मिलती, इसीलिए वे हिप्पी बनकर भारतवर्ष मे शान्ति

पाने के लिए आते हे, उन्हे अब त्याग मे सुख-शान्ति प्रतीत होने लगती है । अतिभोग का जीवन उन्हे नीरस प्रतीत होने लगता है ।

कुछ वर्षो पहले जर्मनी से एक धनाढ्य महिला 'ऑगस्ता ग्लातार' रविशकर महाराज का नाम सुनकर उनसे मिलने भारतवर्ष आई थी । जब वह गुजरात मे रविशकर महाराज से मिली तो उन्होने उस महिला से पूछा—"बहन ! तुम अपना समृद्ध देश छोड कर इतनी दूर भारत मे आई हो, इसका क्या प्रयोजन है ? क्या धन कमाने के लिए भारत मे तुम्हारा आगमन हुआ है ?"

उसने हाथ जोडते हुए कहा—'जी नही, मैं यहाँ धन कमाने के लिए नही आई हूँ । धन की तो हमारे यहाँ कोई कमी नही है । हमारे पास इतना धन है और इतने सुखोपभोग के साधन ह, जिनकी कोई हद नही । मैं स्वय सोचती हूँ, इस धन को कैसे और कहाँ खर्च किया जाय ? न मैं यहाँ सुखोपभोग के लिए आई हूँ । मै तो सिर्फ शान्ति प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तान मे आपके पास आई हूँ । आप मुझे शान्ति प्राप्त करने का उपाय बताइए । हमारे पास इतना धन एव सुख के साधन होते हुए भी शान्ति नही है ।"

रविशकर महाराज ने उक्त जिज्ञासु महिला को शान्ति प्राप्त करने के नुस्खे बताए । वह कुछ दिन यहाँ रह कर अपने देश को लौट गई ।

क्या आप भी सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहते है ? आप कहेगे कि सुख-शान्ति कौन नही प्राप्त करना चाहता । परन्तु हमारे पूर्वज निर्ग्रन्थ ऋषि-मुनियो ने भोगोपभोगो को बढाने मे कभी सुख-शान्ति नही मानी, जबकि कुछ वर्षो पहले तक भौतिकवादी वैज्ञानिको की यह भ्रान्त धारणा थी की मनुष्य अपनी आवश्यकताओ और भोगोपभोग के साधनो को जितना-जितना बढाता है, उतना-उतना ही उसका जीवनस्तर ऊँचा उठता है, उसका जीवन विकास उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है । किन्तु इसका दुष्परिणाम हमारे सामने आ गया है। ज्यो-ज्यो व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र अपनी आवश्यकताए बढाते गए, भोगोपभोग के साधनो मे वृद्धि करते गए, त्यो-त्यो उनमे परस्पर सघर्ष और तू-तू-मैं-मैं होने लगी, वे एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा मे उतरकर एक-दूसरे को समाप्त करने पर तुल गए । पाश्चात्य देशो मे, जहाँ कि धन एव सुखोपभोग के साधन अत्यधिक बढ गए, वहाँ आए दिन परस्पर सघर्ष, हत्या, मारकाट, विलासिता का दौर, पति-पत्नी मे तलाक, अनिद्रा, अपाचन आदि दुख बढ गए है । भारत मे भी अधिकाश लोगो को इसका चेप लगता जा रहा है। भारतीय अपनी त्यागप्रधान सस्कृति को भूल कर लोग विलासमयी भोगप्रधान सस्कृति को अपनाने मे लगे है, जिसका नतीजा हमारे सामने है । यहाँ भी आए दिन हत्या, दगा, मारपीट, चोरी, डकैती, सघर्ष, विलासिता का दौर आदि दुख बढते जा रहे हैं । वैदिक सस्कृति के मूर्धन्य ऋषियो ने जहाँ धनधान्य, पशु, मनुष्य, शत्रु पर विजय आदि सासारिक प्रेम

सौपकर पुण्डरीक ने स्वय दीक्षा ग्रहण कर ली। कुण्डरीक राज्य सभालते ही आसक्ति-पूर्वक अमर्यादित रूप से भोगो का सेवन करने लगे। अतिभोग के कारण वे रोगो से ग्रस्त होकर तीसरे ही दिन आयुष्यपूर्ण करके सातवी नरक मे पहुँचे। वहाँ अत्यन्त दु खो से ग्रस्त हो गये। दूसरी ओर पुण्डरीक मुनि शुद्ध सयम की आराधना करते हुए तीसरे ही दिन आयुष्य पूर्ण करके सयमपालन के फलस्वरूप सर्वार्थसिद्ध देवलोक मे उत्पन्न हुए। दोनो मे से एक को भोगोपभोग की आसक्तिवश ३३ सागरोपम स्थिति वाली सातवी नरक मे घोर यातनाएँ सहनी पडती है, जबकि दूसरे को भोगो का त्याग करने से ३३ सागरोपम स्थिति वाला स्वर्ग मिलता है। भोगो को नि शक होकर भोगने से कितने भयकर दु ख भोगने पडते है, जो उन भोगो से अनेक गुना अधिक दण्ड है। इसीलिए अगर भोगो से सर्वथा छुटकारा पा लो, तव तो सवसे अच्छा है अगर उतना सामर्थ्य न हो तो, उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत ग्रहण करके उपभोग-परिभोग की मर्यादा करे। किन्तु निरकुश होकर भोगो को भोगने से इस लोक मे तथा परलोक मे उसे भयकर से भयकर यातनाएँ, दु ख और कष्ट भोगने पडेंगे।

विवेकी साधु या विवेकी श्रावक को यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि मनुष्यजीवन भोगो का सेवन करने, विशेषत यौवन आने पर मनुष्य भोगो के पीछे अन्धा होकर न दौडे, अपितु अपनी परिस्थिति, शक्ति, रुचि, हैसियत और आर्थिक क्षमता का विवेक करके ही उसे भोगो की मर्यादा (सीमा) करना चाहिए। इसीलिए उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत आवश्यक वताया गया है।

श्रावक जिन-जिन पदार्थों का उपभोग-परिभोग करता है, उनके पीछे उसकी दृष्टि इन्द्रियविषयो मे आसक्त होकर उन्हे पोसते रहने की नही होनी चाहिए। सामान्यतया सासारिक पदार्थों का उपभोग दो कारणो से होता है—एक तो शरीर रक्षा के लिए, ताकि शरीर की रक्षा करके उससे धर्मपालन कर सके। इसमे शरीर को स्वस्थ, सशक्त, कार्यक्षम तथा रोगमुक्त रखना भी सम्मिलित है। क्योकि धर्मपालन रोगिष्ठ, निर्बल, अशक्त एव अस्फूर्तिमान शरीर से नही हो सकता। इसलिए शरीर-रक्षा अनिवार्य कारण है।

दूसरा कारण है—अनिवार्य आवश्यकता के बिना ही इन्द्रियविषयजन्य सुखो, भोगविलासो की प्राप्ति के लिए, कामभोग की इच्छापूर्ति के लिए। इन दोनो कारणो मे से श्रावक को दूसरे कारण से उपभोग परिभोग का सर्वथा त्याग करना चाहिए, और अनिवार्य कारणवश किये जाने वाले उपभोग-परिभोग के सम्बन्ध मे भी यह मर्यादा करनी चाहिए कि मैं शरीर रक्षा के लिए अमुक-अमुक पदार्थो का इतनी मात्रा मे प्रतिदिन उपभोग-परिभोग करूँगा, शेष का नही।

इसलिए इस व्रत का उद्देश्य श्रावक को जीने की ऐसी कला सिखाना है जिसमे वह अनिवार्य कारणवश सेवन किये जाने वाले पदार्थों का भी सि

मर्यादापूर्वक उपभोग करते हुए अपना जीवन सुखशान्ति-पूर्वक बिता सके। सातवाँ व्रत श्रावक को जीवन जीने की कला सीखने के लिए अनिवार्य है।

ससार मे मुख्यतया लोग दो तरह से जीवन जीते हैं—एक तो इन्द्रियजन्य-विपयो की पूर्ति के लिए अन्धाधुन्ध, अविवेकपूर्वक पदार्थों का उपभोग करके। और दूसरे, विवेकपूर्वक शरीर-रक्षा के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक पदार्थों का उपयोग करके। दूसरे प्रकार से जीवन जीने वाले व्यक्ति सातवाँ व्रत ग्रहण करके अपने जीवन के कलाकार बनते हैं, अपने जीवन को मितव्ययी, स्फूर्तिमान एव स्वस्थ-सशक्त बना कर यथाशक्ति त्याग, तप एव चारित्र-पालन द्वारा पूर्ण आत्मिक विकास की ओर ले जा सके।

भोगो का गुलाम, जीवन का बादशाह नहीं

जो मनुष्य इस व्रत के माध्यम से उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ की मर्यादा नही करता, अविवेकपूर्वक निरकुश होकर वस्तुओ का उपभोग करता है, वह त्याग-तप से अभ्यस्त न होने के कारण धीरे-धीरे भोगो का इतना अधिक गुलाम बन जाता है कि फिर वह उन पदार्थों के न मिलने पर मन मे दु खित, असन्तुष्ट चिडचिडा और क्रोधी हो जाता है। उस पराधीन जीवन से वह तग आकर आत्महत्या तक कर लेता है। आर्त्तध्यान करता है, उन भोगो की पूर्ति के लिए वह अनैतिक उपायो का सहारा लेता है। कभी-कभी कर्जदार बनकर अपनी जिन्दगी दु ख और चिन्ता से अभिभूत बना लेता है। परलोक मे उसे तिर्यञ्च या नरक के दु खो को परवश होकर भोगना पडता है।

अत भगवान् महावीर ने समस्त भव्य जीवो को उद्बोधन करते हुए कहा कि देवानुप्रियो! इन सासारिक कामभोगो के गुलाम बनकर अपनी जिन्दगी को बर्बाद मत करो, दु खी मत बनाओ। अपनी आत्मशक्ति प्रगट करो। त्याग से ही आत्मशक्ति प्रगट होगी। अपने जीवन के बादशाह बनो। भोगो की गुलामी से तुम पर भोग हावी होकर आधिपत्य करेंगे। तुम समर्थ होते हुए भी भोगो की गुलामी की मनोवृत्ति के कारण अपनी शक्ति को नही पहिचान पाओगे और कुछ भी नही कर पाओगे।

भोगो के गुलाम बनने पर आप जानते है, आपकी क्या स्थिति होगी? जैसे कोई घर का मालिक घर मे बडा बनकर तो बैठ जाए, लेकिन वह जो बात कहे, जो आज्ञा दे, या अपना कोई विचार किसी के सामने रखे, तो उसका छोटा भाई, पुत्र, स्त्री आदि उसकी बात मानने को तैयार न हो, उसकी अवज्ञा करते रहे, घर मे जो बडे-बूढे या युवक हैं, वे उसकी तौहीन करें या उसकी बात को मजाक मे उडा दें, उसके विचारो को युक्ति से काट दें तो उसका घर मे बडा बनने का क्या अर्थ है? उसे महत्ता के आसन पर तो बिठा दिया गया है, लेकिन उस उच्चासन पर बैठने का कोई आनन्द, स्फूर्ति या उल्लास उसके पास नही है। इसी प्रकार समाज मे किसी को

नेता, चौधरी, सरपच या मुखिया बनाकर बिठा दिया जाय, किन्तु वह किसी को कुछ कहते हुए हिचकिचाता हो, मन ही मन भयभीत होता हो, उसकी आज्ञा मानने को भी कोई तैयार नही होता हो, वह अन्दर ही अन्दर जलता, कुढता और मन मसोस कर रह जाता हो, तो कहना चाहिए कि उसे बडा तो बना दिया गया, परन्तु उसके मन मे जो गुलामी-वृत्ति या हीनवृत्ति थी, वह नही गई ।

मैं समझता हूँ, जो भोगो के गुलाम है, वे जीवन के स्वामी या बादशाह नही हो सकते । उनकी सदा यही शिकायत रहती है कि शरीर मेरी आज्ञा मे नही चलता, ये इन्द्रियाँ मेरा कहना नही मानती । कान मेरे वश मे नही हैं, आँखें मेरे आदेश का पालन नही करती । मन मेरी बात नही मानता ।

सन्त कहते हे कि अगर तुम अपने जीवन के बादशाह बनना चाहते हो तो शरीर, इन्द्रियाँ और मन के विषय-भोगो के गुलाम मत बनो, भोगो के गुलाम बनोगे तो इन्द्रियाँ, शरीर और मन पर आधिपत्य करने के बदले, ये तीनो आप पर आधिपत्य करने लगेंगे । इन तीनो पर आधिपत्य करने का ही नाम है—अपने जीवन के बादशाह बनना । और जीवन के बादशाह बनने का सबसे आसान तरीका है—सातवें—उपभोग परिभोग परिमाणव्रत पालन का अभ्यास करना । फिर आप उपभोग्य परिभोग्य पदार्थों के गुलाम न बनकर उन्हे अपने अधीन बना सकोगे । इन्द्रियाँ, मन और शरीर की लगाम अपने हाथ मे रख सकेंगे । ऐसा न करने पर अर्थात् इन्द्रियो, मन और शरीर के विषयभोगो के गुलाम बन जाने पर कैसी हालत हो जाती है, इसके लिए एक दृष्टान्त लीजिए ।

एक कगाल भिखारी था । वह फटे कपडे पहने हुए हाथ मे एक फूटा ठीकरा लेकर भीख माँगता फिरता था । भाग्य की बात ! एक दिन उस नगर के राजा का देहान्त हो गया । राजा के कोई पुत्र नही था । अत प्राचीनकाल मे प्रचलित-प्रथा के अनुसार एक हथिनी की सूँड मे माला देकर छोडा गया । उसने एक भिखारी के गले मे वह माला डाल दी । भिखारी को राजा घोषित कर दिया गया । उसे सोने के सिंहासन पर बिठा दिया गया और रत्नजटित मुकुट भी उसके सिर पर सुशोभित होने लगा । राजसी पोशाक से सुसज्जित भिखारी पर राजा के चवर भी ढुलने लग गए । उसकी जय के नारे भी लगने लगे । लेकिन यह सब होते हुए भी भिखारी राजा अपनी भिखारी की पूर्व पोषित मनोवृत्ति को नही छोड सका । राजा बन जाने पर भी उस भिखारी को कोई आनन्द नही था ।

दूसरे दिन दरबार लगा तो वह सिंहासन पर आकर चुपचाप बैठ गया । प्रधानमन्त्री को आये देख भिखारी राजा अन्दर ही अन्दर सोचता है, यह कही मुझे फटकार न दे ।' कभी-कभी भिखारी राजा साहस करके कुछ कहता भी है तो प्रधान-मन्त्री हँसते हुए कहता है—'अजी ! आप चुपचाप बैठे रहिये न ! हम सब काम कर लेंगे ।'

जब सेनापति और कोतवाल आते हैं, तब भी भिखारी राजा भयभीत-सा हो जाता है कि कहीं ये लोग मुझे गिरफ्तार करके न ले जाएं। सेठ और अन्य नागरिक भी आते हैं तो भिखारी राजा को देखकर मन ही मन मुस्कराते हैं। बेचारा भिखारी राजा मन ही मन अपने को अपमानित, तिरस्कृत और हीनभावनाओ से ग्रस्त अनुभव कर रहा है। क्योकि राजा बनने से पूर्व तक तो वह दर-दर की ठोकरे खाता रहा था, उसे जगह-जगह अपमान, गाली और तिरस्कार के कडवे घूंट ही पीने को मिले थे। सम्मान और गौरव तो उसे कभी मिला ही नही था। अपने जीवन की उन्ही पुरानी कटु-स्मृतियो को याद करके वह बेचारा तिलमिलाकर रह जाता है।

मैं आप ही से पूछता हूँ, भिखारी विधिवत् राजा भी बन गया। वैभव और ठाट-बाट भी राजा के-से हो गए। परन्तु अन्दर से तो वह अभी तक पुरानी भिखारी मनोवृत्ति को ढो रहा है, इसलिए उसे आनन्द कहाँ से हो ? आनन्द उसे तभी मिलेगा जब वह भिखारी मनोवृत्ति को तिलाजलि देकर राजा के अपने वास्तविक स्वरूप पर विचार करके तदनुसार आचरण करेगा।

यही बात सासारिक पदार्थो के भिखारी, भोगो के गुलाम के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। आप अपने पुण्यकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य जन्म पाकर जीवन के सम्राट् तो बन गए हैं। मनुष्य का आत्मा सम्राट् है, बादशाह है, अपने जीवन का स्वय अनुशास्ता, प्रशासक एव इस सारे साम्राज्य का अधिष्ठाता है। लेकिन इन्द्रिय, मन और शरीर के विषय-भोगो के अधीन होकर अपने को गुलाम बना लिया है। इन्द्रियो और मन से विषय-भोगो की भीख माँग-माँगकर वह उनसे इतना अपमानित तिरस्कृत और त्रस्त हुआ कि अपने को हीन मानने लग गया। जीवन के सम्राट् होने पर भी उसकी यही शिकायत है कि इन्द्रियाँ मेरा कहना नही मानती, मन भी मेरी आज्ञा को ठुकरा देता है और यह शरीर भी तो मेरे आदेश के विरुद्ध चलता है। उस राजा भिखारी की तरह वह जीवन-सम्राट् अपने स्वरूप को भूल कर पूर्वसस्कार-वश भोगो की गुलामी की मनोवृत्ति से अभ्यस्त होने के कारण इन्द्रियो से, मन से और शरीर से कुछ कहने से डरता है, कोई कठोर आदेश देने से कतराता है।

भगवान महावीर कहते हैं कि एकमात्र अपने आप पर विजयी बन जाने पर इन्द्रियाँ, मन आदि सब पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अपने आप पर विजय पाने का अर्थ है—परभावो—सासारिक पदार्थों—विषय-भोगो की गुलामी छोडकर अपने वास्तविक स्वरूप मे, स्वभाव मे रमण करना। इसके लिए गृहस्थ को चाहिए कि कान्त, प्रिय और मनोज्ञ भोगो के उपलब्ध हो सकने पर अथवा सामने उपस्थित होने पर भी उनके प्रति मन से भी अभिलाषा न करे, मन से भी उन्हे न चाहे। तभी भोगो की गुलामी से छूटकर उसकी आत्मा अपने असली त्यागभाव मे रमण कर सकती है। इसके लिए ही उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत है। इस व्रत से श्रावक भोगो का गुलाम नही, उनका स्वामी बन सकेगा। फिर अपने पुण्य से प्राप्त अमुक

पदार्थों का उपभोग वह करेगा, तो भी अनासक्तभाव से जागरूक होकर करेगा। अमुक मनोज्ञ, अभीष्ट, भोग्य पदार्थों के न मिलने पर भी वह उनके लिए लालायित नही होगा, उनके वियोग मे या न मिलने की स्थिति मे वह असन्तुष्ट, अन्यमनस्क या चिन्तित नही होगा। क्योकि वह अपने आप मे सन्तुष्ट हो जाएगा। भोग्य पदार्थों के अभाव मे वह अपने आपको अब असहाय, दीन-हीन और पराधीन अनुभव नही करता।

जिसके जीवन मे अनियन्त्रित भोग है, उसकी भोगासक्ति बढती जाती है, वह एक दिन भोगो का गुलाम बनकर अपना जीवन स्वय दुखी बना लेता है। अगर आप अपना जीवन सुखी और सन्तुष्ट बनाना चाहते है तो भोगो के गुलाम नही, भोगो के स्वामी बनिए, इन्द्रियो, मन आदि के अधीन न बन कर इन्हे अपने आज्ञाधीन बनाइए। यह तभी हो सकता है, जब आप उपभोग-परिमाणव्रत को स्वीकार करेंगे।

आप कहेगे, जिस चीज की हमे आवश्यकता है, अथवा जिस चीज को हम अपने विकास के लिए उपयोगी समझते है, उस चीज के न मिलने पर दुख कैसे नही होगा?

भगवान महावीर का कहना है कि जो व्यक्ति अपनी पांचो इन्द्रियो और मन के विषयो मे आसक्त होगा, वह उपभोग से कदापि सन्तुष्ट नही होगा, और इस प्रकार की असन्तुष्टि जिसको होगी, वही व्यक्ति दुखी होगा, पदार्थों के न मिलने पर। आखिर सुख और दुख मन की ही तो माया है। व्यक्ति अगर मन को अपने आज्ञाधीन बना लेता है, वह निश्चय कर लेता है कि उस चीज की आवश्यकता मन को है न! आत्मा को तो उस चीज की आवश्यकता नही है। अगर होती तो अवश्य मिल जाती।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि सुख का मूल आत्मशक्ति मे है। पदार्थों के उपभोग मे तो आत्मा की [illegible] क्षीण होगी, बल्कि पदार्थों के प्रति पराधीनता या पदार्थों की [illegible] मे आत्मा की [illegible] होगी।

उद्देश्यपूर्वक सेवन करने से ही आत्मशक्ति बढती है। भोजन के पाचन पर शक्ति निर्भर है, अधिक भोजन खाने पर नही, उसी प्रकार मर्यादित और अनासक्तिपूर्वक पदार्थों के उपभोग से व्यक्ति की शक्तियाँ विकसित होती है।

मितव्ययता का सन्देश

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत श्रावक के जीवन मे मितव्ययता का पाठ पढाता है। ससार मे उपभोग और परिभोग के अगणित पदार्थ हैं, परन्तु विवेकी मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ मे काट-छाँट करके अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकताओ की सूची बनानी चाहिए, अन्यथा वह पदार्थों का उपभोग करने के पीछे अनियन्त्रित एव अमर्यादित होकर समय, शक्ति और धन को बर्बाद करेगा, और इतना सब कुछ करने के बाद भी पल्ले पडेगा—असन्तोष और अशान्ति। उधर पदार्थों के उपभोग, मे उनकी प्राप्ति की चिन्ता मे, उन पदार्थों की रक्षा मे अधिकाधिक शक्ति लगाने से उसकी आत्मशक्ति क्षीण हो जाएगी, उसे आत्मचिन्तन का अवकाश भी नही मिल पाएगा। उसका अधिकाश समय शरीर की, इन्द्रियो की एव मन की विविध फरमाइशो को पूरी करने मे ही लग जाएगा, आवश्यकताओ के नाम पर वह पदार्थों की लम्बी सूची बना लेगा, परन्तु क्या वह सचमुच उन चीजो का यथोचित उपभोग या उपयोग कर सकेगा ?

अनुभव कहता है कि उसकी इन्द्रियाँ अधिकाधिक भोगो मे आसक्त होकर ही क्षीण हो जाएँगी, वह उनका उपभोग करना तो दूर रहा, उलटे उनसे ऊब कर घृणा करने लगेगा। परन्तु ऐसी स्थिति मे उसकी आत्मशक्ति क्षीण होने से वह न तो उस शरीर से धर्मपालन कर सकेगा, और न ही इन्द्रियो और मन को आत्मा की सेवा मे लगा सकेगा।

इसलिए भगवान महावीर ने सबसे अच्छा मितव्ययता का मार्ग गृहस्थ-श्रावको को बताया है कि अपनी आवश्यकताओ की कटौती करो, उनमे कतर-ब्योत करके कम से कम आवश्यकताओ की सूची बना लो। अपनी आवश्यकताओ की एक सीमा बाँध लो और यह दृष्टिकोण बना लो कि सासारिक पदार्थों का जितना कम उपभोग हम करेंगे, उतनी ही त्यागवृत्ति बढेगी, आत्मचिन्तन और धर्मध्यान मे अधिक समय लगा सकेंगे। सुख-शान्ति से, शारीरिक, मानसिक स्वस्थता से जीवनयापन कर सकेंगे और आत्मशक्ति बढाते हुए लक्ष्य के निकट पहुँच सकेंगे।

एक व्यक्ति फूहडपन से अधिक से अधिक खर्च करके या बहुत-सी चीजो को घर मे ला कर भी ठीक ढग से जीवन नही बिता सकता, जबकि दूसरा व्यक्ति कम से कम खर्च से और कम से कम वस्तुओ से व्यवस्थित ढग से अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। पहला व्यक्ति अपनी मूर्खता से अधिक धन, समय और शक्ति खर्च करके भी उतना अच्छा लाभ नही उठा सकता, जबकि दूसरा व्यक्ति अल्प धन, समय और शक्ति व्यय करके भी अच्छा से अच्छा लाभ उठा लेता है। इसके पीछे क्या रहस्य

है ? रहस्य यही है कि पहला व्यक्ति मितव्ययता से जीवन जीने की कला नही जानता, जबकि दूसरा व्यक्ति उस कला को जानता है और वह कला सप्तमव्रत से आवद्ध होकर जीवन जीने की है।

स्व राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रबाबू एक बार कई राज्यो का दौरा करके रांची पहुंचे। वहा उनके पैर मे दर्द होने लगा। दर्द का कारण था—जूतो के तले का घिसना उनमे कीले उभर आई थी, वे चुभने लगी।

राष्ट्रपति के शिविर से अहिंसक चर्मालय केन्द्र दस मील था। उनके सचिव वहाँ से एक नया जोडा खरीद लाये। कीमत पूछी तो जवाब मिला—उन्नीस रुपये। राजेन्द्र बाबू की पिछली स्मृतिया उभर आई। उन्होंने कहा—"गतवर्ष तो हमने ग्यारह रुपये मे ऐसे जूते लिये थे।" "जी हाँ, ग्यारह रुपये वाले भी वहाँ थे, पर वे इनसे कमजोर थे। यह जोडा अधिक मुलायम चमडे का है।" सचिव ने कहा।

मितव्ययी राजेन्द्र बाबू ने इस पर कहा—'यदि ग्यारह रुपये वाले जोडे से काम चलता हो तो उन्नीस रुपये क्यो खर्च किये जाएँ ? मेरे पैर तो कडे ही जूते पहनने के अभ्यासी है। अत तुम यह जोडा लौटा कर ग्यारह रुपये वाला जोडा ले आओ।" सचिव राष्ट्रपतिजी के स्वभाव से परिचित थे। अत वह जोडा लौटाने को तैयार हो गए। इतने मे राष्ट्रपतिजी ने पूछा—"इतनी दूर जाओगे कैसे ?'

सचिव बोला—"जी मोटर से चला जाऊँगा।" "यह तो उचित नही। जितने रुपये तुम जूते खरीदने मे बचाओगे, उतने तो पट्रोल मे खर्च हो जाएँगे। अत ये जूते अभी यही रहने दो। हमे यहा तीन दिन रहना है। इसी दरम्यान उधर जाने वाले किसी आदमी द्वारा इन्हे बदलवा लेगे।" राजेन्द्र बाबू का उत्तर था।

सभी लोग बाबूजी की सादगी और मितव्ययता के आगे नतमस्तक हो गए।

फटे कपडे को सीकर पहनने से वह दो महीने और काम दे जाय तो वैसा करना अच्छा है, बजाय इसके कि नये कपडे के लिए १०-१२ रुपये बेकार खर्च किये जायें। तथा दो जोडे कपडे से सालभर में काम चल जाए तो अधिक जोडे वस्त्र लाना और सबको थोडा-सा फटते ही फेंक देना, अच्छा नही, यही बात जीवन-निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के सम्बन्ध में है, ये मितव्ययता के सम्पूर्ण सूत्र हैं, जिन्हे उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत का धारक श्रावक अपने जीवन मे ताने-बाने की तरह बुन लेता है।

अनावश्यक वस्तुओ के सग्रह करने तथा चटकीली, भडकीली व्यर्थ वस्तुओ के उपभोग करने का मोह इस व्रत के ग्रहण एव पालन करने से समाप्त हो जाता है। निकम्मी वस्तुओ का बोझ भी मन-मस्तिष्क से दूर हो जाता है।

बहुत-से लोग अनावश्यक वस्तुओ का सग्रह करके तथा उनका दिखावा करके अपने घर को अजायबघर बना लेते हैं। वे सोचते हैं, हम अपने घर मे जितनी अधिक वस्तुओ का सग्रह करेंगे, उतना ही हमारा जीवनस्तर ऊँचा उठेगा हम लोगो की दृष्टि मे प्रतिष्ठित एव बडे आदमी कहलायेंगे, किन्तु अनावश्यक पदार्थो के सग्रह से मनुष्य को उनकी व्यवस्था, सफाई, व्यर्थ की आसक्ति एव सुरक्षा की चिन्ता मे काफी समय लगाना पडता है, उनके रख-रखाव के लिए काफी खर्च भी करना पडता है।

एक राजा था। उसने देश-विदेश से विविध प्रकार के बहुत-से कीमती रत्न मगवाए और अपने महल के एक कमरे मे उन्हे व्यवस्थित ढग से सुसज्जित करवा दिये। राजा ने उनकी सुरक्षा के लिए कई पहरेदार नियुक्त कर दिये।

एक दिन एक महात्मा आ गए। राजा ने महात्मा से प्रशसा पाने की आशा से उन्हे वह कमरा दिखाया जिसमे देश-विदेश के बहुमूल्य रत्न सुसज्जित थे। राजा ने महात्मा को प्रत्येक रत्न का परिचय दिया कि यह रत्न अमुक देश से मँगाया है, इतने मूल्य का है।"

महात्मा ने पूछा—"राजन् ! ये रत्न किसी काम मे आते है ?"

"नही महाराज ! ये किसी काम मे नही आते, मुझे शौक है, इनके सग्रह का, इसलिए मैंने शोभा के लिए इनका सग्रह किया है।" राजा ने कहा।

महात्मा बोले—"इनकी सुरक्षा के लिए काफी खर्च होता होगा ?"

"जी, इनकी सुरक्षा के लिए हजारो रुपये प्रतिवर्ष खर्च होते हैं।"

महात्मा ने कहा—"राजन् ! मैं तुम्हे इनसे भी कीमती और उपयोगी पत्थर बताऊँ, जो एक बुढिया के यहाँ है और कई लोगो का उनसे भला भी होता है।"

विस्मित राजा महात्मा के साथ पैदल चल पडा। महात्मा ने एक बुढिया के

यहाँ पहुँच कर उसके यहाँ रखी हुई हाथचक्की के दो पाट बताए और कहा—ये तुम्हारे उन पत्थरो से कीमती और उपयोगी पत्थर है, इनसे बुढिया के सिवाय कई लोगो का पेट भी भरता है।"

राजा ने महात्मा की बात स्वीकार कर ली।

कहने का मतलब है, ऐसी व्यर्थ की चीजो का सग्रह करने से भी क्या लाभ है, जो किसी के उपयोग मे नही आती, जिनसे किसी को कोई लाभ न हो।

उपासकदशाग सूत्र मे आनन्द श्रमणोपासक की जीवनचर्या का स्पष्ट वर्णन है। बारह करोड स्वर्णमुद्राओ का स्वामी आनन्द श्रमणोपासक कितनी सीधी-सादी और जीवन के लिए उपयोगी अल्प से अल्प वस्तुएँ अपने उपभोग-परिभोग के लिए रखता है। आप सुनकर आश्चर्य करेंगे, लेकिन यह एक ठोस सत्य है कि जो मनुष्य अपनी आत्मा का विकास करना चाहता है, आत्म-शक्ति बढाना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह कम से कम चीजो का सग्रह और उपभोग करे।

इस व्रत से खानपान और रहन-सहन मे विवेक

इस व्रत के ग्रहण करने पर श्रावक को यह विवेक करना पडेगा कि अमुक पदार्थ मेरे शरीर धारण के लिए उपयोगी है या केवल स्वाद या फैशन के लिए है? आजकल बहुत से लोग इस बात से अनभिज्ञ होकर अन्धाधुन्ध सासारिक पदार्थो का उपभोग करते रहते हैं कि इन सासारिक पदार्थो का उपभोग क्यो और किसलिए करना चाहिए और किया किसलिए जा रहा है? इस सम्बन्ध मे बहुत सी भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ कौन-से है? इसका विवेक न करके वे पदार्थों का अधिकाधिक उपभोग करना हितकर समझते है। वे तथाकथित सभ्यता, फैशन, बडप्पन एव स्वाद के चक्कर मे पडकर खानपान एव रहन-सहन के लिए रहन-सहन के योग्य आवश्यक पदार्थो का चयन न करके केवल मौजशौक या इन्द्रिय-विषयो के अत्यधिक पोषण हेतु उनका अधिकाधिक उपभोग करने मे आनन्द मानते है। उदाहरण के तौर पर भूख तो साधारण रोटी आदि से भी मिट सकती है, किन्तु स्वाद-लोलुप लोग नाना प्रकार के पक्वान्न, मिठाइयां, अचार-मुरब्बा चटनी तथा तले हुए चटपटे पदार्थ खाने मे आनन्द मानते है। भूख लगी हो तो रूखी रोटी या साधारण रोटी भी अच्छी लगती है लेकिन जिन लोगो ने खाने मे ही आनन्द मान रखा है, वे लोग क्षुधा मिटाने अथवा शरीर को धर्म-पालन के लिए टिकाए रखना आवश्यक समझकर खाने के बदले अधिकाधिक स्वाद का पोषण करने हेतु भूख न होने पर भी स्वादिष्ट एव गरिष्ठ चीजे खा जाते है, जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद रोगोत्पादक, अधिक चर्बीली तथा अधिक आरम्भजनित होती है। अधिकाश रोगो की उत्पत्ति का मूल कारण खानपान का अविवेक है। स्वाद-लोलुप लोग अपनी रसना के वश होकर अधिकाधिक भ्रष्ट चीजे अतिमात्रा मे खा पी कर अपना धर्म, धन, स्वास्थ्य और बुद्धि सब कुछ चौपट कर देते है।

कहते है, रोम के एक बादशाह सीजर को स्वादिष्ट और चटपटे पदार्थों के खाने का बहुत शौक था। वह प्रतिदिन अपने लिए नित नये स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ बनवाता और छक कर खाता था। पेट भर जाने के बाद वह ऐसी दवा खाता था, जिससे वमन होकर पेट खाली हो जाता। वह फिर खाता, दवा लेता और वमन करता। इस प्रकार की चेष्टाएँ वह दिन मे कई बार करता था। आखिरकार उसे इस स्वाद-लोलुपता ने क्षय रोग से ग्रस्त बना दिया और वह अकाल मे ही काल की शरण हो गया।

रोम के इस बादशाह मे और भुखमरे मे क्या अन्तर है ? परन्तु स्वाद के लिए खाने वाले बहुत से लोग अजीर्ण आदि के कारण रोम सम्राट की तरह न मालूम प्रति वर्ष कितने व्यक्ति मौत के शिकार हो जाते हैं। आम लोगो की उलटी धारणा है कि जो अनेक प्रकार के गरिष्ट-स्वादिष्ट, तले हुए पदार्थ खाता है, वह प्रतिष्ठित है, भाग्यवान है, उसका रहन-सहन उच्चस्तर का है, तथा जो व्यक्ति धनिक होकर भी सादगी से रहता है, सादा सुपाच्य भोजन करता है, रसनेन्द्रिय लोलुपता वश कोई पदार्थ नही खाता, उसकी निन्दा करते है, जब कि ऐसा व्यक्ति प्रशसनीय है। महात्मा गाँधी जी इस विषय मे बहुत सतर्क थे, वे शरीर धारण के लिए आवश्यक पदार्थ लेते थे, तथा वे ही और उतने ही लेते थे, जो सुपाच्य एव पोषक हो।

इसी भ्रान्त धारणा के अनुसार लोगो ने उन वस्त्रो के पहनने मे सुख मान रखा है, जो आधुनिक फैशन का पोषक हो, शृगारवर्द्धक हो, अत्यन्त बारीक व मूल्यवान हो। इस प्रकार की भ्रान्त धारणा के कारण अनावश्यक अधिक वस्त्र लादना भी अच्छा और सभ्यता का चिन्ह मानते है, फिर चाहे उन वस्त्रो से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती हो, उन पर व्यय भी अधिक करना पडता हो। अत्यधिक वस्त्र सग्रह करना भी वे अपनी शान समझते है। इस उष्णता प्रधान देश मे अधिक वस्त्र पहनना आवश्यक व लाभदायक नही है। प्राचीन समय में बिहार और बगाल मे धनाढ्य तक भी सिर्फ दो वस्त्र पहनता था, वह भी बिना सिले। एक अधोवस्त्र और दूसरा उत्तरीय वस्त्र। अधिक वस्त्र पहनने का रिवाज मुगल शासन काल और बाद मे ब्रिटिश शासन काल मे चला है। इसका परिणाम यह हुआ है कि ऐसे वस्त्र पहने जाते हैं, जिनसे न तो पूर्णतया लज्जानिवारण होता है, न शीतताप से रक्षा होती है, बल्कि अग अग दिखता है, और रोम कूपो मे वायु का सचार न होने के कारण पसीना जम कर सूख जाता है, स्वास्थ्य बिगड जाता है, अत्यधिक वस्त्र लादने से शरीर मे सर्दी, गर्मी बर्दाश्त करने की शक्ति भी नही रहती। इस प्रकार अविवेकी लोग रहन-सहन की भ्रान्त धारणा के शिकार बनकर वस्त्र पहनने का उद्देश्य भूलकर धन, धर्म और स्वास्थ्य तीनो को बर्बाद करते है। मगर जो श्रावक सप्तम व्रत ग्रहण कर लेता है, वह भोजन, वस्त्र ही नही, जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक-अनावश्यक, हितकर-अहितकर, धर्म के अनुकूल प्रतिकूल तमाम बातो का विवेक करता है।

ऐसा विवेकी व्यक्ति प्रत्येक वस्तु का उपभोग करते समय विचार करके उन चीजो के उपभोग का त्याग कर देते है, जो विलकुल अनावश्यक, अप्राकृतिक एव धर्म के विरुद्ध हो। उदाहरण के तौर पर भाग, गाजा, अफीम, तम्बाकू, शराव, सिगरेट, बीडी आदि नशीली वस्तुएँ, जो स्वास्थ्य, धन और धर्म तीनो को बिगाडने वाली है, अप्राकृतिक है, जिन्हे पशु सूघते तक भी नही है।

मनुष्य उनके गुलाम और आदी वनते जा रहे है। उनके सेवन से आए दिन टी०बी०, कैंसर, दमा आदि भयानक रोग उत्पन्न होते है। जीवन विलासी एव प्रमादी वन जाता है। विवेकी श्रावक इन नशीली चीजो के सेवन का विलकुल त्याग कर देते है। इसी प्रकार वर्तमान युग मे सोने-चादी के आभूषण आवश्यक नही है, इनसे किसी भी तरह से शरीर रक्षा नही होती, वल्कि आभूषण पहनने से प्राणनाश का खतरा रहता है, स्वास्थ्य को कोई लाभ नही है, न शक्ति ही आती है। केवल फैशन और शृगार के नाम पर इन्हे सौन्दर्य प्रसाधन के लिए पहना जाता है। मगर विवेकी श्रावक-श्राविका आभूषणो को कतई उपयोगी नही मानते। वास्तव मे इन सोने-चादी के आभूषणो से स्त्री का सौन्दर्य नही वढता, वह वढता है—शील, सेवा, सादगी और दान व त्याग से।

श्री माधवराव पेशवा के राजगुरु न्यायमूर्ति रामशास्त्री कम से कम आवश्यकताओ से अपना जीवन विताते थे। नूतन वर्षाभिनन्दन के दिन उनकी पत्नी रानी से मिलने गई। रानी ने गुरुपत्नी को आभूषण विहीन देख कर सोने के गहनो और कीमती वस्त्रो से उन्हे सुसज्जित करके सोने की पालकी मे विठाकर विदाई दी। परन्तु ज्यो ही श्रीराम शास्त्री ने अपनी पत्नी को वहुमूल्य वस्त्राभूषणो से मडित देखा, उन्होंने घर का दरवाजा वन्द कर लिया। पत्नी के द्वारा द्वार खोलने को कहने पर उन्होने कहा—"मेरी पत्नी ऐसे वस्त्राभूषणो मे सजी-धजी व सोने की पालकी मे बैठने वाली नही हो सकती। यह और कोई स्त्री है।" श्रीराम शास्त्री की पत्नी समझ गई। उसने राजमहल मे जाकर वे सब वस्त्राभूषण उतारे और अपनी पुरानी वेशभूषा मे जब लौटी तो न्यायमूर्ति ने द्वार खोला। कहा—सोने-चादी के गहनो का शृगार तो अनावश्यक है, अज्ञानी-जनो का काम है।

साराश यह है कि जिन वस्तुओ का उपयोग किये विना साधारणतया निर्वाह नही हो सकता, उनकी मर्यादा करके, शेष समस्त चीजो के उपभोग-परिभोग का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ यह है कि अत्यन्त आवश्यक भोगो को छाटकर तदनुसार निर्लिप्त निरासक्त भाव से सेवन करना ही अभीष्ट है।

श्रावक के जीवन का लक्ष्य पूर्ण त्याग की ओर वढना है। किन्तु शरीर को उस पूर्ण त्याग के लिए सहयोगी मान कर वह उसकी रक्षा के लिए आवश्यक उपभोग-परिभोग्य पदार्थो का सेवन भी करता है।

इस प्रकार आवश्यकताओ को सीमित कर लेने से जीवन मे बहुत शान्ति मिलती है। मर्यादा से बाहर के किसी पदार्थ के उपभोग-परिभोग की लालसा नहीं रहती। गुजरात मे एक लोकोक्ति है—'खर्च वधे तो पाप वधे छे।' इसके अनुसार जिसका खर्च बढ जाता है, उसे उसकी पूर्ति के लिए अनैतिक उपायो से धन कमाना पडता है। रात-दिन चिन्ता और अशान्ति मे जीवन बीतता है। जिसका खर्च कम होता है, उसे कमाना भी कम पडता है, न पापकर्म करना पडता है। जो अहर्निश खाने-पीने, पहनने-ओढने आदि के लिए कमाने मे ही जुटा रहता है, उसे धर्मध्यान एव आत्म-चिन्तन के लिए अवकाश ही नही मिलेगा। ऐसा अस्थिरचित्त व्यक्ति आत्मकल्याण एव परमार्थ के कार्य कर ही कैसे सकता है ?

इस व्रत से मूलव्रतो मे प्रशस्तता

इस व्रत के स्वीकार करने से मूल व्रतो का विकास होता है, वे देदीप्यमान होते हैं, सादगी से जीवन व्यतीत होता है, जनता मे वह विश्वस्त एव प्रतिष्ठित हो जाता है। वस्तुत पाच मूलव्रतो के धारक श्रावक को उन व्रतो की सुरक्षा एव वृद्धि के उद्देश्य से वृत्ति का सकोच करना आवश्यक है। इसी हेतु से छठा दिग्परिमाण-व्रत लिया जाता है, लेकिन इस व्रत से मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एव वहाँ के पदार्थादि से तो श्रावक विरत हो जाता है, मगर मर्यादित क्षेत्र के अन्तर्गत पदार्थों का उपभोग-परिभोग तो सर्वथा खुला रहता है। उनकी कोई सीमा नही रहती, जिससे जीवन अनियन्त्रित रहता है। असयमित जीवन वाले के मूलव्रत निर्मल नहीं रह सकते। इसी बात को दृष्टिगत रख कर सप्तमव्रत बताया है। इसके स्वीकार करने पर मर्यादित क्षेत्रान्तर्गत पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा हो जाती है, वृत्ति-सकोच हो जाता है। इस प्रकार मूलव्रतो के स्वीकार करने पर जो अव्रत शेष रहा जाता है, वह दिग्परिमाणव्रत धारण करने से क्षेत्र से और उपभोग-परिभोग परिमाण के स्वीकार से, द्रव्य से सकुचित—सीमित हो जाता है। मूलव्रत प्रशस्त, हो जाते है। उनमे गुण उत्पन्न करके ये दोनो उन्हे दीप्त कर देते है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति आम खाता है, दूसरा नही खाता। उसने आम खाने का त्याग कर दिया। अब उसे यह सोचने की आवश्यकता ही न रहेगी कि इस वर्ष आम की फसल कैसी है ? आम का क्या भाव है ? अभी बाजार मे आम आते हैं या नही ? इस प्रकार वह आम्रविषयक विकल्पो से तथा तज्जन्य आरम्भादि पाप से बचा रहेगा। मगर जिसने आम खाने का त्याग नही किया, वह उपर्युक्त विकल्पो एव चिन्ताओ से घिरा रहेगा, तज्जन्य पाप से भी।

सप्तमव्रत का उद्देश्य

इस व्रत का उद्देश्य तो शारीरिक आवश्यकताओं को कम से कम करके श्रावक के जीवन को मर्यादित, विवेकसम्पन्न, सादा, सयमपोषक बनाना है। जिसकी शारीरिक आवश्यकताएँ जितनी अधिक होगी, उसे उनकी पूर्ति के हेतु उतना ही

अधिक पाप, प्रवृत्ति या आरम्भ करना पडेगा, इसके विपरीत जिसकी आवश्यकताएँ जितनी कम होगी, उसे उतनी प्रवृत्ति या आरम्भ भी नही करना पडेगा। वह धर्म-कार्य के लिए भी पर्याप्त समय बचा सकेगा। अधिक पाप से या आरम्भ से भी अपने को बचा सकेगा।

अत श्रावक इस व्रत के उद्देश्य को आँखो से ओझल न कर दे। जो श्रावक आवश्यकताओ को किसी कारणवश कम नही कर सका है, वह धीरे-धीरे ही सही, इस ओर आगे बढे, किन्तु लक्ष्य को भूल न जाए और न ही वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरो को अभावजनित कष्ट मे डाले। उदाहरण के तौर पर जब श्रावक चार आदमियो के निर्वाह योग्य अन्न-वस्त्र आदि का अकेले ही उपभोग करेगा, तो शेष तीन आदमियो को कष्ट मे पडना पडेगा। वे उस अन्न-वस्त्र के अभाव मे पीडित होगे। अगर श्रावक अपनी आवश्यकताएँ बढा लेगा तो उनकी पूर्ति के चक्कर मे वह दूसरो को कष्ट मे डालेगा, इसलिए 'जीओ और जीने दो' इस सिद्धान्त का भलीभाँति पालन करने के लिए श्रावक को सप्तमव्रत स्वीकार करके अपनी आवश्यकताएँ कम से कम करने का प्रयत्न करना चाहिए, बल्कि अन्न-वस्त्र सकट के अवसर पर तो अपनी पूर्व स्वीकृत पदार्थों की मर्यादा मे से और कम करके कम से कम पदार्थों से ही काम चला लेना चाहिए।

यही सप्तम व्रत का आशय है। आशा है, आप सातवें व्रत के उद्देश्य और इसके रहस्य को हृदयगम कर चुके होगे।

☆

3

उपभोग-परिभोग-मर्यादा और व्यवसाय-मर्यादा

✡

मर्यादा का नाम सुनते ही आप चौकेगे । आप कहेगे कि वर्तमान स्वातन्त्र्य युग मे मर्यादा अर्थहीन है, अनावश्यक है, निष्प्रयोजन है । किन्तु यह बात आपको स्वीकार करनी होगी कि जो व्यक्ति अभी पूर्णता तक पहुँचा नही है, तब तक उसके लिए मर्यादाएँ पद-पद पर आवश्यक है, ये मर्यादाएँ बलात् थोपी हुई नही, अपितु स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृत होती है । सर्वथा अप्रमत्त एव अनासक्त वृत्ति पर पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए तो मर्यादा अर्थहीन एव अनावश्यक है, लेकिन जो अभी मध्यधारा मे बह रहा है, उसके लिए मर्यादा की बैसाखी आवश्यक है । शास्त्रीय भाषा मे कहे तो आचार की धातु के लिए मर्यादा का कवच आवश्यक है । हाँ, यह बात हो सकती है, कि प्रत्येक साधक की अपनी परिस्थिति, योग्यता और शक्ति के अनुसार मर्यादा भिन्न-भिन्न श्रेणी पर स्थित हो, किन्तु अपूर्ण साधक के लिए स्वेच्छा से स्वीकृत मर्यादा अनिवार्य है । नदी दो तटो की मर्यादा मे बहती है, तभी वह स्वय स्वच्छ और सशक्त होकर अनेक प्राणियो और-पेड पौधो को जीवनदान दे सकती है, किन्तु जब वह तट-मर्यादाओ को तोडकर बाढ का रूप धारण कर लेती है, तब स्वय भी स्वच्छ व सशक्त नही रहती और ससार मे भी विनाशलीला का दृश्य उपस्थित कर देती है । मगर मर्यादा मे बहती हुई जब समुद्र मे मिल जाती है, तब उसे मर्यादा की कोई अपेक्षा नही रहती, क्योकि पूर्णता की प्रतिमूर्ति समुद्र मे अपने को विलीन कर चुकी है । वर्तमान युग मे लोगो की बढती हुई उच्छृखलता, अनुशासनहीनता, सयमहीनता, स्वादवृत्ति एव स्वेच्छाचारिता तथा अनियत्रण को देखते हुए इस सम्बन्ध मे स्वेच्छाकृत मर्यादा की कितनी आवश्यकता है ? यह सहज ही हम समझ सकते हैं ।

मर्यादा का अर्थ मनीषियो ने सीमा, नियन्त्रण, सयम व नियमानुवर्तिता किया है । सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी और समुद्र आदि नियमानुवर्तिता का उल्लघन नही करते, तभी वे जगत् के लिए उपकारी और विश्वसनीय है । इसी प्रकार जो मनुष्य अपने उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों एव व्यवसाय के सम्बन्ध मे मर्यादाबद्ध है, उसका

जीवन सुखी, विश्वसनीय एव परमार्थी होता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने उप-भोग्य-परिभोग्य पदार्थों एव व्यवसायो की मर्यादा बताई है।

पिछले प्रवचन मे मैं इस व्रत की उपयोगिता विभिन्न पहलुओ से सिद्ध कर आया हूँ। वास्तव मे जो गृहस्थ साधक उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ के सम्बन्ध मे मर्यादाओ का अतिक्रमण न करके जो कुछ भोगने योग्य है, उसका अस्वादवृत्ति से, अनासक्त भाव से उपभोग-परिभोग करते है, वे कभी दु खी नही होते। गृहस्थजीवन मे सुख के साधन अनेक मिल सकते हं, किन्तु साधक यदि उनका भोग अनियन्त्रित रूप से करता है तो वे भी दु ख का कारण बन जायेंगे मर्यादा का त्याग करके उपभोग करना स्पष्टत अस्वास्थ्य, रोग, शोक और बहुसन्तान के समान दु ख का हेतु बन जाएगा। उपभोग्य और परिभोग्य पदार्थ कितने प्रकार के है ? उनकी मर्यादाएँ क्या है और किस विधि से हो सकती है ? इसके लिए जैनागमो मे स्पष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया है।

उपभोग-परिभोग परिमाण · स्वरूप और प्रकार

कल के प्रवचन के चिन्तन के प्रकाश मे सप्तमव्रत के स्वरूप को समझ लेना चाहिए। उपभोग-परिभोग का सामान्य अर्थ होता है—जीवननिर्वाह के लिए अथवा शरीरधारण या शरीररक्षा के लिए पदार्थों की मर्यादा—नियत मात्रा मे सेवन करना। आवश्यक वृत्तिकार उपभोग और परिभोग की परिभाषा इस प्रकार करते है—

"उपभोग· सकृद्भोग स चाशनपानानुलेपनादीनाम्।
परिभोगस्तु पुनर्पुनः भोग्यः, सचासन-वसन-शयन-वनितादीनाम्।"

—जो पदार्थ एक बार सेवन करने के पश्चात् तत्काल या समयान्तर मे पुन· सेवन न किया जा सके, काम मे न आ सके, उसे उपभोग कहते हे, जैसे भोजन, पानी, अग-विलेपन आदि। इसके विपरीत जो वस्तु एक बार से अधिक वार भी सेवन या इस्तेमाल की जा सकती है, उसे परिभोग कहते है। जैसे आसन, शय्या, वस्त्र, वनिता आदि। अथवा उपभोग और परिभोग के बदले रत्नकरण्डक श्रावकाचार मे भोग और उपभोग मिलते है, उनका अर्थ भी पहले जैसा ही है।[1]

उपभोग-परिभोग की एक व्याख्या और मिलती है, वह यह है कि जो पदार्थ शरीर के आन्तरिक भाग से भोगे जाते है, उन्हें भोगना उपभोग है और जो पदार्थ शरीर के बाह्य भागो से भोगे जाते है, उन्हे भोगना परिभोग है। ऐसे उपभोग और परिभोग के योग्य पदार्थों के विषय मे ऐसी मर्यादा करना कि मै अमुक-अमुक पदार्थों के सिवा शेप पदार्थों का उपभोग-परिभोग नही करूँगा, इस मर्यादा को उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत कहते है।

---

१ भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो, भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य ।
उपभोगोऽशन-वसनप्रभृति पचेन्द्रियो विषय ॥८३॥ —रत्न०, क० श्रा०

यह तो पहले कहा जा चुका है कि उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ की मर्यादा स्वादवृत्ति, विषयसुखपोषणवृत्ति आदि की दृष्टि से न होकर धर्मपालनार्थ केवल शरीर-रक्षा की दृष्टि से होगी। शरीर को स्वस्थ, सशक्त और कार्यक्षम बनाए रखना श्रावक का कर्तव्य है, इसलिए शारीरिक अनिवार्य आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर ही वह उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ की सूची तैयार करेगा।

शरीर के साथ ही पाँचो इन्द्रियाँ सलग्न है। इन पाँचो इन्द्रियो मे धर्मपालन के कार्य तभी हो सकते है, जब वे ठीक हालत मे हो, स्वस्थ एव सशक्त हो। अत श्रावक को उन पाँचो इन्द्रियो या शरीर के विभिन्न अवयवो को स्वस्थ, सशक्त एव कार्यक्षम रखना आवश्यक समझकर जीवन-निर्वाह के लिए शरीर और शरीर से सम्बन्धित आवश्यक पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा करना चाहिए। इस प्रकार की जाने वाली मर्यादा मे केवल उन्ही पदार्थो की छूट रखना उचित है, जितना पूर्वोक्त विवेक के प्रकाश मे कसौटी पर जाँच करने के बाद रखना अनिवार्य हो।

शास्त्रकारो ने इस व्रत के ग्रहण करने मे सुविधा की दृष्टि से २६ प्रकार के उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों की एक सूची दी है। इस सूची के आधार पर व्रतधारी उस प्रकार के पदार्थो के उपभोग-परिभोग की मर्यादा करता है कि मैं अमुक-अमुक पदार्थो का सर्वथा सेवन न करूँगा, अमुक पदार्थ इतनी बार से अधिक बार इस्तेमाल न करूँगा, इतने समय से पूर्व या पश्चात् की बनी हुई चीज का उपयोग न करूँगा, अमुक समय पर ही अमुक पदार्थ काम मे लूँगा, उसके पहले या पीछे काम मे न लूँगा। अमुक पदार्थ इतने समय तक ही काम मे लूँगा, इसके पश्चात् नही। इस तरह पदार्थो के उपभोग या परिभोग के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल से मर्यादा करना ही उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत है।

शास्त्रकारो द्वारा बताए हुए २६ बोल इस प्रकार हैं—

१ उल्लणियाविहि—प्रात काल उठते ही शौचादि से निवृत्त होकर हाथ-मुँह धोने के पश्चात् उसे पोंछने के लिए आर्द्र (गीले) वस्त्र (जिसे आजकल रूमाल, अगोछा या तौलिया कहते हैं) की मर्यादा करना उल्लणियाविहिपरिमाण कहलाता है।

(२) दतवणविहि—रात्रि मे सोते समय मुख मे श्वासोच्छ्वास के वायु द्वारा जो निकृष्ट पुद्गल एकत्रित हो जाते है, उन्हे दूर करने और मुख शुद्धि के लिए दतौन किया जाता है। प्राचीनकाल मे लोग बबूल, नीम या मुलैठी की लकडी से दतौन करते थे, आजकल अधिकाश लोग टूथपेस्ट व ब्रुश से तथा दन्तमजन से दतौन करते है। अत दन्तधावन से सम्बन्धित पदार्थो के विषय मे मर्यादा करना दतवण विहि परिमाण कहलाता है।

(३) फलविहि—दतौन करने के बाद बुद्धि विकास के लिए मस्तक को स्वच्छ और शीतल किया जाता है। प्राचीन काल मे आवला आदि फलो के द्वारा ऐसा किया

जाता था, वर्तमान मे साबुन, शेम्पू आदि द्रव्यो का उपयोग किया जाता है। अत सके लिए यथावश्यक पदार्थों की मर्यादा करना फलविहि परिमाण हे।

(४) अब्भगण विहि—त्वचा सम्बन्धी विकारो को दूर करने और शरीर मे रक्त-सचार करने हेतु जिन तैल आदि द्रव्यो की शरीर पर मालिश की जाती है, उन द्रव्यो की मर्यादा करना अभ्यगनविधि परिमाण है।

(५) उवटणविहि—शरीर पर जमे हुए मैल को हटाने तथा शरीर मे स्फूर्ति एव शक्ति लाने के लिए उवटन (पीठी) लगाया जाता है, उस उवटन के सम्बन्ध मे मर्यादा करना उवटन विधि-परिमाण है।

(६) मज्जणविहि—स्नान के सम्बन्ध मे मर्यादा करना कि मैं इतनी बार से अधिक बार या अमुक प्रकार के इतने जल से अधिक जल का व्यय नही करूगा, यह स्नानविधि परिमाण है।

(७) वत्थविहि—वस्त्र के सम्बन्ध मे मर्यादा करना कि मैं अमुक किस्म के इतने वस्त्र से अधिक वस्त्र शरीर पर धारण नही करूँगा, इस प्रकार से वस्त्रमर्यादा करना वस्त्रविधिपरिमाण है।

(८) विलेवणविहि—शरीर मे शीतलता प्रदान करने वाले चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यो का विलेपन किया जाता है, उन द्रव्यो की मर्यादा करना विलेपन विधि-परिमाण है।

(९) पुप्फविहि—पुष्पो की मर्यादा करना कि मैं अमुक वृक्ष के इतने पुष्पो के अतिरिक्त अन्य अथा अधिक फूल उपयोग मे न लूगा, पुष्प-विधिपरिमाण है। आजकल पुष्प के बदले लोग इत्र, सेट या फूलेल लगाते है।

(१०) आभरणविहि—शरीर पर धारण किये जाने वाले आभूषणो की मर्यादा करना कि मैं इतने मूल्य या इतने वजन के अमुक आभूषण के सिवाय अन्य आभूषणो का उपयोग नही करूँगा, इस प्रकार की मर्यादा करना आभरणविधि है।

(११) धूपविही—जिस स्थान मे निवास किया जाय स्वास्थ्य की दृष्टि से वहाँ की वायु शुद्धि के लिए धूपादि के उपयोग का परिमाण करना धूपविधि परिमाण है।

ये ग्यारह बोल, जिन विधियो का परिमाण सूचित करते है, वे उन पदार्थों के लिए है, जिनसे या तो शरीर की रक्षा होती है, अथवा शरीर मे स्फूर्ति, स्वस्थता आती है।

इससे आगे के बोलो मे ऐसी वस्तुओ की विधि का परिमाण सूचित किया गया है, जो शरीर को पुष्ट करने तथा शक्ति प्रदान करने वाले है।

(१२) पेज्जविहि—प्रात काल नाश्ते के समय जो पेयपदार्थ लिये जाते है, उन पेयपदार्थों (दूध, शर्बत, मट्ठा आदि) का परिमाण करना पेयविधिपरिमाण है।

(१३) भक्खणविहि—भोजन से पूर्व नाश्ते के रूप जो पदार्थ खाये जाते हैं, जैसे मिठाई आदि, उनका परिमाण करना भक्षणविधि परिमाण है।

(१४) ओदणविहि—ओदन मे उन द्रव्यो का समावेश है, जो विधिपूर्वक अग्नि पर पका कर खाए जाते है, जैसे चावल, थूली, खिचडी आदि। ऐसी चीजो की मर्यादा करना ओदन विधिपरिमाण है।

(१५) सूपविहि—सूप मे उन भोज्य वस्तुओ का समावेश होता है, जो दाल, सूप आदि के रूप मे रोटी या भात के साथ खाये जाते है, उन वस्तुओ का परिमाण करना सूपविधि परिमाण है।

(१६) विगयविहि—विगय मे वे पदार्थ है, जो भोजन को सुस्वादु एव पौष्टिक बनाते हैं, वे पाच विगय माने गये है—दूध, दही, घी, तेल, गुड, चीनी या चीनी आदि से बनी मिठाई। इन पाचो को विकृति उत्पन्न करने वाले होने से विगय कहा गया है। इनकी मर्यादा करना विगयविहि है। मधु (शहद) और मक्खन विशेष विकृति पैदा करने वाले होने से विशेष विगय है, विशेष कारण के बिना श्रावक को इनका सेवन नही करना चाहिए।

मद्य और मास तो महाविगय माना गया है, ये जीवो की घात से निष्पन्न होते हैं, इसलिए इनका तो सर्वथा त्याग करना चाहिए।

(१७) सागविहि—भोजन के साथ व्यजनरूप मे खाये जाने वाले पदार्थों को शाक या साग कहते हैं। ये हरे और सूखे दोनो प्रकार के होते है। अत शाक के विषय मे मर्यादा करना शाकविधिपरिमाण है।

(१८) माहुरविहि—मधुर एव हरे-सूखे फलो की मर्यादा करना माधुरक-विधिपरिमाण है। मधुर हरे फलो मे आम, केला, जामुन, नारगी, सेव, अनार, अगूर आदि है, सूखे फलो मे बादाम, पिश्ता, किशमिश आदि सूखे मेवे है।

(१६) जीमणविहि—जो पदार्थ भोजन के रूप मे क्षुधानिवारणार्थ खाये जाते हैं, जैसे रोटी, बाटी, पूरी, पराठा आदि, वे जेमन कहलाते है। इस प्रकार के द्रव्यो की मर्यादा करना जेमनविधि है।

(२०) पाणीविहि—विविध प्रकार के पेयजलो की मर्यादा करना कि मैं अमुक स्थान के, अमुक नाम के, या अमुक किस्म के (खाटे, मीठे, वर्षा के) पानी के सिवाय अन्य पानी इतने परिमाण से अधिक पीने के काम मे नही लूगा, पानी या विधिपरि-माण है। पानी के भी उष्णोदक, शीतोदक, गन्धोदक, खारा, मीठा आदि अनेक भेद होते हैं।

(२१) मुखवासविहि—मुखवास मे उन पदार्थों की गणना की जाती है, जो भोजन के पश्चात् मुखशुद्धि के नाम पर लिये जाते है, जैसे—सुपारी, पान, इलायची आदि। अत ऐसे मुखवास के सम्बन्ध मे परिमाण करना मुखवासविधि परिमाण है।

(२२) वाहणविहि—वाहन मे उन पदार्थों की गणना की जाती है, जिन पर कर भ्रमण या प्रवास किया जाता है, जैसे हाथी, घोडा, ऊँट, बैलगाडी, घोडागाडी ः, पालकी, नौका, विमान, रेलगाडी, आदि। उक्त सवारियो की मर्यादा करना ाहन विधिपरिमाण है।

(२३) उवाणहविहि—उपानह मे उन चीजो की गणना की जाती है, जो रो की रक्षा के लिए पैरो मे पहनी जाती हैं, जैसे जूते, बूट, चप्पल, सैंडल, खडाऊँ, ्जे आदि। इन सबकी यथावश्यक मर्यादा करना उपानहविधिपरिमाण कहलाता है।

(२४) सयणविहि—शयन मे उन वस्तुओ का समावेश होता है, जो सोने-ठने आदि के काम आती हैं, जैसे—खाट, पलग, ढोलिया, पाट, आसन, गद्दा, किया, बिछौना, मेज, कुर्सी, चौकी आदि। इन पदार्थों मे से यथावश्यक पदार्थों की र्यादा करना शयनविधिपरिमाण है।

(२५) सचित्तविहि—इसमे सचित्त (सजीव) पदार्थों की मर्यादा की जाती है, जो अचित्त किये बिना ही खाये जाते हैं, जिनके स्पर्श से मुनि बचते हैं। वास्तव मे श्रावक को जहाँ तक सम्भव हो, सचित्त पदार्थ के उपभोग का सर्वथा त्याग करना चाहिए। वह श्रमणोपासक है। श्रमणोपासक का अर्थ श्रमणो की उपासना करने वाला है। श्रमण श्रावक से उत्सर्गमार्ग मे शारिरिक सेवा तो लेते नही। श्रमणो की उपासना वह अचित्त (प्रासुक) आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि देकर ही कर सकता । यदि वही सचित्तभोजी होगा तो साधु-साध्वियो को अचित्त भोजन कहाँ से दे सकेगा ? इसलिए श्रावक को सर्वथा अचित्तभोजी होना चाहिए। ऐसा सम्भव न हो तो सचित्त पदार्थों की मर्यादा कर लेनी चाहिए।

(२६) दव्वविहि—उपर्युक्त २६ बोलो मे से कुछ बोलो मे जिन सचित्त या अचित्त खाद्यपदार्थों की जो मर्यादा की गई है, उन पदार्थों की द्रव्यरूप मे गिनती करके इस प्रकार की मर्यादा करना कि एक दिन मे या एक समय मे, आयुभर मे इतने द्रव्य से अधिक का सेवन नही करूँगा। स्वाद की भिन्नता की दृष्टि से जितनी वस्तुएँ अलग अलग द्रव्यो के सयोग के साथ मुँह मे डाली जाएँगी, उनकी गणना पृथक्-पृथक् द्रव्यो मे होगी। इस तरह श्रावक के द्वारा यथासम्भव द्रव्यो के सेवन की मर्यादा करना द्रव्यविधिपरिमाण है।

इन छब्बीस बोलो मे से ग्यारह बोल शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ एव स्फूर्तिमान रखने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं, इसके पश्चात् के दस बोल खान-पान-विषयक पदार्थों से सम्बन्धित है। अन्त के पाच बोलो मे से ३ बोल शरीर को श्रमजनितथकान या अशक्ति से बचाने के लिए तथा शरीर व शरीर के अगोपागो की रक्षा के लिए उपयोगी पदार्थों से सम्बन्धित है।

इन छब्बीस प्रकार के पदार्थों की यथाविधि मर्यादा मे उन सभी उपभोग्य-

परिभोग्य पदार्थों का परिमाण आ जाता है, जो जीवन-निर्वाह के लिए या शरीर धारण के लिए आवश्यक है।

इनमे से 'आभरणविधि' आदि कुछ बोल आपको ऐसे प्रतीत होगे जो वर्तमान समय मे आवश्यकता से अधिक पदार्थों की मर्यादा से सम्बन्धित है, परन्तु शास्त्रीय विधान त्रिकालदर्शी सर्वज्ञो द्वारा सामान्य-विशेप राजा-महाराजा या सेठ-साहूकारो से लेकर झोपडी मे रहने वाले गरीब श्रमजीवी या कृपक तक को लक्ष्य मे रखकर किया गया है। ये बोल तो सर्व-साधारण रूप (Common) से सबके लिए बता दिये हैं। इनमे से अपनी-अपनी शक्ति, परिस्थिति, योग्यता आदि देखकर यथाविधि उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों का त्याग या मर्यादा कर लेनी चाहिए।

शास्त्र मे २६ बातो की सूची तो इसलिए बताई है कि सर्वसाधारण व्यक्ति से लेकर राजा-महाराजा तक इस व्रत को आसानी से धारण कर सकें। शास्त्रकारो ने तो अपनी ओर से सभी बातो का सकेत कर दिया है, जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ की आवश्यकता न हो, वह उसका सर्वथा त्याग कर सकता है।

मर्यादा की मर्यादा

श्रावक अपने जीवन मे सप्तमव्रत ग्रहण करके जब उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ की मर्यादा करता है, तभी उसे उस पदार्थ-मर्यादा के औचित्य को ५ कारणो की कसौटी पर कसकर जाँच लेना चाहिए। यदि ५ कारणो की कसौटी पर जाचना-परखना अनिवार्य है कि मर्यादा मे स्वीकृत वस्तु इन पाच दोपो से दूषित तो नही है? अगर उसके द्वारा मर्यादा मे रखी हुई उपभोग्य-परिभोग्य वस्तु ५ दोषो से युक्त है तो उस दोष-युक्त वस्तु का सर्वथा त्याग करना चाहिए। भगवान् महावीर ने निर्वाण से पूर्व पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन मे आहार-सेवन करने से पूर्व साधक को आहार ग्रहण के ६ कारणो की कसौटी पर[1] उसके औचित्य को जाचना-परखना आवश्यक बताया है, वैसे ही गृहस्थ साधक को उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ का उपयोग करने से पहले आचार्य अकलक द्वारा बताये गए ५ दोषरूप कारणो की कसौटी पर उसे जाँच-परख लेना चाहिए। वे पाँच दोप रूप कारण ये हैं—त्रसवध, बहुवध, प्रमाद, अनिष्ट और अनुपसेव्य।

त्रसवध—जिस किसी भी वस्तु का उपभोग-परिभोग करना हो, उसके सम्बन्ध मे विचार करना चाहिए कि यह चलते-फिरते (त्रस) प्राणियो के नाश से तो तैयार नही हुई है? अगर वह त्रसजीवो के हनन से तैयार हुई है तो श्रावक को उसके उपयोग का सर्वथा त्याग करना चाहिए। जैसे—मास, चर्बी, पशुओ को मारकर तैयार

---

१ वेयण-वेयावच्चे इरियट्ठाए य सजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठ पुण धम्मचिंताए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ०

किया हुआ चमडा, रेशमी वस्त्र, जो शहतूत के कीडो के वध से तैयार हुआ है, वह दवाई, जो मछली या अन्य जीवो के अवयवो से तैयार हुई है, जैसे कॉड लिवर आइल हेमोग्लोबिन आदि। त्रसवधजन्य वस्तुओ का उपभोग-परिभोग सर्वथा त्याज्य समझना चाहिए।

बहुवध—जो पदार्थ त्रसजीवो का सहार करके तो निष्पन्न नही हुआ, किन्तु उसके बनाने मे त्रसजीव पैदा हो जाते है, अथवा अनेक स्थावर जीवो की हिंसा होती है, ऐसे बहुवधजन्य पदार्थों का उपभोग अथवा परिभोग श्रावक को त्याज्य समझना चाहिए। जैसे मद्य त्रसजीवो के वध से तो नही बनता, किन्तु उसके बनाने की प्रक्रिया ऐसी है कि उसे सडाना पडता है, और सडाने मे अनेक त्रसजीव पैदा हो जाते है, वे मर जाते है, इसलिए मद्य बहुवधजन्य होने से वर्ज्य है। इसी प्रकार जो वस्त्र बनते तो कपास से है, लेकिन उन पर पॉलिश करने के लिए पशुओ की चर्बी लगाई जाती है, वह भी वर्जनीय समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार जो दवा अनेक स्थावर जीवो के वध से निष्पन्न होती है, जैसे काई से पैनसिलिन के इजेक्शन तैयार किये जाते है। चाय को लाल सुर्ख बनाने के लिए चाय की पत्तियो पर खून छीटा जाता है, ऐसी वस्तु वर्जनीय समझनी चाहिए। गुल्लर या बड के फल मे अनेक जीव होते है, इसलिए उसे वर्जनीय समझना चाहिए। जो शहद मधुमक्खियो के छत्तो पर धुँआ करके निष्पन्न होता हो, उसे भी वर्जनीय समझना चाहिए।

प्रमाद—जिस वस्तु के सेवन से प्रमाद बढता हो, शरीर मे स्फूर्ति और कार्यक्षमता के बदले आलस्य, निद्रा, सुस्ती, कार्य करने की अक्षमता, अशक्ति एव कार्य करने मे जी चुराने की वृत्ति बढती हो, उसे भी श्रावक को उपभोग्य-परिभोग्य नही समझना चाहिए। ऐसा गरिष्ठ एव तामसी भोजन, तीखा तमतमाता आहार जो प्रकृति को उग्र और अविवेकी बना देता है, वह भी त्याज्य समझना चाहिए। श्रावक को आहार-विहार के सम्बन्ध मे तो बहुत सतर्क रहना चाहिए। अति भोजन भी आलस्य और सुस्ती लाता है, गरिष्ठ भोजन भी कामोत्तेजना लाता है, ऐसे कामोत्तेजक, आलस्यवर्द्धक आहार से तो श्रावक को दूर रहना चाहिए।

इसी प्रकार श्रावक का शयन-आसन (बिछौना आदि) भी अत्यन्त गुदगुदा, अत्यन्त लचीला न होना चाहिए, जो विकारवर्द्धक हो। बहुत अधिक कपडो का या मोटा गद्दा अत्यन्त आलस्य एव निद्रा लाने का कारण बनता है, इसलिए श्रावक को इसमे अतीव विवेक रखना चाहिए। अतिमात्रा मे दही, दूध, घी, मिठाई आदि पदार्थों का सेवन भी विकृतिवर्द्धक है, वह भी प्रमादजनक है।

अनिष्ट—जो वस्तु अपने शरीर या जीवन के लिए हानिकर है, वह अनिष्ट है। जैसे विषभक्षण शरीर के लिए अनिष्ट है, इसी प्रकार जिन पदार्थों से अपना स्वास्थ्य बिगडता हो, जो अपने स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो, वे पदार्थ भी अनिष्ट होने से त्याज्य है। कई क्रीम, साबुन आदि त्वचा को खराब कर देते है, वे भी अनिष्ट

है। कई अन्न या खाद्य वस्तुएँ अधपकी या अधिक पकी हुई हानिकारक होती हैं, उन्हे भी अनिष्ट मे समझना चाहिए।

अनुपसेव्य—जिस वस्तु का सेवन शिष्ट सम्मत नही है, घृणित है, वह अनुपसेव्य है। पूर्वज ऋषियो ने जिनका उपभोग वर्जनीय माना हो, वे भी अनुपसेव्य हैं। जैसे अनजाने फल, अण्डा, माँस आदि पदार्थ।

अस्वादवृत्ति एव आहारशुद्धि भी

गृहस्थ साधक को भी अपना जीवन उत्तरोत्तर मोक्ष साधना की ओर ले जाने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आहार-विहार मे अस्वादवृत्ति का परिचय दे, साथ ही आहारशुद्धि भी रखे। इन दोनो उद्देश्यो की पूर्ति सातवें व्रत से हो जाती है। गृहस्थ हो या साधु, दोनो को आहार लेना आवश्यक होता है। परन्तु वह आहारग्रहण करने से पहले उसकी शुद्धता की ओर अधिक ध्यान दे। छान्दोग्य-उपनिषद् मे बताया गया है—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि. सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृति ।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीना विप्रमोक्ष. ॥

—आहार शुद्ध, सात्त्विक एव न्याय-प्राप्त हो तो सत्त्वशुद्धि या अन्त करणशुद्धि होती है। अन्त करण निर्मल होने पर स्मृति लाभ होता है, आत्म-स्मरण सदा रहने लगता है। उससे हृदय की समस्त ग्रन्थिया खुल जाती है, यानी अज्ञान की गाठे नष्ट हो जाती हैं।

शुद्ध आहार का अर्थ इतना ही नही कि आहार सात्त्विक हो, बल्कि वह न्याय नीति से प्राप्त हो, दूसरो से छीनाझपटी या ठगी करके प्राप्त आहार शुद्ध नही होता, साथ ही वह त्रसजीव के वध से जन्म न हो। इसके अतिरिक्त सात्त्विक आहार भी अतिमात्रा मे, या ऋतु व प्रकृति के प्रतिकूल अथवा स्वादवृत्ति से ग्रहण किया हुआ होगा तो वह भी अशुद्ध बन जाएगा। स्वादवृत्ति से, आसक्तिभाव से किया गया आहार चित्तशुद्धि मे सहायक नही है।

अस्वादवृत्ति की साधना के लिए शरीर को साधन मानना चाहिए साध्य नही। शरीर एक यन्त्र है, जगत् की सेवा करते हुए मोक्ष सिद्ध करने के लिए प्राप्त साधन है। अत इसे यन्त्र या साधन समझकर इसका उपयोग करना चाहिए। अस्वादवृत्ति केवल रसनेन्द्रिय का विषय नही, सभी इन्द्रियो का विषय है। जैसे भोजन मे अस्वादवृत्ति हो, वैसे ही वस्त्र, पदार्थ-दर्शन, शब्द-श्रवण, पदार्थ-घ्राण एव स्पर्श के विषय मे भी अस्वाद यानी अनासक्तभाव हो। जिस प्रकार यन्त्र से काम लेने के लिए उसमे ठीक समय पर उचित मात्रा मे तटस्थभाव से तेल देना पडता है, उसी प्रकार शरीर यन्त्र को भी स्वस्थ एव कार्यक्षम रखने के लिए अस्वादवृत्ति से नियत समय पर उचित मात्रा मे अन्न-वस्त्रादि रूपी तेल देना चाहिए। शरीर को आहारादि देने मे

साधक के मन मे ऐसी यन्त्रदृष्टि बहुत ही अनुकूल एव उपयोगी होती है । यन्त्र को तेल देने मे न त्याग (लापरवाही) की भावना रहती है, न आसक्ति की, बल्कि यह दृष्टि रहती है कि कार्य ठीक तरह से सम्पन्न हो। यही नि सग दृष्टि शरीरयन्त्र के सम्बन्ध मे साधक की रहनी चाहिए। न शरीर के प्रति उपेक्षा रखें, न आसक्ति, कर्तव्यभावना से नि सग होकर आहारादि आवश्यक वस्तुएँ दे, इसे परमात्म-साधना का पवित्र मन्दिर समझकर अस्वादवृत्ति से, पवित्र भावना से इसे ठीक मात्रा मे दें और इससे धर्मकार्य सम्पन्न करें। खाद्य-पदार्थों के विषय मे व्रती श्रावक की दृष्टि क्षुधानिवारण की हो। जैसे औषध रोग निवारणार्थ लिया जाता है, जीभ को अच्छा लगने की दृष्टि से नही, उसी प्रकार आहार का सेवन भी क्षुधानिवारक औषध की तरह होना चाहिए, न कि स्वादवृत्ति के पोषण के लिए। आरुणिकोपनिषद् मे दो मन्त्र इस सम्बन्ध मे मिलते हे—

"औषधवत् अशन आचरेत्', औषधवत् अशन प्राश्नीयात् ।'

—औषध समझकर भोजन का सेवन करे, औषध की तरह आहार ग्रहण करें। ओपध लेने का अर्थ रोग मिटाना और स्वास्थ्य को सुरक्षित रखना है। जहाँ स्वादवृत्ति मुख्य होती है, वहाँ प्रमाण एव प्रकार का विशेष ध्यान नही रहता, किन्तु औषधवृत्ति से खाने पर प्रमाण एव प्रकार भी नियन्त्रित हो जाता है। आवश्यकता से अधिक आहारादि लेने से शरीर की हानि होती है, स्वास्थ्य विगडता है और कम लेने से पूरा पोषण नही मिल पाता, स्वास्थ्य रक्षा नही हो पाती। जब कोई साधक रसपूर्वक वस्तु का सेवन करता है, तो उसकी आदत पड जाती है और उसका परिणाम अधिक मात्रा मे सेवन करने मे होता है, अधिक खाने की आदत पड जाती है। रसपूर्वक थोडा-सा सेवन करना अस्वादवृत्ति मे मान्य नही, तथैव रसपूर्वक अधिक मात्रा मे सेवन करना भी मान्य नही, यह चिन्तन इस व्रत के साथ होना चाहिए। आहार के दोपो मे सयोग नामक एक दोष भी बताया है, उसका तात्पर्य है, स्वादनिर्माण करने के लिए नाना प्रकार की चीजो का मिश्रण करना। अत नमक आदि वस्तुओ के मिश्रण के पीछे भी स्वाददृष्टि के बजाय देहधारण या शरीर-रक्षण की दृष्टि होनी चाहिए। शरीर धारण की दृष्टि होने पर साधक अयोग्य, अखाद्य, अनावश्यक, अहित-कर, प्रकृति के प्रतिकूल, अतिमात्रा मे पदार्थ सेवन करना छोड देता है। इससे अनावश्यक वस्तुओ का मोह खत्म हो जाता है। मन स्वाद के बन्धन से मुक्त हो जाता है। फलत स्थूल-सूक्ष्म दोनो प्रकार के विकार क्षीण हो जाते है, चित्तवृत्ति आत्मा की ओर मुडने लगती है, आत्मानन्द मे लीन रहने, आत्मा मे रस लेने लगती है, वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। स्वादलोलुप मनुष्य जहाँ व्यर्थ खर्च करके अपना जीवन, शुष्क, नीरस, निराशा जनक बना लेता है, स्वास्थ्य विगाड लेता है, वहाँ सप्तम व्रत का पालक अस्वाद के अधीन पदार्थों का स्ववश चुनाव करके शरीर को स्वस्थ, धर्म-पालन योग्य, आत्मरस-तृप्त, आनन्ददायक बना लेता है। अस्वादवृत्ति वाले साधक की बुद्धि पचेन्द्रिय विषयो मे रस नही लेती।

चूंकि अस्वादवृत्ति सप्तमव्रत लेते ही या सकल्प करते ही पूर्णत पालन नही होगी, उसके लिए निष्ठापूर्वक सतत प्रयत्न करना पडता है। अत सप्तमव्रत को लेकर इस अस्वादवृत्ति का पालन मन-वचन-काया से मृत्युपर्यन्त करना चाहिए। शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझने पर ही अस्वादवृत्ति का पालन भलीभांति हो सकता है। किन्तु स्वादलोलुप लोग देह के साथ आत्मा को—'मैं' को जोडकर उसे अपवित्र कर देते हैं। अत स्वादवृत्ति से मुक्त होने का एक ठोस उपाय है, वैराग्य—प्रखर वैराग्य, परन्तु परमात्मभक्ति के साथ ही वैराग्य स्थायी हो सकता है, यह सारा अभ्यास सप्तमव्रत के साथ साधक को करना है।

सप्तमव्रत के पाँच अतिचार भोजन दृष्टि से

सप्तमव्रत के पूर्वोक्त २६ बोलो की मर्यादा, उसकी जाच-परख के लिए पचकारण कसौटी तथा अस्वादवृत्ति और अनासक्ति के प्रकाश मे श्रावक को बहुत ही सावधानीपूर्वक मर्यादा की लीक पर चलना चाहिए। यदि जरा भी स्वादवृत्ति, आसक्ति और उच्छृ खलता को प्रश्रय दिया कि मर्यादा भग हो सकती है। भगवान् महावीर ने इसीलिए श्रावक को सातवें व्रत के ५ अतिचारो (दोषो) से बचते रहने का निर्देश किया है, अन्यथा व्रत मे मलिनता आ सकती है। श्रावक को सदैव सतर्क रहने के लिए भोजन सम्बन्धी इन पाच अतिचारो को जानना आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं—(१) **सचित्ताहारे** (२) **सचित्तपडिबद्धाहारे,** (३) **अप्पोलिओसही भक्खणया** (४) **दुप्पोलिओसही भक्खणया** (५) **तुच्छोसहि भक्खणया।**

इन पाच अतिचारो से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि ये अतिचार भोजन के सम्बन्ध मे हैं। यह बात पहले कही जा चुकी है कि श्रावक को श्रमणो का उपासक होने के नाते सचित्त वस्तु के सेवन (उपभोग) का त्याग करना चाहिए। सचित्त का अर्थ सजीव, सचेतन है। जिस पदार्थ मे चित्शक्ति विद्यमान है, वह सचित्त है। जैसे कच्चा हरा साग, गुठली सहित पका फल, बिना पका हुआ अन्न, अकुर उत्पन्न होने की शक्ति वाले बीज, बिना पकाया हुआ या अप्रासुक असस्कृत पानी भी सचित्त है। श्रावक यथासम्भव अचित्त न बनाए हुए अशन, पान, खाद्य और स्वाद का त्याग करे। यद्यपि सचित्त पदार्थों के उपभोग का त्याग न करने वाला श्रावक भी श्रावकत्व से गिरता नही है, किन्तु आगे बताये जाने वाले बारहवें व्रत का आराधक वह नही हो सकता, क्योकि वह सचित्त भोजन का त्याग उसने नही किया है। इसलिए उसके घर पर अचित्त (प्रासुक) वस्तुएँ नही होने से साधु-सन्तो को आहार-पानी देने का लाभ नही मिल सकता। क्योकि श्रावक श्रमण की सेवा तभी कर सकता है, जब उसके पास श्रमण की उपासना के योग्य आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, शय्यासथारा, औषध और घर (मकान) हो।

सचित्ताहार—यहाँ भोजन सम्बन्धी ५ अतिचारो मे प्रथम अतिचार सचित्ताहार है। इस अतिचार से आचार्य हरिभद्र सूरि के चिन्तनानुसार यह ध्वनित होता

है कि श्रावक को स्वय सचित्त आहार का त्याग करना चाहिए। सचित्ताहार अतिचार भी तभी सम्भव है, जबकि उस श्रावक ने सचित्त आहार का त्याग किया हो या अमुक सचित्त पदार्थ के विषय मे कोई मर्यादा हो और उस पदार्थ को अचित्त बनाना भूलकर गलती से सचित्त रूप मे खा लिया हो।

सचित्तप्रतिबद्धाहार—आहार तो सचित्त न हो, किन्तु वह आहार किसी सचित्त वस्तु पर रखा हुआ हो, सचित्त वस्तु से सलग्न हो, या सचित्त गुठली आदि से युक्त हो उसे उपभोग करे तो दूसरा सचित्त प्रतिबद्धाहार दोष लगता है। जैसे—हरे पत्तो के दोने मे दही या मिठाई रखी हुई हो तो वह अचित्त होते हुए भी सचित्त हरे पत्तो से सम्बद्ध होने से सचित्तप्रतिबद्ध दोष युक्त आहार है। पके आम को गुठली सहित चूसकर खाने वाला श्रावक अचित्त आमरस को खाता हुआ भी सचित्त गुठली से युक्त आहार कर रहा है। अथवा रोटी की थाली सचित्त पानी के बर्तन या हरी सब्जी पर रखी हुई है, उसी को श्रावक खा रहा है तो वहाँ भी सचित्त प्रतिबद्धाहार है।

अपक्वौषधि भक्षणता—जो वस्तु पूरी तरह पकी नही है, ऐसी अधपकी चीज सचित्त भी नही है, किन्तु अचित्त भी नही है, मिश्र है, शकास्पद और हानिकारक है, उसे श्रावक खाता है तो यह तीसरा अतिचार लगता है। चूंकि श्रावक शरीर को स्वस्थ, सुरक्षित और सशक्त रखने के लिए आहार करता है, मगर कुछ अपक्व आहार स्वास्थ्य के लिए हानिकारक एव कुपथ्य हो जाते है, साधु भी ऐसी अपक्व खाद्य वस्तु को सचित्त की शका से नही लेते। अत इसे अतिचार कहा है।

दुष्पक्वौषधि-भक्षणता—चौथा अतिचार है, जो आहार अत्यधिक पक गया है, जिसका रस और स्वाद नष्ट हो गया है, जिसमे अधिक पक जाने से पोषक तत्त्व नष्ट हो गए है, ऐसे दुष्पक्व आहार को अचित्त होते हुए भी खाना इस व्रत का अतिचार है।

तुच्छौषधि भक्षणता—तुच्छ आहार का खाना भी दोषयुक्त है। तुच्छ आहार वह है, जिसमे क्षुधा निवारक या पोषक तत्त्व कम है, व्यर्थ का सारहीन भाग अधिक है। श्रावक के लिए ऐसा पोषक तत्त्व रहित, नि सार भोजन नही करना चाहिए, क्योंकि उससे आहार करने का उद्देश्य पूर्ण नही होता। ऐसी तुच्छ चीजो का खाना भी श्रावक के लिए अतिचार रूप है।

सप्तमव्रत के ये पाच अतिचार भोजन से सम्बन्धित है, किन्तु उपलक्षण से शरीर रक्षा के लिए अन्य पदार्थ जैसे वस्त्र दतौन, फल, अभ्यगन, उबटन, स्नान, विलेपन, औषध आदि भी सचित्तप्रतिबद्ध न हो, या वे सब सचित्त पर रखे हुए न हो। वाहन, उपानह (जूते आदि), शयन आदि सचित्त से (पचेन्द्रिय जानवर या मनुष्य आदि की हत्या से) लिपटा या आवृत न हो। कच्ची वनस्पति, कच्चा जल आदि से

सस्पृष्ट न हो। वाहन मे बैठ कर, जूते पहने हुए बैठ कर या शय्या आदि पर बैठे-बैठे आहार करना भी भारतीय सस्कृति की दृष्टि से दोपयुक्त है।

आचार्य समन्तभद्र ने इसमे सशोधन करके उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत के समस्त व्रत सस्पर्शी ५ अतिचार इस प्रकार दिये हैं—

"विपयरूपी विप के प्रति आदर रखना, वार-बार भोग्य पदार्थो को स्मरण करना, पदार्थो के प्रति अत्यधिक लोलुपता रखना, भविष्य के भोगो की अत्यन्त लालसा रखना, भोगो मे अत्यधिक तल्लीन होना।[1]

सचमुच ये पाँच अतिचार श्रावक को मर्यादाकृत उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ के प्रति भी आसक्ति, पुन -पुन स्मरण, अत्यधिक लोलुपता अप्राप्त भोगो की लालसा तथा भोगो मे अधिक तल्लीनता मे डालते है। रात-दिन भोगो के चिन्तन मे निमग्न रहने वाला श्रावक बाह्यरूप से व्रत ग्रहण कर लेने पर भी अन्दर से खोखला है। ऐसा श्रावक दम्भी, धर्मध्वजी और लोगो मे अविश्वसनीय हो जाता है। इसलिए श्रावक को इस व्रत के पालन के समय बहुत ही फूंक-फूंक कर कदम रखना चाहिए।

आवश्यकताओ का विवेक

सातवें व्रत के सन्दर्भ मे व्रतधारी को अपनी आवश्यकताओ पर तटस्थता से विचार करके उन्हे कम से कम कर देनी है। पदार्थों की अपनी सूची मे से कृत्रिम और व्यसनमूलक आवश्यकताओ को बिलकुल निकाल देना है। अन्यथा वे उसे ही हैरान कर देंगी। सामान्यतया मनुष्य की आवश्यकताओ की तीन कडियाँ है—(१) मूल आवश्यकताएँ, (२) कृत्रिम अथवा विलास जन्य आवश्यकताएँ, और (३) व्यसन-रूप आवश्यकताएँ। जीवन-रक्षा से सम्बन्धित भोजन, वस्त्र और आवास, ये तीन सर्वसाधारण मूल आवश्यकताएँ हैं। इन्ही आवश्यकताओ का अनावश्यक स्तर बढा देने से ये ही मूल आवश्यकताएँ कृत्रिम या विलासितावर्द्धक हो जाती है।

आज चारो ओर से अभाव-अभाव की ध्वनि आ रही है। मनुष्य दिन-रात मशीन की तरह काम मे जुटा रहता है, तब भी उसके खर्च पूरे नही होते। हर समय कोई न कोई कमी उसे सताती रहती है। अभाव की पूर्ति करने के लिए लोगो ने आय के अनुचित साधन भी अपना लिये है, फिर भी अभाव से उनका पिंड नही छूटता। गरीब आदमी को तो कोई भी अभाव रह सकता है, लेकिन आज बडे-बडे धनवानो को जब अभाव की शिकायत करते सुनते है तो आश्चर्य से दातो तले अगुलि दबानी पडती है।

यदि विचारपूर्वक गहराई से सोचा जाय तो जीवन मे वास्तविक अभाव

---

१ विपयविपतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृति रतिलौल्यमतितृपाऽनुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमा पच कथ्यन्ते॥
—रत्नकरण्ड श्रावका० ३/४४

बहुत ही कम होते है। वास्तविक अभाव की अवस्था मे तो मनुष्य का जीना दूभर हो जाता है। अधिकतर लोग कृत्रिम अभावो की पीडा से व्याकुल रहते है। अन्न, वस्त्र, आवास आदि जीवन की मूलभूत नितान्त आवश्यकताओ की अपूर्ति को वास्तविक अभाव कहा जा सकता है, परन्तु समाज मे इन मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति तो पर्याप्त रूप मे या सीमित रूप मे एक या दूसरे प्रकार से हो सकती है, बशर्ते कि मनुष्य यथार्थं दिशा मे उसके लिए पुरुषार्थं करे।

आज ससार मे जो भी दु ख, क्षोभ, अशान्ति, असन्तोष, व्यग्रता या अभाव दृष्टिगोचर हो रहे हे, उनका मूल कारण धन की कमी नही हे, अपितु कृत्रिम आवश्यकताओ की वृद्धि है। मूल आवश्यकताओ को तो कोशिश करके भी नही बढाया जा सकता, किन्तु कृत्रिम आवश्यकताओ की वृद्धि का कोई अन्त नही। मनुष्य प्रयत्न करके भी पेट से अधिक भोजन नही कर सकता और तन से अधिक कपडा नही पहन सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो अस्वस्थ, असभ्य एव बेचैन बनेगा।

जब इन्ही मूलभूत आवश्यकताओ के साथ कृत्रिमता तथा अनावश्यकता जोड दी जाती हे, तब वे सीमित जरूरते भी ईरान से तूरान तक बढ जाती है। पेट के लिए कुछ भोजन चाहिए, यह ठीक है। लेकिन भोजन के लिए मिर्चमसालेदार, तले हुए चटपटे पदार्थं, कचौडी-पकौडी, मक्खन-मलाई, मिठाइयो और पक्वान्नो से थाली भरे ढेर सारे व्यजन हो, यह ठीक नही हे। भोजन की आवश्यकता मौलिक है, किन्तु उसमे स्वाद अथवा प्रकारो (वेराइटीज) का आरोप कृत्रिमता है। कृत्रिमता से कलुपित भोजन की आवश्यकता सामान्य रूप से पूरी नही की जा सकती। सामान्य सादा-सीधा भोजन, जो कि आम आदमी के स्वास्थ्य रक्षा एव जीवनशक्ति की पूर्ति के लिए आवश्यक है, आठ-दस आने मे पूरा हो सकता है। वही कृत्रिमता और स्वादो से सजाया हुआ भोजन आठ-दस रुपयो मे भी पूरा नही हो सकता। अत अभाव का कारण, मूल आवश्यकता की पूर्ति नही, अपितु भोजन के साथ पूतना राक्षसी की तरह जुडी हुई कृत्रिमता है।

वस्त्र एव आवास के लिए भी यही बात कही जा सकती हे। शरीर ढकने के लिए वस्त्र चाहिए, जिससे शरीर-रक्षा एव लज्जानिवारण भी हो सके और सभ्यता की रक्षा भी। यह काम साधारण मोटे कपडो की दो-तीन जोडी से आसानी से हो सकता है। इसलिए मनुष्य को अधिक व्यय या व्यग्रता की जरूरत नही। बुद्धिमानी तथा सावधानी बरती जाय तो थोडे-से पैसो से काम चलाया जा सकता है। किन्तु जब कपडे की यही सामान्य आवश्यकता मूल्यवान वस्त्रो, प्रकारो, फैशनो, पोजीशनो तथा अनेकताओ (वेराइटीज) एव विविध डिजाइनो की कृत्रिमताओ से बोझिल कर दी जाती है, तब उसका खर्चं उठाना मुश्किल हो जाता है। वस्त्रो पर व्यय प्रति वर्ष पचास रुपये से बढते-बढते पांच सौ और पचपन सौ रुपये तक का हो जाता है। ऐसी कृत्रिम आवश्यकता से मनुष्य का धन बर्बाद होगा, फलत वह अभाव की अग्नि मे जलेगा भी।

प्रकाश तथा वायु की सुविधा से युक्त एक स्वच्छ तथा साधारण-सा मकान सामान्य रूप से थोडी-सी अर्थराशि मे अथवा किराये पर प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु आवास की इस आवश्यकता के साथ आलीशान सजी हुई कोठी की कल्पना अथवा कृत्रिमता जोड दी जाती है, तब वह साधारण-सी जरूरत भी असाधारण बन जाती है। और वह कृत्रिम आवश्यकता अपनी पूर्ति मे या तो मनुष्य का पैसा व्यय करा देगी या वह अभाव की पीडा से परेशान कर देगी।

आवश्यकताओ की न्यूनाधिकता के अनुपात मे ही सुख-दुःख की वृद्धि होती है। जिसकी आवश्यकताएँ जितनी कम हैं, वह उतना ही अधिक सन्तुष्ट एव सुखी रहेगा। उसे अभाव की पीडा नही सताएगी। जिसकी आवश्यकताएँ जितनी ही अधिक होगी, वह उतना ही असन्तुष्ट, दुःखी और बेचैन होगा, उसके समक्ष हर समय अभाव का भूत खडा रहेगा।

मनुष्य अपनी आवश्यकताओ को तो बिना किसी कठिनाई के आसानी से बढाता जा सकता है, किन्तु उनकी पूर्ति के लिए अपनी आय को झटपट व आसानी से नही बढा सकता। अर्थात्—आवश्यकताएँ जिस तेजी से या अनुपात से बढती है, उस अनुपात से आय का बढ सकना असम्भव है। आवश्यकताओ की पूर्ति न होने की पीडा, आय की प्रतीक्षा तो करती नही, वह तो तत्काल सताने लगती है और तब तक सताती रहती है, जब तक कि उसकी पूर्ति नही हो जाती। इसके साथ ही एक मुसीबत यह है कि एक आवश्यकता की पूर्ति हुई नही कि दूसरी तैयार खडी रहती है। आवश्यकताओ की वृद्धि रक्तबीज की तरह होती रहती है। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार दस आवश्यकताओ की पूर्ति कर पाता है तो उसके साथ उतनी ही और खडी हो जाती है। आवश्यकताओ की पूर्ति का यह सिलसिला किसी भी प्रकार रुकता नही। फिर एक जरूरत की एक बार पूर्ति होने के बाद वह दूसरी बार के लिए तकाजा करने लगती है। जरूरतो की पूर्ति से उनकी वृद्धि रोकी नही जा सकती। इस आपाधापी मे मनुष्य के सम्मुख कोई न कोई अभाव बना ही रहता है।

मूलभूत आवश्यकताएँ परिस्थिति के अनुसार आगे भी बढ सकती है, मनुष्य के सामाजिक या स्थानीय स्तर के साथ इनका स्तर बढाया भी जा सकता है, किन्तु केवल आपवादिक रूप मे, और तब ही, जबकि उसका बढाया जाना अनिवार्य या उपयोगी हो जाए। समाज मे प्रतिष्ठा बढ जाने अथवा स्तर के ऊँचा हो जाने पर किसी को अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना पड सकता है, कार्यकुशलता अथवा बौद्धिकता के कारण भोजन का सामान्य तथा साधारण खर्च बढाया भी जा सकता है। किन्तु यह बढाया जा सकता है, तब ही, जब उसकी नितान्त आवश्यकता हो जाए और उसके अनुरूप या तो उनकी आय मे वृद्धि हो गई हो। किन्तु इस खतरे से बहुत सावधान रहना होगा कि बडप्पन के प्रदर्शन या अहमन्यता के लिए ही साधारण स्तर को असाधारण रूप मे बढाना निरी विलासिता एव अपव्ययता होगी।

इसके साथ ही मैं एक चेतावनी और दे देना आवश्यक समझता हूँ कि यह जरूरी नही है कि स्तर, स्थान या पद मे वृद्धि हो जाने पर जरूरतो का स्तर बढाया ही जाए। रहन-सहन आहार-विहार का स्तर तो वास्तव मे उसकी स्वच्छता, सादगी तथा व्यवस्था ही मानी जानी चाहिए, न कि बहुमूल्यता या बाहुल्यता। भारत मे तो ऐसे कई राजाओ, मन्त्रियो तथा महान् पुरुषो की परम्परा ही चलती रही है कि समाज मे सर्वोपरि प्रतिष्ठा पा लेने पर भी उनके रहन-सहन तथा आहार-विहार का स्तर पूर्ववत् ही साधारण बना रहा। उसे उठाने की उन्हे कोई आवश्यकता अनुभव नही हुई और न ही उनकी बढी हुई मामाजिक प्रतिष्ठा ने ही इसके लिए दबाव डाला।

यूनान के एक राजदूत ने भारत के महामत्री चाणक्य की विद्वत्ता, कूटनीतिज्ञता तथा सादगी की बात सुनी तो उनसे भेंट करने चल पडा। चाणक्य की कुटिया गगा के किनारे थी। वह राजदूत तलाश करता हुआ गगातट पर पहुँचा। उसने देखा कि एक बलिष्ठ व्यक्ति गगा मे नहा रहा है। थोडी ही देर मे वह निकला। उसने पानी का एक घडा अपने कधे पर रखा और चल पडा। राजदूत ने उससे पूछा—"क्यो भाई ! मुझे महामत्री चाणक्य के निवास-स्थान का पता बताओगे ?" उसने घासफूस से निर्मित कुटी की ओर हाथ का सकेत कर दिया। राजदूत को बडा आश्चर्य हुआ कि मैंने तो प्रधानमत्री का निवास पूछा और इसने तो कुटिया की ओर इशारा कर दिया। 'क्या इतने बडे देश का प्रधानमत्री इस कुटिया मे रहता है ?' ऐसे विचार उसके मन मे आते रहे।

उस राजदूत ने पहले गगास्नान करना उचित समझा। फिर वह उसी कुटी पर पहुँचा। कुटी के बाहर से उसने देखा कि थोडे-से बर्तन रखे है। एक किनारे पर जल का वही घडा, जो गगा से अभी भरकर आया था। एक खाट और मोटे-मोटे ग्रन्थो का छोटा-सा सग्रह।

"मैं महामत्री चाणक्य से भेट करना चाहता हूँ।"—राजदूत ने कहा। 'स्वागत है, अतिथि ! आपका, मुझे ही चाणक्य कहते है।"

राजदूत के नेत्र आश्चर्य से खुले के खुले रह गए। "इस व्यक्ति से तो अभी भेट हो ही चुकी थी। लम्बी-सी चोटी, साधारण-सी धोती पहने सीधा मेरुदण्ड किये पुस्तक के पृष्ठ पलटने वाला यह व्यक्ति किसी देश का प्रधानमत्री हो सकता है। आश्चर्य ! स्वावलम्बन का यह अनोखा जीवन कि पानी तक स्वय भरकर लाता है। यहाँ तो कोई नौकर-चाकर भी दिखाई नही देता। फर्नीचर, अलमारियाँ तथा दिखावे की अन्य वस्तुओ का एकदम अभाव !"

वह कुटिया मे एक आसन पर बैठकर चाणक्य से चर्चा करता रहा। जब वह राजदूत यूनान लौटा तो उसने वहाँ के लोगो को बताया कि भारत एक महान्

देश है। उसे महान् बनाने का श्रेय वहाँ के महान् पुरुषो को है, जो त्याग, सादगी और सयम से जीवन व्यतीत करते हैं।"

इसलिए नि सन्देह यह कहा जा सकता है कि श्रावक को सामाजिक प्रतिष्ठा बढ जाने पर भी अपनी आवश्यकताएँ न बढ़ाकर अपना रहन-सहन और स्तर पूर्ववत् सादा और साधारण कम खर्चीला रखना चाहिए।

तीसरी आवश्यकताएँ है—व्यसनमूलक, प्रदर्शनपूरक तथा वासना उद्बोधिनी। ये तीसरे स्तर की आवश्यकताएँ न तो मनुष्य-जीवन के लिए जरूरी हैं, न लाभदायक बल्कि वे हानिकारक है और मानव जीवन की भयानक शत्रु हैं। ये न केवल कमाई को ही नष्ट कर देतो है, वरन् स्वास्थ्य एव शक्ति को भी स्वाहा कर देती हे। इन्हे आवश्यकताओ की कोटि मे न रखकर दुर्भाग्य की कोटि मे रखना ही उचित होगा।

आज कृत्रिम एव व्यसनमूलक आवश्यकताओ की अनियन्त्रित वृद्धि ने समाज मे शोषण का चक्र चला रखा है। यह सत्य है कि मनुष्य अपनी कृत्रिम और अनुचित आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरो का शोषण करता है, परन्तु यह भी सोलहो आने सत्य है कि मनुष्य दूसरे के शोपण की अपेक्षा, स्वय का शोपण अधिक करता है। दूसरा तो उसका शोषण चार-छह प्रतिशत करता होगा, लेकिन वह स्वय अपनी पाली हुई निरर्थक आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे अपनी पूरी या अधिकाश कमाई चुका देता है। अपनी अनावश्यक जरूरतो को बढा कर फिर मजबूरन उनकी पूर्ति करने के लिए कमाई का अपव्यय करना, अपनी आय का शोपण करना ही तो है। फिर दुर्व्यसन पाल कर तो वह अपना आर्थिक शोषण ही नही करता, अपनी जीवन-शक्ति एव स्वास्थ्य का भी शोषण किया करता है। अत मनुष्य को शोषण की शिकायत दूसरे से करने से पहले अपनी आवश्यकताएँ कम करके स्वय अपना शोषण बन्द करना चाहिए। दूसरो के शोपण से त्रस्त मनुष्य एक बार स्वय अपना शोषण बन्द कर दे तो भी बहुत राहत पा सकता है।

यदि आप अपने अभावो से दु खी रहते हैं, दिन-रात परिश्रम करने पर भी पूर्ति का सन्तोष नही पाते, तो अपने जीवन पर दृष्टिपात कीजिए। अपनी आय की कमी की शिकायत करने के बजाय अपने व्यय की विवेचना कीजिए। आप अवश्य पाएँगे कि आपकी आय इतनी कम नही है, जितनी कि आपकी आवश्यकताएँ बढी हुई हैं। यदि आप सुखी और सन्तुष्ट होना चाहते है और अभावो के चगुल से छूटना चाहते ह तो सातवें व्रत को स्वीकार करके आज से ही अपनी कृत्रिम और व्यसन-मूलक आवश्यकताओ को कम करना प्रारम्भ कर दीजिए। सर्वप्रथम व्यसनमूलक आवश्यकताओ को तो ऐसे छोड दीजिए, जैसे धोखे से हाथ मे आई हुई आग को शीघ्र छोड देते हैं। इसके बाद देखिये कि ऐसी कोई भी आवश्यकता तो मेरे जीवन मे नही है, जो निरर्थक सुख-सुविधा, प्रदर्शन अथवा अहमन्यता की द्योतक हो, केवल आपके पोजिशन या फैशन की पोपक हो। यदि ऐसी कृत्रिम आवश्यकताएँ हो तो

उन्हे भी विदा कीजिए। कृत्रिम आवश्यकताओ के लिए व्यय करना अपने परिश्रम के साथ अन्याय करना है। आप सातवे व्रत पर चिन्तन के प्रकाश मे उन्ही आवश्यकताओ को वैधानिक एव आवश्यक मानकर रखिए, जो मूलभूत हो और आपके लिए नितान्त आवश्यक हो। सातवें व्रत के द्वारा आप अगर अपनी आवश्यकताओ पर इस प्रकार नियन्त्रण कर लेंगे तो आपके जीवन मे सुख-शान्ति, सन्तोष और सम्पन्नता निश्चित हो जाएगी। सुखी होने का यह उपाय सदैव आपके हाथ मे है। इसे कीजिए और अपनी आत्म-शक्तियो का विकास कीजिए।

क्या पुणिया श्रावक चाहता तो अपनी आवश्यकताएँ नही बढा सकता था ? परन्तु उसने सामर्थ्य होते हुए भी कृत्रिम एव व्यसनमूलक आवश्यकताएँ तो बिलकुल रखी ही नही, मूल आवश्यकताएँ भी साधारण-जन के स्तर के अनुरूप रखी, जिससे उनके जीवन मे शान्ति और सन्तुष्टि रही। इसी प्रकार आनन्द आदि श्रमणोपासको ने भी अपने पास विपुल धन होते हुए भी अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ ही रखी। क्या वे चाहते तो अपनी कृत्रिम आवश्यकताएँ नही बढा सकते थे ?

आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए व्यवसाय

इतने विवेचन से आप स्पष्टत समझ गए होगे कि श्रावक को अपनी मूलभूत आवश्यकताए बहुत ही सीमित रखनी चाहिए। क्योकि श्रावक को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किसी न किसी व्यवसाय द्वारा धन कमाना होगा। कई लोगो की ऐसी धारणा है कि धर्मात्मा गृहस्थ को अर्थोपार्जन से विरक्त होना चाहिए। किन्तु जहाँ तक आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का प्रश्न है, धर्मात्मा गृहस्थ को धन के प्रति अत्यधिक लगाव न रखना उचित भी है। किन्तु गृहस्थी की सुख-सुविधाओ के लिए, मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तथा अन्यान्य धार्मिक एव सामाजिक प्रयोजनो की पूर्ति के लिए धन अतीव आवश्यक है। धन के बिना गृहस्थ न तो अपनी मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है और न ही दान-पुण्य या धार्मिक अनुष्ठान कर सकता है तथा न ही समाज, राष्ट्र एव धर्म सघ के प्रति कर्त्तव्य-पालन कर सकता है। इस दृष्टि से गृहस्थ-जीवन मे निर्धनता जहा अभिशाप है, वहा अनैतिक तरीको से, शोषण, लूट, झूठफरेब, बेईमानी करके धन एकत्र करना भी घोर अभिशाप है।

कई लोग कह दिया करते है, कि धर्मात्मा गृहस्थ धनोपार्जन से विरक्त होकर अपने भाई या परिवार के अन्य किसी सदस्य (पुत्रादि) के अधीन या आश्रित रहकर अपना जीवन-निर्वाह करे और अध्यात्म की साधना करता रहे और अपना जीवन व्यतीत कर दे। किन्तु श्रावक के लिए यह बात भी उचित नहीं कि वह आलसी, अकर्मण्य, परमुखापेक्षी एव पराश्रित बनकर धर्मध्यान करे या आत्मसाधना करे। हाँ, वह घरगृहस्थी एव धनसम्पत्ति आदि सब कुछ छोड़कर साधु या साध्वी बन जाय, तब तो भिक्षाचरी द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करना उसके लिए न्यायोचित

और वैध है। लेकिन जब तक वह घर-गृहस्थी मे है, अपने परिवार से तथा जमीन-जायदाद आदि से सम्बन्ध रखता है, तब तक अत्यन्त वृद्धत्व, अशक्ति, असाध्य बीमारी अगविकलता आदि विशिष्ट गाढ अनिवार्य कारणो के बिना न्यायोचित धनार्जन छोड़कर भिक्षा पर या दूसरो पर आश्रित रहना कथमपि उचित नही है। वर्तमान युग मे अर्थ-सकटापन्न समय मे तो श्रावक का पराश्रित होकर जीना कथमपि उचित नही है। आर्थिक दृष्टि से मनुष्य दूसरो के अधीन (गुलाम) बने, यह न तो उपयुक्त है और न ही भगवान् के उपदेशो का ऐसा आशय ही है। जबकि श्रावक को दूसरो के समान ही पाँचो इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि आदि साधन-सामग्री मिली है, समान क्षमताएँ मिली है, उनके पीछे यही उद्देश्य प्रतीत होता है कि मनुष्य जीवनयापन और आत्मकल्याण मे प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर बने।

अपने लिए दूसरो के द्वारा धर्म-क्रिया, भजन, परमात्मस्मरण आदि कराने से व्यक्ति को कोई धर्म या अध्यात्म का लाभ नही मिल सकता, वैसे ही दूसरो की कमाई से अथवा अपने लिए दूसरे कमा कर दें और उससे व्यक्ति अपना जीवनयापन एव धर्मध्यान करे यह भी उचित एव लाभप्रद नही है। अपने जीवनयापन एव धर्म-कार्य के लिए दूसरो के आश्रित रहने से दूसरा व्यक्ति न्याय-अन्याय, नीति-अनीति, चाहे जैसे कमा कर जीवनयापन के साधन उक्त धर्मात्मा को देगा, उसी मे सन्तोष करना पडेगा, उसके दोप को भी नजरअन्दाज करना पडेगा, 'जैसा खाए अन्न, वैसा रहे मन' इस लोकोक्ति के अनुसार अगर वह अन्न दूषित हुआ, तो उसका असर तथा-कथित धर्मात्मा के मन पर हुए बिना न रहेगा। ऐसे आलसी, परमुखापेक्षी या पराश्रित व्यक्ति का जीवन पराश्रित हो जाने के कारण आलस्य, अविवेक, प्रमाद आदि से अभिभूत हो जाता है।

इसलिए श्रावक कैसी भी परिस्थिति मे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरो का आश्रय नही लेता, वह कदाचित् बीमार, अपाहिज या अशक्त हो जाय तो वह अपने अत्यन्त निकट सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, माता-पिता या सहोदर से अपवाद रूप मे कुछ दिनो के लिए सहारा ले सकता है। परिस्थितिवश छोटा सात्विक धन्धा कर सकता है, पर भीख मागने या दूसरो के सामने हाथ पसारने का काम सहसा उससे नही हो सकता। इसीलिए सातवें व्रत मे दो विभाग करके 'भोयणाओ य कम्मओ य' भोजन से और कर्म (आजीविका) से पृथक्-पृथक् अतिचार बताये हैं।

इसलिए जब यह निश्चित हो गया कि गृहस्थ श्रावक पराश्रित या परभाग्योप-जीवी न रहकर स्वय कोई न कोई व्यवसाय करेगा, तब सातवें व्रत के सन्दर्भ मे उसे यह चिन्तन करना आवश्यक है कि वह कौन-सा और कैसा व्यवसाय करे, जिससे उसे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो सके। यह तो सर्व-विदित है कि श्रावक ने जो पाच मूल अणुव्रत ग्रहण किये हैं, उनमे तीसरे व्रत के अनु-सार वह विशुद्ध धर्म-भावना से ही अर्थोपार्जन करेगा, बेईमानी, अन्याय, अनीति, द्रोह,

शोषण, छलछिद्र या धोखेबाजी से धन कभी नही कमाएगा। क्योकि अनैतिक तरीको से या वेश्यावृत्ति, चोरी, डाका, लूटपाट, पशुवध आदि उपायो से प्राप्त किया हुआ धन चिरस्थायी नही रहता। वह धन, फैशन, जुआ आदि दुर्व्यसन या मुकद्दमेबाजी, बीमारी आदि मे लगकर समाप्त हो जाता है। ऐसा दूषित धन परिवार मे भी परस्पर सघर्ष, लडाई-झगडा, मुकद्दमेबाजी, आदि का कारण बनता है। ऐसा धन सुखकारक नही होता। वही धन आत्म-विकास मे सहायक हो सकता है, जो ईमानदारी और नैतिक परिश्रम से कमाया गया है। जो धन वित्तैषणा के कारण अनुचित तरीको से कमाया गया है, उससे बुद्धि भी सात्विक, एकाग्र और स्थिर नही रहेगी, चचल बुद्धि वाला व्यक्ति धर्म ध्यान नही कर सकेगा। इसीलिए किसी साधक ने भगवान से प्रार्थना की थी—

'धने मे धर्मबुद्धि स्यात्।'

धन के साथ मेरी धर्म बुद्धि कायम रहे।

पापबुद्धि से या पापकर्म से उपार्जित धन मनुष्य की बुद्धि को भी पुन पापमयी बनाता है।

यह ठीक है कि श्रावक आरम्भ का पूर्णत त्यागी नही है। आरम्भ के कारण यत्किञ्चित् पाप (हिंसा का) उसकी आजीविका के साथ रहता है। पूर्णत पाप रहित निरारम्भी आजीविका गृहस्थ श्रावक की नही होती। किन्तु गृहस्थ श्रावक उस आजीविका को करेगा, जिसमे अल्पतम पापाश हो, ऐसी आजीविका धर्म-आजीविका कहलाती है। उसमे अल्पतम पापाश होने पर भी धर्मांश अधिकतम होने के कारण वह धर्म-आजीविका ही कहलाती है। जैसे चन्द्रमा मे थोडी-सी कालिमा होने पर भी यह नही कहा जाता कि चन्द्रमा काला है, वैसे ही जिन व्यवसायो या कार्यो मे पापांश अत्यल्प है, वे व्यवसाय या कार्य भी पापमय नही माने जाते। श्रावक आरम्भ-समारम्भ करता हुआ भी अल्पारम्भ-अल्पपरिग्रही होते हुए भी उसकी गणना धार्मिक मे होगी, क्योकि उसने महारम्भ और महापरिग्रह रूप महापाप का त्याग कर दिया है। इसीलिए भगवती सूत्र मे श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'अप्पारभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुगा, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोइया, धम्मपज्जलणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरति।'

अर्थात्—श्रावक अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मानुसारी, धर्मिष्ठ धर्मख्याति, धर्म-प्रलोकिता, धर्म-प्रज्वलन (प्रेरणा), धर्म समुदाचार युक्त होते हैं, वे धर्म से ही आजीविका चलाते हुए जीवनयापन करते हैं।

अत गृहस्थ श्रावक अपने जीवन-निर्वाह के लिए आजीविका या व्यवसाय (कर्म) तो करेगा, लेकिन ऐसा व्यवसाय नही करेगा, जो महारम्भ-महापरिग्रह रूप महापाप कालिमा से युक्त हो। वह धर्म पूर्वक ही आजीविका करेगा। इसका अर्थ यह नही है

कि गृहस्थ श्रावक भीख माग कर, पराश्रित रहकर अपना जीवनयापन करेगा। अपितु जिस व्यवसाय मे महापाप नही है। उस सात्त्विक धन्धे को करके वह अपनी आजीविका धर्मपूर्वक चलाएगा। साथ ही श्रावक के लिए जब यह बताया गया है कि वह धर्मपूर्वक आजीविका करते हुए जीवनयापन करता है, तब अपने चुने हुए सात्त्विक एव अल्पारम्भ-अल्पपरिग्रह युक्त धर्ममय व्यवसाय को भी वह बेईमानी, ठगी, धोखे-बाजी, द्रोह या अनैतिक ढग से नही करेगा।

यह बात निश्चित है कि उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए उसे कोई न कोई धर्मप्रधान आजीविका करनी पडेगी। परन्तु आजीविका धर्म युक्त तभी रह सकती है, जब अल्प आय से वह सन्तुष्ट हो जाय। और अल्प आय मे वही श्रावक सन्तुष्ट रह सकता है, जिसकी मूलभूत आवश्यकताएँ भी कम से कम हो। जिस श्रावक के खर्चे लम्बे-चौडे और अफलातून होगे, उसे अपनी आय बढाने के लिए अनैतिक तरीके व्यवसाय मे प्राय. अपनाने पडेंगे, अन्यथा उन कृत्रिम आवश्यकताओ की पूर्ति नही होगी। अत बढी हुई आवश्यकताओ की हालत मे श्रावक अपनी आय बढाने हेतु महारम्भ-महापरिग्रह युक्त आजीविका करेगा या अन्य अनैतिक उपायो का अवलम्बन लेगा तो वह धर्मयुक्त आजीविका करने वाला नही रह सकेगा। निष्कर्ष यह है कि जिसकी आवश्यकताएँ बढी हुई होगी, उसे उनकी पूर्ति के लिए पाप पूर्ण आजीविका या सात्त्विक व्यवसाय भी पापपूर्ण तरीको से करने को मजबूर होना पडेगा। इसलिए धर्मिष्ठ श्रावक अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित करके थोडी-सी आय से ही सन्तुष्ट रहता है, साथ ही वह अपनी जीविका के लिए व्यवसाय भी ऐसे ढग से करता है, जिसमे पापाश अत्यल्प हो, और धर्माश अधिकतम हो, जो निषिद्ध न हो।

व्यवसाय के पीछे श्रावक की दृष्टि

श्रावक के लिए कहा गया है कि वह धर्मपूर्वक अपनी आजीविका करते हुए विचरण करता है। परन्तु शास्त्रो मे उसके लिए कही यह नही कहा गया कि वह कौन-सा व्यवसाय, नौकरी या धन्धा करके अपनी जीविका चलाए? वहाँ श्रावक को एक विवेक दृष्टि दे दी गई है कि उसी धन्धे को अपनी जीविका के लिए चुने जो धर्म-युक्त हो, अल्पारम्भ-अल्पपरिग्रह से युक्त हो। इसमे से निम्नलिखित बात फलित होती है—श्रावक ऐसा व्यवसाय या धन्धा न करे—

१ जो किसी कुव्यसन का पोषक हो।

२ जिसमे त्रसजीवो का सकल्प पूर्वक वध किया जाता हो। या जिसमे त्रस-जीवो की अधिक हिंसा होती हो।

३. जिसमे स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवो की भी अत्यधिक हिंसा (महारम्भ) होती हो।

४. जिस व्यवसाय मे अहर्निश धन कमाने मे (महापरिग्रह मे) ही जुटा रहना पडे।

५ जो व्यवसाय राष्ट्र-द्रोह, समाज-द्रोह से सम्पन्न हो, पूर्वाचार्यों द्वारा निषिद्ध हो, अपनी रुचि, प्रकृति, परिस्थिति एव शक्ति के विरुद्ध हो, लोकनिन्द्य हो, राष्ट्र, परिवार व समाज के लिए ईष्ट न हो।

६ अन्याय, अनीति, छल, बेईमानी (तौलनाप मे गडबडी, मिलावट, हेराफेरी आदि) शोषण आदि से युक्त व्यवसाय न करें।

अगर श्रावक वेश्याकर्म कराने या कुलटा स्त्रियो को रख कर आजीविका चलाने का, या जुए-सट्टे का अड्डा चलाने का, चौर्य कर्म करने-कराने का, मास-मद्य विक्रय का या शिकार करने-कराने का व्यवसाय करेगा तो उसके अहिंसादि पाँचो मूलव्रत भग हो जाएँगे। इसी प्रकार पशुबलि करने-कराने, कसाई खाना चलाने, मदिरालय चलाने, शराब का कारखाना चलाने आदि का त्रस जीववध मूलक व्यवसाय करेगा तो उसका अहिंसाव्रत समाप्त हो जाएगा, वह महारम्भी बन जाएगा। तथा बडे-बडे विशालकाय कारखाने या मिलें लगाएगा, जिनमे मिट्टी, पानी, अग्नि आदि के स्थावर जीवो की विशाल पैमाने पर हिंसा होती हो, (महारम्भ होता हो), तो उसका अल्पारम्भित्व नही रह सकेगा तथा विशाल पैमाने पर लम्बा-चौडा व्यवसाय फैलाने पर उसे अपने आत्म-चिन्तन एव धर्मध्यान के लिए जरा-सा भी समय मिलना कठिन होगा, तथा अनाप-सनाप धन लगाने और कमाने के कारण तृष्णा वृद्धि के फलस्वरूप श्रावक का जीवन महापरिग्रही बन जाएगा।

ऐसी स्थिति मे वह अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही नही रह सकेगा। तस्करी, चोरबाजारी, अनीति, मिलावट, हेराफेरी, तौलनाप मे गडबडी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, अन्याय आदि से युक्त व्यवसाय राष्ट्र, समाज, परिवार सबके प्रति द्रोह कारक, राजदण्ड, लोकनिन्दा, अपयश आदि से युक्त होने के कारण तथा श्रावक के तृतीय अणुव्रत का विघातक होने से त्याज्य है।

अपनी परिस्थिति, रुचि एव शक्ति को न देख कर या किसी से समस्त धन उधार लेकर किया हुआ व्यवसाय अपनी पूंजी न होने से तथा अत्यधिक ब्याज लगते रहने से बहुत ही कम आय का व्यवसाय हो जाता है, उससे श्रावक की मूल आवश्यकताओ की पूर्ति न होने, तथा कर्ज चढा होने से उसके अदा करने की अहर्निश चिन्ता लगी रहेगी, श्रावक का धर्मकार्य सब छूट जाएगा। अगर वह एक साथ कई व्यवसाय कर लेगा तो महापरिग्रह के दोष से लिप्त हुए बिना न रहेगा। और फिर उसे धर्मध्यान के लिए भी अवकाश नही मिलेगा।

अत इन विवेक सूत्रो के प्रकाश मे श्रावक को निषिद्ध एव त्याज्य धन्धो से दूर रहकर ही अपना जीवनयापन करना चाहिए।

पन्द्रह प्रकार के निषिद्ध व्यवसाय

इसी दृष्टिकोण से शास्त्रकारो ने श्रावक के लिए सातवें व्रत मे कुछ निषिद्ध व्यवसायो को जानकर उनका सर्वथा (तीन करण तीन योग से), त्याग करने का विधान किया है । ये निषिद्ध व्यवसाय 'कर्मादान' कहलाते है, और उनकी सख्या १५ है । इन्हे सातवें व्रत के कर्म (आजीविका) विभाग सम्बन्धी १५ अतिचार बताए गए है । श्रावक को अपनी आजीविका का चुनाव करते समय इन १५ कर्मादानो को सर्वथा त्याज्य समझ कर इन कर्मादान (महापाप कर्म के भडार या ग्रहण) रूप व्यवसायो से सर्वथा दूर रहना चाहिए । कर्मादान का अर्थ इस प्रकार किया है—

कर्मणामुत्कटज्ञानावरणीयादीना पाप प्रकृतीना आदानानि कर्मादानानि—

अर्थात् उत्कट (गाढ) ज्ञानावरणीय आदि पापकर्मप्रकृतियो के ग्रहण करने के कारणभूत महापाप पूर्ण होने से ये १५ व्यवसाय कर्मादान कहलाते है ।

पन्द्रह कर्मादानो के नाम ये है—१ अगार कर्म, २ वनकर्म, ३ शकटीकर्म, ४ माटिकर्म ५ स्फोटकर्म ६ दन्तवाणिज्य, ७ लाक्षावाणिज्य, ८ रसवाणिज्य, ९ विषवाणिज्य, १० केशवाणिज्य, ११, यन्त्रपीडनकर्म, १२ निर्लाञ्छनकर्म, १३ दावाग्निदापनिकाकर्म, १४ सर-द्रह-तडाग-शोषणताकर्म, १५ असतीजनपोषणताकर्म ।

ये १५ प्रकार के महापापकर्म के बन्धनभूत (आदानरूप) व्यवसाय है । इनमे केशवाणिज्य एव असतीजनपोषणताकर्म आदि कुछ व्यवसाय तो ऐसे है, जो लोकनिन्द्य माने जाते है, समाज मे ये धन्धे अप्रतिष्ठाजनक हैं । कुछ धन्धे ऐसे है, जिनमे त्रसजीवो का वध होता है, साथ ही स्थावर जीवो का भी अतिवध होता है, जैसे अगारकर्म, वनकर्म, स्फोटकर्म, दवाग्निदापनिकाकर्म, सर-द्रह-तडागशोषणताकर्म आदि । ये व्यवसाय दिखने मे तो मामूली लगते है, किन्तु इनसे अतिहिंसा (सकल्पी) के सिवाय ये प्राकृतिक सम्पदा को नष्ट करते है । इसलिए त्याज्य है । कुछ धन्धे परोक्षरूप से त्रसजीवो के घातक तथा मानवशोषक होने से निषिद्ध हैं, जैसे विषवाणिज्य, यन्त्रपीडनकर्म, निर्लाछनकर्म, माटिकर्म आदि । इनसे मनुष्यवध, मानवशोषण, पशुओ की जीवनी शक्ति का ह्रास आदि हो जाते हैं, इसलिए श्रावक के लिए ये वर्जनीय हैं । ये सभी महापापकर्म-बन्धन के कारणरूप होने से इहलोक और परलोक दोनो को बिगाडने वाले एव भव-भ्रमणकारक है । आत्मविकास तो ऐसे धन्धो को करने वाले का होता ही कैसे ? फिर ऐसे धन्धो मे ठेकेदारी की प्रथा चलती है । भारत मे सडक, बाँध, पुल, इमारत आदि के ठेकेदार अपने शोषण, गबन, भ्रष्टाचार एव बेईमानी के लिए प्रसिद्ध हैं । सडक, बाँध, पुल आदि मे रद्दी सामान लगा कर खानापूर्ति कर देते है और सरकार से पैसा ले लेते है । सरकारी अधिकारियो के साथ इनकी मिलीभगत होती है । इसलिए अन्याय-अनीति के मार्ग से आया हुआ यह धन विलासिता और मौजशौक की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है । ऐसे कुमार्ग पर चढ जाने से बडी से बडी पूंजी भी तेजी से समाप्त हो जाती है, फिर वे अपनी विलासप्रदर्शन की आदत की पूर्ति के लिए कर्ज लेते है,

धोखा देते है या इस प्रकार के हथकडे करते है। धीरे-धीरे अपराधी प्रवृत्तियाँ अपनाते है, जिनके परिणामस्वरूप सर्वनाश हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकारो की दूरदर्शी दृष्टि मे ये व्यवसाय महापराध रूप व्यवसाय सिद्ध हुए है।

१ अगारकर्म का अर्थ है—लकडियाँ जला-जलाकर उनसे कोयले बनाकर बेचना और इस प्रकार की आजीविका चलाना। कोयलो के लिए ससार के उपकारी महान् वृक्षो को काटा जाता है, फिर उन्हे जलाया जाता है। ऐसा करने मे छह काय के जीवो की विराधना होती है। इतनी हिंसा करके भी आर्थिक लाभ बहुत थोडा होता है, धार्मिक लाभ तो बिलकुल नही होता। वृक्षो के काटने से नैसर्गिक सौन्दर्य नष्ट होता है, वृक्षो से जो ऑक्सीजन (प्राणवायु) मिल सकती थी, वह बन्द हो जाती है। इसलिए यह व्यवसाय महापापजनक होने से निषिद्ध है।

२. वनकर्म—से मतलब बडे-बडे जगलो का ठेका लेकर उनसे लकडी, बाँस आदि काट-काटकर बेचना है। इस व्यवसाय से तात्कालिक एव परम्परा से बहुत हानि है। इससे वनो का प्राकृतिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, वन्यजन्तुओ का आधार छूट जाता है, वनाश्रित रहने वाले कई पचेन्द्रिय आदि त्रसजीवो का भी नाश हो जाता है। अत ऐसा अहितकर व्यवसाय श्रावक के लिए निषिद्ध है।

३. साटिककर्म या शकटीकर्म—बैलगाडी या घोडागाडी, रथ, तागा, रिक्शा आदि बनाना, बेचना, किराये पर देना आदि सब शकटीकर्म या सोटिककर्म है। इस कार्य से पचेन्द्रिय जीवो को महान् त्रास होता है, जो महापाप का कारण है। इसलिए श्रावक के लिए यह व्यवसाय निषिद्ध है।'

४ भाटिकर्म—जैसे अगारकर्म और वनकर्म परस्पर सम्बद्ध है, वैसे ही शकटीकर्म और भाटिकर्म परस्पर सम्बद्ध है। शकटीकर्म मे गाडे, गाडी आदि मनुष्यो या पशुओ द्वारा वहन किये जाने वाले वाहनो का निर्माण मुख्य है, भाटिकर्म मे उन्हे किराये देना, अथवा ऊँट, घोडे, भैसे, गधे, खच्चर, बैल आदि रखकर उन्हे भाडे पर देकर उनसे अपना धन्धा चलाना मुख्य है। श्रावक अपने आश्रित पालतू पशुओ से मर्यादित बोझ तो ढुलवा सकता है, लेकिन बोझ ढोने के लिए पशुओ को दूसरो को भाडे से देना श्रावक के लिए निषिद्ध है, क्योकि भाडे पर लेने वाले लोगो मे दया बहुत ही कम होती है, वे उन पर अत्यधिक बोझ लादकर उन्हे बेरहमी से पीट-पीट कर चलाते है या अत्यधिक काम लेते है, बदले मे उन्हे खाने को बहुत ही थोडा देते है, कभी-कभी तो उसकी भी लापरवाही कर जाते है।

५ स्फोटकर्म—बडी-बडी खानो मे पत्थर फोडने या खनिज पदार्थों को तोडने के लिए सुरगे बिछा दी जाती है, उनमे बारूद लगा दिया जाता है, जिससे बहुत जोर का धमाका होता है। इस प्रकार के व्यवसाय को स्फोटकर्म कहते है। ऐसे विस्फोट से कभी-कभी खान मे काम करने वाले मजदूर या खान के बाहर खडे अनजान लोग अपने प्राणो से हाथ धो बैठते है। अथवा पत्थर, मिट्टी आदि को फोडने-फुडवाने का

ठेका लेकर उस खनिज या पर्वतीय पदार्थ को बेचना और अपनी आजीविका चलाना भी स्फोटकर्म है।

शास्त्रकार के तात्पर्य से अनभिज्ञ कई लोग कृषिकर्म को भी स्फोटकर्म मे मानते हैं, परन्तु कृषि मे जमीन फोडी नही जाती है, खोदी जाती है, कुरेदी जाती है। उसमे धमाका (स्फोट) नही होता है, न उनसे पचेन्द्रिय जीवो या मनुष्य के वध की आशका है, इसलिए कृषिकर्म स्फोटकर्म नही है। अगर कृषिकर्म स्फोटकर्म होता तो आनन्द आदि श्रावक पाँच-पाँच सौ हल की खेती कैसे कर सकते थे, क्योकि स्फोटकर्म तो तीनकरण तीन योग से निषिद्ध है।

६ **दन्तवाणिज्य**—हाथी के दात लाने वाले लोगो से दात खरीदकर बेचना दन्त-वाणिज्य कहलाता है। हाथियो के दात निकालने मे प्राय उन्हे मारा जाता है, अत दात लाने वाले लोगो को ऑर्डर देकर दाँत खरीदने और बेचने मे परोक्षरूप से पचेन्द्रिय हिंसा का महापाप है, इसलिए ऐसा व्यापार त्याज्य माना गया है। दन्तवाणिज्य मे उपलक्षण से हड्डी, शख, चमडी, सीग, नख आदि पशुओ के विविध अवयवो के वाणिज्य का भी समावेश हो जाता है। जो इसी प्रकार पचेन्द्रिय जीवो के वध से प्राप्त होते हैं।

७ **लाक्षावाणिज्य**—का मतलब है—लाख का व्यवसाय। लाख पेडो का रस (मद) है। लाख निकालने मे त्रसजीवो का बहुत वध होता है, इसलिए ऐसा आत्म-हानिकारक व्यवसाय श्रावक के लिए वर्जनीय है।

८ **रसवाणिज्य** का अर्थ है—मदिरा बनाने और बेचने का व्यवसाय। जिन पदार्थों से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह उन्मत्त हो जाता है, ऐसे नशीले पदार्थ शराब, भाग, ताडी, ब्राडी, ह्विस्की, अफीम, गाजा आदि बनाने व बेचने का धन्धा करना, शराब का ठेका लेना आदि सब रसवाणिज्य के अन्तर्गत हैं। दूध, घी, चीनी आदि के व्यापार को रसवाणिज्य कहना असगत है, क्योकि ये पदार्थ जनहित-कारी व पौष्टिक हैं। इसलिए रसवाणिज्य मे सुरादिविक्रय ही है[1] जो त्याज्य व निन्द्य समझना चाहिए, घृत-दूध आदि का नही।

९. **विषवाणिज्य**—अफीम, सखिया, पोटाशियम साइनेड आदि जीवननाशक पदार्थों की गणना विष मे है, जिनके सूँघने या खाने से मृत्यु हो जाती है। ऐसे विषैले पदार्थो का व्यवसाय विषवाणिज्य है, जो श्रावक के लिए त्याज्य है। विषवाणिज्य से उपलक्षण से साप, बिच्छू आदि जहरीले जानवरो को मारकर उनका जहर निकालकर बेचना भी लिया जा सकता है।

१० **केशवाणिज्य** से मतलब है—केश का व्यापार। सुन्दर केशवाली दासियो का क्रय-विक्रय करना, केशवाणिज्य से सम्बन्धित है। प्राचीनकाल मे इस प्रकार से दास-

---

१ टीकाकार ने भी स्पष्ट किया है —'रसवाणिज्ये सुराविविक्रय'।

दासियो का क्रय-विक्रय भारत मे और भारत से बाहर बहुत होता था। श्रावक के लिए यह व्यापार इसलिए निन्द्य या त्याज्य है कि दासदासियो को ऐसे क्रूर मालिको को बेच दिया जाता था, जो उनसे क्रूरता पूर्वक मनमाना पापकृत्य—व्यभिचार आदि निन्द्यकर्म भी करवाते थे, उन पर अमानुषिक अत्याचार करते थे। कन्या विक्रय वरादिक्रय भी इसी कोटि के अन्तर्गत क्रूरतापूर्ण व्यापार है। जिन्हे आज भी जैन समाज ढोए हुए है।

११ यन्त्रपीडनकर्म—यन्त्रो से पीडन करने का—पेरने का धन्धा करना यन्त्र पीडनकर्म है। प्राचीनकाल मे कोल्हू आदि यन्त्रो से गन्ना या तिल पेर कर लोग आजीविका चलाते थे, किन्तु इसमे बहुत-से त्रसजीव मर जाते थे। अपने खेत मे पैदा होने वाले गन्ने कोल्हू से पेरना या तिलो का तेल निकालना-निकलवाना यन्त्रपीडनकर्म नही है, क्योकि वह स्वय कोई व्यापार नही करता है, अपने लिए निकलवाता है। वर्तमान मे बडी-बडी मिलो, कारखानो आदि मे यन्त्रो के द्वारा जो उत्पादन किया जाता है, वह भी यन्त्र-पीडनकर्म है। अथवा इसका वर्तमान युग सापेक्ष अर्थ यह भी हो सकता है—'यन्त्रै पीडन शोषण मानवाना यस्मिन् कर्मणि तत् यन्त्रपीडनकर्म,'—जहाँ बडे-बडे यन्त्रो को लगाकर मनुष्यो के श्रम का शोषण किया जाता हो, वहाँ यन्त्र-पीडनकर्म है। इन बडे-बडे यन्त्रो के कारण भारत के गाँवो के उद्योग-धन्धे चौपट हो गये, छोटे-छोटे उद्योग धन्धे वाले या शिल्पकार बेकार हो गए, उनका धन्धा मारा गया। यह भी यन्त्रवाद का अभिशाप है।

१२. निर्लाञ्छनकर्म—पशुओ को वधिया (नपुसक) करके आजीविका चलाना निर्लाञ्छन कर्म है। ऐसे व्यवसाय से पशुओ को बहुत पीडा होती है, उनकी नस्ल भी खराब होती है। इसलिए श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है।

१३ दवाग्निदापनिका-कर्म—का अर्थ है वन मे आग लगाने का ठेका लेना या व्यवसाय करना। भूमि साफ करने मे श्रम न करना पडे, इसलिए कई लोग जगल मे आग लगा देते है। इस प्रकार जगल को जला देने से वनस्पति के आश्रित बहुत-से त्रसजीव नष्ट हो जाते है। इसलिए श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय निन्दनीय और त्याज्य है।

१४ सर-द्रह-तडाग-शोषणता कर्म का अर्थ है—तालाब, झील, जलाशय आदि को सुखाना। कई लोग तालाब आदि को सुखाकर वहाँ की भूमि को कृषि करने योग्य बनाने का व्यवसाय करते है। इस धधे के कारण जल के तथा जलाश्रित रहने वाले अनेक जीवो का वध हो जाता है, इसलिए यह व्यवसाय त्याज्य है।

१५ असतीजन-पोषणता कर्म—से मतलब उन असती—कुलटा या व्यभिचारिणी स्त्रियो को एक स्थान पर रखकर उनसे व्यभिचार कराकर व्यवसाय चलाना। यह एक प्रकार का वेश्याकर्म को प्रोत्साहन देने वाला निन्द्य धधा है। इस प्रकार की

कमाई अत्यन्त पापपूर्ण है, निन्द्य है। कई वार ऐसी कुलटाओ के गर्भ रह जाने पर वे गर्भ गिराकर भ्रूणहत्या कर देती हैं। इसलिए यह सर्वथा त्याज्य है।

इस प्रकार ये कर्मादान रूप पन्द्रह व्यवसाय श्रावक के लिए मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याज्य हैं।

जगत् मे इन १५ प्रकार के व्यवसायो के अतिरिक्त भी कई व्यवसाय हैं, जिनमे महापापकर्म होता है, ये १५ कर्मादान तो उदाहरण के तौर पर बताये है, कसाईखाना, शिकारखाना, द्यूतक्रीडा केन्द्र, चौर्यकर्म, तस्करकर्म, दस्यु कर्म, मास विक्रयकेन्द्र, मदिरालय, वेश्यालय आदि तो यहाँ कर्मादानरूप अतिचार इसलिए नही वताए कि श्रावक जब से सम्यक्त्वी या मार्गानुसारी बनता है, तभी से सप्त कुव्यसनो (जूआ, चोरी, मासाहार, शिकार, मद्य, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन इन सातो) का मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग करता है, इसलिए इन कुव्यवसायो को तो करने-कराने का श्रावक के लिए प्रश्न ही नही उठता। प्रश्न उठता है—उन कुव्यापारो का जो सात कुव्यसनो का त्याग नही है, श्रावक कदाचित् इस भुलावे मे रहता है, कि मैं स्वय तो प्रत्यक्ष हिंसा करने वाला व्यवसाय नही कर रहा हूँ, दूसरे से करा रहा हूँ, या दूसरो से बना-बनाया माल लेकर बेच रहा हूँ या दलाली कर रहा हूँ। जैसे कोई श्रावक बने-बनाए शस्त्रो को बेचने का व्यापार, पशुओ को मारकर बनाए हुए चमडे से बने हुए जूते, बेग, थैली, सूटकेस आदि बनी-बनाई चीजो का व्यापार या किसी पचेन्द्रिय प्राणी का वध करके बनाई हुई तैयार शीशियो मे बद दवाइयाँ बेचने का व्यवसाय करता है तो यह उसके प्रथम व्रत को भग करने वाला होने से सर्वथा त्याज्य है। इसी तरह चर्बी बेचने का, रक्त बेचने का, या नृत्यगृह चलाने आदि विशेष हिंसाकारी अन्य व्यापार धधे भी कर्मादान रूप होने से श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है। इन कर्मादान रूप व्यवसायो को श्रावक न तो स्वय कर सकता है, न दूसरो से या दूसरो को अर्थराशि देकर करा सकता है, और न ही ऐसे व्यवसाय करने वालो को प्रोत्साहन दे सकता है। मन से भी ऐसे कुव्यवसायो के विषय मे न सोच सकता है, वचन से भी न कभी ऐसे कुव्यवसायो के सम्बन्ध मे किसी को प्रेरणा दे सकता है और न ऐसे कुव्यवसाय अपने शरीर से कर सकता है।

कई लोग ऐसा तर्क प्रस्तुत करते है कि यदि श्रावक इन व्यवसायो को न करेगा-करायेगा तो भी जगत् मे ये व्यवसाय तो होते ही रहते है, अत श्रावक इन व्यवसायो को करेगा तो विवेक से-यतना पूर्वक करेगा, अन्य लोगो की अपेक्षा श्रावक से कुछ पाप तो टलेंगे ही। अत श्रावक इन व्यवसायो से होने वाले लाभ से क्यो वचित रहे ?

इसका समाधान यों दिया जा सकता है कि ससार मे सभी पापो-महापापो का दौर चलता है, इसलिए श्रावक को उन महापापो से बचने का उपदेश नही दिया जा सकता कि यह इन महापापजनक व्यवसायो को यतनापूर्वक, विवेकपूर्वक करे।

श्रावक को तो इन महापाप रूप व्यवसायो की छाया से वचने का उपदेश ही अभीष्ट है। अन्यथा, श्रावक यदि ऐसे महापाप रूप व्यवसाय मे पडेगा तो लोभवश उसके हिंसादि के कुसस्कार परिपुष्ट होते जाएँगे, फिर उसमे उन पापकर्ताओ की तरह महापाप के प्रति कोई घृणा ही नही रहेगी, वह नि शक होकर वेखटके हिंसादि रूप व्यापार करने लगेगा। ससार मे मास का व्यापार होता है, तो क्या श्रावक भी मास वेचने का धधा करे ? वेश्यालय ससार मे चलते है तो क्या श्रावक भी वेश्यालय चलाए या मदिरालय चलाए, शराव का ठेका ले ! ऐसा कदापि नही हो सकता। इसलिए जो कार्य महापाप रूप है, निन्द्य है, अनिष्ट है, श्रावक के लिए वह सर्वथा निषिद्ध एव त्याज्य ही होगा, फिर वह कार्य आर्थिक दृष्टि से चाहे कितना ही लाभकर हो।

अत १५ कर्मादान का त्याग श्रावको को महापाप से बचाने, सामाजिक एव राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त कराने तथा मूलव्रतो मे गुण उत्पन्न करने वाला होने के साथ बुद्धि को निर्मल एव चित्त मे समाधिस्थ रखने वाला है, आत्मा को स्वरूप चिन्तन व धर्मध्यान की ओर बढाने वाला है। इसलिए श्रावक को ऐसे कर्मादान रूप व्यवसायो द्वारा धनार्जन करने का स्वप्न मे भी विचार नही करना चाहिए। इस प्रकार श्रावक की उपभोग-परिभोग मर्यादा और व्यवसाय-मर्यादा समझकर सातवें व्रत के २० अतिचारो से वचना चाहिए।

☆

4

अनर्थदण्ड-विरमणव्रत : एक विश्लेषण

✡

पिछले दो प्रवचनो मे मैंने श्रावक के उपभोग-परिभोग परिमाण-व्रत के सन्दर्भ मे मूलभूत आवश्यकताओ एव व्यवसाय की मर्यादा के सम्बन्ध मे कहा था। श्रावक जब अपनी आवश्यकता और व्यवसाय पर पहरेदारी रखता है तो बहुत-से आस्रवो (हिंसा आदि पाच आस्रवो) से बहुत-कुछ बच जाता है, फिर भी उसके जीवन मे बहुत-सी प्रवृत्तियाँ ऐसी रह जाती है, जो न तो उपभोग-परिभोग-मर्यादा मे आती हैं, और न व्यवसाय मर्यादा मे, किन्तु श्रावक के जीवन मे वे किसी न किसी रूप मे अपना अस्तित्व जमाए रहती है। श्रावक को उन प्रवृत्तियो मे सार्थक-निरर्थक का विश्लेषण करके सार्थक प्रवृत्तियाँ रखकर निरर्थक प्रवृत्तियाँ त्याज्य समझकर छोड देनी चाहिए। इसी दृष्टि से श्रमण भगवान महावीर ने श्रावक के लिए आठवाँ अनर्थदण्ड-विरमणव्रत बतलाया है।

आइए, शास्त्रवचनो के प्रकाश मे हम इस व्रत की उपयोगिता पर कुछ विश्लेषण कर लें।

प्रवृत्तियाँ . सार्थक-निरर्थक

गृहस्थ साधक के जीवन मे हजारो प्रवृत्तियाँ प्रात उठने से लेकर रात को शयन करने तक होती रहती हैं, बल्कि सोते समय भी स्वप्न मे मानसिक प्रवृत्तियाँ होती है। साधारण गृहस्थ के जीवन मे यदि उन प्रवृत्तियो का विश्लेषण किया जाय तो बहुत-सी प्रवृत्तियाँ निरर्थक-सी मालूम देंगी, सार्थक प्रवृत्तियाँ बहुत ही अल्प होगी। परन्तु सम्यग्दृष्टि और विवेक सम्पन्न व्रतबद्ध श्रावक जब पाँच अणुव्रतो का पालन करता हुआ, छठे और सातवें व्रत की भूमिका पर आरूढ हो जाता है तो उसका जीवन हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, स्तेय-अस्तेय, अब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य एव परिग्रह-अपरिग्रह के विवेक करने मे इतना अभ्यस्त हो जाता है या हो जाना चाहिए कि वह अपने दैनिक जीवन मे हिंसा आदि की, की हुई मर्यादा (छूट) मे से सार्थक-निरर्थक प्रवृत्ति का विश्लेषण कर सके। यदि श्रावक नया-नया ही व्रतबद्ध हुआ है, तो सम्भव है, वह प्रवृत्तियो की सार्थकता-निरर्थकता का विवेक न कर सके सम्भव है, वह अभी इतना अभ्यस्त न हुआ हो कि कौन-सी प्रवृत्ति सार्थक है, कौन-सी निरर्थक ? इसका

विश्लेपण न कर सके। उसके मन-मस्तिष्क मे शायद यह विचार ही न आए कि श्रावक बनने के बाद उसकी प्रवृत्ति मे निरर्थकता का दोष प्रविष्ट हो सकता है ? वह पाँच अणुव्रतो की बधी-बधाई या भगवान महावीर द्वारा खीची-खिचाई लकीर पर ही चलने का अभ्यस्त हो, इससे आगे अपने ध्येय की ओर प्रगति करने की बात उसके दिमाग मे न आई हो। इसके लिए भगवान् महावीर श्रावको के लिए तीन गुणव्रतो का विधान करते है—प्रथम दिग्परिमाणव्रत, द्वितीय उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत और तृतीय अनर्थदण्ड-विरमणव्रत। दो गुणव्रतो पर पिछले प्रवचनो मे प्रकाश डाला जा चुका है। इस प्रवचन मे सार्थक और निरर्थक दण्ड का अन्तर समझकर श्रावक को अनर्थदण्ड से बचने का विधान किया गया है।

श्रावक ने पाँच मूल अणुव्रतो का अगीकार करते समय जिस-जिस बात की छूट रखी है—आगार रखा है, उस छूट का उपभोग करते समय ही सार्थक और निरर्थक (अर्थ और अनर्थ) का अन्तर समझ कर निरर्थक उपभोग से बचना आवश्यक है।

प्रश्न होता है कि श्रावक द्वारा होने वाली प्रवृत्तियो मे सार्थकता और निरर्थकता का मापदण्ड क्या है ? किस आधार से नापा जाय कि यह प्रवृत्ति सार्थक है या निरर्थक ?

सर्वप्रथम तो दण्ड की परिभाषा समझ लेनी चाहिए। उसके बाद सार्थक और अनर्थक का भेद बहुत शीघ्र ही समझ मे आ जाएगा जिसके द्वारा आत्मा कर्म-बन्धन के कारण दण्डित हो, सजा पाए उसे दण्ड कहते है। आत्मा जब तक अयोगी केवली नही हो जाता, तब तक योगो—मन-वचन-काया की शुभाशुभ प्रवृत्तियो (व्यापारो) के कारण वह शुभाशुभ कर्मबन्धन होने से दण्डित होता रहता है। क्योकि क्रिया से कर्मबन्ध होता है। निष्कर्ष यह है कि मन-वचन-काया इन तीनो योगो से होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति दण्डरूप होती है। यद्यपि शुभ आस्रवो (पुण्य) की प्रवृत्ति से वह दण्ड शुभ मिलता है, जबकि अशुभ आस्रवो (पाप) की प्रवृत्ति से अशुभ दण्ड मिलता है। यहाँ अशुभ दण्ड योग्य प्रवृत्तियो के विषय मे सार्थकता और निरर्थकता पर विचार करना है। तात्पर्य यह है कि हिंसा, असत्य, चौर्यकर्म, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँच अशुभ-आस्रवो से सम्बन्धित दण्डरूप प्रवृत्तियो मे श्रावक को सार्थक और निरर्थक को छाँट लेना है।[1] जैसे सुघड नारी गेहूँ आदि अनाज के कणो के साथ मिले हुए ककरो को बीनकर अलग कर देती है, इसी प्रकार सुज्ञ श्रावक को अशुभाश्रव-जनित दण्डरूप प्रवृत्तियो मे से निरर्थक प्रवृत्तियो को छाँट कर अलग कर लेना है, सार्थक को रखना है। जैसे बुद्धिमान व्यक्ति दूध देने वाली (दुधारु) गाय

---

१ आभ्यन्तर दिगवधेरपार्थिकेभ्य सपापयोगेभ्य ।
विरमणमनर्थदण्डव्रत विदुर्व्रतधराग्रगण्य ॥

की लात सहन कर लेता है, किन्तु अगर कोई दूध न देने वाली गाय व्यर्थ ही लात मारे तो वह असह्य होती है, इसी प्रकार अशुभाश्रवजनित दण्डरूप सभी प्रवृत्तियाँ त्याज्य होती हैं, लेकिन गृहस्थ श्रावक को अपना गृहकार्य चलाने तथा जीवन-निर्वाह करने के लिए कुछ प्रवृत्तियाँ करनी पडती है। जब दण्डरूप प्रवृत्तियाँ करनी ही पडती है तो वह ऐसी ही प्रवृत्ति करे जिससे कुछ प्रयोजन तो सिद्ध हो। जिन प्रवृत्तियो से कुछ प्रयोजन सिद्ध होता हो, उनका दण्ड फिर भी श्रावक सहन कर लेता है, वह दण्ड सार्थक है, लेकिन जिन प्रवृत्तियो से श्रावक को कोई लाभ नही होता, जिनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता, उनका दण्ड निरर्थक-निष्प्रयोजन उसे सहन नही करना चाहिए।

श्रावक ने पाच आस्रवो से जनित दण्डरूप प्रवृत्तियाँ पाच अणुव्रत ग्रहण करके बहुत-सी तो बद कर दी है, उसके बाद दसो दिशाओ मे गमनागमन की क्षेत्र मर्यादा करके पाचो आस्रवो की प्रवृत्तियाँ क्षेत्र से सीमित कर दी हैं। अमुक-अमुक दिशा मे मर्यादित क्षेत्र मे ही रखी है। फिर सातवे व्रत के द्वारा उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों के उपभोग-परिभोग की तथा व्यवसाय की मर्यादा करके बहुत-सी प्रवृत्तियाँ कम कर दी किन्तु फिर भी काया से सम्बन्धित कुछ प्रवृत्तियाँ तथा मन-वचन से सम्बन्धित अधिकाश प्रवृत्तियाँ अभी शेष रही है। अब देखना यह है कि उन अवशिष्ट दण्डरूप प्रवृत्तियो मे कौन-सी अर्थदण्डरूप हैं, कौन-सी अनर्थदण्डरूप हैं ?

वैसे तो इनके नापने का कोई एक थर्मामीटर नही है, जिससे शीघ्र निर्णय हो जाए। इसके नापने का मापदण्ड या थर्मामीटर अपना विवेक ही है। प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति एक सरीखी नही होती। पृथक्-पृथक् परिस्थिति होने के कारण एक ही निर्णय नही दिया जा सकता कि साधारण या कौन-सी प्रवृत्ति या कार्य अर्थदण्डरूप है और कौन-सी अनर्थदण्डरूप ? इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपने विवेक से कर सकता है।

वैसे तो अनर्थदण्ड की भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अलग-अलग व्याख्या की है।

आचार्य उमास्वाति ने अनर्थदण्ड मे अर्थ-अनर्थ शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—जिससे उपभोग-परिभोग होता हो, वह श्रावक के लिए अर्थ है, और इससे जो भिन्न हो—अर्थात् जिससे उपभोग-परिभोग न होता हो, वह अनर्थ है,[1] इसके लिए जो मन-वचन-काया की दण्डरूप प्रवृत्ति-क्रिया हो, वह अनर्थदण्ड है। उसका त्याग अनर्थदण्ड विरति नामक व्रत है।

वास्तव मे अनर्थदण्डविरतिव्रत की उपयोगिता यह है कि श्रावक अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति के फलाफल पर विचार करना सीखें और जिन प्रवृत्तियो से हानि के बदले

---

१ उपभोग-परिभोगौ अस्याऽगारिणोऽर्थं। तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थं।

—तत्त्वार्थ भाष्य ७-१६

हो गया, या उसका अग-भग हो गया। इसी तरह किसी के हाथ मे लकडी है, रास्ते मे कोई पशु बैठा मिल गया, व्यर्थ ही उसके मार दी। यह स्पष्टत अनर्थदण्ड है। ऐसे कार्यो से न तो किसी इन्द्रिय की सन्तुष्टि या तृप्ति है, और न ही स्वास्थ्य आदि का लाभ है।

कोई आदमी कुल्हाडी लिये जा रहा है, जगल से लकडी काट कर लाने के लिए, किन्तु रास्ते मे व्यर्थ ही एक जगह जमीन पर मार दी। इस प्रकार निरर्थक, निष्प्रयोजन, बिना किसी कार्य के, केवल हास्य, कौतूहल, अविवेक या प्रमादवश जीवो को कष्ट देना अनर्थदण्ड है।

इस प्रकार निष्कारण ही त्रस-स्थावरजीव को कष्ट देने से बचना हिंसा सम्बन्धी अनर्थदण्ड से बचना है। श्रावक के लिए आरम्भजा, उद्योगिनी और विरोधिनी हिंसा या स्थावर जीवो की हिंसा की छूट है, फिर भी श्रावक इस छूट का उपयोग केवल सार्थक कार्यो मे ही कर सकता है, निरर्थक कार्यो मे नही।

अब कीजिए, सत्याणुव्रत के सम्बन्ध मे अनर्थदण्ड का विचार। सत्यव्रत मे भी श्रावक ने स्थूल असत्य का त्याग किया है, दिग्परिमाणव्रत क्षेत्र सीमित कर लिया है, तथापि सूक्ष्म मृषावाद खुला है। श्रावक इसका दुरुपयोग करे अर्थात् किसी की निन्दा चुगली करे, किसी के साथ व्यर्थ का विवाद करे, व्यर्थ ही बकझक करे, दूसरो को बदनाम करने के लिए चखचख करे, इधर-उधर की लगाकर दो व्यक्तियो को परस्पर भिडा दे, आपस मे सिर-फुटौव्वल करा दे, किसी को उकसा कर परस्पर लडा दे, व्यर्थ की बकवास करे, अपनी प्रशसा की डीग हाकता फिरे, अथवा किसी को पापजनक उपदेश या प्रेरणा दे। ये और इस प्रकार के सब व्यवहार मृषावाद (असत्य सम्बन्धी अनर्थदण्ड है। इससे भी व्यर्थ ही झूठ का दोप लगता है।

तीसरा अस्तेयाणुव्रत है। इसके सम्बन्ध मे भी अनर्थदण्ड से बचना आवश्यक है। इसमे भी स्थूल अदत्तादान से विरति हुई है, सूक्ष्म अदत्तादान (चौर्य) तो खुला रह गया। उसमे भी निरर्थक चौर्य का त्याग करना चाहिए। परन्तु श्रावक सूक्ष्म-चौर्य की छूट के नाम पर यदि झूठे विज्ञापन दिलाता है या अपनी प्रशसा छपवाता है, अपने भाइयो आदि से पूछने पर वे मना नही करते, पर प्रमादवश बिना पूछे उनकी वस्तुएँ ले लेता है, धर्मशाला आदि का उपयोग प्रबन्धक ने एकाध दिन के लिए करने दिया है, किन्तु चुपके से अधिक दिन तक अपने व्यापार धधे के निमित्त पडे रहता है, डेरा जमा लेता है, अथवा दूसरे की वस्तु का उसकी आज्ञा के बिना इस्तेमाल करता रहता है, ये सब सूक्ष्मचोरी सम्बन्धी अनर्थदण्ड है। इनके बिना भी काम चल सकता था, परन्तु निष्प्रयोजन सूक्ष्म चोरी की छूट का दुरुपयोग करने से अनर्थदण्ड हो गया।

उसके बाद अब्रह्मचर्य का नम्बर आता है। श्रावक ने अब्रह्मचर्य मे स्वपत्नी-सन्तोष रूप मे मर्यादित क्षेत्र मे छूट रखी है। परन्तु इसमे वैदिक ग्रन्थो मे उल्लिखित

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' या 'सन्तानार्थाय च मैथुनम्' स्वपत्नी सेवन केवल ऋतुकालाभिगामी हो, मैथुनसेवन भी केवल सन्तानार्थ हो, इस नियम के अनुसार ऋतुकालापेक्ष या सन्तानार्थक मैथुन-सेवन ही अर्थदण्ड मे समाविष्ट होगा, शेष अब्रह्मचर्य-सेवन अनर्थदण्ड समझा जाएगा। इसके अतिरिक्त जो सूक्ष्म मानसिक अब्रह्मचर्य या वाचिक अब्रह्मचर्य की छूट रखी है, उसमे भी वह कामोत्तेजक किस्से कहानियाँ, उपन्यास, खेलतमाशे, चलचित्र, चित्र या शृ गार रस की बातें पढेगा, देखेगा या सुनेगा तो वह सब अनर्थदण्ड मे समाविष्ट होगा। इसी प्रकार परस्त्री (चाहे वह पुत्री, भगिनी, पुत्रवधू या अन्य सम्बन्ध की हो) से उत्सर्गमार्ग मे सेवा लेने या उनकी सेवा करने के लिहाज से स्पर्श के बिना ही काम चल जाए, तो उक्त स्पर्श को अनर्थदण्ड समझेगा। अपने ससुराल के पक्ष की स्त्रियो से भद्दी या अश्लील हँसी-मजाक, या उनसे किसी कामोत्तेजक वार्तालाप को भी श्रावक अनर्थदण्ड समझ कर टालेगा। इसके अतिरिक्त किसी भी स्त्री के साथ अगोपागो से किसी प्रकार की कामचेष्टा को भी अनर्थदण्ड समझेगा। विकारवर्द्धक खानपान, नशीली कामोत्तेजक वस्तुओ का सेवन भी श्रावक के लिए अनर्थदण्ड ही समझा जाएगा। किसी के लिए भद्दी अश्लील गालियो या अपशब्दो का प्रयोग भी अनर्थदण्ड माना जाएगा।

इसके पश्चात् श्रावक के परिग्रहपरिमाणव्रत मे रखी हुई मर्यादित क्षेत्र मे सीमित परिग्रह की छूट मे भी सार्थक-अनर्थक का विवेक कीजिए। श्रावक ने जो आवश्यक भोगोपभोग के नाम पर बहुत-सी कृत्रिम आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बहुत-सी वस्तुओ का सग्रह खुला रखा है, मगर उसके बिना भी उसका कार्य चल सकता है। अत वह अनावश्यक पदार्थों का सग्रह (परिग्रह) अनर्थदण्ड मे समझा जाएगा। मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति के सिलसिले मे भी जो पदार्थ प्राय काम मे नही आते, निरर्थक घर मे पडे रहते है, न उन्हे किसी को दिया जाता है, न उपयोग मे लिया जाता है, बल्कि घर मे पडे-पडे वे घर की अस्वच्छता को बढाते है, ऐसे पदार्थों का सग्रह (परिग्रहरूप) भी अनर्थदण्ड मे समझा जाएगा। इसी प्रकार कई जगह बडप्पन का प्रदर्शन करने के लिए पुरानी वस्तुओ—ढाल, तलवार, विविध अन्य पशुओ के अवयव, मृगचर्म आदि का सग्रह सजाकर रखा जाता है, केवल दिखाने के लिए, वह न तो किसी अन्य के काम आता है, और न ही स्वय के। ऐसा प्रदर्शनमूलक सग्रह की भी अनर्थदण्ड मे गणना होगी। कई घरो मे बिना ही प्रयोजन के अनावश्यक फर्नीचर (सोफासेट, कुर्सियाँ, मेजें तथा अन्य सजावट का सामान, बर्तन आदि का सग्रह) पडा रहता है। इतनी सब चीजें उपयोग मे नही आती, उन भोगोपभोग के अतिरिक्त चीजो के सग्रह को भी अनर्थदण्ड माना जाएगा।

इस प्रकार पाँचो आस्रवो से सम्बन्धित प्रवृत्तियो से जनित अनर्थदण्ड का स्थूलरूप मे कुछ सकेत दिया है। श्रावक को अपनी परिस्थिति अनुसार स्वय तटस्थ दृष्टि से ऊहापोह करके अर्थदण्ड-अनर्थदण्ड का निर्णय कर लेना चाहिए।

ये अनर्थदण्ड, जो मैं बता चुका हूँ, प्राय कायिक प्रवृत्तियो से सम्बन्धित अनर्थदण्ड ह । इसी प्रकार व्यायाम, गमनागमन आदि किसी प्रयोजन से अतिरिक्त दूसरो को चिढाने, दूसरो को हँसाने, कुतूहल पैदा करने के लिए विविध चेष्टाएँ करना भाण्ड या नर्तक की तरह निष्प्रयोजन नृत्य, अगविन्यास, या अभिनय करना, व्यर्थ ही मुँह को टेढामेढा बनाना या विदूषक की तरह अगो से कुचेष्टाएँ करना आदि तथा व्यर्थ ही आवारा घूमना, बिना मतलब ही इधर-उधर भटकते रहना, थकान न होते हुए भी व्यर्थ ही लेटे रहना, बिछौने पर पडे रहना, आलसी बनकर बैठे रहना, घर मे निठल्ले बनकर पडे रहना, अपनी आजीविका के कार्यों से मुँह मोडना, कर्तव्य कर्मो से जी चुराना, अपने उत्तरदायित्व से भागना आदि सब कायिक अनर्थदण्ड मे परिगणित ह ।

मुँह से बात-बात मे गालियाँ बकना, अपशब्द कहना, क्रोधावेश मे आकर बात-बात मे किसी पर दोपारोपण करते रहना, निमित्तो को कोसते रहना, व्यर्थ की बक-झक, चखचख या बकवास करना, व्यर्थ ही इधर-उधर की गप्पें हाँकना, निष्प्रयोजन ही किसी बात पर बहसमुबाहिसे या तर्क-वितर्क करते रहना, हर बात पर उलझ पडना, बिना सलाह माँगे ही जब देखो तब सलाह देते रहना, जब देखो तब दूसरो के सामने अपना ही दु खडा रोते रहना, दूसरो के दोप देखकर उनकी बदनामी, निन्दा या चुगली करते रहना, पापवर्द्धक या कामोत्तेजक बातो की प्रेरणा करते रहना, दो व्यक्तियो या दो पक्षो को एक-दूसरे के प्रति उकसा कर लडाना-भिडाना, दूसरो को बुरी लगे, वह अपना अपमान समझे, इस प्रकार की तानाकशी, छींटाकशी, हँसी-मजाक, व्यग्यबाण वर्षा करना, ये और इस प्रकार की बातें वाचिक अनर्थदण्ड है ।

अपने मन मे हीनता की भावना लाकर मन मे निराशा, दु ख-दैन्य के विचार लाना, भविष्य की निरर्थक चिन्ता करना, बात-बात मे वहम करना, भविष्य मे अनिष्ट की आशका से बार-बार भयभीत होना, मन ही मन अपनी प्रिय एव मनोज्ञ वस्तु के वियोग की चिन्ता मे झूरना अथवा प्रियवस्तु का वियोग न हो जाय, इसी उधेडबुन मे रहना, अप्रिय वस्तु का सयोग न हो जाय अथवा सयोग होने की चिन्ता मे व्याकुल रहना, अपने या सम्बन्धी के भविष्य मे रोगादि उपद्रव की व्यर्थ आशका से चिन्तित एव उदासीन रहना, सन्तान आदि प्रिय वस्तु के सयोग की लिप्सा करना इसी प्रकार दूसरो के दोपो का ही चिन्तन करना, दूसरो के लिए अशुभ-चिन्तन करना । दूसरो को मारने, सताने, तग करने, बदनाम करने, दु खी करने आदि की मन ही मन योजना बनाना, दूसरो की वस्तु का अपहरण करने, चुराने, अपने कब्जे मे करने, अपने हाथ मे ले लेने, अपनापन स्थापित करने की मन ही मन उधेडबुन करना, मन ही मन किसी पद, सत्ता, अर्थराशि को हथियाने दूसरो को पदच्युत या सत्ताच्युत करने का दुर्विचार करना, किसी असत्य को सत्य सिद्ध करने, अपनी चालाकी या झूठ को छिपाने, असत्य पकड मे न आ जाए, इस प्रकार से बोलने आदि के घाट मन ही मन घडना । ये और इस प्रकार के दुश्चिन्तन मानसिक अनर्थदण्ड के रूप ह ।

अनर्थदण्ड की एक और व्याख्या

यद्यपि अर्थदण्ड की उपर्युक्त व्याख्या काफी स्पष्ट है, किन्तु आचार्य अभयदेव सूरि का अनर्थदण्ड के विषय मे चिन्तन केवल हिंसाविषयक अनर्थदण्ड को सूचित करता है। वह व्याख्या इस प्रकार है—अर्थ यानी प्रयोजन। गृहस्थ को अपने खेत, घर, धन, धान्य या शरीरपालन आदि प्रवृत्तियो के लिए जो आरम्भ द्वारा प्राणियो का उपमर्दन (घात) हो जाता है, वह अर्थ (सार्थक) दण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश ये चारो एकार्थक है। किसी प्रयोजनवश या कारणवश हुआ दण्ड अर्थदण्ड है—सार्थकदण्ड है। अर्थात् खेत, घर आदि के सिलसिले मे जीवो का उपमर्दन (हनन) होना अर्थदण्ड कहलाता है और इसके विपरीत यानी निष्प्रयोजन निरर्थक ही प्राणियो का विघात करना अनर्थदण्ड है।[1]

साराश यह है कि किसी आवश्यक कार्य के आरम्भ-समारम्भ मे त्रस और स्थावर जीवो को जो कष्ट होता है, वह अर्थदण्ड है और निष्प्रयोजन ही बिना किसी कारण के केवल प्रमाद, कुतूहल, अविवेक आदि के वश जीवो को कष्ट देना अनर्थदण्ड है।

ऐसे अनर्थदण्ड का त्याग करने का सकल्प करना, अनर्थदण्ड-विरमणव्रत कहलाता है।

इस व्याख्या के अनुसार श्रावक को अकारण ही किसी त्रस या स्थावर जीवो को कष्ट देने से बचना है। उसे इस बात का सतत ध्यान रखना है कि उसके द्वारा वही कार्य हो, उसी आरम्भ-समारम्भ मे पडना अभीष्ट है, जिसका करना उसके लिए अनिवार्य है, जिसके करने से उसका कोई शुभ उद्देश्य पूर्ण होता हो। इस बात को दृष्टिगत रखते हुए श्रावक को कोई भी ऐसी प्रवृत्ति नही करनी चाहिए, जिससे किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति न हो, जिसके बिना उसकी कोई जरूरत न रुके जो सिर्फ प्रमाद, आलस्य, अविवेक या कुतूहल अथवा कुरूढि-परम्परा के कारण किये जायें।

यद्यपि अनर्थदण्ड की मुख्य धारा हिंसा से सम्बन्धित है, अनर्थदण्ड हिंसाप्रधान है, किन्तु असत्य, चौर्य अब्रह्मचर्य एव परिग्रह से भी अनर्थदण्ड की धाराएँ प्रवाहित होती है। इसलिए श्रावक को हिंसा आदि पाँचो आस्रवो के सन्दर्भ मे पहले बताए हुए अनर्थदण्डो का विचार करके उनसे निवृत्त होना चाहिए।

प्रत्येक कार्य या प्रवृत्ति करने से पहले श्रावक को यह विचार करना अनिवार्य है कि यह प्रवृत्ति या कार्य करना मेरे लिए आवश्यक है, या नही ? मेरा यह कार्य

---

१ अर्थः प्रयोजनम्। गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तु-धन-धान्य-शरीरपरिपालनादि विषय, तदर्थं आरम्भे भूतोपमर्दोऽर्थदण्डः। दण्डो, निग्रहो, यातना, विनाश इति पर्याया। अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्ड। स चैवम्भूत उपमर्दनलक्षणदण्डः क्षेत्रादि-प्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदण्ड उच्यते। तद्विपरीतोऽनर्थदण्ड।" —उपासकदशाग टीका

सार्थक है या निरर्थक ? क्या इसके विना कोई चारा ही नहीं है ? यह कार्य मेरे किस उद्देश्य या प्रयोजन की पूर्ति करता है ? इस प्रकार का विवेक करके श्रावक को उन कार्यो से वचना चाहिए, जो निरर्थक हो, जो किसी उद्देश्य की पूर्ति नही करते, जिनके किये विना उसकी आवश्यकता नही रुकती, और व्यर्थ ही जीवो को कष्ट होता है। ऐसे निरर्थक कार्य या प्रवृत्ति चाहे रूढि-परम्परा के नाम पर किये जाते हो या अन्य किसी कारणवश किये जाते हो, श्रावक को अनर्थदण्डरूप उन निरर्थक कार्यों का त्याग कर देना चाहिए, तभी श्रावक के अहिंसा आदि पाँच मूलव्रत उत्तरोत्तर निर्मलतर एव विशुद्धतर होते जाएँगे।

अगर श्रावक सार्थक दण्ड और निरर्थक दण्ड का विचार या विवेक किये विना आँखे मूंद कर या लकीर का फकीर—गतानुगतिक वनकर या रूढिपरम्परा का पुजारी वनकर किसी प्रवृत्ति या कार्य को अधाधुध किया जाता है, तो ऐसे अनुचित कार्य या प्रवृत्ति से लाभ के वदले हानि ही अधिक पल्ले पडती है। दूसरे लोग किसी प्रवृत्ति के औचित्य-अनौचित्य, सार्थक-निरर्थक या हिताहित का विचार करें या न करें, अनुचित, निरर्थक या हानिप्रद कार्यो का त्याग करें या न करें, श्रावक को तो इस सम्वन्ध मे विवेकी वनकर अवश्य विचार करना चाहिए, रूढि का पुजारी न वनकर स्थिति स्थापक न वनकर अनुचित, अहितकर एव निरर्थक कुरूढियो या कुप्रवृत्तियो का त्याग करना ही चाहिए। ऐसा करने पर ही श्रावक मुफ्त मे होने वाली हानि से एव निष्प्रयोजन होने वाले कर्मवन्धन से बच सकता है, अपने मन-मस्तिष्क सतुलित एव समाधिभाव मे रख सकता है। इसके अतिरिक्त वह अपने मूलव्रतो का भी विशुद्धरूप मे पालन कर सकता है।

यो तो दण्डमात्र त्याज्य हे, परन्तु श्रावक की भूमिका इतनी उच्च नही कि वह दण्डमात्र का त्याग कर दे। उसे अपने गृहस्थाश्रम को चलाने के लिए जीवन-निर्वाह के लिए कुछ प्रवृत्तियाँ करनी पडती है। हाँ, यह हो सकता है कि वह उन्ही प्रवृत्तियो को करे जो अर्थदण्ड रूप हो, जो प्रवृत्तियाँ निरर्थक, निष्प्रयोजन हैं, जिनका जीवन-निर्वाह करने मे कोई औचित्य नही है, अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियो का त्यागकर दे। किन्तु कोई यह सोच ले कि प्रवृत्ति करने से कोई न कोई दण्ड हो जाता है, इसलिए प्रवृत्ति ही न की जाए तो दण्ड से ही छुटकारा हो जाएगा, 'न रहेगा, वास, न वजेगी वासुरी।' किन्तु यह बहुत वडी भ्रान्ति है। निश्चेष्ट हो जाने से इन्द्रियो को सब ओर से समेट कर वैठ जाने से, शरीर के लिए आवश्यक प्रवृत्तियो का त्याग कर देने से अथवा अकर्मण्य वनकर बैठ जाने से अनर्थदण्ड तो क्या अर्थदण्ड भी नही छूटेगा। मन को कहाँ गाडी मे वाँध कर रखेंगे ? मन तो हर समय मनन करने की प्रवृत्ति करता ही रहेगा, निश्चेष्ट होकर बैठ जाने पर भी जब पेट में चूहे दड पेलने लगेंगे, तव निवृत्तिराजजी को कुछ न कुछ हलचल करनी ही पडेगी, अपने आप रोटी का टुकडा आकर मुँह मे नही घुस जाएगा। प्यास लगेगी, मल-मूत्र आदि शारीरिक

हाजते होगी, तब निवृत्तिराजजी क्या करेंगे ? कब तक बन्द किये रहेंगे ? इसलिए आवश्यक प्रवृत्ति से जनित अर्थदण्ड को अपनाए बिना कोई चारा नही। इसलिए भगवान महावीर ने श्रावक के लिए दण्डमात्र का त्याग करने की बात नही कही, अपितु उन्होने कहा कि जो अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियाँ हैं, उनका त्याग करो।"

दण्डजनित पाप तभी छूट सकता है, जब पूर्णतया त्यागवृत्ति धारण कर ली जाए। किन्तु जब तक पूर्णतया त्यागवृत्ति का स्वीकार नही किया है, तब तक श्रावक अपूर्णावस्था मे अल्पपाप और महापाप का विवेक करके महापाप से बच सकता है। तात्पर्य यह है कि अनर्थदण्ड-विरमणव्रत का स्वीकार करके श्रावक प्रत्येक प्रवृत्ति के विषय मे विवेक करके अनर्थदण्ड से बच कर व्यर्थ के पाप से आत्मा की रक्षा कर लेता है।

अनर्थदण्ड के चार आधारस्तम्भ

अनर्थदण्ड की पूर्वोक्त विशाल व्याख्या के अनुसार पाँच आस्रवो से अनुप्राणित मन-वचन-काया से होने वाली अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियो के चार आधारस्तम्भ शास्त्रकारो ने बताए है। वे इस प्रकार है—(१) अपध्यानाचरित, (२) प्रमादाचरित, (३) हिंस्रप्रदान और (४) पापोपदेश।[१]

आचार्य समन्तभद्र आदि ने चार के बदले पाँच भागो मे अनर्थदण्ड को विभक्त किया है—(१) पापोपदेश, (२) हिंसादान, (३) अपध्यान, (४) प्रमादचर्या और (५) दुःश्रुति[२]।

मालूम होता है, पहले दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड अलग से नही माना जाकर उसका भाव प्रमादचर्या से ही ले लिया जाता था। पीछे से उसकी जरूरत मालूम होने पर समन्तभद्राचार्य आदि ने उसका पृथक् विधान किया।

अपध्यानाचरित—अनर्थदण्ड का सर्वप्रथम आधारस्तम्भ अपध्यान का आचरण माना गया है। अपध्यान का मतलब है, अप्रशस्त ध्यान। अप्रशस्त विचारो मे—बुरे विचारो मे मन को एकाग्र करना अप्रशस्त ध्यान है। वैसे ध्यान के चार प्रकार है—आर्त ध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान, इन चारो मे से प्रत्येक के दो ध्यान खराब अशुभ है। बाद के दो ध्यान शुभ हैं, अनर्थदण्ड के अन्तर्गत पहले के दो अशुभ ध्यान, जिनका नाम आर्तध्यान और रौद्रध्यान है, माने गए हैं। निरर्थक बुरे विचारो मे चित्त को एकाग्र करना मानसिक अनर्थदण्ड है मनुष्य जब दुःख या विपत्ति मे होता है, तब

---

१ तयाणतर च चउव्विह अणट्ठादड पच्चक्खाइ। तजहा—अवज्झाणाचरिय, पमायाचरिय, हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे। —उपासकदशाग १।४३

२ पापोपदेश-हिंसादानापध्यान—दुःश्रुती पच।
प्राहु प्रमादचर्यामनर्थदण्डान् अदण्डधरा ॥७५॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

कई प्रकार के विकल्प मन में उभरते रहते हैं। कभी वह मन में हीनता की भावना से प्रेरित होकर स्वय को दीन, अशक्त, दुर्बल एव पीडित अनुभव करता है, उसी उधेडबुन मे पडा रहता है। आर्तध्यान दु खित या पीडित व्यक्ति को दु ख या पीडा के कारण मन मे उत्पन्न होने वाले ऊलजलूल खोटे विचार हैं, उन खोटे विचार-प्रवाहो मे आर्तध्यानी डूवता-उतराता रहता है। शास्त्रकारो ने आर्तध्यानी व्यक्ति के मन के विकल्पो का विश्लेपण करते हुए उसके चार प्रकार वताए हैं—(१) अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति का सयोग होने पर (२) इष्ट वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर, (३) रोग आदि होने पर तथा (४) इष्ट की प्राप्ति के लिए उत्पन्न चिन्ता या दु ख होना अथवा अप्राप्त भोगो को प्राप्त करने की लालसा से तीव्र सकल्प (निदान) करना। ये चार प्रकार के आर्तध्यान अनर्थदण्ड हैं।

सर्वप्रथम आर्तध्यान है—अनिष्ट सयोग। अपनी हानि करने वाले या जिस हानि को व्यक्ति ने अपनी हानि मान रखी है, उस हानि करने वाले अप्रिय या अनिष्ट या अरुचिकर व्यक्ति, पदार्थ या परिस्थिति का सयोग होना अनिष्ट सयोग कहलाता है। ऐसे अनिष्ट सयोग अर्थात् अनचाहे मिलन (प्राप्ति) से या अनिष्ट सयोग की आशका से व्याकुल होना, घवरा जाना, भयभीत होना, ऐसे अनिष्ट सयोग से उत्पन्न दु ख के कारण से अथवा अनिष्ट सयोग से छुटकारा पाने के लिए मन मे जो बुरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन्ही विचारो मे डूवते-उतराते रहना, मन को निमग्न कर देना अनिष्ट सयोग है। ऐसा अनिष्टसयोग अपने या अपने स्वजन के तन, धन और साधन तथा पद, प्रतिष्ठा, सत्ता आदि को नष्ट करने वाले विष, अग्नि, शस्त्र, शत्रु, विरोधी, हिंस्रपशु, दुष्ट अथवा दैत्य आदि भयकर प्राणी के सयोग को माना जाता है।

कई वार मनुष्य के मन मे अनहोनी विपत्ति की आशका या भीति चक्कर काटने लगती है। उसके मन-मस्तिष्क मे एक भययुक्त चित्र दिखाई देने लगता है और हरदम आशका से घिरा रहता है। पद-पद पर भय उन्हे घेरे रहता है, एक प्रिय वच्चा है, उसे कुछ हो न जाय, गाँव मे या प्रान्त मे वडा सम्मान है, उच्च पद प्राप्त है, या कोई अधिकार प्राप्त है, परन्तु मन मे हर समय डर बना रहता है कि कही यह छिन न जाए। वडी मेहनत से समय और धन लगाकर स्वास्थ्य वनाया है, कही कोई वीमारी न आ जाए। मामूली जुकाम से क्षयरोग होने का, जरा-सी फुंसी से सेप्टिक होने का भय। कुछ सम्पत्ति है तो डर वना रहता है कि कही छिन न जाय। इस प्रकार अनिष्ट मात्र की आशका से भयग्रस्त वने रहना, उन्ही आशकाओ के दुर्विचारो मे मग्न रहना भी अनिष्टसयोग-आर्तध्यान है, जो अनर्थदण्ड होने से त्याज्य है। श्रावक को अपने तत्त्वज्ञान के वल पर निर्भीक, निश्चल, निरातक एव नि शक वनना चाहिए। इस प्रकार के आर्तध्यान मे अपने समय और शक्ति का अपव्यय नही करना चाहिए।

कई वार व्यक्ति अनिष्ट वस्तु का सयोग उपस्थित हो जाने पर धैर्य से काम लेने की अपेक्षा घबराकर हायतोबा मचाने लगता है, रुदन और विलाप करने लगता है। अपने आपको हीन-दीन, दुःखी, असहाय एव पीडित मानकर रोता विलखता रहता है। कई वार व्यापार मे घाटा, योग्यता का अवमूल्यन, पदच्युति अनावश्यक खर्च का आ पडना, इच्छाओ की अपूर्ति, प्रयास मे असफलता आदि अप्रिय—अनिष्ट कर परिस्थितियो से व्याकुल होकर मनुष्य रोता कलपता रहता है। क्या ऐसा करने मे वह अनिष्ट-सयोग टल जाएगा ? उस समय श्रावक को व्यर्थ का रोना-कलपना या चिन्ता करना छोडकर धैर्य पूर्वक वस्तुस्थिति का विचार करके उक्त अप्रिय परिस्थिति का सामना करना चाहिए। अपनी परिस्थिति को हीन समझने की भ्रान्त कल्पना को छोडकर श्रावक को आत्मशक्ति की दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए।

कई वार मनुष्य भविष्य की दु खमय अनिष्ट कल्पना करके मन को बोझिल वना लेता है। कल न जाने क्या होगा ? नौकरी मिलेगी या नही ? परीक्षा मे उत्तीर्ण होगे या अनुत्तीर्ण ? लडकी के लिए योग्य वर मिलेगा या नही ? मकान कब तक वन कर पूरा होगा ? कही वर्षा न आ जाए, अन्यथा खडी फसल खराव हो जाएगी, इत्यादि अनिष्ट सयोगो की कल्पना करके निराशा के भवर जाल मे डूबकर मनुष्य मन मे व्यर्थ की घबराहट पैदा कर लेता है। ऐसे समय विवेकी श्रावक को ऐसे अनर्थदण्ड से बचकर यह सैद्धान्तिक चिन्तन करना चाहिए कि जो कुछ होना है, वह एक निश्चित क्रम से होगा, फिर उससे घबराने, व्यर्थ विलाप करने तथा भविष्य की चिन्ता मे पडे रहने से क्या लाभ ? इससे आत्मिक हानि ही है, अवाछित कल्पनाओ से जीवन अस्तव्यस्त होगा, व्यर्थ की मानसिक पीडा होगी।

आत्महीनता की मनोवृत्ति

आत्महीनता की मनोवृत्ति भी अनिष्ट सयोगो के कारण व्यक्ति के मन मे घर कर लेती है। आत्महीनता अव्यक्त मन मे दवी हुई पुरानी न्यूनताओ, कमियो, निर्बल-ताओ, भयजनक परिस्थितियो के कारण होती है, तथा वर्तमान मे भी वह उसी हीन भावना से ग्रस्त होकर शारीरिक कमी, चारित्रिक दुर्वलता, सामाजिक निम्न स्थिति, आर्थिक तगी, निराशावादिता, विघ्न-वाधाएँ देखकर उन सव पुराने नये अनिष्ट सयोगो के कारण रात-दिन आर्तध्यान करता रहता है। वह अपने अन्त करण मे नाना प्रकार की भ्रमात्मक त्रुटियो, न्यूनताओ, कमियो, कमजोरियो या दुर्वलताओ की कल्पना करके अनिष्ट सयोगो को मन मे पैदा करता रहता है। आत्महीनता का शिकार व्यक्ति अपनी चित्तवृत्तियो को निरन्तर व्याधि, दु ख, न्यूनता तथा निर्बलता की ओर लगाता रहता है। वह सतत प्रतिकूलता की धारणा से भयभीत, शकित या व्याकुल रहता है। अतीत के प्रतिकूल सयोग उसके स्मृतिपटल पर पुन -पुन उभर आते है। अमुक स्थान पर मुझे तिरस्कृत-अपमानित किया गया, अमुक ने मुझे कटुवचन कहे, मेरे साथ नीचता का व्यवहार किया, मैं अपने आप मे बहुत असमर्थ हूँ, विद्वानो की सभा मे मुझ

मूर्ख को कौन पूछेगा ? इत्यादि असख्य कमियों की याद उसे निरन्तर सताया करती है। वह व्यर्थ की चिन्ता, फिक्र, भय का बोझ डाल-डालकर अपनी आत्मा को जर्जर कर डालता है। कमी की कटु अनुभूति उसके अन्त करण को काटे की तरह बींधती रहती है। वह अत्यन्त भावुक (Nervous) एव सवेदनशील बन जाता है कि उसकी दुखती रगो को जरा-सी छेडते ही वह रोने लगता है, मन ही मन विभिन्न अवसरो पर अनुभूत हर्ष, शोक, दु ख, निराशा, भय द्वेष, अज्ञान आदि के सस्कार तथा पुरातन घटनाचक्र उसकी आत्महीनता की ग्रन्थी को परिपुष्ट करने के लिए उसके मानस मे आ धमकते है। और वे काफी समय तक उसके कोमल एव भावुक मन मे धमाचौकडी मचाकर उसे अनिष्ट सयोग रूप आर्तध्यान से व्यथित कर देते है।

आत्महीन व्यक्ति मे चिरसचित भय के सस्कार उसे गुलाम बनाए रखते हैं। वह जो कुछ भी चिन्तन करता है, उसमे भय की मिथ्या भावना मिश्रित रहती है। अत ऐसा व्यक्ति कही भी विशिष्ट स्थान मे विशिष्ट व्यक्तियो के बीच लज्जा का अनुभव करता है, दूसरो से बातचीत करने मे उसे शर्म महसूस होती है। ऐसी आत्म-हीनता की भावना के कारण वह हर परिस्थिति या सयोग को अनिष्ट सयोग मानकर आर्तध्यान करता है। बार-बार पूर्व अनुभूत कमी, अप्रिय सयोग, किसी भीति के कारण उस प्रकार के हीनता के सस्कार उसके अचेतन मन मे पुष्ट होते रहते हैं। वह काला-न्तर मे उसे भुला नही पाता। अनुभूति के दिव्य प्रकाश मे देखने पर आत्महीनता की इस अनिष्ट सयोग की ग्रन्थी के निम्नलिखित कारण प्रतीत होते है—(१) शारीरिक कमी, (२) निम्न सामाजिक स्थिति, (३) आर्थिक कमी, (४) निराशावादिता, (५) विघ्नबाधाओ की कल्पनाएँ, (६) लैंगिक न्यूनता, (७) समाज की ओर से अवहेलना, (८) आत्म-ग्लानि या पश्चात्ताप की अधिकता। इन सब अनिष्ट सयोगो के कारण व्यक्ति मे आत्महीनता या दीनता के विकल्प उठते रहते है। इसी के कारण मन मे घोर दु ख का अनुभव होता रहता हैं। श्रावक को इस आत्महीनता की ग्रन्थी से मुक्त रहना चाहिए, ताकि वह अनिष्ट सयोगजन्य आर्तध्यान रूप अनर्थ दण्ड से बच सके। उसे अपने मन मे आशा, महत्त्वाकाक्षा, आत्मविश्वास, आत्मबल और निर्भयता का सचार करना चाहिए। विचारबल रूप शस्त्र से ही आत्महीनता की गाँठ काटी जा सकती है। उसे सदा अपनी ही परिस्थिति मे सन्तुष्ट रहना चाहिए। दूसरो की उन्नति, पदोन्नति, वैभववृद्धि आदि देख-देख उनसे ईर्ष्या करने की उपेक्षा उनके प्रति प्रमोद भावना बढानी चाहिए। दूसरे की प्रगति को देखकर अपने को हीन मत मान लो। उससे अपनी तुलना मत करो। और न ही सदा इस प्रकार के गलत चिन्तन मे डूबो कि मैं गरीब हूँ, दीन हूँ, विद्या-बुद्धि हीन हूँ, मैं अधिक कमा नही पाता, मैं छोटा आदमी हूँ आदि। थोडी-सी सावधानी बरतने पर श्रावक आत्महीनता से आसानी से बच सकता है। निम्नलिखित नुस्खा इसके लिए आत्महीनता के रोग को मिटाने मे कारगर हो सकता है—(१) दूसरे हमारे बारे मे क्या सोचते हैं ? इस पचडे मे न पडिए, (२) लोगो की हँसी एव आलोचना की ओर ध्यान न दीजिए, (३) ससार की

बदर-घुडकी से मत डरो, (४) साहस से काम लो, (५) भविष्य की चिन्ता से दु खित न हो, (६) कल की चिन्ता छोडिए, (७) व्यर्थ के विचारो को हृदय से निकाल फेंकें। (८) अपना दृष्टिकोण बदलिए।

मैं अधिक न कहकर इतना ही कहूंगा कि श्रावक आत्महीनता का शिकार बन कर अनिष्ट सयोगरूप आर्तध्यान से बचे और इस विषय मे उपर्युक्त विवेकपूर्वक अनर्थदण्ड का त्याग करे।

आर्तध्यान का दूसरा प्रकार—इष्टवियोग है। अपने प्रिय राज्य, धन, सम्पत्ति यश-कीर्ति स्त्री, पुत्र आदि के वियोग होने पर दु खमग्न होना, रात-दिन रुदन, विलाप, चिन्ता करना, कलपना अथवा वियोग न हो, इसकी अहर्निश कल्पना करना इष्ट-वियोग नामक आर्तध्यान है। किसी भी प्रिय वस्तु या व्यक्ति के लिए शोक करना, रोना-कलपना, विलाप करना आदि भी आर्तध्यान है। मारवाड मे अपने परिवार के किसी व्यक्ति का वियोग होने पर महीनो तक रोना-पीटना चलता है। यह कुरुढि इतनी अधिक घर कर गई है कि किसी को रोना न आता हो तो किराये से रोने वाली औरतो को बुलाया जाता है। इस प्रकार का आर्तध्यान मनुष्य को दुर्गति मे ले जाता हे। आपको मालूम होगा, शास्त्र मे वर्णन आता है चक्रवर्ती की रानी श्रीदेवी चक्रवर्ती के वियोग मे छह महीने तक रुदन एव विलाप करती है, फलत उसे इस आर्तध्यान के कारण छठी नरक की मेहमान बनना पडता है। आर्तध्यान का इतना भयकर दुष्परिणाम है, इस बात को समझकर विवेकी श्रावक-श्राविका को मृत पुरुष के वियोग मे रोने-धोने की कुरूढि को तिलाजलि देनी चाहिए।

आर्तध्यान का तीसरा प्रकार है—शारीरिक व्याधियो से होने वाले दु खो के कारण अहर्निश चिन्तित रहना, मन मे बुरे विचार—आत्महत्या या अन्य अशुभ विचार करने मे मन को एकाग्र करना अथवा ऐसे दु खो से छुटकारा पाने के विचारो मे डूब जाना रोग-चिन्ता नामक तीसरा आर्तध्यान है।

आर्तध्यान का चौथा प्रकार है—निदानकरण। अप्राप्त विषय-भोगो को प्राप्त करने की लालसा से तीव्र सकल्प करना, उन अप्राप्त पदार्थो के कारण मन मे दु ख करना—कलपना—"हाय! मुझे वह चीज क्यो नही मिली? वह चीज मुझे कैसे मिलेगी?" इस प्रकार उक्त पदार्थ की प्राप्ति की चिन्ता के कारण उत्पन्न दु खपूर्ण विचारो मे मन को एकाग्र करना निदानकरण नामक चौथा आर्तध्यान है। श्रावक को इस प्रकार के सुखभोग विपयक निदान से बचना चाहिए। उसे सदा यह विश्वास रखना चाहिए, मेरा पुण्यबल प्रबल होगा तो मुझे वह पदार्थ अवश्य मिलेगा, अगर पुण्यबल क्षीण हुआ तो चाहे जितना प्रयत्न कर लू, मन में सकल्प-विकल्प कर लू, मुझे वह वस्तु मिल नही सकेगी।

दूसरा अपध्यान है—रौद्र ध्यान, जो आर्तध्यान से भी भयकर है। आर्तध्यान मे तो व्यक्ति व्यर्थ के बुरे विचार करके अपनी आत्मा का ही अहित करता है, किन्तु

रौद्रध्यान मे अपनी आत्मा के अहित के साथ-साथ दूसरो का अहित करने का दुश्चिन्तन करता है। जिसका मानस अत्यन्त क्रूर, अतिक्रोधी, अतिलोभी, अतिमोही, अतिस्वार्थी एव कपटी होता है, वह रुद्र कहलाता है, उस रुद्र यानी भयकर आत्मा का ध्यान—स्वार्थ, क्रोध, लोभ, मोह एव कपट आदि से प्रेरित होकर दूसरो की हानि के लिए उत्पन्न विचारो मे मन का एकाग्र होना—रौद्रध्यान है। क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, अभिमान आदि मनोविकारो से प्रेरित होकर दूसरो के लिए अनिष्ट-चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है। रौद्रध्यानी का रूप अत्यन्त क्रूर वनता जाता है, उसकी आँखें लाल हो जाती है, जरा-से निमित्त से उसके तन-बदन मे आग-आग लग जाती है, वह जरा-सी गलती पर दूसरे से वदला लेने को उतारू हो जाता है और फिर उसके लिए मन मे षड्यन्त्र रचता है, प्लान वनाता है, योजना वनाता रहता है।

'तदुलवेयालिय' नामक प्रकीर्णक सूत्र मे तन्दुलमच्छ का जीवन वृत्तान्त वताया गया है। आकार मे चावल के दाने जितना छोटा-सा मच्छ, किसी वडे मगरमच्छ की भौहो पर बैठा-बैठा इसी प्रकार का रौद्रध्यान करता है कि "यह मगरमच्छ कितना आलसी और मूर्ख है कि इतनी मछलियाँ आती है और यह छोड देता है, अगर मैं इसकी जगह होता तो एक को भी नही छोडता, सवको निगल जाता।"

बस, इन्ही रौद्रध्यानरूप क्रूर परिणामो के कारण वह मर कर सीधा सातवी नरक की यात्रा करता है। यह सब भाव हिंसानुबधी रौद्रध्यान के क्रूर परिणामो के कारण ही तो हुआ।

रौद्रध्यान के भी चार प्रकार शास्त्रकारो ने बताये है—हिंसानुबधी, मृषानुबधी, स्तेयानुबन्धी और सरक्षणानुबन्धी।

किसी की हिंसा होते देखकर प्रसन्न होना अथवा किसी को मारने-पीटने सताने आदि हिंसा रूप घोर प्रवृत्ति के लिए मन मे कल्पना करना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है। किसी व्यक्ति को मारते, पीटते, सताते, बाधते और करुण आर्तनाद करते देख-सुनकर प्रसन्न होना अथवा अमुक जीव (पशु या मनुष्य आदि) को कैसे मारा जाय, बाँधा जाय हैरान किया जाय? किसके द्वारा यह कार्य कराया जाए? इस काम को करने मे कौन चतुर है या कौन शीघ्र कर सकता है? पर-हिंसा सम्बन्धी भयकर विचारो मे मन-मस्तिक को एकाग्र करना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।

रौद्रध्यान का दूसरा प्रकार है—मृषानुबन्धी। अपनी झूठी बात को सच्ची सिद्ध करने तथा दूसरे की सच्ची बात को झूठी सिद्ध करने का उपाय सोचना, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए झूठा प्रपच रचना, झूठे शास्त्र रचने की योजना सोचना, लोगो को धर्म के नाम पर ठगने के लिए मिथ्या आडवर जाल बिछाने का उपाय सोचने मे मन-मस्तिष्क को एकाग्र करना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान रौद्रध्यान का तीसरा प्रकार है। चोरी करने की योजना वनाना, डकैती, लूट, अपहरण आदि करने के उपाय सोचना तथा विभिन्न

सभ्यचोरियो का उपाय सोचना, ऐसे कार्यों मे हर्ष मनाना, कौन अमुक वस्तु या व्यक्ति का अपहरण करके ला सकता है, चोरी या अपहरण मे कौन चतुर है ? चुगी, कर आदि की चोरी कैसे की जाए ? तस्करी या चोरबाजारी कैसे की जाए ? इत्यादि चोरी के नाना उपायो की उधेड-बुन मे डूबे रहना स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान है।

चौथा प्रकार है—सरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान। जो भूमि, सम्पत्ति, मकान, स्त्री, बाग या साधन सामग्री अथवा पद प्रतिष्ठा, सत्ता, या वैभव प्राप्त है, उसे दूसरो मे बचाने के लिए अहर्निश चिन्तामग्न रहना सरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। कोई इन्हे छीन न ले, इनका अपहरण न कर ले, इन्हे अपने कब्जे मे न कर ले अथवा ये मेरे अधिकार मे कैसे रहे ?

मैं ही इनका मालिक कैसे बना रहूँ, इसमे से कोई भी हिस्सा न बटा ले, इत्यादि प्रकार की असख्य चिन्ताओ मे मन-मस्तिष्क को व्यग्र रखना सरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है।

ये दोनो अशुभ ध्यान श्रावक के लिए त्याज्य है। प्रश्न होता है कि श्रावक तो राजा भी बन सकता है, कोई जागीरदार भी बन सकता है, एक धनकुबेर भी श्रावक हो सकता है, तो क्या वह राजा, जागीरदार या धनिक अपने राज्य, राष्ट्र, धन, परिवार या समाज की रक्षा के लिए चिन्तन नही करेगा ? क्या शत्रु से अपने राज्य को, एव चोरो से अपने धन को बचाने के लिए वह उपाय नही सोचेगा या करेगा ?

इसका समाधान यह है कि राजा हो, जागीरदार हो, या धनकुबेर हो, वह जब तक गृहस्थ श्रावक की भूमिका मे है, तब तक अपने राज्य, राष्ट्र, सम्पत्ति आदि की रक्षा के लिए उपाय सोचेगा भी, करेगा भी, किन्तु राग-द्वेष एव मोहपूर्वक रात-दिन हाय धन, हाय राज्य, इस प्रकार की चिन्ता से ग्रस्त होकर कर्मबन्धन वह नही करेगा। क्योकि इस प्रकार की रात-दिन हिंसा सम्बन्धी चिन्ता हो, या सरक्षण सम्बन्धी हो, रौद्रध्यान का रूप नही लेनी चाहिए। यही कारण है कि कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने योग शास्त्र मे इस विषय मे श्रावको के लिए उचित निर्देश किया है—

> वैरिघातो, नरेन्द्रत्व, पुरघाताग्निदीपने।
> खेचरत्वाद्यपध्यान मुहूर्तात्परतस्त्यजेत् ॥७५॥

वैरी का घात करूँ, राजा हो जाऊँ, नगर का नाश कर दूँ, आग लगा दूँ, आकाश मे उडने की विद्या प्राप्त करके आकाश मे उडूँ—विद्याधर बन जाऊँ, इत्यादि दुर्ध्यान कदाचित् आ जाय तो उसे एक मुहूर्त्त से अधिक न टिकने दे। प्रथम तो इस प्रकार का दूषित विचार मन मे आने ही नही देना चाहिए, कदाचित् आ भी जाए तो उसे ठहरने नहीं देना चाहिए।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय मे अपध्यान की व्याख्या करते हुए कहा है—पाप की बुद्धि से जय-पराजय, तथा युद्ध करने, परस्त्रीगमन करने

चोरी आदि पापकर्म करने का चिन्तन (अपध्यान) कदापि नही करना चाहिए, क्योकि इनका फल सदैव पाप रूप होता है।[1]

श्री समन्तभद्राचार्य ने अपध्यान की व्याख्या भी इससे कुछ मिलती-जुलती की है। वे कहते हैं—"राग-द्वेपवश किसी प्राणी के वध, वन्ध, छेदन आदि का, तथा परस्त्री को अपनी बनाने आदि का सर्वतोमुखी ध्यान करने को जिनशासन के श्रुत धर अपध्यान कहते हैं।[2]

वास्तव मे पाप की विजय तथा पुण्य की पराजय की इच्छा करना, तथा इसी के अनुसार घटनाओ पर विचार करने मे डूब जाना, अपध्यान है। ऐसे अशुभ ध्यान करने से किसी का हानि-लाभ तो हो नही जाता, फिर व्यर्थ ही निरर्थक ऐसा अपध्यान क्यों किया जाए, जो पाप रूप हो, अत अनर्थदण्ड हो। न्याय या न्यायी की विजय एव अन्याय या अन्यायी की पराजय के विचार अपध्यान रूप नही है। जैसे राम-रावण के युद्ध मे राम की जय और रावण की पराजय के विचार अपध्यान रूप नही थे, शर्त यही है कि गृहस्थ श्रावक को रागद्वेप के विचारो से अपने को दूर रखना चाहिए।

यदि श्रावक विवेकपूर्वक विचार करे तो अपध्यान से वच सकता है। इष्ट-वियोग, अनिष्ट सयोग, रोगादि, दु ख, चिन्ता तथा निदान करण, आदि प्रसगो मे राग-द्वेप, मोह, क्रोध, आदि उत्पन्न हो, तव निमित्त की अपेक्षा उपादान का विचार करे तो मन एकाग्र तथा शान्त रह सकता है। निमित्त तो केवल निमित्तमात्र है, सारा खेल तो उपादान का है। अत मनुष्य उपादान का विचार करे तो दुर्ध्यान से बचकर सुध्यान मे स्थिर हो सकता है।

अशुभ विचार जीवन मे अशुभ सस्कार बढाते है, वे जाते-जाते अपना अशुभ सस्कार छोड जाते है। बुरे विचार तो सिंह और बाघ से भी अधिक भयकर हैं, वे आत्मा का बहुत ही अहित करने वाले शत्रु हैं। अशुभ विचारो का सहवास असुरो के सहवास सरीखा भयकर है। अत अशुभ विचारो के केन्द्रभूत आर्तध्यान-रौद्रध्यान से श्रावक को बचना चाहिए।

प्रमादाचरित या प्रमादचर्या—अनर्थ दण्ड का दूसरा आधारस्तम्भ प्रमादाचरण हैं। प्रमाद युक्त आचरण का नाम प्रमादाचरण है। प्रमाद जीवन के लिए

---

१ पापर्द्धिजय-पराजय-सङ्गर—परदारगमन चौर्याद्या ।
न कदाचनाऽपि चिन्त्या , पापफल केवल यस्मात ॥१४४॥

—पुरुपार्थ सिद्ध्युपाय

२, वन्ध-वध-छेदादेर्द्वेपाद् रागाच्च परकलत्रादे ।
आध्यानमपध्यान शासति जिनशासने विशदा ॥७८॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

मद, लाभमद, शास्त्रमद और ऐश्वर्यमद । दूसरे अर्थ मे जब मद शब्द प्रयुक्त होत तब मद यानी प्रमाद का मुख्य उत्पादक मदिरा होने से वह मद कहलाता है । सा गृहस्थ को इन सब मदो से बचना चाहिए । जाति, कुल, बल रूप आदि का मद ही अनर्थ और सघर्ष का कारण है । श्रावक को ऊँच-नीच, छुआछूत आदि मानव या उच्चता का मद नही करना चाहिए ।

२ विषय से मतलब है—पाच इन्द्रियो के सुप्रसिद्ध २३ विपय है, आसक्त होना—विपयप्रमाद है । आत्मा इन पचेन्द्रिय विपयो मे निमग्न होकर आपको भूल जाता है । श्रावक शब्द, रूप, रस, गन्ध एव स्पर्श रूप पाचो इन्द्रियो विपयो का आसक्ति पूर्वक कभी सेवन नही करता । विपयो मे आसक्त प्राणी प्राणो को भी खतरे मे डाल देता है ।

३ कषाय—क्रोधादि चार कपाय—प्रमाद है । कपाय के वश होकर आत्मा अपना भान भूल जाता ह । अत श्रावक को कपायो से—कम से कम अनन्त बन्धी और अप्रत्याख्यानावरणीय, इन दोनो प्रकार के कपायो का तो त्याग कर चाहिए ।

४ निद्रा—निद्रा आत्मा की गफलत से लाभ उठाती है । आत्मा की साव का हरण कर लेती है ।

कई-कई जगह निद्रा के बदले 'निन्दा' शब्द भी मिलता है । निन्दा चु व्यर्थ ही समय और धन खोने के शस्त्र है । निन्दा-चुगली से परस्पर वैमनस्य, क और सघर्ष बढते है ।

५ विकथा—जिनके कहने-सुनने से दूसरो को कामोत्तेजना या वि उत्पन्न होते है । आत्मा को इससे कोई लाभ नही है । विकथा आत्म गुणो की ना है । विकथा चार प्रकार की हैं—स्त्री-विकथा, भक्त (भोजन) विकथा, राजवि और देशविकथा ।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमादाचरण की व्याख्या इस प्रकार की है—कुतूहल अश्लील गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना, कामशास्त्र पढने मे आसक्ति, जुआ खेल मद्यपान करना, निरर्थक जलक्रीडा करना, निष्प्रयोजन बडे हिंडोले मे झूलना, क वर्द्धक विनोद करना, साडो, मुर्गों आदि प्राणियो को परस्पर लडाना, शत्रु के पु के साथ वैर-विरोध रखना, उनसे बदला लेना । भोजनसम्बन्धी, स्त्रीसम्बन्धी, रा सम्बन्धी, और देश सम्बन्धी निरर्थक वार्तालाप (कथा) करना । रोग या थका सिवाय व्यर्थ ही सोये पडे रहना आदि-आदि प्रमादाचरण का बुद्धिमान पुरुष त्याग कर देना चाहिए ।[1]

---

१ कुतूहलाद् गीत नृत्य-नाटकादि निरीक्षणम् ।
कामशास्त्र प्रसक्तिश्च द्यूतमद्यादि सेवने ॥७८॥

आचार्य समन्तभद्र ने प्रमादचर्या की व्याख्या की है—निरर्थक जमीन खोदना, अग्नि प्रज्वलित करना, निष्प्रयोजन हवा का आरम्भ, व्यर्थ ही पेड-पौधे, फूलपत्ते, वनस्पति का छेदन, पानी व्यर्थ मे बहाना या ढोलना, घी, तेल, दूध आदि के बर्तन खुले छोड देना, लकडी, पानी आदि को बिना देखे-भाले काम मे लेना प्रमादचर्या है।[2] आचार्य अमृतचन्द्र ने भी इसी से मिलती-जुलती व्याख्या की है।

श्रावक को जागरूक और सतर्क रहकर तमाम प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए, उसकी थोडी-सी असावधानी से अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। रेलगाडी का पेटवान अगर लाइन बदलने के लिए जरा-सी देर भी हरी झडी दिखाने मे गफलत कर दे, तो दो रेलगाडियाँ आपस मे भिडकर चकनाचूर हो सकती हैं। इसी प्रकार श्रावक की भी जरा-सी गफलत से असख्य निर्दोष प्राणियो का सहार हो सकता हे, सघर्ष बढ सकता है, इसलिए इस अनर्थदण्ड से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

दु श्रति नामक भेद को शास्त्रकारो ने प्रमादाचरण के भेद-विकथा मे ही समाविष्ट कर दिया है।

दु श्रु ति[3] का अर्थ है—ऐसी बातो या कहानियो, उपन्यासो, नाटको का सुनना या पढना, जिनसे मन मे कामादि विकार तो पैदा होते है किन्तु न तो मानसिक उन्नति या शक्ति हो, न कोई अन्य लाभ हो। सशोधन या अध्ययन के लिए पढना दु श्रु ति नही है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार मे दु श्रु ति का अर्थ यो किया है—

> आरम्भसग साहस मिथ्यात्व-द्वेष-राग-मद-मदनै ।
> चेत कलुषति श्रु तिरधीयमाना दु श्रु तिर्भवति ॥७६॥

—जिन बातो के सुनने-पढने से चित्त आरम्भ मे आसक्ति से, पाप करने के साहस से, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और काम से कलुषित हो जाता है, वह दु श्रु ति है।

इस प्रकार की दु श्रू ति का अन्तर्भाव विकथा नामक प्रमादचर्या मे हो जाता है।

जलक्रीडाऽऽन्दोलनादिविनोदो जतुयोधन ।
रिपो सुतादिना वैर भक्त-स्त्रीदेशराट्कथा ॥७६॥
रोगमार्ग श्रमौ मुक्त्वा, स्वापश्च सकला निशाम् ।
एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरण सुधी ॥८०॥ —योगशास्त्र, पृ० ३

२ क्षितिसलिलदहनपवनारम्भ विफल वनस्पतिच्छेदम् ।
सरण सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते ॥८०॥ —रत्नकरण्डश्रावका०

३ रागादिवर्द्धनाना दुष्टकथानामपि बोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षाणादीनि ॥१४८॥ —पुरुषार्थ०

हिंस्रप्रदान—अनर्थदण्ड का तीसरा आधारस्तम्भ है। हिंसा मे सहायता के लिए उपकरण या साधन दूसरो को देना। दिगम्बर आचार्यों ने इसका नाम 'हिंसा-दान' रखा है। हिंसा करने के लिए उसके साधनो का दान करना हिंसादान है। यहाँ सूक्ष्म रूप से इसकी व्याख्या पर विचार करना है कि जिन चीजो से हिंसा हो सकती है, उन्हे प्रदान करना हिंसादान नही है, अपितु हिंसा के लिए शस्त्रादि पदार्थों को देना हिंसादान है। वास्तव मे यह अनर्थदण्ड तभी होता है, जब हिंसा के लिए शस्त्रादि कोई पदार्थ किसी को दिया जाय, जैसे दो देशो या दो शासको को परस्पर लडाने के लिए फौजो को उकसाकर हथियार देना, बमगोले आदि देना।

कई लोग इस अनर्थदण्ड को न समझ पाने के कारण अपने पडौसी या किसी परिचित सज्जन को रसोई बनाने के लिए अग्नि नही देते, शाक सुधारने के लिए चाकू नही देते, यह भूल है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस विषय मे संशोधन किया है। देखिए योग शास्त्र का वह श्लोक—

यन्त्र-लांगलशस्त्राग्नि मूशलोदूखलादिकम्।
दाक्षिण्याविषये हिंसा नार्पयेत् करुणापर.॥३।७७

अर्थात्—करुणापरायण श्रावक यन्त्र, हल, शस्त्र, अग्नि, मूसल, ऊखल आदि वस्तुओ को पारस्परिक व्यवहार (भलाई के लिए) के विषय को छोडकर न प्रदान करे। यद्यपि इस तीसरे भेद का स्वरूप ऐसा है, परन्तु इसमे सार्थक-निरर्थक का भेद किया गया है। प्रयोजन मे ऐसा करना अर्थदण्ड और निष्प्रयोजन से ऐसा करना अनर्थदण्ड कहा गया है। उपासकदशागसूत्र के टीकाकार ने इस सम्बन्ध मे विशेष स्पष्टीकरण किया है—[1] "जिनसे हिंसा होती है, उन अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधनो को क्रोधाविष्ट अथवा क्रोधावेश से रहित व्यक्ति के हाथो मे दे देना हिंस्रप्रदान या हिंसा मे सहायक होना है।

पापोपदेश—अनर्थदण्ड का चौथा भेद है। इसका अर्थ पापकर्म का उपदेश देना है। ऐसा उपदेश (प्रेरणा, सुझाव, सलाह) जिसे सुनकर व्यक्ति पाप कार्य—हिंसा, असत्य, बेईमानी, चोरी, मैथुन एव परिग्रह आदि मे—प्रवृत्त हो, वह पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। जो कार्य पापरूप है, उनका उपदेश देना पापोपदेश है।

बहुत से लोगो मे एक बहुत बुरी आदत होती है कि वे जिस चीज को बुरा समझते है, फिर भी उनका जान-बूझ कर या लापरवाही से प्रचार करते है।

परन्तु वह अनर्थदण्ड है, इसलिए श्रावक के लिए त्याज्य है। एक शराबी, जानता है कि शराब हानिकारक वस्तु है, फिर भी वह दूसरो को शराब का चस्का लगाने के लिए प्रेरणा देता है, यह पापोपदेश है। जो बात बुरी है, अगर उसे कोई

---

१ हिंसाहेतुत्वादायुधानल विषादयो हिंसोच्यते, तेषा प्रदानम्।
अन्यस्मै क्रोधाभिभूताय, अनभिभूताय प्रदान, परेषा समर्पणम्॥

—उपासकदशाग—टीका

व्यक्ति लाचारीवश या कमजोरी से नही त्याग सकता तो कम से कम उसका प्रचार तो न करे। पापोपदेश से कोई लाभ नही है, बल्कि दूसरे को अध पतन की ओर ले जाना है। इसलिए श्रावक के लिए यह त्याज्य है।

आजकल बहुत से राजनैतिक पार्टी के या श्रमजीवी सस्थाओ के नेता मजदूरो एव विद्यार्थियो को उकसाते है—हडताल कर दो, दगा करो, आग लगादो, बस जला दो, मकान के शीशे तोड दो, लूट लो, राज्यद्रोह करो, घेरा डालो, राष्ट्रोत्थान मे बाधक बनो।" ये सब भी एक प्रकार से पापोपदेश है।

इसी प्रकार कई लोगो की आदत होती है, वे दूसरो को खोटी सलाह दे देते हैं, परस्पर पतिपत्नी मे, भाई-भाई मे, या पडोसियो मे फूट डालने, हिंसा भडकाने, दगा कराने का प्रयत्न करते है। अथवा कई लोग कहते है—बकरा मारो, पशुवलि करो, बैलो को खूब पीटकर उनसे काम लो आदि।

इस प्रकार अनर्थदण्ड के चार आधारस्तम्भ ह, श्रावक को इनको भलीभाँति समझकर इनसे बचना चाहिए। जो श्रावक प्रत्येक प्रवृत्ति को प्रारम्भ करने से पूर्व अर्थ-अनर्थ का विवेक करके निरर्थक कार्यो से बचता है, वही अनर्थदण्ड के पाप से अपनी आत्मा को बचा सकता है। यो तो बाहर से(द्रव्य से) देखने मे अनर्थदण्ड प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का विनाश करता है, किन्तु भाव से अन्तरगरूप से वह आत्मा की हानि करता है, आत्मविकास रोकता है। जो व्यक्ति दूसरो को कष्ट पहुँचाता है, कष्ट पहुँचाने का विचार करता है या वाणी से प्रेरणा करता है, वह दूसरो को तो कष्ट पहुँचा सकेगा या नही, यह निश्चित नही है, किन्तु यह निश्चित है कि वह निश्चय मे अपनी आत्मा की भावहिंसा कर लेता है। इसलिए अनर्थदण्ड का परित्याग श्रावक के लिए आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि दण्ड का सर्वथा त्याग श्रावक के लिए सम्भव नही, इसलिए दण्ड के दो भेद करके गृहस्थ के लिए अनर्थदण्ड के त्याग का विधान किया गया। यदि कोई श्रावक आवेश या सनक मे आकर अर्थदण्ड का भी सर्वथा त्याग करेगा तो अर्थदण्ड के बदले दम्भादि का अधिक अनर्थदण्ड गले पड जाएगा। मान लीजिए, एक श्रावक न्यायनीतिपूर्वक व्यवसाय करके अर्थोपार्जन करता है, अगर वह इस अर्थदण्ड से भी छुटकारा पाने के लिए न्यायसगत अर्थोपार्जन भी बन्द कर देता है तो अपना तथा अपने परिवार का पेट पालने के लिए उसे या तो आत्महत्या का मार्ग स्वीकार करना होगा, या उसे डकैती, चोरी, ठगाई, जेबकटी, तस्करी आदि या ऐसे ही अन्य कार्य करने होगे, जिनसे मूलव्रत का तो भग होगा ही, उक्त महापाप से भयकर कर्मबन्धन होगा, दुर्गति होगी। इस प्रकार श्रावक अपनी उच्च भूमिका के बिना अनर्थदण्ड के त्याग के साथ-साथ अर्थदण्ड का भी त्याग कर देगा तो स्वय को अर्थदण्ड के बदले अधिक भयकर अनर्थदण्ड मे डाल देगा। हाँ, सामायिक, पौषध आदि व्रतो की आराधना के समय वह अर्थदण्ड का सर्वथा त्याग कर सकता है। इसी प्रकार समय-

समय पर विशेष त्याग करके वह अर्थदण्ड से भी यथाशक्ति बचता है। किन्तु बिना ही सोचे-समझे यो ही सनक मे आकर अर्थदण्ड का त्याग करने का परिणाम 'लेने गई पूत और खो आई पति' की कहावत को चरितार्थ करता है। अर्थदण्ड से मुक्त होने के नाम पर यदि कोई स्वास्थ्य रक्षा की उपेक्षा करके पोषक तत्त्व से युक्त खानपान छोड दे तो शरीर मे व्याधियाँ पैदा होने पर उसे भ्रष्ट दवाइयाँ, इन्जेक्शन आदि लेने पडेगे या 'अप्पाण वोसिरामि' करके अकाल मे ही अपने शरीर को यहाँ से विदा करना होगा। अर्थदण्ड से बचने के लिए कृषिकर्म का सभी लोग त्याग करदें तो क्या नतीजा आएगा ? भूखे-मरते लोग मासादि का सेवन करके और अनर्थ मे पडेंगे। अत शास्त्र-कारो ने अर्थदण्ड के त्याग का भार श्रावको पर न डालकर अनर्थदण्ड का ही त्याग करने का विधान किया है, इसीलिए इस व्रत का नाम—'अनर्थदण्डविरमणव्रत' रखा गया है।

इस व्रत पालन मे पाच दोषो से बचो

श्रावक को अर्थदण्ड का त्याग करने की चिन्ता छोडकर सर्वप्रथम अनर्थदण्ड के पाँच अतिचारो से बचने और शुद्धरूप से अनर्थदण्डविरमणव्रत का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

शास्त्रकारो ने इस व्रत के पाच अतिचार बताए है, जो जानने योग्य है, आच-रण करने योग्य नही। वे इस प्रकार है—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, सयुक्ताधिकरण और उपभोगपरिभोगातिरिक्तता।

आचार्य समन्तभद्र ने उपभोगपरिभोगातिरिक्तता के बदले 'अतिप्रसाधन' बताया है, तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने 'भोगानर्थक्य' नामक अतिचार बताया है। भावार्थ तीनो का एक ही है—उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों या साधनो का अधिकाधिक उपभोग करना।

मैं प्राचीन आचार्यों के चिन्तन के प्रकाश मे इन सबकी क्रमश व्याख्या कर रहा हूँ।

पहला अतिचार है—कन्दर्प। जिसका अर्थ है—कामवासना को उत्तेजित करने वाले, मोहोत्पादक शब्दो का हास्य या व्यग्य मे दूसरो के प्रति प्रयोग करना या सुनना कन्दर्प नामक अतिचार है। बोधवर्द्धक विनोद करना इस अतिचार मे नही है। अश्लील नाटक या सिनेमा देखने वाले, गन्दे उपन्यास या अश्लील कहानियाँ पढने सुनने वाले इस अतिचार से कैसे बचे रह सकते है ?

दूसरा अतिचार कौत्कुच्य है, जिसका अर्थ है—आँख, नाक, मुँह आदि अगो को टेढे-मेढे, भौंडे-भद्दे रूप मे विकृत बनाकर भाड या विदूषक (जोकर) की-सी चेष्टा करके लोगो को हँसाना, कुतूहल पैदा करना, बहुरुपिये की तरह विचित्र वेष बनाकर लोगो को विस्मय मे डालना।

सभ्य समाज मे ऐसा हास्याचार्य श्रावक प्रतिष्ठा का भाजन नही बन सकता।

तीसरा अतिचार है—मौखर्य। मौखर्य का मतलब है—अकारण ही अधिक बोलना, कुछ न कुछ बकवास करते रहना, इधर-उधर की दुनिया भर की गप्पें हाँकना निष्प्रयोजन अनर्गल बातें कहना। वाचालता श्रावक-जीवन के लिए अभिशाप है। वह एक रोग है, जो मनुष्य को जर्जर बना देता है। नीतिकार कहते है—'वचनपातो वीर्यपातात् गरीयान्' वचनपात (वाणी का बोलना) वीर्यपात से भी बढकर है। जो जितना भी कम बोलता है, वह उतना ही सक्षम तथा चिरजीवी होता है। प्रकृति की चिरजीविता का रहस्य उसका मौन है। प्रकृति सदैव मौन रहती है, इसलिए वडे से वडे सकटकाल मे भी अपनी रक्षा कर लेती है। बातूनी या वाचाल व्यक्ति कई बार बहुत ही खतरनाक होता है। अधिक बोलने से मानसिक एव आत्मिक शान्ति का भग होता है। इसीलिए तो भगवान महावीर ने साधको से कहा है—'बहुय माय आलवें' अधिक मत बोलो। जो मनुष्य वाणी का सयम रख सकता है, उसकी वाणी बडी प्रभावशालिनी एव तेजस्वी होती है। भगवान महावीर ने दीक्षा लेने के बाद साढे बारह वर्ष तक मौन रखा था। यही उनकी प्रबल आत्मशक्ति का रहस्य था। मौखर्य नामक अतिचार से बचने के लिए जीभ पर सयम रखना एव मौन की साधना करनी चाहिए।

इसके बाद चौथा अतिचार है—सयुक्ताधिकरण। सयुक्ताधिकरण का अर्थ है—कूटने, पीसने एव गृहकार्य के अन्यान्य साधनो का अधिकाधिक और निष्प्रयोजन सग्रह कर रखना। जैसे ऊखल, मूसल, चक्की, झाडू, सूप, सिला, लोढी आदि वस्तु एक-एक चाहिए, किन्तु बहुत अधिक सख्या मे सग्रह करके रखना। सयुक्ताधिकरण नामक अतिचार है। अथवा इस अतिचार का एक नाम असमीक्ष्याधिकरण भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है—बिना बिचारे किसी से कलह कर बैठना, बात की बात मे झगडा मोल लेना, किसी दूसरे की पचायत मे बिना किसी प्रकार का विचार किये या विना कहे पड जाना और व्यर्थ का झझट मोल ले लेना, बिना विचारे प्रवृत्ति करने को भी असमीक्ष्याधिकरण कहते है।

इसके बाद पाचवा अतिचार है—उपभोग-परिभोगातिरिक्तता। इसका अर्थ है—जो पदार्थ उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करते समय मर्यादा मे रखे थे, उनमे अत्यधिक आसक्त रहना, उनमे आनन्द मानकर उनका पुन-पुन उपयोग करना, उनका उपयोग जीवन निर्वाह के लिए नही, अपितु मौज-शौक या केवल स्वाद के लिए उनका उपयोग करना। जैसे पेट ठसाठस भरा होने पर भी स्वाद के लोभ मे आकर और अधिक ठूस लेना, कपडो की आवश्यकता न होने पर भी केवल फैशन और शौक की दृष्टि से उन्हे बार-बार बदलना, नयी-नयी डिजाइन के कपडे पहनना, केवल आनन्द या चस्के के लिए अनावश्यक बार-बार स्नान करना आदि उपभोग-परिभोगातिरिक्तता नामक अतिचार है। श्रावक को कम से कम पदार्थों से अपना

जीवन-निर्वाह करना चाहिए, तभी वह इस अतिचार से बच सकता है। मतलब यह है कि शरीर-रक्षा या जीवन निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, शय्या आदि पदार्थों का उपभोग अर्थदण्ड है, जबकि रसास्वाद, फैशन-विलास, बडप्पन प्रदर्शन या मौज-शौक के लिए भोजन, वस्त्र, शय्या आदि का उपभोग करना अनर्थदण्ड है।

अनर्थदण्ड विरमणव्रत से मन-वचन-काया से होने वाली समस्त प्रवृत्तियाँ शुद्ध होती है। प्रवृत्तियाँ निरवद्य हुए बिना आगे के सामायिक आदि व्रतो की आराधना नही हो सकती है। इसलिए जैसे किसान खेती करने से पहले खेत मे उगे हुए निरर्थक घास-फूँस, झाड-झखाड को उखाड फैकता है, तभी उस भूमि मे बीज बोने पर सुन्दर खेती हो सकती है, वैसे ही गृहस्थ साधक को सामायिक आदि की साधना करने से पूर्व अनर्थदण्ड के घास-फूंस या झाड-झखाड को उखाड फेकना चाहिए।

तभी समभाव आदि के बीज हृदयभूमि मे बोने पर आत्म-विकास की सुन्दर फसल लहलहा सकती है। वास्तव मे अनर्थदण्ड का त्याग साधक को प्रकृति के निकट लाता हे प्राकृतिक जीवन जीने की प्रेरणा देना है, जबकि अनर्थदण्ड के पुजारी भोग-परायण भौतिकवादी लोग कृत्रिम जीवन जीना पसद करते हैं, जो उनके ही लिए अधिक दु खदायक, अशान्तिजनक और भयावह होता है। इसलिए गृहस्थ श्रावक को इस व्रत के सभी पहलुओ पर विचार करके उत्साहपूर्वक इसका पालन करना चाहिए।

✡

अध्याय ४

श्रावकधर्म-दर्शन

शिक्षाव्रत : एक पर्यालोचन

- ☐ सामायिक व्रत की सार्वभौम उपयोगिता
- ☐ सामायिक का व्यापक रूप
- ☐ सामायिक व्रत विधि, शुद्धि और सावधानी
- ☐ देवशावकाशिक व्रत स्वरूप और विश्लेषण
- ☐ पौपध व्रत आत्म-निर्माण का पुण्य-पथ
- ☐ श्रावक का मूर्तिमान औदार्य अतिथि-सविभाग व्रत
- ☐ सलेखना अतिम समय की अमृत-साधना

1

सामायिकव्रत की सार्वभौम उपयोगिता

☆

आत्मिक-विकास के लिए सद्गुणो की जड़े सींचो

वृक्ष जितना ऊपर उठा और फैला हुआ दीखता है, उतना ही वह पृथ्वी के भीतर भी धँसा हुआ होता है। हर पेड की जडें काफी गहरी जाती हैं, काफी घेरा घेरती है और वे काफी सख्या मे भी होती हैं। यदि वे न हो, कम हो या कमजोर हो तो वृक्ष के ऊपरी भाग पर उसका प्रभाव सुनिश्चित होता है। कमजोर जडो वाला वृक्ष दिनानुदिन जराजीर्ण होता जाएगा, उसका विकास तो रुका ही पडा रहेगा। ठीक इसी तरह मनुष्य की आस्थाएँ, मान्यताएँ, आकाक्षाएँ, विचारधारा और प्रवृत्तियाँ, जो जडरूप मे विद्यमान रहती हैं, उन्ही का प्रतिफल बाह्य जीवन मे उन्नति-अवनति के रूप मे दीख पडता है। देखने मे सब मनुष्य लगभग समान दिखाई देते हैं, पर उनके बीच मे जो असाधारण अन्तर दीख पडता है, उसका कारण व्यक्तियो की आन्तरिक स्थिति की दुर्बलता या सबलता ही होता है।

जडो मे खाद-पानी मिले बिना या भीतर उसे फैलने-फूटने के लिए अवसर प्राप्त हुए बिना किसी वृक्ष के सुविकसित होने की आशा नही की जा सकती। इसी प्रकार सुसस्कृत व्यक्तित्व के निर्माण की सभावना तभी होती है, जब विचार-आचार को व्यवस्थित ढग से पनपाने का अवसर मिलता है। जिसकी विचारधारा एव आचार पद्धति अस्तव्यस्त है, उसे बाह्यजीवन मे तो कोई भी महत्त्वपूर्ण सफलता नही मिलती, आन्तरिक जीवन मे सफलता मिलने की आशा भी दूभर है।

सयोगवश या धूर्तता से किसी को कोई अप्रत्याशित सफलता मिल भी जाती है, फिर भी उसमे तनिक भी स्थायित्व नही होता। बाहर से थोपी हुई सफलता किसी भी समय असफलता मे परिणत हो सकती है। पेड पर नकली फल-फूल धागो मे बाँधकर लटका दिये जायँ तो कुछ समय तक फल-फूलो से लदे वृक्ष-सी शोभा तो दे सकते हैं, पर यह आकर्षण न तो स्थिर रहता है और न कोई प्रयोजन पूरा करता है। इसी प्रकार जो नकली सफलता चालाकी या धूर्तता से सयोगवश मिल जाती है, वह न तो चिरस्थायी होती है और न उस व्यक्ति का गौरव बढाती है। बल्कि अयोग्य की सफलता लोगो के लिए व्यग्य या उपहास का माध्यम बनकर रह जाती है। गुणो

के अभाव मे प्राप्त की हुई सफलताएँ छोटे बच्चो द्वारा विनोद के लिए लगाई हुई नकली मूँछो की तरह है, जो जरा-सी हरकत होने पर नीचे गिर पडती है और नकली जवानी के स्थान पर असली बचपन को फिर प्रगट कर देती हैं।

किसी व्यक्ति की वास्तविक और सुस्थिर उन्नति का आधार उसकी मनोभूमि का परिष्कार ही माना जा सकता है। जिसके भीतर सद्‌गुणो की जडे जितनी गहरी घसी हुई होगी जितनी अधिक होगी, और जितनी पुष्पित-फलित होगी, उसका बाह्य-जीवन भी उसी अनुपात से सुविकसित, सतुलित, प्रगतिशील और सुख-शान्तिमय बन रहा होगा, उसमे स्थिरता भी बनी रहेगी। परिस्थितियो के झझावातो से उसका कुछ भी विगाड नही होगा। विपरीत परिस्थितियाँ उस पर उतना ही प्रभाव डाल सकती है, जितना पतझड पेडो पर डालता है। पत्ते जरूर झड जाते है, पर वृक्ष के तनो से प्रवाहित होने वाली रसधारा उस अभाव की शीघ्र ही पूर्ति कर देती है और वृक्ष पुन नई कोपलो और पत्तियो से लद जाता है। सच तो यह है कि पतझड के बाद ही उसे फल-फूलो से लदने का अवसर आता है। इसी प्रकार विपत्तियाँ मनस्वी पुरुष का कुछ बिगाड नही पाती, बल्कि विपत्तियो को समभाव से सहकर पार-करने के बाद उसकी प्रतिभा मे चार चाँद लग जाते हैं, जिसके बल पर उसे और अधिक तेजी के साथ आत्मविकास करने का अवसर मिल जाता है।

इसलिए व्यक्ति को आत्मिक विकास के लिए सद्‌गुणो की जडें सीचनी चाहिए तभी उसका जीवनरूपी वटवृक्ष सुविकसित और विशाल बन सकेगा।

सद्‌गुणो की सम्पत्ति साधक का पुरुषार्थ

प्रश्न होता है कि सद्‌गुणो की सम्पत्ति कैसे प्राप्त होगी ? क्या कोई इष्टदेव, भगवान् या ईश्वर हमे सद्‌गुणो की सम्पत्ति प्राप्त करा देगा? अथवा किसी और शक्ति की कृपा से सद्‌गुण प्राप्त हो जाएँगे ? जहाँ तक जैनसिद्धान्त का प्रश्न है, जैनसिद्धान्त परमात्मा को अवश्य मानता है, वीतराग भगवान को भी मानता है, उनके आदर्श को प्रत्येक जैन साधक दृष्टिगत रखता है, किन्तु वे उसे सद्‌गुण प्राप्त करा देंगे, वे उसका आत्म-विकास कर देंगे, यह अपेक्षा नही रखता। सद्‌गुणो की सम्पत्ति साधक को अपने ही बलबूते पर प्राप्त हो सकती है। अपने ही प्रयत्न से, अपने ही अभ्यास से सद्‌गुणो की वृद्धि हो सकती है। सद्‌गुणो की शक्ति और विशेपताओ से अपने आपको साधक सुसज्जित करने का प्रयत्न करे। जैसे समस्त पदार्थों का आधार आकाश है, वैसे ही समस्त सद्‌गुणो का आधार सामायिक है। क्योकि सामायिक से रहित चारित्रादि गुणान्वित नही हो सकते।[1]

---

१ सामायिक गुणानामाधार खमिव सर्वंभावानाम्।
न हि सामायिकहीनाश्चरणगुणान्विता येन॥ —अनुयोगवृत्ति

अत मामायिक-साधनापरायण होने के लिए साधक को अपने अन्दर सद्गुणो जितने बीजाकुर दिखाई दें, जो अच्छाइयाँ और सत्प्रवृत्तियाँ नजर आएँ, उन्हें ।जते रहना चाहिए। उन्हे सींचने और बढाने मे लग जाना चाहिए। इस प्रकार धक को सद्गुणो के विकास के लिए उन्ही के सम्बन्ध मे सोचना, वैसा ही पढना, सा ही बोलना चाहिए, जो सद्गुणो की वृद्धि मे सहायक हो। दुर्गुणो के चिन्तन, ।तावरण, कथन, पठन-पाठन, लेखन से दूर रहना चाहिए। तभी सद्गुणो की वृद्धि, रक्षा एव विकास हो सकेगा।

त्यागवृत्ति टिकाने के लिए सामायिकव्रत

गृहस्थ श्रावक ने पाँच अणुव्रत और उन्हे परिपुष्ट करने वाले तीन गुणव्रत ो स्वीकार कर लिये है, और उनका पालन भी अपनी शक्ति के आधार पर वह कर हा है। अर्थात् पाँच मूलव्रतो को सिंचन करके जीवनरूपी वटवृक्ष को हरा-भरा, ,ष्पितफलित, छायावान तथा रमणीय रखने के लिए तीन गुणव्रतो तक को स्वीकार र लिया। परन्तु अभी तक उसने प्राय शरीर, मन एव वचन से सम्बन्धित व्रतो ो स्वीकार किया। क्योकि श्रावक जो भी व्रत स्वीकार करता है, वह सर्वांशरूप से ही, एकांशरूप से करता है। इन आठ व्रतो से वह इतनी योग्यता सम्पादन कर लेता ै कि पाँच अणुव्रतो को स्वीकार करके उसने हिंसा आदि आस्रवो का आंशिक रूप त्याग किया, महापाप का त्याग किया। भौतिक वस्तुओ मे आनन्द मानना छोडकर जीवन-निर्वाह के लिए सीमित पदार्थों का उपभोग-परिभोग स्वीकार किया, क्षेत्र मर्यादित किया, उनमे भी निरर्थक हिंसादि का त्याग किया, अपनी आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित कर ली। श्रावक इस प्रकार की त्यागवृत्ति आठव्रतो द्वारा प्राप्त कर लेता है। लेकिन यह त्यागवृत्ति तभी टिक सकती है, जब श्रावक आध्यात्मिक आनन्द से ओत-प्रोत हो, आत्मस्वरूप का उसे भान हो जाय और वह उसी मे अधिकतर मग्न रहने का प्रयत्न करे, आत्मा-अनात्मा (चेतन और जड) का भेदविज्ञान हो, आत्मा के निजी गुणो का तथा पदार्थो से आत्मा की भिन्नता का सस्कार परिपक्व हो जाय। अन्यथा, उसके द्वारा अभी तक प्राप्त त्यागवृत्ति टिकेगी नही। वैराग्य के बिना, त्याग मे स्थिरता नही आती। इसी दृष्टिकोण से शास्त्रकारो ने सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास एव अतिथि सविभाग, इन चार शिक्षाव्रतो का विधान किया, जिनसे श्रावक आत्मस्वरूप का भान जागृत रख सके, भेदविज्ञान को भी स्थायित्व प्रदान कर सके। इन चारो व्रतो का जितना अधिक अभ्यास किया जाएगा, उतना ही श्रावक-जीवन व्यापक एव प्रशस्त बनेगा, पूर्वोक्त आठ व्रतो मे उत्तरोत्तर शुद्धता आएगी।

अत त्यागवृत्ति को टिकाने के लिए सर्वप्रथम सामायिकव्रत का अभ्यास करना आवश्यक है। सामायिकव्रत की आवश्यकता और भी कुछ युक्तियो और तर्कों से सिद्ध होती है।

सामायिकव्रत का स्वीकार न करने पर

सामायिकव्रत का स्वीकार न करने पर श्रावक को अपने जीवन के लक्ष्य का भान होगा नही। वह उधर अधाधुंध त्याग तो करता रहेगा, किन्तु त्याग मे विवेक नही रहेगा, आत्मस्वरूप का भान न होने के कारण सासारिक उलझनें तथा झझटें उपस्थित होने पर वह अपना सन्तुलन खो बैठेगा। प्रत्येक कार्य करेगा, उसमे चित्त की स्थिरता नही होगी। आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान न होने से उसे त्याग का अहकार ले डूबेगा, त्याग के साथ फलासक्ति का विष उसकी की-कराई व्रताराधना को विषाक्त बना देगा, स्थूल रूप से त्याग करने के बाद भी साधक को त्याग का आनन्द नही आएगा, वह उस त्याग के द्वारा स्वय प्रसिद्ध होकर दूसरो के सामने अपनी त्याग-वृत्ति का विज्ञापन करता रहेगा। वह त्याग के साथ परलोक की सौदेबाजी करने को तैयार होगा, अथवा इहलौकिक कामना या प्रसिद्धि के चक्कर मे पडेगा। अथवा इस त्याग के कारण अभिमानाविष्ट होकर दूसरो को नीचा दिखाने या बदनाम करने और स्वय को उत्कृष्ट बताने का प्रयत्न करेगा। आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान या आत्मस्वरूप का ज्ञान जीवन मे सस्कारबद्ध न होने से उसकी सबसे पहली शिकायत यह रहेगी कि मैं तो बहुत चाहता हूँ चित्त को एकाग्र एव स्थिर करना, परन्तु आत्मस्वरूप मे न टिककर बार-बार वह भटक जाता है। दूसरो के प्रति उसके मन मे उदारता नही होती, अपने स्वार्थ या लोभ के वशीभूत होकर वह कभी-कभी दूसरो के प्रति द्वेष या रोष ले आता है। मनोज्ञ दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, आस्वाद्य आदि पदार्थों को देख-कर राग, मोह और आसक्ति होगी। अमनोज्ञ या अनिष्ट पदार्थों के प्रति द्वेष, घृणा या रोष करेगा, इष्ट पदार्थों, परिस्थितियो या व्यक्तियो आदि का वियोग तथा अनिष्ट पदार्थों के सयोग को देखकर दु खित व्यथित होगा। अपने पर सकट, व्यापार मे घाटा, या और कोई विपत्ति आ पडने पर आपे से बाहर हो जाएगा, अपना सन्तुलन बिगाड लेगा। रोग या अन्य किसी पीडा के होने पर मन स्थिति खराब हो जाएगी। किसी अभीष्ट कार्य मे सफलता न मिलने पर खिन्न, उदास एव निराश हो जाएगा। परीक्षा मे फेल होने पर, चोरी हो जाने पर मन मे आर्तध्यान करेगा या रुदन या विलाप करेगा। लडकी बडी हो जाने पर शादी की चिन्ता, लडका आवारागर्द हो जाने पर उसकी चिन्ता, यो अनेक समस्याएँ उसके मन को अशान्त बना डालेगी। इस प्रकार साधक की शिकायत यही रहती है कि क्या करें, किसी धर्म-पुण्य कार्य मे मन नही लगता, बुराइयाँ छोडने की इच्छा बहुत होती है, लेकिन छूटती नही। यो व्रतधारी श्रावक पूर्वोक्त आठ व्रतो के स्वीकार करने के बावजूद भी कर्मबन्धन को तोडने के बजाय बात-बात मे नये-नये कर्मबन्धन करता रहता है, पद-पद पर कर्मबन्धन एक या दूसरे प्रकार से होता रहता है। इतने प्रचुर साधन, धन, विद्या, बुद्धि, शारीरिक बल आदि के होते हुए भी साधक दु खी होता रहता है, बेचैन है, लोभ, स्वार्थ, तृष्णा आदि से परेशान है। एक अमुक वस्तु के अभाव मे दु ख से पीडित हो उठता है, वह उच्च शिक्षा-सम्पन्न, अच्छे पद पर प्रतिष्ठित होकर भी भूला-भटका-सा दिखाई

देता है। विद्वान्, व्यापारी, नेता, पण्डित, उच्चपद पर आसीन लोग जीवन-निर्वाह की पर्याप्त सामग्री होते हुए भी उद्विग्न एवं अशान्त मालूम होते हैं। सभी उसी एक ही प्रश्न के समाधान के लिए परेशान दिखाई देते हैं। अधिकांश लोगों की एक ही शिकायत है—संघर्ष, अभाव, दुःख, विपत्ति, क्लेश, अशान्ति और परेशानी। नीचे से लेकर ऊपर तक अधिकांश व्यक्ति इसी प्रश्न के पीछे परेशान हैं। वे तरह-तरह के प्रयत्न करते हैं, फिर भी इसका समाधान नहीं मिलता।

जीवन के प्रश्नों का समाधान : सामायिक साधना में

वस्तुतः जीवन के इस प्रश्न का समाधान बाहरी सफलताओं में या बाह्य वैभव में ढूंढने से नहीं मिलता। इसका समाधान मनुष्य के अपने अन्तर में है। मनुष्य की बुद्धि एवं भौतिक विद्या में वृद्धि हुई है, लेकिन हृदय अभी तक संकीर्ण बना हुआ है। रजोगुणी बुद्धि के बल पर व्यापार, शिक्षा, पाण्डित्य, विद्वत्ता, उच्चपद या जीवन की अन्य सभी प्रकार की सफलताएँ मिल सकती हैं, किन्तु हृदय की व्यापकता एवं विशालता तथा आत्मा के निजी गुणों एवं शक्तियों की अभिव्यक्ति के अभाव में ये सब सफलताओं के बड़े-बड़े महल उसी तरह डरावने और अटपटे लगते हैं, जैसे सुनसान अँधेरे भवन और किले। आत्मस्वरूप के भान एवं आत्मशक्ति के विकास के अभाव में मनुष्य की समस्त समृद्धि, विद्वत्ता, बड़प्पन एवं उच्चपद के भयावने भूत उसे ही खाने को दौड़ते हैं।

तीर्थंकर भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध को इन्हीं भूतों का सामना करना पड़ा। वे राजपुत्र थे, अतुल सम्पत्ति थी, सुन्दर और भव्य भवन थे, मन बहलाने के बड़े-बड़े साधन थे, और सभी कुछ थे। किन्तु उन्हें ये सब अटपटे लगे। आत्मप्रसाद, शान्ति, आनन्द, समाधान एवं सन्तोष उनको इस समृद्धि और राजमहलों में नहीं मिला। वैभव के अम्बार पर बैठकर उन्होंने शान्ति के सूर्य के दर्शन नहीं किये। वे इन सब वैभव-विलास के साधनों को छोड़कर[1] जीवन के व्यापक मैदान में आए। समस्त साधन, सम्पत्ति और सम्बन्धों के ममत्व को तोड़कर आत्मविकास के उज्ज्वल पथ पर आगे बढ़े।

प्रश्न होता है, वह कौन-सा उज्ज्वल पथ है, जिस पर चलकर[2] तीर्थंकरों ने

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र इस बात का साक्षी है—

चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दर-पावगं वा॥ —उत्त० अ० १३।२४

२ चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
सन्ती सन्तिकरे लोए पत्तो गइमणुत्तरं॥ —उत्त० अ० १८।३८

पूर्ण आत्मिक विकास प्राप्त किया, अनन्त सुख-शान्ति, असीम ज्ञान, असीम दर्शन और परम मुक्ति प्राप्त की, जीवन का सर्वोच्च पद प्राप्त किया, कृतकृत्य हुए ?

वह साधना, वह व्रत, वह अभ्यास एकमात्र सामायिक ही है, जिसके बल पर आत्मा इन समस्त पूर्वोक्त समस्याओ और प्रश्नो को समाहित करके विशुद्ध बनकर लोकालोक प्रकाशक पूर्ण आत्मविकासरूप केवलज्ञान और सर्वकर्मक्षयपूर्वक मोक्ष प्राप्त करता है। एक जैनाचार्य कहते हैं—

"सामायिक विशुद्धात्मा सर्वथाघातिकर्मण.।
क्षयात् केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ॥"

—सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्मो का सर्वथा—पूर्णरूपेण क्षय करके लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

"जे केवि गया मोक्ख, जे वि य गच्छति जे गमिस्सति।
ते सव्वे सामाइय-पभावेण मुणेयव्व ॥"

—जो भी साधक भूतकाल मे मोक्ष गए हैं, वर्तमान मे जो मोक्ष जा रहे हैं और भविष्य मे जो मोक्ष जाएँगे, समझना चाहिए, वे सब सामायिक के प्रभाव से ही गये हैं, जा रहे है, या जाएँगे।

[1]सामायिक के बिना चाहे कोई कितना ही तपश्चरण कर ले, कितने ही कष्ट सह ले, कितने ही जप कर ले, मुनिवेष धारण करके स्थूलक्रियाकाण्डरूप चारित्र भी पाल ले, किन्तु समभाव रूप सामायिक के बिना न कोई कृतकृत्य हुआ है, और न ही किसी को मुक्ति प्राप्त हुई है, और न ही होगी।

वस्तुत चिन्ता, शोक, दु ख, विपत्ति, अभाव के निवारण के लिए मनुष्य कितना ही धन, वैभव, सुख-साधन जुटा ले, भौतिक विद्याएँ कितनी ही पढ लें, बौद्धिक विकास करके चाहे जितने वैज्ञानिक आविष्कार कर ले, जल-स्थल-नभ सब पर अपना आधिपत्य जमा ले, इन सबसे ऊपर उठकर चाहे जितने वेष धारण कर ले, कान फडा ले, जटा धारण कर ले, मस्तक मुँडा ले, कितने ही रजोहरण, पात्र आदि उपकरण रख ले, श्वेत वस्त्र पहन ले, दिगम्बर (निर्वस्त्र) हो जाय, जब तक हृदय मे समभाव का उदय न होगा, तब तक न तो चिन्ता, शोक आदि समस्याओ का निवारण होगा, और न ही आत्मस्थिरता होगी और न मोक्ष होगा। इसीलिए एक आचार्य की अन्तर्वाणी फूट पडी—

"सेयबरो य आसवरो य, बुद्धो व तहव अन्नो य।
समभावभावियप्पा लहइ मुक्ख न सवेहो।"

—चाहे कोई श्वेताम्वर हो, चाहे दिगम्बर, चाहे बुद्ध हो या और किसी वेष

---

१ किं तिव्वेण तवेण, किं च जवेण, किं चरित्तेण।
समयाइ विण मुक्खो, न हु हुओ कहवि, नहु होइ ॥

का साधक हो, जिसकी आत्मा समभाव से वासित होगी, वह नि सन्देह मोक्ष को प्राप्त कर लेगा।

सामायिक की साधना स्वीकार करने पर और बार-बार उसका अभ्यास करने पर साधक का चित्त एकाग्र होने लगेगा, फिर चित्त स्थिर न होने की उसकी शिकायत नही रहेगी। उसका अन्त करण आत्मविश्वास मे स्थिर होने लगेगा। दूसरो के प्रति उसके मन मे आत्मौपम्य भावना जगेगी। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि विकार उपशान्त होने लगेंगे। वह इष्टवियोग, अनिष्टसयोग अथवा इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति मे निराश, खिन्न या उदास न होकर सम रहेगा, हानि-लाभ, सुख-दु ख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशसा आदि प्रसगो मे मध्यस्थ रहेगा, सावद्य प्रवृत्तियो (बुराइयो) से उसका मन हटकर निरवद्य प्रवृत्तियो मे स्वाभाविक रूप से लीन हो जाएगा। विपत्ति, कष्ट एव दु ख आ पडने पर वह घबराएगा नही, चिन्तित नही होगा, बेचैन नही होगा, अपितु समताभाव मे स्थिर होकर शान्त, निश्चल एव अनुद्विग्न रहेगा। भोगो के प्रचुर साधन होते हुए भी पहले जहाँ वह अशान्त एव उद्विग्न रहता था, अब सामायिक के स्वीकार करने पर वह भोगो के प्रति अनासक्त, भोग्य पदार्थों के प्रति निर्लेप एव निरपेक्ष रहेगा, आत्मस्वरूप मे रमण करने पर उसके मन मे इन भोगो की चाह भी नही जगेगी, न भोगो की कोई तृष्णा रहेगी। सामायिकव्रतधारी के द्वारा प्रतिदिन समत्व का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर, समता के सस्कार अन्त करण मे बद्धमूल हो जाने पर गृहस्थजीवन मे कोई उलझन आएगी, झझट पैदा होगी, या कोई समस्या खडी होगी तो उसका समाधान मिनटो मे वह कर लेगा, वह ऐसे विकट प्रसगो मे भी सम रहेगा, विषम परिस्थितियो मे भी शान्ति के महासागर मे गोते लगाता रहेगा, तथाकथित विद्रोहियो, विरोधियो या शत्रुओ द्वारा प्रहार किये जाने, आक्षेप किये जाने, दोषारोपण किये जाने या बदनाम किये जाने पर भी सामायिक का आराधक अपने समभाव से विचलित न होगा, समता की अपनी लक्ष्मण-रेखा से एक इच भी इधर-उधर न होगा, वह अपना सन्तुलन नही खोएगा, वह आवेश मे आकर अपनी चित्तस्थिरता को नही छोडेगा, वह साम्यभाव का अवलम्बन लेकर आत्मभावो के चिन्तन मे लीन रहेगा। अनिष्ट का सयोग हो या इष्ट का वियोग हो, भवन हो या वन हो, दु ख हो या सुख, शत्रु हो या मित्र, अथवा विरोधी हो या समर्थक, परजन हो या स्वजन सामायिकव्रती का मन ससार की समस्त ममत्व बुद्धि से दूर रहकर सदा राग-द्वेष की परिणति को छोडकर समभाव मे स्थिर रहेगा। उत्कृष्ट समभावी वीतराग प्रभु से उसकी इसी प्रकार की समभाव मे स्थित रहने की प्रार्थना होगी।[1]

---

१ दु खे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेष ममत्वबुद्धे सम मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ॥

—आचार्य अमितगति, सामायिक पाठ

कोई यह कह सकता है कि क्या तप, जप, क्रियाकाण्ड, देवपूजा, वीतराग-अर्चना, गुरुभक्ति से समताभाव नही आ सकता ? अथवा कोई व्यक्ति इन सासारिक झझटो मे पडे ही नही, एक जगह चुपचाप पडा रहे, न किसी से बोले, और न किसी से कोई वास्ता रखे, न व्यवहार करे तो क्या जीवन मे समभाव नही आ सकता ? अथवा कोई समभाव का मत्र लेकर या सामायिक का पाठ बोलकर जीवन-व्यवहार मे चाहे जैसे बरते, चाहे जैसा आचरण करे, एक जगह चुपचाप बैठकर समभाव का मत्र जपा करे तो क्या केवल इन्ही से जीवन मे समताभाव नही आ सकता ?

इन और ऐसे ही प्रश्नो के उत्तर मे यही कहा जा सकता ह कि कोरे तप, जप, क्रियाकाण्ड आदि से कदापि जीवन मे समभाव नही आ सकता, न केवल निष्क्रिय और आलसी बनकर पडे रहने से समभाव आ जाएगा। सभमाव केवल बातो से या समभाव के मत्र जाप करने मात्र से जीवन मे आ नही सकता। समभाव का मत्र लेकर या पाठ बोलकर यदि कोई जीवन-व्यवहार मे आचरण समभाव के विपरीत करता है, जरा-सी भी समभाव की बूंद जीवन-व्यवहार मे नही लाता, अनीति, अन्याय और अधर्म से युक्त जीवन-व्यवहार चलाता है, तो भला समता उसके जीवन मे कैसे आ जाएगी ?

किसी के चुपचाप निष्क्रिय बनकर बैठ जाने से तो जीवन की समस्या हल नही होगी, वह तो और भी उलझती जाएगी। यह नही हो सकता कि ससार के सभी लोग उस व्यक्ति के अनुकूल और भक्त बन जाएँ, जिस समय दूसरे लोग उस पर आक्रमण करेंगे, उसकी निन्दा करेंगे, अपमान करेंगे, उस समय समभाव के अभ्यास के बिना वह कैसे चुपचाप निष्क्रिय बैठ समता का आचरण कर सकेगा ? समता के सम्यक् अभ्यास के बिना उसमे किसी प्रकार की प्रतिक्रिया या रागद्वेष की परिणति अथवा वैकारिक हल-चल न हो, ऐसा सम्भव नही है। कोई व्यक्ति यदि चुपचाप निष्क्रिय होकर एक कोने मे बैठ जाए तो क्या कठिनाइयो, दुखो और विपत्तियो से वह बचा रह सकता है ? वे तो आएँगी ही। ऐसा कोई भी व्यक्ति ससार मे नही हुआ, जिस पर कदापि किसी प्रकार की विपत्ति, मुसीबत, कठिनाई, दु ख या पीडा आई ही न हो। उनका आना अवश्यम्भावी है। तब क्या निष्क्रिय और चुपचाप बैठने वाला असमभावी व्यक्ति उनसे छुटकारा पा सकता है ? क्या वह उन विपत्तियो के समय शान्त, अनुद्विग्न और निश्चल रह सकता है ? विपत्तियो से बचकर, लुक-छिपकर, पीछा छुडा कर या किसी अधिकारी को रिश्वत आदि देकर कोई थोडे समय के लिए क्षणिक या आशिक सफलता भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु शान्त, अनुद्विग्न और निश्चल रहने के लिए व्यक्ति का समभाव से अभ्यस्त होना आवश्यक है। कई लोग सोचा करते हैं, जैसा हम सोचते है, जैसा हम चाहते हैं, उसी के अनुरूप परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायें, उसी के अनुकूल दूसरे व्यक्ति आचरण करने लगें। अपनी हर अच्छी या बुरी आकाक्षा को वे पूर्ण हुई देखना चाहते हैं,

परन्तु यह आकांक्षा भी उसी प्रकार असफल रहने वाली है, जैसी कठिनाइयों से पूर्ण सुरक्षित रहने की कामना। परन्तु क्या कभी ऐसा होना सम्भव है? कदापि नहीं। स्वयं को अप्रिय, प्रतिकूल और दुःखद लगने वाली, कठिनाइयों को बढ़ाने वाली समस्याएँ किस प्रकार अपने अनुकूल बनाई जायँ? यह जीवन-विज्ञान का एक ज्वलन्त प्रश्न है। दूसरे व्यक्ति या पदार्थ अपने ढंग के बने होते हैं, वे इच्छामात्र से अपने अनुकूल कहाँ बन पाते हैं? यह सोचना ही गलत है कि किसी भी प्रकार से हमें जिन्दगी भर समस्याओं से छुटकारा मिल जाएगा। उलझनों से रहित जीवन की व्यवस्था इस सृष्टि में नहीं हुई है। इसलिए उससे बचे रहने की कल्पना न करके, यह सोचना चाहिए कि आए दिन उपस्थित होने वाली समस्याओं को सुलझाने का सही तरीका क्या है? उसे जानें। रास्ते में दूर-दूर तक बिखरे हुए समस्त कांटों को बुहारने-झाड़ने का दुःसाध्य पराक्रम करने की अपेक्षा विवेकी पुरुष पैरों में जूते पहन-कर उन कांटों से सहज ही अपना बचाव कर लेता है। उसी प्रकार अपने पास उलझनों को सुलझाने का यदि सही सन्तुलित दृष्टिकोण और तदनुसार समता का यथार्थ अभ्यास मौजूद हो तो भयंकर और कठिन दिखाई देने वाली समस्याएं भी बात की बात में सुलझती चली जाती हैं। परिस्थितियाँ अपने अनुकूल बनें, यह सोचते रहने की अपेक्षा परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए साम्ययोग की दृष्टि और तदनुसार प्रयत्न होना चाहिए। दूसरा व्यक्ति हमारे अनुकूल ही अपना स्वभाव बदल दे और जैसा हम चाहते हैं, वैसा ही चले, यह सोचने की अपेक्षा, यह सोचना अधिक युक्तिसंगत है कि हम अपने में ऐसी विशेष दृष्टि और पुरुषार्थ उत्पन्न करें, जिससे प्रतिकूल व्यक्ति की प्रतिकूलता किस अपेक्षा से है, यह जानकर प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल लें। वास्तव में प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने के लिए अपने भीतर कुछ ऐसी समत्वयुक्त विशेषताएं होनी चाहिए, जिससे प्रतिपक्षी परि-स्थितियां बहुत हद तक अनुकूल बन जाएँ। लुहार अपनी भट्टी में लोहे के टूटे-फूटे टुकड़े डालकर उन्हें नरम बनाता है और उनसे अपनी इच्छित वस्तु बना लेता है। इसी तरह समत्वयोगी श्रावक के भीतर भी ऐसी विशेषता होनी चाहिए, जिससे विपन्नता सम्पन्नता में बदल सके।

इस समत्वयोग (सामायिक) से जीवन जीने की कला प्राप्त होती है। इसमें मुख्यतया दो प्रकार का प्रशिक्षण होता है—(१) दूसरों की प्रतिकूलता का अनुकूलता में परिवर्तित करने की शक्ति, (२) समागत प्रतिकूलता को हँसते-खेलते सहन कर लेने की क्षमता। यह शक्ति और क्षमता जिसमें जितनी विकसित होगी वह जीवन संग्राम में उतना ही सफल रहेगा। इस बेढंगे और चित्र-विचित्र संसार में भी उसकी गाड़ी ठीक उसी तरह चलती रहेगी, जैसे फौजी टैंक ऊबड़-खाबड़ भूमि-रास्तों को पार करते हुए अपने लक्ष्य (गन्तव्य) तक जा पहुँचते हैं। जब कठिनाइयों का आते रहना स्वाभा-विक है, और परिस्थितियों का प्रतिकूल रहना भी स्वाभाविक है तो यह भी आवश्यक है कि गृहस्थ श्रावक प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने की शक्ति और क्षमता भी

उत्पन्न करे। सामायिक के दैनिक अभ्यास और प्रशिक्षण से ये दोनो गुण साधक मे आ जाते है।

यह तो आप जानते ही है कि यह ससार समरस नही हे। यहाँ शीत भी है तो उष्णता भी है, दिन भी है तो रात भी, जन्म का सम्बन्ध मृत्यु के साथ सदैव से चला आ रहा है। एक-सी परिस्थिति कही भी दिखाई नही देती। प्रत्येक परिस्थिति का विपरीत भाव अवश्य दिखाई देता है। सुख और दुख दोनो का जोडा है। यहाँ सर्वत्र न सुख है, न दुख।

कहते है, विपत्ति जब आती हे तो अकेली नही आती, वह स-दलवल आती है। एक कठिनाई से मनुष्य छूटता है कि दूसरी आ धमकती हे। स्वास्थ्य ठीक हुआ नही कि व्यापार मे घाटा लग गया। कर्ज पूरा किये दो दिन ही हुए थे कि किसी परिजन की मृत्यु हो गई। पानी की लहरो के समान एक पर एक मुसीवते दौडी चली आती है। ऐसे समय मे जो सामायिक का प्रशिक्षण नही लिये हुए है, उनके हाथ-पैर ठडे हो जाते है, बुद्धि काम नही देती, पैर लडखडा जाते हे। प्रतिक्षण आशका रहती है कि फिर कोई नई मुसीवत खडी न हो जाए। इस दुश्चिन्ता के मारे रात-दिन परेशान रहते है।

मनुष्य की अनेक इच्छाएँ होती ह—स्वस्थ शरीर की, प्रचुर धन की, सुन्दर सुशील पत्नी की, आज्ञाकारी विनयी पुत्रो की। वह अनेक कामनाएँ करता है, परन्तु परिस्थितियाँ प्रतिरोध करती हैं, जिससे उसके सुखभोग एव तृप्ति मे बाधा पडती है। इस कारण जो सामायिक का साधक नही है, वह दुख का अनुभव पद-पद पर करने लगता है। यहाँ तक कि उसे जीवन ही दुखमय लगने लगता है। जन्म होते ही पद-पद पर मृत्यु की आशका, धन बढते ही चोरो का भय, पद बढते ही औरो की ईर्ष्या, विद्वेष और मनोमालिन्य। यह क्रम चलता है, इसीलिए तो साधारण व्यक्ति को यह जीवन दुखो का घर प्रतीत होता है। किन्तु सामायिक की तालीम पाया हुआ व्यक्ति जीवन को एक खेल समझता है। उसे जीवन केवल दुखमय नही लगता वह समझता है कि जैसे वालक क्रीडा और विनोद के लिए, तथा भावी जीवन की तैयारी के लिए खेल खेलते है, ठीक वैसे ही हमे भी आत्मा का विकास करते हुए पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जीवन का खेल खेलना है। यह क्रम तो अनादिकाल से चला आ रहा हे और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। कितने ही युग बदल गए, जन्म, पालन-पोपण, विकास, सघर्ष, वृद्धावस्था, मृत्यु आदि का खेल वैसे ही चल रहा है। परिस्थितियाँ भिन्न हो सकती है, पात्र भिन्न हो सकते है, किन्तु सासारिक खेल का तारतम्य सदैव ऐसे ही चलता रहा है, चलता रहेगा। फिर सुख-प्राप्ति के क्षणो मे मदान्ध हो उठना और दुख के क्षणो मे बेतरह छाती पीटना, कौन इसे बुद्धिमत्ता का कार्य कहेगा ? इस प्रकार सुख मे फूलने और दुख मे तडपने से तो कर्मबन्धन का सिलसिला बढता जाएगा। सामायिक का अभ्यासी व्यक्ति भी इन्ही परिस्थितियो मे रहकर

जीवन जीता है, पर वह जीवन को खेल की तरह खेलता है। वह खिलाडी की भावना रखकर जीवन के मैदान मे खेलता है। खेल के मैदान मे विजय की आकाक्षा प्रत्येक खिलाडी को रहती है। हर कोई गौरव और प्रशसा प्राप्त करना चाहता है और उसके लिए हर सम्भव पर्याप्त प्रयत्न भी करता है। इतना होते हुए भी खिलाडी जानता है कि यह सब आखिर खेल ही तो है। खेल की हार-जीत कोई बडा महत्व नही रखती। खेल के मैदान से बाहर निकलते ही हारे और जीते, दोनो खिलाडी पक्ष-विपक्ष की हार-जीत की भावना को भूल जाते है और प्रेम तथा आनन्द के साथ आगे का कार्य फिर साधारण रीति से करने लगते है।

जिंदगी का खेल भी हॉकी, फुटबाल, शतरज आदि के खेलो की तरह है। शतरज के खिलाडियो के ऊँट, हाथी, प्यादा, शाह आदि क्षण-क्षण मे मरते-जीते रहते हैं, पर खिलाडियो को इस हानि-लाभ से हलकी-सी मुस्कराहट मात्र आती है। वे इसे बहुत महत्व नही देते। जो खेल की हार-जीत को ज्यादा महत्व दे देते है, वे नासमझ खिलाडी अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं। जरा-सी हार-जीत को बहुत अधिक तूल देकर आपस मे लडने-मरने और शत्रुता बाँधने को तैयार हो जाते है। इसी प्रकार जो सामायिक (समत्वयोग) की दृष्टि से जीना नही जानते, वे छोटी-छोटी बातो को बहुत अधिक महत्व दे देते हैं और फिर चिन्ता, भय, विक्षोभ, आशका, और निराशा मे ही डूबे रहते है। परन्तु सामायिक का अभ्यासी स्वय को जीवन-खेल का खिलाडी समझकर सारे ससार को एक क्रीडा-स्थल समझकर सावधानीपूर्वक जीवन का खेल खेलता है। वह दु ख आपत्ति आदि को अधिक महत्व नही देता और हँसी-खुशी के साथ मानसिक सन्तुलन रखता हुआ उन्हे पार कर देता है।

आपने देखा होगा कि नाटक के पर्दे बार-बार बदलते है। उसमे काम करने वाले अभिनेताओ को कई बार वेष बदलने और कई-कई प्रकार के अभिनय करने पडते है। जो अभिनेता कुछ ही समय पहले राजा का पार्ट राजसी ठाठ-बाठ के साथ, बडे गौरव, रौब और शान के साथ अदा कर रहा है, थोडी देर बाद उसे भिखारी का पार्ट अदा करना पडता है। वैसी ही फटी-टूटी पोशाक पहनकर दीनता भरे शब्दो मे वह याचना करता है। कभी उसे जनानी पोशाक पहनकर नारी की तरह अपने को प्रस्तुत करना पडता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति अनेक प्रकार के अभिनय करता है, परन्तु मन मे वह उस परिवर्तन का प्रभाव ग्रहण नही करता। न तो उसे राजा बनते समय कोई हर्षातिरेक होता है, और न भिखारी बनते हुए दु ख होता है। नारी के अभिनय मे भी उसे लज्जा या सकोच का अनुभव नही होता। क्योकि वह जानता है कि यह सब खेल-खेल मे हो रहा है। नाटक मे जो अभिनय करना पडता है, वह तो एक दिखावामात्र है। मै तो नाटक कम्पनी का सिर्फ एक छोटा-सा नौकर हूँ, जिसे इस प्रकार काम करके जीवन निर्वाह की व्यवस्था करनी पडती है।

अभिनेता अपने अभिनय से खिन्न अथवा उद्विग्न नही होता। और न ही दर्शको

को उद्विग्नता या खिन्नता होती है। इसी प्रकार समत्वयोग का अभ्यासी जीवन के नाटक का खिलाडी भी विभिन्न अवस्थाओ मे अपना कर्त्तव्य अदा करते समय हर्ष-शोक नही करता, वह तटस्थ रहता है, विपन्नता हो या सम्पन्नता, समभावपूर्वक वह अपना पार्ट अदा करता है। जिसने समत्वयोग का महत्त्व पूर्ण सिद्धान्त समझ और सीख लिया, उसके लिए चिन्तित और उदास बनाने वाली कोई भी परिस्थिति इस दुनियाँ मे नही रह पाती।

जीवन एक स्वप्न है। स्वप्न मे मनुष्य कभी अपने आपको राजा के रूप मे देखता है, कभी भिखारी के रूप मे। उस समय उसकी मानसिक चेष्टाएँ भी उस समय की अवस्था के अनुरूप होती है। सुख-दुःख, मिलन-बिछोह, हँसने-रोने की अनुभूति जागृत मे होने वाली क्रियाओ जैसी ही सत्य प्रतीत होती है, पर जैसे ही नीद टूटती है, पिछले स्वप्न की गतिविधियो की स्मृति मात्र रह जाती है तथा स्वप्न मे दृष्ट वस्तुओ या दृश्यो को जागरण के समय वह सत्य नही मानता। जो व्यक्ति स्वप्न मे देखी हुई परिस्थितियो को जागरण के समय भी सत्य मानकर उनसे हर्षित या दुःखित होता है, वह मूढात्मा जीने की कला नही समझता, उसी प्रकार जो व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियो को स्वप्नवत् न मानकर उन्हे सत्य मान लेता है, वह व्यक्ति भी हर्षित या दुःखित होता रहता है। किन्तु जो व्यक्ति सामायिकव्रत का अभ्यासी है, वह स्वप्न को सत्य नही मानकर मिलन-बिछोह, हँसने-रोने, विपत्ति-सम्पत्ति आदि को सुख-दुःख रूप नही समझता, न हर्ष शोक-करता है।

जीवन एक महान् यात्रा है। रास्ते मे चलते समय यात्री को कभी साफ सडक तो कभी कटीले-पथरीले जगल पार करने पडते है। कही पहाड चढने पडते है तो कही नदियाँ लाघनी पडती है, परन्तु रास्ते की थकान से घबडाकर वह ठिठक कर नही बैठता। जीवन यात्रा का सच्चा यात्री भी समभाव का पाथेय लेकर चलता है, वह भी जीवन के उतार-चढावो के समय आने वाले सुखो और दुःखो को पथ की धूप-छाया समझे। न तो सुखो मे आसक्त हो, और न ही दुःखो मे द्वेष रोष करे या घबराए। परन्तु समताभाव से अनभ्यस्त व्यक्ति जीवन यात्रा के पथ मे पडने वाले सुखो की छाया मे ही विश्राम करने के लिए उत्सुक हो जाएगा, वही जमकर बैठ जाएगा, आसक्त हो जाएगा और दुःखो के समय रोष-द्वेष करने लगेगा, निमित्तो पर दोपारोपण करके उनको भला-बुरा कहता रहेगा, कोसता रहेगा। यह बुद्धिमानी नही है। बुद्धिमानी इसी मे है कि सामायिकव्रती श्रावक सुखो के समय राग और दुःखो के समय द्वेष न करके समभाव की पगडडी पर निराबाध चलता रहे, अपने लक्ष्य—वीतरागता—के प्रति लगन और तत्परता बनाए रखे। ऐसा समभावी साधक देर-सबेर मजिल तक अवश्य पहुँच सकता है।

जीवन एक सग्राम है। यह सग्राम ऐसा है कि इसमे कायरो को भी लडना पडता है और शूरवीरो को भी। यह प्रतिदिन का सग्राम है। जो व्यक्ति डरपोक या

कायर है, क्या उसके जीवन मे सघर्ष नही आएँगे ? समस्याएँ नही आयेंगी ? सघर्ष और समस्याएँ—दोनो का आवागमन अवश्यम्भावी है। कठिनाइयाँ, दु ख, मुसीबतें आदि ऐसे ही शत्रु है, जिनसे सघर्ष करना आवश्यक है, इनसे पिंड छुडाना कठिन है। जव ये आएँगी ही तव इनके साथ समत्वयोग का अभ्यासी (सामायिकव्रती) वीर योद्धा की तरह लडता है। परन्तु जो सामायिकव्रत से अनभिज्ञ होते हैं, वे समत्वयोग रूपी शस्त्र उठाने से भी काँपते हैं, वे साहसपूर्वक उन सघर्षो या समस्याओ से जूझ नही सकते, क्योकि उनके पास न तो समभाव का शस्त्र है और न ही सामायिकव्रत की विद्या प्राप्त हे। इसलिए जीवन-सग्राम मे ऐसे कायर व्यक्ति परास्त हो जाते है, दु ख, कठिनाइयो एव विपत्तियो आदि से घबराकर उनके समक्ष हथियार डाल देते हैं, लेकिन समत्वविद्या मे पारगत सामायिकव्रती साधक स्वय जूझकर विजयी होते है, वे कभी विपत्तियो या कठिनाइयो के सामने हथियार नही डालते, समर्पण नही करते। वे रक्त की अन्तिम बूद तक काम-क्रोधादि शत्रुओ से लडते है और उन्हे परास्त करके पूर्ण आत्म-विकास के पथ पर आगे बढते हैं। शरीर और शरीर से सम्वन्धित सजीव-निर्जीव वस्तुओ के प्रति ममत्व से भी सघर्ष करते हैं, और उस पर विजयी वनते है।

जीवन-उद्योग मे सफलता के लिए सामायिक प्रशिक्षण आवश्यक

प्रत्येक उद्योग-धधे को चलाने से पूर्व उसके सम्बन्ध मे सभी तरह की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक होता है कि उसे ठीक तरह से किस प्रकार चलाया जाय ? कल-कारखाने, खेती, व्यापार, मशीन, फैक्टरी आदि कुछ भी काम करना हो तो पहला प्रयत्न यही किया जाता है कि उसके सम्वन्ध मे बारीकी से सव कुछ जानकारी और ठीक-ठीक अनुभव प्राप्त कर लें। कोई आलसी या जिद्दी व्यक्ति प्रमादवश जानकारी की उपेक्षा करके उस कार्य को प्रारम्भ कर दे तो उसे घाटा उठाना पडता है और अन्त मे उसका कारोवार चौपट हो जाता है। कोई व्यक्ति मोटर चलाना प्रारम्भ कर दे, किन्तु उसने न तो मोटर ड्राइवरी सीखी है और न ही उसके पुर्जों की कोई जानकारी है तो वहाँ एक्सीडेंट (दुर्घटना) होने का खतरा है। हिसाव-किताव या क्रय-विक्रय के अनुभव के विना यदि कोई व्यक्ति व्यापार शुरू कर देता है तो उसका व्यापार आगे चलकर ठप्प हो जाएगा। जिसे खेती करना नही आता, वह खेतो मे बीज विखेरता फिरे, इतने मात्र से अच्छी फसल की आशा कैसे रखी जा सकती है ? सेना, प्रशासन, पुलिस, रेलवे आदि सरकारी महकमो मे नौकरी करने से पहले व्यक्ति को ट्रेनिंग लेना आवश्यक होता है। ट्रेनिंग के विना यो ही अनाडी, अप्रशिक्षित रगरूटो की भर्ती कर ली जाए तो उन अधिकारियो को भारी परेशानी उठानी पडती है। अनाडी, अनभिज्ञ या अप्रशिक्षित (अनट्रेण्ड) व्यक्ति जहाँ भी जाते हैं, वहाँ कोई न कोई सकट ही उत्पन्न करते है।

जिंदगी जीना भी एक प्रकार से भारी उद्योग को चलाना है। किसी मिल-

मालिक को जिस प्रकार छोटी से लेकर बडी तक अगणित समस्याओ को प्रतिदिन प्रतिक्षण सुलझाते रहना पडता है, उसी प्रकार मानव-जीवन मे भी अगणित समस्याएँ हर घडी प्रस्तुत रहती हैं और उन्हे समय-समय पर सुलझाना आवश्यक होता है। यदि उन समस्याओ का सुलझाव ठीक न हुआ तो गुत्थियाँ और अधिक उलझ जाती है। विपम दृष्टि एव गलत सस्कार वाले लोग जीवन-उद्योग मे आने वाली मामूली समस्याओ को न तो ठीक ढग से सुलझा पाते है, और न ही वे सुलझाने का उपाय दूसरो से पूछते है, ऐसी दशा मे मूल समस्याएँ सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझ कर परेशानी बढाती हैं। किन्तु जिसकी समत्व दृष्टि है, जो सामायिक के ज्ञान से अभ्यस्त है, समभावपूर्वक जीवन जीने की कला जानता है, वह व्यक्ति जीवन-उद्योग मे आने वाली अगणित समस्याओ को यथार्थ रूप से सुलझा देता है।

ऐसा इस ससार मे कदापि नही होता कि जीवन मे कभी समस्याएँ, कठिनाइयाँ या मुसीबते आए ही नही, अथवा किसी भी व्यक्ति को पूर्ण निश्चिन्तता के साथ सरल और शान्तिपूर्ण जीवनयापन करने की सुविधा मिली हो। यदि ऐसा होता तो मानवीय बुद्धि, क्षमता और शक्ति का विकास ही सम्भव न होता। समस्याएँ, कठि-नाइयाँ एव मुसीबतें जीवन मे आती है, उस समय समभावी बुद्धि से यथार्थ रूप से उनका हल खोजना पडता है, और अपना रास्ता स्वय साफ करना पडता है, तभी बुद्धि, कर्तृत्व क्षमता, सामर्थ्य, आत्म-शक्ति आदि का विकास होता है।

गतिशीलता के लिए सामायिक आवश्यक

फिल्म मे तस्वीरें एक के बाद एक न आएँ तो सिनेमा दर्शको का मन ही ऊब जाय। पूरे फिल्म मे एक ही चित्र सामने खडा रहे तो उसे कौन दर्शक देखना पसन्द करेगा ? अनेक हलचल भरे दृश्य सामने आते है, तभी वह फिल्म दर्शक का ठीक तरह से मनोरजन कर सकती है। इसी प्रकार इस ससार मे मनुष्य के सामने एक ही तरह की सुखजनक परिस्थिति ही आती जाए तो वह आलसी, अकर्मण्य बन कर बैठ जाएगा। जब अनेक चिन्ताजनक परिस्थितियाँ सामने आती हैं, अनेक गुत्थियाँ उसके जीवन मे उलझती है, तब वह उन परिस्थितियो और गुत्थियो को सुलझाने का पुरुषार्थ करता है। और जीवन विकास की खरी परीक्षा तो उस समय ही होती है, जब गृहस्थ साधक समभाव मे स्थित होकर उन गुत्थियो को सुलझाता है, विपरीत परिस्थितियो का सामना करता है, हँसते-खेलते अनेक समस्याओ को हल करता है, अनेक सघर्षो से लोहा लेता है। अगर उसे समस्याएँ हल न करनी पडती, या सघर्ष न करना पडता तो उसकी गतिशीलता कभी की समाप्त हो गई होती। विपम परि-स्थितियो व सघर्ष का सामना करने मे ही सामायिक की आवश्यकता होती है।

समत्व-योगी विपरीत परिस्थितियो मे प्रसन्न

'' जो व्यक्ति सामायिक-साधना का अभ्यस्त होता है, वह विपरीत से विपरीत परिस्थितियो मे भी व्यग्र नही होता, वरन् धैर्य, समत्व एव सहनशीलता का आश्रय

लेकर कर्तव्य-पथ पर दृढ रहता है । ऐसा साधक अप्राप्त पदार्थों की इच्छा नही करता, क्योकि वह जानता है कि हमे जो कुछ मिलना उचित है, वह हमे मिल ही जाएगा । इसी प्रकार जो उसे प्राप्त है, उसमे भी वह आसक्त नही होता और न ही यथावसर प्राप्त का विरोध करता है कि मुझे इतना कम क्यो मिला, खराब पदार्थ क्यो मिला ? क्योकि वह जानता है कि यह पदार्थ भी सदा नही रहेगा । अगर समभावी साधक का कोई इष्ट पदार्थ चला भी जाता है तो वह उसके लिए शोक नही करता । क्योकि वह मानता है कि उस पदार्थ को मेरे पास इतने ही समय तक रहना था । वह भाग्य का दास बनकर नही, स्वामी बनकर रहता है ।

दिल्ली मे एक जौहरी रहता था । वह सामायिकव्रत का अभ्यासी था । एक दिन सामायिक की साधना मे बैठने से पूर्व उसने अपने गले मे पहना हुआ बहुमूल्य हार उतार कर अपने कपडो के साथ रख दिया और आसन बिछाकर सामायिक-साधना के योग्य वस्त्र पहन कर बैठ गया । वही पर एक दूसरा गृहस्थ बैठा था, उसने इस जौहरी को हार उतार कर कपडो के साथ रखते हुए देख लिया । जौहरी श्रावक जब सामायिक की साधना मे समत्वभावो मे निमग्न था, तभी दूसरे गृहस्थ ने जौहरी श्रावक के कपडो मे से वह बहुमूल्य हार निकाला और उसे वह हार बताकर कहा— "मैं आपका यह हार ले जा रहा हूँ ।" जौहरी श्रावक सामायिक मे तल्लीन था, उसने आँखो से देखा तो सही, परन्तु बोला कुछ नही । न वह अपनी सामायिक-साधना से विचलित हुआ, न उस हार ले जाने वाले के प्रति रोष, प्रतिरोध या प्रहार करने की भावना हुई, और न ही शोर मचाकर उसे गिरफ्तार कराने की इच्छा हुई । यदि वह ऐसा करता तो उसने सामायिक ग्रहण करते समय जो सावद्ययोग का त्याग किया था, वह भग हो जाता और सामायिक की साधना चौपट हो जाती । जौहरी श्रावक अपने समभाव पर दृढ था, बहुमूल्य हार जाने पर भी वह सामायिक मे स्थिर रहा । दूसरा गृहस्थ उस हार को लेकर जौहरी श्रावक के देखते ही देखते नौ-दो ग्यारह हो गया ।

सामायिक पूर्ण करके जौहरी श्रावक अपने घर आया तो उसके गले मे वह मूल्यवान हार न देखकर परिवार वालो ने उस हार के लिए पूछा । लेकिन उसने सोचा— नाहक ही इनके मन मे विषमता पैदा होगी, अत घर वालो को उसने हार चुराये जाने के विषय मे कुछ नही बताया, और न यह कहा कि मैं सामायिक मे बैठा था, तब अमुक व्यक्ति आया था, वह मेरा हार ले गया । बल्कि घर वालो के अति-आग्रहपूर्वक पूछने पर उसने इतना ही कहा—"हार सुरक्षित है ।" जौहरी श्रावक को हार के चले जाने का कोई खेद नही था । उसने यही सोचा— हार के चले जाने का सयोग था, चला गया ।'

हार का अपहरणकर्ता वह गृहस्थ उसे लेकर कलकत्ता चला गया । वहा उसने किसी साहूकार के यहा वह हार गिरवी (बन्धक) रख दिया । उस बन्धक हार के बदले

मे प्राप्त अर्थराशि से उसने व्यापार किया। सयोगवश उस गृहस्थ का व्यापार चमक गया। पर्याप्त लाभ हुआ। अब उस गृहस्थ ने सोचा—"अब मेरा व्यापार चमक उठा है, लक्ष्मी भी खूब प्राप्त हो गई है। अब उस हार को उसके असली मालिक को ले जाकर ससम्मान वापिस सौंप देना चाहिए।" यह सोचकर उसने उक्त बन्धक रखे हुए हार को रुपये देकर छुडाया। हार लेकर सीधा दिल्ली आया। उसने जौहरी श्रावक के पास जाकर बहुत अनुनय-विनय एव क्षमायाचना की और वह हार ससम्मान जौहरी श्रावक को सौंपा। जौहरी श्रावक से उक्त हार को गिरवी रखने और उससे प्राप्त रकम से व्यवसाय चमकने का सारा वृत्तान्त सुनाया। जिसे सुनकर जौहरी श्रावक की आस्था सामायिकव्रत पर और अधिक सुदृढ हुई। जौहरी श्रावक की सामायिक-साधना मे सुदृढता से उक्त गृहस्थ को भी प्रेरणा मिली। वह भी सामायिकसाधना नियमित रूप से करने लगा।

आशय यह है कि सामायिकसाधना मे पारगत एव अभ्यस्त व्यक्ति ही इस प्रकार की विषम परिस्थिति मे समभाव रखकर सावद्ययोग से विरत रहकर अपना आत्मविकास कर सकता है, और नवीन कर्मबन्धन को रोक सकता है, प्राचीन कर्मो को अमुक अशो मे क्षय कर सकता है। सामायिक के अभ्यास के बिना यह सब होना कठिन है।

यह सामायिक का ही चमत्कार था कि जौहरी श्रावक के मन मे प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी विषमभाव नही आया, वह समभाव मे ही स्थित रहा।

सामायिक से लाभ क्या और कब ?

आप सामायिक की उपयोगिता और महत्व के सम्बन्ध मे समझ गए होंगे। परन्तु इतना होने पर भी साधक के मन मे एक प्रश्न बार-बार उठा करता है, उठना स्वाभाविक है कि सामायिक से क्या लाभ होता है ? जब तक किसी साधना के फल का ज्ञान नही होता, तब तक उसके प्रति रुचि, उत्साह और उत्सुकता नही जागती, और बिना उत्साह, रुचि एव उत्सुकता के किसी भी साधना मे प्रवृत्त होने से कोई भी साधक उसकी पूर्णता या पराकाष्ठा तक नही पहुँचता।

हाँ, तो सामायिक से आत्मा को क्या लाभ होता है ? इसका उत्तर मैं स्वय न देकर उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन का प्रश्नोत्तर प्रस्तुत कर देता हूँ—

प्रश्न है—'सामाइएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

—(भगवन् ! सामायिक से, आत्मा को क्या लाभ प्राप्त होता है ?)

उत्तर है—सामाइएण सावज्जजोगविरइं जणयइ।

—सामायिक से आत्मा को सावद्ययोग (मन-वचन-काया की पापयुक्त प्रवृत्ति) से विरतिरूप महाफल की प्राप्ति होती है।

आजकल के साधको की दृष्टि आत्मविकास के विषय मे स्पष्ट न होने से वे अपनी जप, तप, व्रत, सामायिक, पौषध आदि की साधना का फल इस लोक मे धन, स्वास्थ्य, सुख, साधन, ऋद्धि या सिद्धि आदि भौतिक वैभव की प्राप्ति तथा परलोक मे भी देवो के भोग, सुख, देवागना आदि की प्राप्ति चाहते है, परन्तु साधना अगर आध्यात्मिक है तो उसका भौतिक फल चाहना पुन समता से विषमता मे जाना है। सामायिक अध्यात्मसाधना है, वह आत्मा को पौद्गलिक-वैषयिक सुखो की आसक्ति तथा विषम प्रतिकूल परिस्थितिजन्य दु खो के प्रति द्वेप से विरत करके आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर तक पहुँचाने वाली है।

आत्मा, जो अनादिकाल से पौद्गलिक सुखो से परिचित होने के कारण ज्यो-ज्यो पौद्गलिक सुख-साधन एकत्रित करता रहता है, त्यो-त्यो उन साधनो के साथ लगी हुई चिन्ताओ, विपमताओ एव रागद्वेप की परिणतियो से घिरकर अधिकाधिक कर्मबन्धन करता है, अधिक दु खी होता जाता है। सामायिक का उद्देश्य आत्मा का ऐसे दुखो से छुटकारा पाना है। अगर आत्मा का विकास और सुख पौद्गलिक सुख-साधनो मे ही होता तो बडे-बडे धनकुबेरो, सम्राटो और चक्रवर्तियो के पास किन साधनो की कमी थी कि उन्होने उन साधनो का त्याग करके अपनी आत्मसाधना की, आत्मविकास किया ? इससे साफ प्रतीत होता है कि भौतिक साधनो मे सुख नही है, जिन्हे प्राप्त करने के लिए सामायिक साधना की जाए। अत सामायिक के लाभ के सम्बन्ध मे इहलौकिक या पारलौकिक सुख-प्राप्ति की कल्पना करना उचित नही है। दशवैकालिक सूत्र (९वे अध्ययन ३-४) मे इस बात को विशेप रूप से स्पष्ट किया गया है कि आत्मकल्याण के लिए किया जाने वाला कोई भी धर्माचरण इहलौकिक या पारलौकिक सुख, समृद्धि, कीर्ति, श्लाघा या प्रशसा आदि की दृष्टि नही करना चाहिए, अपितु सिर्फ निर्जरा (कर्मक्षय) के लिए, या वीतरागता की प्राप्ति के लिए करना चाहिए। यही बात सामायिक के सम्बन्ध मे समझिए। सामायिक समभाव की साधना है। समभाव आते ही व्यक्ति का विपमभाव नष्ट हो जाता है। राग, द्वेप, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से प्रेरित होकर मनुष्य मन मे, वचन से, काया से जो सावद्य (पापयुक्त) प्रवृत्ति कर बैठता है, सामायिक साधना से, जब समभाव मे स्थित हो जाता है, तब ये राग-द्वेपादि भाव स्वत हट जाते हैं। समत्व के प्रकाश मे विपमतावर्द्धक सभी सावद्य प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। यही सामायिक का लाभ है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के लिए जो-जो दु ख और असमाधि के कारण है, उन सासारिक उपाधियो से मुक्त होना ही सामायिक का फल है।

सामायिक व्रत से यह लाभ तभी हो सकता है, जब श्रावक श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन सामायिकव्रत का अभ्यास करे। एक दिन सामायिक की साधना की, फिर छोड दी, आठ दिन बाद फिर की, फिर महीने भर के लिए सामायिक की साधना खूंटी

पर टाँग दी। यो बीच-बीच मे साधना को छोड देने से साधना सुदृढ नही होती और साधना सुदृढ हुए बिना उसका यथेष्ट फल नही मिल सकता। पातजल योगदर्शन में साधना के दृढीकरण के सम्बन्ध मे कहा है—

'स तु दीर्घतरनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि'

दीर्घकाल तक, निरन्तर, सत्कार (श्रद्धा भक्ति) पूर्वक यथाविधि आचरण करने पर ही वह साधना दृढभूमि (मजबूत) होती है। सामायिक की साधना के सम्बन्ध मे भी यही बात है। चिरकाल तक सतत लगातार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सामायिक की नियमित साधना करने से वह सुदृढ होगी, तभी पूर्वोक्त फलदायिनी बनेगी। वृक्ष को कई वर्षो तक लगातार सीचने, खाद देने तथा उसकी सब प्रकार से सुरक्षा करने पर ही वह फलवान होता है, मधुर फल प्रदान करता है। इसी प्रकार सामायिक साधना भी तभी यथेष्ट फलवती हो सकती है, जबकि सावधानीपूर्वक सामायिक तरु को सीचे, यानी प्रत्येक विचार, प्रवृत्ति, अनुष्ठान, कार्य या वचन मे सामायिक का ही चिन्तन-मनन करे, सामायिक को समक्ष रखें। सामायिक को ही जीवन का अग बना लें तथा सद्गुणो या निरवद्य प्रवृत्तियो का ही खाद दें तथा दुर्गुणो के अन्धड से, दुराचरण या अनाचार के वातावरण से, सावद्य प्रवृत्तियो के पशुओ से सामायिक वृक्ष को रक्षा करें।

मनुष्यजीवन मे अच्छी-बुरी दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ आती हैं, दो प्रकार की प्रवृत्तियो का वातावरण मिलता है। परन्तु सामायिक व्रत धारक श्रावक को बुरी प्रवृत्तियो (सावद्य=पापयुक्त मन-वचन-काया के व्यापारो) को प्रोत्साहन नही देना चाहिए, तभी अच्छी प्रवृत्तियो (निरवद्य योगो) को विकसित होने का अवसर मिलेगा और सामायिक साधना पुष्पित-फलित होगी। सामाजिक साधना तभी फलवती हो सकती है। सामायिक साधना एकान्त निवृत्यात्मक नही है। अगर वह एकान्त निवृत्ति रूप हो तो सामायिक मे आत्मचिन्तन, मनन या स्वाध्याय, प्रवचन श्रवण आदि की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इसीलिए एक आचार्य ने सामायिक की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है—

'सामाइय नाम सावज्जजोग परिवज्जण, निरवज्जजोग पडिसेवण च।'

—सावद्ययोग का परित्याग और निरवद्ययोग का सेवन करना ही सामायिक है।

मन-वचन-काया से सावद्य और निरवद्य दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। अत साधक को सामायिक साधना मे सावद्य (बुरी, पापमय) प्रवृत्तियो से मन-वचन-काया को बचाना है, सावद्य वातावरण एव सावद्य कुसग से भी अपने मन-वचन काया को दूर रखना है। और साथ ही निरवद्य प्रवृत्तियो मे अपने मन-वचन-काया को लगाना है। अशुभ प्रवृत्तियो मे निवृत्ति भी तभी हो सकती है, जब शुभ प्रवृत्ति में साधक प्रवृत्त होगा। अर्थात् साधक की शुभ मे प्रवृत्ति अशुभ से निवृत्तिलक्षी

होगी, तथा अशुभ से निवृत्ति शुभ मे प्रवृत्तिलक्षी होगी। अत अगर साधक सावद्य प्रवृत्तियो से दूर रहना चाहता है, जोकि सामायिक साधना के लिए आवश्यक है, तो वह सावद्य प्रवृत्तियो के चिन्तन-मनन को अवसर न दे, जहाँ सावद्य प्रवृत्तियाँ हो रही हो, उन्हे प्रोत्साहन न दे, जब प्रतिदिन सतत नियमित रूप से ऐसा होगा तो फिर सावद्य प्रवृत्तियाँ स्वत मुरझा कर मृतप्राय दशा मे जा पहुँचेगी।

यह प्राय देखा जाता है कि मनुष्य जिन लोगो के निकट सम्पर्क मे रहता है, जैसे वातावरण मे रहता है, जिस प्रकार के लोगो के साथ बैठता-उठता है, विचार विनिमय करता है, प्राय उन्ही व्यक्तियो या परिस्थितियो के आकर्षण एव प्रोत्साहन से प्रभावित होकर अपनी प्रवृत्तियाँ करता है। बुरे लोगो के सम्पर्क मे आकर भोले-भाले लोग उनका अनुकरण करने लगते है, उनकी-सी बुराइयाँ अपने जीवन मे ले आते है या सीख लेते है, कुमार्ग पर चलने लगते है। नशेबाजी का प्रारम्भ भी प्राय ऐसे ही होता है। उपयोगिता के कारण लोग नशीली चीजो का सेवन करना प्रारम्भ नही करते, किन्तु अधिकाश तो अपने यार-दोस्तो के बार-बार आग्रह से, उनकी देखादेखी, इस बुरी लत के शिकार बन जाते हैं। सभी दुष्प्रवृत्तियो का प्रारम्भ कुसग एव कुसम्पर्क के कारण होता है। यार-दोस्तो के सम्पर्क से पहले उनमे तथाकथित बुराई के अनुकरण की इच्छा जागती है, फिर कुमित्रो का अनुरोध होता है, तत्पश्चात् उस बुराई मे प्रवृत्ति होती है।

इसलिए सामायिक साधक को सावद्य प्रवृत्तियो (बुराइयो-पापकर्मो) के प्रेरक कुसग और कुसम्पर्क से सदा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा, दिन-रात के चौबीस घटो मे से शयन के अतिरिक्त १६-१७ घटे अगर कुसग-कुसम्पर्क मे बिता कर एकाध घटा सामायिक साधना मे बैठेंगे तो बाहर से चाहे सावद्य प्रवृत्तियो का आप त्याग कर देंगे, लेकिन मन-मस्तिष्क के क्षेत्र मे वे अपनी लीला दिखाये बिना न रहेगी। कुसग और कुसम्पर्क केवल व्यक्तियो का ही नही होता, पुस्तको एव विचारो का भी होता है, दुर्व्यसनो एव दुर्वातावरण का भी होता है, दुर्दृश्यो के प्रेक्षण का भी होता है, दुश्चिन्तन एव दुर्ध्यान का भी होता है। दुर्गुणो एव दुष्प्रवृत्तियो का भी होता है। अत सामायिक साधक को अपनी साधना का सुफल प्राप्त करने के लिए इन और ऐसे ही सावद्यप्रेरक कुसग, कुसम्पर्क एव बुरे वातावरण से जहाँ तक हो सके बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

अगर सामायिक साधक अपना सम्पर्क बुरी आदत वालो के साथ रखेगा, तो वे प्रत्यक्ष चाहे कुछ भी न कहे, पर परोक्षरूप मे अधिक सम्पर्क के कारण उनका प्रभाव पडे बिना न रहेगा। जो बुराइयाँ उनमे है, उसमे कम से कम घृणा तो मिट ही जाएगी। शराब मे आपको घृणा है, लेकिन आपके जो मित्र शराब के आदी होंगे, और उनकी यह आदत आपके सामने ही चरितार्थ होती रहेगी तो आपके मन मे शराब के प्रति जो घोर घृणा थी, वह थोडे ही दिनो मे समाप्त हो सकती है। इतना

ही नही, शराब को उठाने, धरने, खरीदने और लाने की झिझक भी मिट सकती है और एक दिन उसे पीने लगने का अवसर भी आ सकता है। भले ही वे दोस्त उसके लिए कुछ भी आग्रह न करें, पर दोस्ती और सम्पर्क के फलस्वरूप इतना प्रभाव तो स्वत पड ही जाता है।

इसीलिए सामायिक की साधना के साथ-साथ आचार्यों ने द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि कालशुद्धि, भावशुद्धि, मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि का विधान किया है। उसके पीछे यही दृष्टिकोण रहा हुआ है, जो मैं पहले कह चुका हूँ। वातावरण शुद्धि की दृष्टि से ही आजकल सामायिक साधना करने की परिपाटी प्राय धर्मस्थानो, मन्दिरो, पौषधशालाओ या उपाश्रयो मे है। किन्तु यह बात नही भूलना चाहिए कि धर्मस्थान के शुद्ध वातावरण, शुभ सम्पर्क, सत्सग या सुस्थान का प्रभाव अपनी आत्मा पर तभी पड सकता है, जबकि आप धर्मस्थान से बाहर भी कुसग, कुसम्पर्क, कुस्थान, अशुद्ध वातावरण आदि से यथासम्भव बचे रहे।

प्रतिवर्ष रावण का पुतला जलाने और रामचन्द्रजी को गद्दी पर बिठाने की रामलीला जगह-जगह होती है। इसका तात्पर्य यह है, बुरे व्यक्तियो से दूर रहने और अच्छे व्यक्तियो के सम्पर्क मे आने की प्रवृत्ति बढती रहे। किसी व्यक्ति, वातावरण, स्थान, परिस्थिति और प्रवृत्ति आदि से सम्पर्क बढाते समय आपको सदा ध्यान रखना है कि वह व्यक्ति आदि गुण, कर्म, स्वभाव, परिणाम आदि की दृष्टि से किस श्रेणी का है ? यदि उसमे बुराइयाँ अधिक और अच्छाइयाँ कम दिखाई दें, तो अच्छा यही है कि उससे घनिष्टता न बढाएँ। धर्मस्थान मे या जगल मे अकेले बैठे रहना अच्छा है, समय को अच्छी पुस्तको या ग्रन्थो का स्वाध्याय करके व्यतीत करना श्रेष्ठ है, लेकिन निकम्मे लोगो या निकम्मे वातावरण मे रहकर हा-हा, हू-हू करते हुए चाण्डाल चौकडी जमाना ठीक नही है। सावद्यकर्मो—बुराइयो से बचने के लिए यह आवश्यक है कि आप बुरे वातावरण तथा व्यक्तियो के सम्पर्क से बचे रहे। यही कारण है कि सावद्ययोगो के वातावरण से दूर रहने के लिए साधु-साध्वी वर्ग धर्मस्थान या ऐसे ही सुस्थान मे निवास करते है, ताकि निरवद्ययोग (अच्छाइयो) का वातावरण मिलता रहे।

यह एक तथ्य है कि सामायिक के साधक को एक ओर जहाँ सावद्ययोगो (बुरी प्रवृत्तियो) से बचना है, वहाँ दूसरी ओर समताभाव की निरवद्य प्रवृत्तियो का केवल साधना काल मे ही नही, साधना के पश्चात् भी चाहे घर मे रहे या दूकान पर हो, अथवा अन्य किसी स्थान मे हो, अधिकाश निरवद्य प्रवृत्तियो के ही सम्पर्क मे रहना है, अथवा कम से कम, प्रवृत्तियो मे होने वाले राग-द्वेषादि विकारो से दूर रहना है।

इस प्रकार सामायिक साधक को धीरे-धीरे आत्मविश्वास, आत्म-ज्ञान और दृढ चारित्र की ऐसी मजबूत नीव अपनी मनोभूमि मे जमानी चाहिए कि बुरे

इसलिए सामायिक का साधक सावद्ययोग से विरति का फल पाने के लिए पहले सामायिक से पहले भी क्रोधादि दुर्गुणो एव हिंसा आदि दुष्कर्मों—पापकर्मों से अपने आपको दूर रखे। ससार व्यवहार के समय भी पापकर्मों के प्रति अधिक आकर्षण न रखे।

सामायिक के पश्चात् भी वह प्रत्येक परिस्थिति मे यथासम्भव समभाव का व्यवहार करे। हिंसा आदि पापकर्मों से भी जहाँ तक हो सके दूर रहने की कोशिश करे। सामायिक पापनाश की अमोघ औषधि अवश्य है, किन्तु इसके सेवन के साथ ही कर्मोदय से प्राप्त दुष्परिस्थिति, अनिष्टसयोग, इष्टवियोग की प्राप्ति मे भी प्रसन्न रहना, अधीर न होना, निन्दा और अपमान तथा प्रशसा और सम्मान के समय समत्व मे रहना, वैर-विरोध, द्वेष-क्लेश आदि मनोविकारो को शान्त रखना, न्याय-नीति-पूर्वक पुरुषार्थ करना, सबको अपनी आत्मा के समान समझना, आदि सुपथ्यो का पालन करना आवश्यक है। तभी सामायिक के सुफल के दर्शन हो सकते है। वास्तव मे, सामायिक की सफलता-विफलता के दर्शन तो साधक स्वय कर सकता है। सामायिक का—यथार्थ सामायिक का प्रत्यक्ष फल समभाव की प्राप्ति है। यदि सामायिक साधना का स्वीकार करते ही समत्व रूप फल नही मिला, समभाव न आया, आत्मा विषयो की आसक्ति एव कषायो की होली मे ही जलता रहा, भौतिक सुखो की लालसा खत्म नही हुई तो समझना चाहिए, अभी तक सामायिक के सस्कार बद्धमूल नही हुए है। इसलिए सामायिक का तात्कालिक फल प्राप्त नही हुआ है। परम्परा-फल तो मिलता ही कैसे ?

सामायिक साधना उन्ही साधको की सुफलयुक्त माननी चाहिए, जो समस्त परिस्थितियो मे समभाव पर दृढ रहते है। कोई निन्दा करे या प्रशसा, गाली दे या धन्यवाद, मारे-पीटे या सहायता दे, धन का अपहरण करे या धन प्रदान करे, किसी भी परिस्थिति मे मन-मस्तिष्क मे विषमभाव, रागद्वेषभाव न लाए। अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय अप्रिय आदि मे हर्षशोक न करे। यही समझे कि ये सब सयोग-वियोग क्षणिक है, भौतिक है, शरीर से सम्बद्ध है, आत्मा से वास्तव मे इनका कोई वास्ता नही है। ऐसे सयोग-वियोग से आत्मा का कोई हिताहित नही हो सकता। ऐसे स्थितप्रज्ञ सम-भावी साधक की सामायिक-साधना सफल है, वे ही वास्तविक फल को प्राप्त करते है। जो लोग बात-बात मे अधीर, रुष्ट-तुष्ट, चिन्तित-कुण्ठित हो जाते है, थोडे-से सुख के कण पाकर फूल उठते है, जरा-सा दुख पडते ही तडफ उठते है, वे व्यक्ति सामा-यिक के उद्देश्य को नही समझे। वे सामायिक के तत्त्व से अनभिज्ञ है। जो सुख मे फूलता नही, दुख मे तडफता नही, भयानक वन हो, या सुन्दर भवन हो, सयोग हो या वियोग, दोनो ही परिस्थितियो मे जिसका सुदृढ निश्चल मन सहिष्णु, धीर एव सम रहता है, वही भाग्यशाली साधक सामायिक का सुफल प्राप्त करता है।

सामायिक मे पापकर्म नष्ट हो जाते है, उनका फल नही भोगना पडता, सामायिक का सुफल प्राप्त करने के लिए पापकर्मों का त्याग नही करना पडता, ऐसी

भ्रान्त मान्यता वाले लोग पापकर्म करने मे निर्भय और निश्चिन्त हो जाते हैं, वे बेखटके पापकर्म करते रहते हैं। सामायिक-साधक की भावना सदैव यह रहनी चाहिए कि सामायिक साधना से पूर्व तथा बाद मे भी समभाव विस्मृत न हो, आरम्भादि मे प्रवृत्त होना पडे तो भी उन कार्यों मे आसक्ति या मूर्च्छा न करूँ। मैं प्रत्येक कार्य मे ऐसा विवेक रखूं कि आस्रव के स्थान पर सवर की प्राप्ति हो। उसी की सामायिक साधना सफल है, उन्हे ही सामायिक का प्रत्यक्ष या परोक्ष फल मिलता है। वे ही सामायिक के उद्देश्य को समझ सके हैं। घडी मे एक बार चावी देने पर जैसे वह नियत समय तक ठीक चलती है, वैसे ही सामायिक साधना की चावी आत्मारूपी घडी मे एक बार दे देने पर पापकर्म से सदा वचकर समाधिभाव एव समताभाव रखना चाहिए।

प्रश्न होता है कि सामायिक का प्रत्यक्ष या परोक्ष फल तो तभी मिल सकता है, जब समभाव सुदृढ हो, सावद्य प्रवृत्तियो से सदैव वचकर निरवद्य प्रवृत्ति मे रत रहे। अत समभाव सस्कारो मे बद्धमूल कैसे हो ?

वैसे तो समभाव का प्रतिक्षण ध्यान रहना, बहुत ही दुष्कर है। बडे-बडे योगी तक समभाव की परीक्षा मे फेल हो जाते है, तब व्रतधारी श्रावक कैसे समभाव को सस्कारो मे ताने-वाने की तरह बुन सकता है ?

इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि भगवान महावीर ने इसीलिए तो साम्मायिक नामक नौवें व्रत एव प्रथम शिक्षाव्रत का विधान किया है। सामायिक शिक्षाव्रत है। और शिक्षा का अर्थ है—'पुन-पुन परिशीलन अभ्यास शिक्षा' अथवा आचार्य हरिभद्र के शब्दो मे (साधु धर्माभ्यास शिक्षा) बार-बार सम्यक् प्रकार से श्रेष्ठ धर्म का अभ्यास करना शिक्षा है। सामायिक को शिक्षाव्रत कहने के पीछे शास्त्रकारो का आशय यही प्रतीत होता है कि सामायिक की साधना केवल एक बार ही करके न छोड दी जाय, अपितु बार-बार सत्कारपूर्वक इसका प्रतिदिन अभ्यास किया जाय। सामायिक को सस्कारबद्ध करने के लिए दीर्घकाल तक प्रतिदिन नियमित रूप से इसका अभ्यास आवश्यक है। वर्णमाला के अक्षरो को प्रारम्भ मे टेढ-मेढे बनाने वाला बालक अभ्यास से एक दिन महान् सुलेखक बन जाता है। लक्ष्यवेध सीखने वाला नौसिखिया वाणविद्या का विद्यार्थी एक ही दिन मे पक्का निशानेबाज नही हो जाता, निरन्तर अभ्यास से जब उसकी दृष्टि स्थिर और एकाग्र हो जाती है, हाथ सध जाता है, तब वह अचूक शब्दवेधी बाण विशारद हो जाता है। सामायिक की साधना कठिन अवश्य है, किन्तु अभ्यास से इसके सुदृढ होने मे सन्देह नही।

ससार मे असाध्य या अशक्य कुछ भी नही है, बशर्ते कि उसके लिए प्रबल पुरुषार्थ, दृढ निष्ठा, मानसिक सन्तुलन, आत्म-विश्वास, उपयुक्त दृष्टिकोण एव यथार्थ दिशा हो।

पुरुषार्थ, सतत सही दिशा मे पुरुषार्थ, ही साधना को सुदृढ बनाने एव ।

बद्ध करने के लिए माध्यम है। जितना ही अधिक जिन वस्तुओ का इस्तेमाल किया जाता है, वे उतनी ही चमकीली बनती है। बेकार पड़ी हुई वस्तुओ को जग लग जाती है। जो मशीन काम मे आती रहती है, वह जल्दी खराब नहीं होती। बेकार पड़ी हुई मशीन कुछ ही समय मे बेकार हो जाती है। मानव शरीर तो जड-चेतन की सम्मिलित रचना का सर्वोपरि नमूना है। सतत उद्योग के अभाव मे यह बेकार हो जाता है। शान के पत्थर पर घिसने से हथियारो की धार तेज होती है। रगड के बिना चमक नही आती। मनुष्य का जीवन भी परिश्रम की धार पर धरने से चमकदार बनता है। चाकू की धार तभी तेज होती है, जब उसे पत्थर पर घिसा जाता है। निष्क्रिय पडे रहने से तो उसमे जग ही चढती है। इसी प्रकार समभाव के सतत-नियमित अभ्यास और पुरुषार्थ के बिना जीवन मे समभाव सुदृढ नही हो सकता। निष्क्रिय पडे रहने से तो तन-मन को जग ही लगेगा। इसलिए सामायिक साधना का दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास होने पर ही उसमे चमक आ सकती है। सामायिक की नियमित साधना के साथ-साथ सामायिक के सम्बन्ध मे ही विशेष रूप से विचार किया जाए, उसी के विषय मे पढा-सुना-गुना जाय, समभाव के अभ्यास को सुदृढ बनाने मे सहायक वातावरण मे रहा जाय, निरवद्य प्रवृत्ति की जाए, सामायिक की उपयोगिता, महत्ता और अनिवार्यता के सम्बन्ध मे चिन्तन-मनन किया जाए। सामायिक के सत्परिणामो पर अधिकाधिक विचार किया जाए। सामायिक की प्रेरणा—आत्म-विकास की प्रेरणा है, सामायिक एक पापरहित साधना है। इससे चित्तवृत्ति शान्त रहती है, नवीन कर्मों का बन्धन नही होता। सामायिक के बिना कर्मो से मुक्ति, परमात्मस्वरूप वीतरागता की प्राप्ति नही हो सकती। इस प्रकार सामायिक का महत्त्व समझने से उसको जीवन मे अपनाने की तीव्र उत्कण्ठा होगी। सामायिक के इस तरह के बार-बार के अभ्यास से, समभाव मे सतत पुरुषार्थ से सामायिक के सस्कार आत्मा मे सुदृढ होते जाएँगे और एक दिन सामायिक का वह प्रारम्भिक साधक उच्च भूमिका पर पहुँच जाएगा, सामायिक उसके रोम-रोम मे रम जाएगी। उसकी सामायिक-साधना की तब कोई भी परीक्षा करेगा, वह उसमे उत्तीर्ण होगा।

आचार्य हरिभद्र के शब्दो मे 'ऐसा सामायिकनिष्ठ साधक चाहे तिनका हो या सोना, शत्रु हो या मित्र, सर्वत्र अपने चित्त मे राग-द्वेष की आसक्ति से रहित शात रहता है। तथा पापरहित (निरवद्य) उचित धार्मिक प्रवृत्ति करता है। क्योंकि सम-भाव से ओतप्रोत होना ही सामायिक है।'

आशा है, आप सामायिक की उपयोगिता, महत्त्व और श्रावक जीवन मे उसकी आवश्यकता को समझ गए होगे। वर्तमान युग मे आप लोगो मे जो सामायिक करने की परिपाटी है, परन्तु उसके पीछे जो सामायिक का दृष्टिकोण है, महत्त्व है, या उपयोगिता है, उसे भी समझ लिया जाए तो सामायिक साधना आपके सस्कारो

2

सामायिक का व्यापक रूप

सामायिक समभाव की एक विशेष साधना एव उपासना है। सामायिक की साधना केवल सामायिक की क्रिया तक ही सीमित नही है, वह इतनी विराट् है कि मानवजीवन की छोटी-बडी प्रत्येक प्रवृत्ति मे घुल-मिल जाती है। जैसे सूर्य का प्रकाश किसी एक क्षेत्र मे सीमित नही रहता, बादलो का पानी भी किसी एक क्षेत्र की बपौती नही है, चन्द्रमा की शीतलता किसी एक के अधिकार की चीज नही है, अग्नि की उष्णता का उपयोग भी एक व्यक्ति तक सीमित नही है, वैसे ही सामायिक की विराट् साधना का प्रकाश किसी एक क्षेत्र मे, एक व्यक्ति मे या एक के अधिकार मे सीमित नही है, वह सर्वव्यापक है। सामायिक के विशिष्ट अभ्यास के लिए भले ही आप धर्म-स्थान को चुनते हो, परन्तु उसका प्रयोग तो आपके समग्र जीवन मे, जीवन के सभी क्षेत्रो मे, सर्वत्र होना चाहिए। जैसे कोई विद्यार्थी किसी एक विद्यालय मे गणित पढता है। विद्यालय से स्नातक बनकर जब वह अपने व्यवसायक्षेत्र आए, उस समय अभ्यास की हुई गणित विद्या का वहाँ प्रयोग करना न जाने या प्रयोग न कर सके तो वह अध्ययन, वह अभ्यास किस काम का ? अध्ययन किये हुए गणितशास्त्र का उप-योग घर मे, दूकान मे, व्यवसाय मे, सस्था मे सर्वत्र होना चाहिए न ? इसीलिए तो विद्यालय मे अध्ययन या अभ्यास कराया जाता है। इसी प्रकार धर्मस्थान मे अभ्यास या अध्ययन किये हुए सामायिक का उपयोग जीवन-व्यवहार के सभी क्षेत्रो मे होना चाहिए।

आप कहेगे, धर्मस्थान मे तो सामायिक की साधना करना सम्भव है, किन्तु सर्वत्र और सभी समय सामायिक कैसे निभ सकती है ? मैं कहूँगा कि धर्मस्थान के अलावा अन्य स्थानो मे जहाँ आप होगे, वहाँ भले ही आपके नीचे आसन न बिछा हुआ हो, मुखवस्त्रिका और प्रमार्जनिका न हो, माला न हो, परन्तु धर्मस्थान मे अभ्यास किये हुए सामायिक का व्यवहार तो वहाँ हो ही सकता है। समत्व का व्यवहार आप घर, दूकान, सस्था, धर्मसघ आदि सभी जगह कर सकते है, और करना ही चाहिए। धर्मस्थान मे रहे तब तक तो समता रहे और धर्मस्थान से निकलते ही छूमन्तर हो जाय तो वह सामायिक ही क्या हुई ? वह तो एक तरह से सामायिक का

प्रदर्शन हो गया। सामायिक को प्रदर्शन या सीमित क्षेत्र की वस्तु न बनाकर जीवन-व्यापी बनाना चाहिए। अगर गणित पढे हुए विद्यार्थी से उसका पिता दूकान पर बिठाकर कोई हिसाब कराना चाहे और वह अपने पिता से यो कह दे कि "पिताजी! यह हिसाब तो मुझे अपने विद्यालय मे आता था, यहाँ नही आता," तो आप उस विद्यार्थी को क्या कहेगे? उसे आप गणित पढा हुआ नही कहेगे, यही कहेगे कि उसने नकल करके परीक्षा पास कर ली है, अध्ययन नही किया। इसी प्रकार सामायिक का विद्यार्थी अगर धर्मस्थान मे अध्ययन किये हुए सामायिक को जीवन के अन्य क्षेत्र मे प्रयोग करने से हिचकिचाए और कहे कि मुझे समभाव का प्रयोग धर्मस्थान मे करना आता था, यहाँ नही आता तो कहना होगा वह तथाकथित सामायिक का साधक भी सामायिक करने वालो की नकल करके सामायिक मे उत्तीर्ण हुआ हे। उसने जो भी सामायिक की ह, वह द्रव्यसामायिक की है, भावसामायिक नही।

वास्तव मे सामायिक का अर्थ और उद्देश्य प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समत्व का व्यवहार करना हे। सम, आय और इक तीनो मिलकर सामायिक शब्द बना है। सम का अर्थ है—समभाव, सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति, आय का अर्थ है—लाभ। जिस प्रवृत्ति से समता=समभाव का लाभ=अभिवृद्धि हो वही सामायिक हे। समता या समभाव का अर्थ है—[1]रागद्वेप के प्रसगो मे मध्यस्थ रहना, विपम न होना। सम का विधेयात्मक अर्थ एक आचार्य ने किया है—[2]समस्त जीवो पर मैत्री-भाव रखना साम है। [3]सावद्ययोग अर्थात् पापमय प्रवृत्तियो का परित्याग और निरवद्ययोग यानी अहिंसा, सत्य, समत्व आदि प्रवृत्तियो का आचरण, ये दो, जीव के शुद्ध स्वभाव को सम कहते हैं। कई आचार्य [4]ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सम कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त प्रकार के सम का आय=लाभ अथवा सम मे प्रवृत्ति करना समाय है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार सभी व्युत्पत्तियो का आशय एक ही है, वह है—समता। और समता ही सामायिक है। मैं सामायिक के जितने भी व्युत्पत्ति से निष्पन्न अर्थ बता गया हूँ, वे सब भावसामायिक के स्वरूप को प्रकट करते हैं। समत्व की प्राप्ति, समभाव का अनुभव और फिर समभाव का सक्रिय व्यवहार अथवा आचरण ये तीनो, अथवा समभाव का ज्ञान, समभाव पर श्रद्धा एव समभाव का आचरण=चारित्र ये तीनो मिलकर भावसामायिक हैं। ऐसे भावसामायिक की साधना क्या घर मे, दूकान मे, कचहरी मे, श्मशान मे, आलीशान भवन मे या वन मे, नही

---

१ 'समस्य—रागद्वेपान्तरालवर्तितयामध्यस्थस्य आय लाभ समाय, समाय एव सामायिकम्।'

२ 'सर्वजीवेपु मैत्री साम, साम्नो आय लाभ समाय स एव सामायिकम्।'

३ 'सम सावद्ययोगपरिहार निरवद्ययोगानुष्ठानरूप जीवपरिणाम, तस्य आय लाभ समाय स एव सामायिकम्।'

४ 'समानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेपु अयन-गमन समाय, स एव सामायिकम।'

हो सकती है ? अवश्य हो सकती है। अगर धमस्थान के सिवाय अन्यत्र भावसामायिक न होती तो अनुयोगद्वारसूत्र मे तथा आचार्य भद्रबाहुस्वामीकृत आवश्यकनिर्युक्ति मे भावसामायिक को सामायिक की वास्तविक साधना न बताते—

'जस्स सामाणिओ अप्पा, सजमेणियमे तवे।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासिय ॥'

—जिसकी आत्मा (कही भी) सयम मे, तप मे, नियम म सदैव सन्निहित है, सलग्न है, उसी की सामायिक (साधना) शुद्ध होती है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा हे।

'जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासिय ॥'

—जो साधक त्रस और स्थावर सभी प्राणियो के प्रति सम (समभाव रखता) है, उसी की सामायिक सच्चे माने मे सामायिक है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

अपने दैनिक जीवन मे सर्वत्र भावसामायिक का प्रयोग करना ही तो वास्तविक सामायिक है। द्रव्यसामायिक तो भावसामायिक तक पहुँचाने के लिए है। यही द्रव्यसामायिक का मुख्य उद्देश्य है। जो द्रव्यसामायिक भावसामायिक तक पहुँचा न सके, केवल सामायिक के बाह्य विधि-विधानो के भवरजाल मे ही फँसाये रखे, समभाव के सम्बन्ध मे न कोई चिन्तन हो, न समभाव के प्रति विश्वास हो और न ही समभाव का कोई आचरण हो, वह द्रव्यसामायिक नही, मिथ्यासामायिक है, सामायिक का केवल दिखावा है। उपाध्याय यशोविजयजी ने ऐसी द्रव्यसामायिक को मायिक कहा है। क्योकि सामायिक के जितने भी अर्थ है, या लक्षण ह, वे प्राय भावसामायिक पर ही घटित होते है। आचार्य हरिभद्र भी पचाशक मे स्पष्ट लिखते है—

'समभावो सामाइय, तण-कचण-सत्तु-मित्त-विसउत्ति।
णिरभिस्सग चित्त, उचियपवित्तिप्पहाण च ॥'

—चाहे तृण हो चाहे स्वर्ण, शत्रु हो, चाहे मित्र, सर्वत्र अपने चित्त को राग-द्वेष की आसक्ति से रहित शान्त एव मध्यस्थ रखना, और पापरहित (निरवद्य) उचित (समभावयुक्त) प्रवृत्ति करना ही सामायिक हे। क्योकि समभाव ही तो सामायिक है।

इसलिए यह नही समझना चाहिए कि धर्मस्थान मे एक सामायिक कर ली, इतने से ही समभाव जीवन मे आ जाएगा। समभाव तो जीवन मे तभी आएगा, जब प्रत्येक व्यावहारिक कार्य मे, आप चाहे कही भी क्यो न हो, सर्वत्र और सभी समय सामायिक की मौलिक भावना के अनुसार आप मे समत्व की गगा बहती नजर आएगी।

जब आप दूकान पर हो तो ग्राहक को अपना आत्मीय समझ कर सौदा दें,

उससे किसी प्रकार का छल, धोखा, झूठ-फरेब, बेईमानी, जालसाजी, तौलनाप ये गड-बडी या अधिक मूल्य ग्रहण न करे। यद्यपि उस समय आप मुखवस्त्रिका बाँधे हुए और सामायिक के उपकरण लिए हुए नही होगे, परन्तु इससे क्या हुआ ? यदि सौदा देने मे ग्राहक के साथ समभाव की धारा बह रही है तो वहाँ आपकी वह प्रवृत्ति सामायिकमयी ही होगी। गृहव्यवहार मे भी माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि स्वजनो के साथ मोह-द्रोह से रहित आत्मवत् व्यवहार होगा तो वहाँ भी आप सामा-यिक का लाभ प्राप्त कर सकेंगे। जब कभी अज्ञान, मोह, लोभ, द्रोह, पक्षपात या अतिस्वार्थ के कारण घर मे कोई विषम परिस्थिति उत्पन्न होगी, आप अपने समभाव के विवेक से उसका समाधान कर लेगे, उस क्षुब्ध वातावरण को शान्त कर लेगे। इसी प्रकार लेन-देन की, गृहकार्य की, मजदूरो और कृषि कर्मियो की समस्याएँ भी समता (मध्यस्थवृत्ति) से सुलझाई जा सकती है, और वहाँ भी सामायिक होगी। यही नही, जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे आप समभावरूप सामायिक के सतत अभ्यास और विवेक के द्वारा उलझनो और झझटो को समाप्त कर सकेंगे।

द्रव्यसामायिक और भावसामायिक

यही कारण है कि जैन-शास्त्रो मे सामायिक का अभ्यास करने के लिए प्रथम द्रव्यसामायिक को प्रधानता दी गई है, ताकि धर्मस्थानक रूप सामायिक-विद्यालय मे वह समभाव का अध्ययन, मनन, चिन्तन और यथाप्रसग प्रयोग करके अभ्यास को परिपक्व बनाए। अभ्यास की परिपक्वता के साथ ही वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे समभाव का परिचय देगा। तात्पर्य यह है कि द्रव्य सामायिक के साथ-साथ भावसामा-यिक का अभ्यास पहले धर्मस्थान मे कर लेगा तो फिर उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे समभाव से कोई भी विचलित नही कर सकेगा। किन्तु यदि धर्मस्थान रूप विद्या-लय मे ही वह समभाव मे कच्चा रहा, समता की उपासना न कर सका, भोगविलास की लालसा मे अपनेपन का भान खो बैठता है, दूसरो की तरक्की देखकर ईर्ष्या से जल उठता है, सम्मान-प्रतिष्ठा के जरा-से स्पर्श से गुदगदा उठता है, जरा से अपमान से वह झुझला जाता है, माया की छाया मे उन्मत्त हो जाता है, आए दिन कलह, दम्भ, वैर-विरोध, विश्वासघात आदि दुर्गुणो के जाल बुनता रहता है, सामा-यिक मे मन चचल हो उठता है, वह दूसरो से पद-प्रतिष्ठा छीनने की उधेडबुन करता है, वचन भी कई बार समभाव की छाया से प्रतिकूल और काया की चेष्टाएँ भी विषमभाव को प्रगट करने वाली। यह द्रव्यसामायिक भी भावसामायिक के लक्ष्य से काफी दूर—कई कोसो दूर है।

भावसामायिक से ओतप्रोत जब द्रव्यसामायिक हो जाती है तो साधक समता के गहन समुद्र मे इतना गहरा उतर जाता है कि विषमता की लपटें उसके पास फटक नही सकती। वह किसी को इष्ट या अनिष्ट नही मानता, न हृदय मे हर्ष या शोक की लहर आने देता है। कोई उसे गाली दे या सम्मान करे, कोई उसकी निन्दा करे

या प्रशसा, कोई उस पर प्रहार करे या उपहार दे, क्या मजाल कि वह अपने मन मे भी किसी प्रकार का विषमभाव ले आए। या राग-द्वेष आने दे। दुख मे घबराने या सुख मे फूलने का कोई नामोनिशान तक नही। न दुख से छूटने का कोई अयुक्त प्रयास वह करता है। सयोग-वियोग का भौतिकता से सम्बन्ध है, आत्मा मे नही, इसलिए वे आत्मा का कुछ भी बना या बिगाड नही सकते।

कम से कम दो घडी (४८ मिनट) के लिए एक स्वच्छ निरवद्य शान्त स्थान मे आसन बिछाकर गृहस्थ वेष के कपडे उतार कर, मुखवस्त्रिका लगा कर, रजोहरण या पूंजनी लेकर एक जगह बैठना और समभाव का चिन्तन-मनन करना, समभाव के परम उपासक वीतराग देव के स्वरूप का चिन्तन करना, जप करना, आनुपूर्वी आदि विविध माध्यमो से परमात्मा या परमेष्ठी का नाम स्मरण करना, आत्मा मे समभाव की ज्योति जगाना, मन-वचन-काया की शुद्धि रखना, विधिपूर्वक सामायिक ग्रहण करके समभाव का अभ्यास करना द्रव्यसामायिक है, जबकि भावसामायिक है—राग-द्वेष के प्रसगो पर समभाव-मध्यस्थता रखना, राग-द्वेषरहित होने का प्रयत्न करना, सावद्ययोग से आत्मा को हटाकर स्वस्वभाव मे रमण करना। एक आचार्य सामायिक का लक्षण बताते हुए कहते हैं—

'समता सर्वभूतेषु सयम शुभभावना।
आर्तरौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिक व्रतम्॥'

—सभी प्राणियो पर समता (आत्मौपम्यभाव) रखना, पाँचो इन्द्रिय विषयो के निमित्त मिलने पर राग-द्वेष न करना, सयम रखना। अन्तर्हृदय मे मैत्री आदि शुभ भावना—शुभ सकल्प रखना और आर्त-रौद्र-ध्यानो का परित्याग करके धर्म-ध्यान का चिन्तन करना सामायिक व्रत है।

सामायिक का लक्षण जरा आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दो मे देखिए—

'रागद्वेष त्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य्।
तत्त्वोपलब्धिमूल बहुश. सामायिक कार्यम्॥'

अर्थात्—समस्त सजीव-निर्जीव, मूर्त-अमूर्त पदार्थों पर राग-द्वेष का परित्याग करके समभाव का अवलम्बन लेकर तत्त्वोपलब्धि (समत्वप्राप्ति) मूलक सामायिक अनेक बार करनी चाहिए।

आचार्य हेमचन्द्र द्रव्यप्रधान भावसामायिक का लक्षण योगशास्त्र मे देते है—

'त्यक्तार्त रौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मण.।
मुहूर्त समताया ता, विदु सामायिक व्रतम्॥'

—गृहस्थ श्रावक का सब प्रकार अशुभ (आर्त-रौद्र) ध्यान और सावद्य (पापमय) कार्यों का परित्याग करके एक मुहूर्त तक समभाव मे (आत्म-चिन्तन, समत्व चिन्तन एव स्वाध्याय आदि मे) व्यतीत करना ही गृहस्थ का सामायिकव्रत है।

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की द्रव्यभावयुक्त समत्व साधना का कम से कम एक मुहूर्त तक अभ्यास करना ही सामायिक है। समता मन मे निश्चलता, रागद्वेष मे मध्यस्थता, समभाव, एकीभाव तथा सुख-दुःख मे समरसता आदि है।

द्रव्यसामायिक सामायिक की बाह्य क्रियाओ तथा मन-वचन-काया की शुद्धता तक सीमित है, जबकि विषम-भाव का त्याग कर समभाव मे स्थित होना, पौद्गलिक पदार्थों का सम्यक् स्वरूप जान कर ममता दूर करना और आत्मभाव मे लीन होना भावसामायिक है।

भावशून्य केवल द्रव्यसामायिक रुपये के आकार के सफेद मोटे कागज पर रुपये की छाप है, पर वह बच्चो के खेल मे रुपया कहलाकर भी बाजार मे रुपये का मोल नही पा सकता, जबकि द्रव्यशून्य भावसामायिक रुपये की छाप से रहित केवल चाँदी है, जो कीमत तो रखती है परन्तु सर्वत्र वह सिक्के के रूप मे नही चल सकती। चाँदी भी हो, उस पर रुपये की छाप भी हो, उस सिक्के का जैसे पूरा मूल्य है, वैसे ही द्रव्य के साथ भाव का मेल होने पर उभयपक्षीय समभाव की साधना पूरी होती है तभी व्यवहारिक शुद्धि तथा क्रमश आत्म-विकास की अन्तिम मजिल मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यह तो हुआ द्रव्यसामायिक के साथ भावसामायिक का योग मिलकर सामायिक व्रत का स्वरूप।

सामायिक का विराट् स्वरूप

परन्तु सामायिक का इससे भी बढकर विराट् स्वरूप है, मैं आपको सामायिक के पूर्वोक्त लक्षणो के अनुसार उसके विराट् रूप की झाँकी कराऊँगा।

आर्त-रौद्रध्यान-परित्याग

सामायिक के लक्षणो मे सर्वप्रथम आता है—आर्तध्यान एव रौद्रध्यान का परित्याग। सामायिक के लक्षणो मे इन दोनो दुर्ध्यानो का त्याग मुख्य माना गया है।

अध्यात्म विज्ञान का यह एक सर्वमान्य सत्य है कि मनुष्य जैसा और जिसका ध्यान करता है वैसा ही बन जाता है। 'यद् ध्यायति तद् भवति' उस सत्य से कोई भी व्यक्ति इन्कार नही कर सकता। आर्तध्यान और रौद्रध्यान इन दोनो ध्यानो का आचरण करने वाला वैसा ही बन जाए, तो इसमे कोई सन्देह नही। आर्तध्यान व्यक्ति के जीवन मे चिन्ता, शोक, सन्ताप, विलाप एव आर्तनाद का वातावरण समुपस्थित कर देता है। आर्तध्यान के क्षणो मे व्यक्ति चाहता हुआ भी मानसिक समता, वाचिक सयम एव शारीरिक चेष्टाओ का सन्तुलन रख नही सकता। उसके मन, वचन, काया तीनो चचल एव विषम हो जाते हैं। सामायिक की साधना के लिए आर्तध्यान बहुत बड़ा विघ्नकारक है। वह समभाव के लिए चीन की दीवार है। जब तक साधक के मन से आर्तध्यान के सकल्प-विकल्प नही हटते, तब तक वह समत्व की पगडडी पर जा नही सकता। आर्तध्यान ऐसा राक्षस है, जो समता के सत्त्व को चूस लेता है। अत

सामायिक के साधक को अपना समत्व-पथ निर्विघ्न एव सकुशल तय करने के लिए आर्तध्यान को पास नही फटकने देना चाहिए। जब भी आर्तध्यान आए, समत्व के ज्ञान बल से उसे मनोभूमि से खदेड देना चाहिए।

आर्तध्यान क्या है ? पीडा, दुख, क्लेश, बाधा, कष्ट एव व्यथा की परिस्थिति पैदा होने पर मन मे चिन्ता, शोक, सन्ताप, अनुताप, विलाप, रुदन आदि नाना प्रकार के सकल्प-विकल्प उत्पन्न होना आर्तध्यान है।

आर्तध्यान पैदा होने पर अथवा निर्बल मन वाले व्यक्ति द्वारा आर्तध्यान को प्रश्रय देने पर उसका चित्त उस समय के सयोगो मे सम रहने के बजाय, विषम हो जाता है। वह अपने मन को उक्त परिस्थिति मे समझाकर उसके अनुकूल करने के बजाय चिन्ता आदि विकल्पो मे प्रवाहित कर देता है, जिससे सारा ही समत्व नष्ट हो जाता है, मन की शान्ति भग हो जाती है। आर्तध्यान चार कारणो से उत्पन्न होता है—(१) अनिष्ट सयोग से, (२) इष्ट-वियोग से, (३) प्रतिकूल वेदना से और (४) निदान से। अपने विचार या स्वभाव के प्रतिकूल चलने वाले व्यक्ति या शत्रु, आग, बाढ आदि का उपद्रव इत्यादि, अनिष्ट (अप्रिय) व्यक्तियो, वस्तुओ या परिस्थितियो का सयोग प्राप्त होने पर दुर्बलचित्त मनुष्य सहसा व्याकुल हो उठता है। वह शक्ति, धैर्य एव सयमपूर्वक उस परिस्थिति की वास्तविकता का विचार नही करता। वह उन दु खो से एकदम घबराकर मन मे नाना प्रकार के सकल्प-विकल्पो के जाल बिछाता है, रोता, कलपता है—हाय ! कब और कैसे यह दु ख मिटेगा ? हाय, मैं मर गया !

इसी प्रकार अपनी प्रिय वस्तुओ धन, सम्पत्ति, जमीन, पुत्र, स्त्री, पद, प्रतिष्ठ एव परिवार आदि मे से किसी का भी वियोग होने पर चित्त मे उद्विग्नता पैदा होना चित्त उदास और शोकाकुल होना इष्टवियोगज आर्तध्यान है। अपनी प्रिय वस्तु व्यक्ति का वियोग होने पर कई व्यक्ति तो उन्मत्त से हो जाते है, गई हुई या खो वस्तु या व्यक्ति कैसे प्राप्त हो ? क्या करें ? कहाँ जाएँ ? इत्यादि बातो की उधेडबु मे रहना।

जयपुर का एक जौहरी श्रावक दिल्ली मे जवाहरात खरीदने के लिए आर हुआ था। जवाहरात खरीदकर जब वह ताँगे मे बैठकर अपने स्थान पर वापिस लौट तो जिस पेटी मे वे जवाहरात रखे थे, वह पेटी तागे मे ही भूल गया। स्थान पर आ ही वह सामायिक साधना मे बैठ गया। किन्तु कुछ ही देर बाद सहसा उसे याद आया—"अरे ! वह जवाहरात की पेटी तो मैं ताँगे मे ही भूल गया। ताँगे वाले का नाम भी मैं नही जानता, न तागे के नम्बर का मुझे ध्यान है, अब कैसे हो ? काफी मूल्यवान रत्न उसमे हैं। अगर वह पेटी नही मिली तो क्या होगा ? इतनी धनहानि मैं कैसे सह सकूगा ?" यो चिन्तातुर होकर वह सकल्प-विकल्प करने लगा। सहसा उसे

ध्यान आया कि तू सामायिक की साधना में बैठा है। सामायिक में इष्टवियोगजनित आर्तध्यान करना वर्जित है।

'मेरी भावना' में बताया है—

"इष्टवियोग अनिष्टयोग में सहनशीलता दिखलावे।
रहे अडोल अकम्प निरन्तर, यह मन दृढ़तर बन जावे।"

और फिर मैं आर्तध्यान किसके लिए कर रहा हूँ ? वह चीज क्या मेरी थी ? आत्मा के सिवाय और सब वस्तुएँ पराई है। पराई वस्तु से मेरा संयोग हो जाने से मैंने उनमें अपना ममत्व स्थापित कर लिया। मैं कितना मूढ़ हूँ। भगवान ने जो भी भाव (जैसी भवितव्यता) अपने ज्ञान में देखा है, वही होगा, अन्यथा नहीं, फिर मैं बेकार की चिन्ता क्यों करूँ ?"

फिर भी उक्त जौहरी श्रावक का मन नहीं माना। अतः मन को स्थिर करने के लिए उन्होंने उसी समय एक भजन बनाया और वे मधुर स्वर में उच्चारण करने लगे—

"जीव ! रे तू ध्यान आरत क्यों ध्यावे ?
जो-जो भगवन्त भाव देखिया, सो-सो ही बरतावे।
घटे-बधे नहीं किंचित् मात्र, काहे को मन डुलावे ?"

इस भजन को गाते-गाते श्रावक का मन समता में, माध्यस्थभाव में स्थिर हो गया। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया—"अगर मेरा संयोग सम्बन्ध उन पदार्थों के साथ होगा तो मिल जायगा, अन्यथा, जैसा होना होगा, होगा, व्यर्थ ही चिन्ता करके आर्तध्यान करने से क्या लाभ ? बस, सामायिक पूर्ण होने तक तो वह श्रावक अपनी समत्वसाधना में स्थिर रहे ही, उसके बाद भी वे समता की शीतल सुखद छाया में अपना समय व्यतीत कर रहे थे, तभी सहसा वह तांगे वाला हांफ्ता-हांफता आया और बोला—सेठजी ! यह आपकी पेटी, जो मेरे तांगे में रखी रह गई थी, संभालिए और मुझे चिन्ता से मुक्त करिये। मैं बड़ी मुश्किल से आपका पता लगाता-लगाता आया हूँ।' जौहरी सेठ ने देखा तो अपनी समत्व-साधना पर उनकी श्रद्धा अत्यधिक बढ़ गई। उन्होंने तांगे वाले को धन्यवाद देते हुए कहा—"तुम्हें बहुत परेशानी हुई, इसके लिए क्षमा करना।'

"इसमें परेशानी की क्या बात है सेठजी ! यह तो मेरा कर्तव्य था।" तांगे वाले ने कहा और चल पड़ा।

यह था, आर्तध्यान के प्रसंग पर सामायिक के साधक का समत्वपूर्ण चिन्तन। सामायिक साधक श्रावक को भी आर्तध्यान का प्रसंग उपस्थित होने पर शीघ्र ही अपने चित्त को समत्व में स्थापित कर लेना चाहिए।

कई दफा साधक को रोगजनित वेदना अत्यन्त प्रतिकूल लगती है और वह

उसे इतना व्यथित कर देती है कि वह निराश होकर आत्महत्या तक करने को उतारू हो जाता है। अथवा अधीर और अशान्त होकर वह छटपटाने लगता है। वह येन-केन-प्रकारेण रोग को ठीक करने के लिए उतावला हो उठता है। अथवा जो भी मिलता है, उसके सामने अपने रोग आदि का दुखडा रोने लगता है। यह प्रतिकूल वेदना-जनित आर्तध्यान है, जो समभाव मे बाधक है। सामायिक के साधक को इस प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति आने पर सोचना चाहिए—मेरे ही किन्हीं अशुभ कर्मों के कारण यह व्याधि या पीडा हुई है, मुझे अपने कर्मों के कर्ज को हँसते हुए समभावपूर्वक सह कर चुका देना चाहिए। अन्यथा, हायतोबा मचाने से तो और नवीन कर्मों का बन्धन होगा, वेदना भी कोई कम नही हो जाएगी। मन पर न लेने से वेदना का अनुभव भी कम होगा।

अज्ञान और मोह मे अन्धा जीव रात-दिन सासारिक पदार्थों के उपभोग की लालसा से व्यथित और चिन्तित रहता है। वह उन पदार्थों को पाने व उपयोग करने के लिए इतना पागल हो जाता है कि अहर्निश उन्ही की उधेडबुन मे लगा रहता है। कैसे अमुक सुन्दर बाग, मनोहर स्त्री, प्रिय महल, अभीष्ट पद आदि को प्राप्त करूँ और उनका उपभोग करूँ? इत्यादि दुर्विकल्पो मे उनका अधिकाश समय व्यतीत हो जाता है। यह निदानजनित आर्तध्यान है, जिसके नशे मे आदमी पागल बनकर समभाव से कोसो दूर हो जाता है। वह यह नही जानता कि इस प्रकार से भोगो का दु सकल्प कितना अनर्थ कर एव दुर्गतिदायक होता है। सामायिक के साधक को ऐसे आर्तध्यान से सदैव बचना चाहिए। अगर आ भी जाय तो शीघ्र ही आत्म-चिन्तन करके ऐसे दुर्विकल्पो को खदेड देना चाहिए।

इसके बाद दूसरा ध्यान जो त्याज्य है, और समभाव मे बाधक है, वह रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान आर्तध्यान से कई गुना भयकर होता है। आर्तध्यानी व्यक्ति तो अपनी ही हानि करता है, किन्तु रौद्रध्यानी अपना और विशेषत दूसरे का दोनो का अहित करता है। रौद्रध्यानी का मानस अत्यन्त रोष, द्वेष, क्रूरता और कट्टरता से भरा होता है। वह अहर्निश किसी न किसी प्रकार से दूसरो की हानि करने की बातें सोचता रहता है। रौद्रध्यान भी चार कारणो से पैदा होता है—(१) हिंसानुबन्ध, (२) मृषानुबन्ध, (३) चौर्यानुबन्ध एव (४) परिग्रहानुबन्ध।

दुर्बल प्राणियो को मारने, सताने, हानि पहुँचाने एव पीडा देने मे मन ही मन अत्यन्त खुशियाँ मनाना, अथवा मन ही मन दूसरो को मारने-पीटने एव सताने का प्लान बनाना हिंसानुबन्ध रौद्रध्यान है, जो समभाव के बिलकुल विपरीत है। सामायिक के साधक को इस प्रकार के रौद्रध्यान से बचना आवश्यक है।

कुछ लोग हर समय झूठ बोलने, झूठी कल्पनाएँ करने, अपनी झूठी बात को सच्ची सिद्ध करने, किसी पर मिथ्या दोषारोपण करने, दूसरो को झूठ बोलकर ठगने, बहकाने, फुसलाने आदि की योजनाएँ मन ही मन बनाते रहते हैं। यह मृषानुबन्ध

रौद्रध्यान है, जो समत्व साधना मे वहुत बाधक है। सामायिक के साधक को कदापि इस दुर्ध्यान के चक्कर मे नही पडना चाहिए।

वहुत-से लोग कोई भी मनोहर पदार्थ देखते है तो उसे चुराने, छिपाने, उडाने, अपहरण करने, तस्करी करने, लूटने, छीनने आदि दुर्विकल्पो का जाल बुनने लग जाते हे। अहर्निश वे चोरी के सकल्प-विकल्प मे डूबते-उतराते रहते है। यह चौर्यानुवन्ध रौद्रध्यान है, जो समत्व की जडो को उखाड देता है। सामायिक-साधक को चौर्य-सम्वन्धी रौद्रध्यान से अपने को बचाना आवश्यक है।

इसके वाद आता है—परिग्रहानुवन्ध रौद्रध्यान। इस रौद्रध्यान के वश होकर मनुष्य अपने प्राप्त परिग्रह की सुरक्षा और अप्राप्त परिग्रह को प्राप्त करने के लिए भले-बुरे का कुछ भी विचार किये बिना षड्यन्त्र रचता रहता है। रात-दिन उसी विचार मे डूवा रहता है, क्रूरातिक्रूर उपाय सोचता रहता है। सामायिक साधक को इस रौद्रध्यान से अवश्य वचना चाहिए।

सावद्ययोगो का त्याग—सामायिक का दूसरा लक्षण है—पापमय या पापकर्म-वन्धजनक मन-वचन-काया की प्रवृत्तियो का त्याग। अवद्य का अर्थ पाप है। पाप के सहित सावद्य है। सामायिक के साधक को मन, वचन, काया की उन तमाम प्रवृत्तियो (योगो) का त्याग करना आवश्यक होता है, जो पापकर्मबन्धजनक हे, या जो स्वय पापमय है। आत्मा के लिए जो पाप के स्रोत है, वे सब कार्य सावद्ययोग है।

पाप और साँप को कभी छोटा नही समझना चाहिए। ये दोनो प्राणियो के लिए शत्रु तुल्य हैं। मनुष्य एक वार जिस पाप को छोटा-सा समझ कर अपना लेता हे, वही पाप एक दिन वढते-चढते पर्वताकार बन जाता है। अत सामायिक के साधक को अपने जीवन में पापो को प्रश्रय नही देना चाहिए। मैं यह नही कहता कि श्रावक जहाँ-जहाँ बुराई या पाप देखे, वही उसे दूर करने के लिए बँधा हुआ है, किन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि उसे स्वय पापकार्यों या बुराइयो मे भाग न लेने के लिए तो अवश्य बँधा होना चाहिए। मनुष्य जब किसी पाप से बार-बार अभ्यस्त हो जाता हे, तो उससे पराजित होने के वाद अपने ऐब को छिपाता है तो उस पाप के साथ-साथ छल-कपट, दम्भ, विश्वासघात या धोखा आदि नये-नये पाप कई गुना वढ जाते है, वह पाप अधिक विकराल वन जाता है। अत सामायिक के साधक को पाप मे हर समय सतर्क और सावधान ही नही रहना चाहिए, वल्कि इस विश्वास के साथ अपनी आत्मशक्ति वढाने की तैयारी करनी चाहिए कि पराजित पापरिपु फिर सदल-वल आ धमक सकता है।

पाप चाहे छोटा हो या वडा, वह प्रधानतया समभाव के साधक की प्रगति मे बाधक सिद्ध होता है। पाप करने पर अशुभकर्मों का वन्धन होता है, जिससे आत्मा भारी हो जाता है। पापकर्मो से वोझिल आत्मा समभाव या आध्यात्मिक उत्थान को कभी प्राप्त नही कर सकता। जैसे कोई आदमी पैरो मे पत्थर बाँधकर पानी पर

तैरना चाहे तो, वह असम्भव है, इसी प्रकार आत्मा के साथ पापकर्मों के वजनदार पत्थर बाँधकर यदि कोई ससार सागर पार करना चाहे तो असम्भव है।

पापकर्म या बुराइयाँ जब मनुष्य के स्वभाव का अग बन जाती है और मनुष्य के दैनिक जीवन मे घुलमिल जाती है, तब वे मोहवश मनुष्य को स्वाभाविक लगने लगती है, वह उनमे कुछ दोष नही देख पाता। अगर कोई उस समय उसे उन पापकर्मो या बुराइयो को रोकने के लिए सचेत करता है, या उसकी भर्त्सना करता है तो वह उसे निन्दक या द्वेषी प्रतीत होता है।

प्रश्न यह है कि ऐसी दशा मे वे पाप या बुराइयाँ, जो आदत मे घुलमिल गई है, छूटे तो कैसे छूटें? इसके उत्तर मे भगवान महावीर कहते है कि सामायिक की साधना के द्वारा प्रत्येक पाप या बुराई को ज्ञ-परिज्ञा से जान-समझकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रारम्भ मे ही खदेड दे, त्याग दे। उन पापो या बुराइयो के सस्कार जीवन मे प्रविष्ट न हो सकें, इसके लिए वह सामायिक की साधना के समय आत्मालोचन करे, प्रतिक्रमण करे। यदि कोई बुराई या प्रमाद मोहवश अथवा अज्ञानवश प्रविष्ट हो गई है तो उसके लिए आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) करे और गुरु या बडो के समक्ष अपने उस पाप या दुष्कर्म को प्रकट कर दे, उनसे प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाय, अथवा उक्त दुष्कृत (पाप) साधारण-सा हो या अशक्य परिहार हो तो उसे अपने मन मे दुष्कृत (पाप) समझे और उसको दूर करने की भावना करे, अपने दुष्कृत के लिए मिच्छामि दुक्कड (मेरा दुष्कृत निष्फल हो) कहे। दूसरो की आलोचना या समीक्षा मनुष्य जितनी कठोरता से करता है, उतनी ही कठोरता एव निष्पक्षता के साथ अपने दोषो को देखे तो आसानी से पापकर्म पकड मे आ सकते है और उन्हे छोडने का उपाय भी सोचा जा सकता है।

शास्त्रकारो ने पाप के अठारह कारण-स्थान बताएँ है। उन अठारह ही पापायतनो को यथार्थरूप से जानकर सामायिक साधना मे उनका त्याग करना चाहिए। सामायिक मे पापो का त्याग करने का यह अर्थ कदापि नही लगाएँ कि सामायिक मे तो पाप करने नही हैं, सामायिक के पश्चात् पाप खुलकर किये जा सकते हैं। बल्कि सामायिक के बाद भी पापो या पापस्थानो से बचने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा, सामायिक की साधना करने का अर्थ ही क्या हुआ? सामायिक का अभ्यास यदि जीवन व्यवहार मे काम न आए तो वह क्षणिक और सीमित क्षेत्र मे बन्द कहलाएगा। परन्तु सामायिक के अभ्यास का प्रभाव सर्वव्यापी होना चाहिए। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एव प्रत्येक काल मे सामायिक सतत विद्यमान रहनी चाहिए। सामायिक मे जितनी जागृति होगी, उतनी ही शुद्धता आएगी।

वैसे तो पापस्थान या पाप के अगणित रूप है, एक ही पाप विभिन्न रूपो में जीवन मे आता है और सारी साधना को मटियामेट कर देता है। किन्तु शास्त्रकारो ने १८ पापस्थान बतलाए हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३)

अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर-परिवाद (१६) रति-अरति, (१७) मायामृषावाद और (१८) मिथ्यादर्शनशल्य।

प्राणातिपात का अर्थ सामान्यतया हिंसा करना है। किसी भी जीव के पाँच इन्द्रिया, मन, वचन, शरीर, श्वासोच्छ्वास एव आयुष्य, इन दस प्राणो मे से किसी भी प्राण का कषाय, प्रमाद या द्वेषवश हनन करना, मारना-पीटना, सताना, क्षति पहुचाना प्राणातिपात (हिंसा) है। सामायिक के साधक मे यह पाप सामायिक के दौरान तो होना ही नहीं चाहिए, किन्तु सामायिक के बाद भी नही होना चाहिए।

मृषावाद का अर्थ है—जो बात जैसी देखी, सुनी, सोची, समझी या अनुमान की है, उसे वैसी न कहकर विपरीत रूप मे कहना, असलियत को छिपाना। इस पाप से भी व्यक्ति की आत्मा भारी होती है, इसलिए समभावी साधक को इससे बचना चाहिए।

अदत्तादान का अर्थ है—चोरी। दूसरे के स्वामित्व की वस्तु को जबरन अपने अधिकार मे कर लेना, उसके स्वामी की आज्ञा या इच्छा के बिना गुपचुप रूप से ग्रहण कर लेना। इस पाप से भी सामायिकव्रती को अवश्य बचना चाहिए।

मैथुन का अर्थ है—स्त्री सेवन। मोहदशा मे विकल होकर मन, वचन, काया किसी से भी काम-विकार मे प्रवृत्त होना मैथुन है। सामायिक साधना मे मनुष्य इस पाप मे आत्मभाव को भूल जाता है, तो सारी साधना चौपट हो जाती है।

परिग्रह—मूर्च्छा अथवा आसक्तिपूर्वक आवश्यकता से अधिक पदार्थों का सग्रह करना परिग्रह है। परिग्रह साधक के लिए बोझरूप है, अनेक पापो की जड है, उसका परित्याग सामायिक साधना मे अनिवार्य है।

क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चार कषाय हैं। इनका अर्थ स्पष्ट है। ये पाप जब जीवन मे आते हैं तो समत्व की साधना को चौपट कर देते हैं। अतः सामायिक साधक [illegible] मन से न [illegible] करना है।

अभ्याख्यान का अर्थ है—द्वेष या रोषवश किसी व्यक्ति पर मिथ्या दोषारोपण लगाना। मिथ्या कलक लगाने से समत्व की धज्जियाँ ही उड जाती हैं।

पैशुन्य से मतलब है किसी की चुगली करना, आपस में उलटी-सीधी कहकर भिडा देना भी पैशुन्य का कार्य है।

पर-परिवाद का अर्थ है—दूसरो की उन्नति न देख सकने के कारण उनसे जल कर उनकी निन्दा करना। इसके मूल मे ईर्ष्या होती है। परपरिवाद समत्व के अकुर को जड-मूल से उखाड देता है।

रति-अरति दोनो एक-दूसरे से विपरीत पाप ह। विपयानन्दी मनुष्य का अनुकूल सयोगो की प्राप्ति मे हर्पित होना रति है, तथा प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति मे दु खित होना—अरति हे। इन दोनो के चगुल मे फँसा हुआ व्यक्ति समत्व के सरोवर मे डुबकी नही लगा सकेगा।

माया-मृषावाद से मतलब है—कपट सहित असत्य बोलना। पॉलिसी से बातें करना और वाहर से सत्य और मन मे असत्य दिखाना भी इसी कोटि का पाप-स्थान है। इससे समता रह ही नही सकती।

अठारहवाँ पापस्थान मिथ्यादर्शन शल्य है, जिसका अर्थ होता हे—मिथ्यात्व-रूपी शल्य (बाण या तीक्ष्ण काटा)। इस पाप के प्रभाव से मनुष्य का कुदेव, कुगुरु, कुधर्म एव अजीव को क्रमश देव, गुरु, धर्म और जीव मानना मिथ्यादर्शन शल्य है। यह सभी पापो का मूल है। सामायिक मे इस पाप को ले आना, अपनी आत्मा को विषधर से डसाना है। इसलिए साधक को इससे बिलकुल परहेज करना चाहिए।

इन अठारह पापो का यह कच्चा चिट्ठा है। ये तो स्थूल दृष्टि से शास्त्रकारो ने बताए है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पापो का विकटजाल इतना गहन है कि इनमे से किसी एक को भी प्रश्रय दे देने पर अगणित पापो के अकुर उसमे से फूट जाते है। मन का प्रत्येक भाव, जो अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी हो, आत्मलक्षी न होकर विपयलक्षी हो, वह सब पाप है। पाप आत्मा को मलिन, अशान्त एव सक्लिष्ट बना देते हैं, इसलिए वे त्याज्य ही है। नदी की तरह निरन्तर निराबाध बहने वाली आत्मा के साथ जब पापरूपी पत्थर, चट्टान, ककड या मिट्टी मिल जाती है तो उसका प्रवाह रुक जाता है, वह आगे बढने से रुक जाती है।

सर्वेन्द्रिय, मन सयम

सामायिक का एक लक्षण यह भी बताया है कि सभी इन्द्रियो और मन पर सयम रखो। इन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय। इन पाँचो इन्द्रियाँ अपने-अपने विपयो मे प्रवृत्त होती हैं, उस समय राग (आसक्ति या मोह) तथा द्वेप (घृणा, रोप आदि) न अपने मन मे न आने दें, यही समत्व है। जैसे आप सामायिक की साधना मे बैठे है, वहाँ आपके कानो मे सगीत की कर्णमधुर स्वर लहरी पडी, कुछ देर वाद तो पडौस मे ही लोहे पर जोरो से हथौडे

पडने लगे, उसकी कर्कश एव कर्णकटु आवाज भी कानो मे पडी। अथवा पहले किसी ने आपकी प्रशसा की, तत्पश्चात् किसी ने आपकी निन्दा की, आपको गालियाँ दी, इन दोनो प्रकार की आवाजें या शब्दावली कानो मे पडने पर सामायिक का साधक न तो मधुर या प्रशसात्मक स्वरलहरी या शब्दावली पर हर्षित होकर भान भूल जाय, और न ही कर्णकटु या निन्दात्मक शब्द सुनकर मन मे उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्वेष या रोप की भावना आए। दोनो ही परिस्थितियो मे साधक मध्यस्थ—सम रहे।

इसी प्रकार सामायिक की साधना मे बैठे है—आपकी आँखो के सामने सोलह शृगार से सुसज्जित एक नवयुवती आती है, कुछ ही देर वाद एक काली-कलूटी भगन आपके चक्षुपथ मे आ जाती है, आपकी आँखें दोनो रूपो (दृश्यो) को देखती हे, लेकिन आपको न तो नवयुवती को देख कर राग या मोह करना है, और न ही भगन को देखकर द्वेप या घृणा करनी है। दोनो दृश्यो (रूपो) को देखकर आप सम रहे।

आप सामायिक की साधना मे बैठे हो, उस समय पडोस मे ही गाँधी की दूकान के इत्र और सैंट की भीनी-भीनी मनमोहक सुगन्ध आ रही है, कुछ ही देर बाद गन्दी गटर की बदबू आती हे, इन दोनो प्रकार की गन्ध के नाक मे पडने पर आपको न तो सुगन्ध पर राग (मोह) करना है, और न ही दुर्गन्ध के प्रति द्वेप या घृणा करना है। दोनो पर सम रहना है।

सामायिक की साधना मे आप बैठे ह, आपने दया की है। कुछ लोग दया वालो के लिए बढिया मिठाइयाँ लाए हैं। उन मिठाइयो को देखकर आपके मुँह मे पानी आ जाता है यानी उन पर खाने के लिए आसक्ति होती हे, आपका जी ललचा जाता है, कुछ देर बाद एक व्यक्ति दया वालो के लिए सादी बाजरे की रोटियाँ और साग ले आया। आप उन्हे देखकर मन ही मन उनके प्रति घृणा करते हैं खाद्य पदार्थों के प्रति, तथा लाने वाले के प्रति भी तथा रोप भी करते ह—क्या इस मगते को कोई अच्छी चीज नही मिली, जो यह सादी रोटियाँ उठा लाया हे ? सादी रोटियो की तो घर मे ही क्या कमी थी ? इस प्रकार मनोज्ञ खाद्य पदार्थो के प्रति आपने राग किया, अमनोज्ञ के प्रति द्वेप किया तो दोनो ही परिस्थितियो मे आपने समत्व को खो दिया। समत्व की साधना तभी हो सकती हे, जब आप दोनो ही प्रकार की खाद्य सामग्री देखकर मध्यस्थ (सम) रहे और यथालाभ सन्तोप माने।

इसी प्रकार कोमल गुदगुदा स्पर्श पाकर आपके मन म राग न हो, कठोर या खुरदरा स्पर्श पाकर द्वेप न हो, वल्कि स्पर्शेन्द्रिय के दोनो प्रकार के विपयो मे सम रहे, तो आपकी सामायिक साधना शुद्ध है।

मन मे भी कई वार पहले देखे-सुने हुए मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थो के प्रति मनुष्य राग-द्वेप की भावना ले आता है। वह कई प्रकार की कल्पनाओ का जाल बुनता रहे, समत्व मे स्थिर न रहे, तो यह मन का असयम है। इसी प्रकार अप्राप्त वस्तु की कल्पना की उधेड-बुन मे मन को लगाएँ या जो वस्तु प्राप्त हुई ह, वह

अनिष्ट है, प्रतिकूल है तो उसको हटाने की कल्पना मे चित्त को बार-बार डावाडोल करे तो यह मन का असयम है, जो समत्व को नष्ट करने वाला है।

समत्व का आराधक पाँचो इन्द्रियो तथा मन के अनुकूल-प्रतिकूल या मनोज्ञ-अमनोज्ञ वस्तु या व्यक्ति के प्रस्तुत होने पर असयम मे रमण न करके बहिर्मुखी न होकर सयम मे या आत्मस्वभाव मे अन्तर्मुखी होकर रमण करता है।

सामायिक की साधना के दौरान ही नही, बाहर भी श्रावक को पाँचो इन्द्रियो पर सयम रखने का अभ्यास करना चाहिए। श्रावक को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि पाँचो इन्द्रियो पर असयम का परिणाम भयकर होता है।

पतगा अज्ञानी है, वह प्रकाश के रूप पर मुग्ध एव आसक्त होकर अपनी जान दे देता है, वही जल कर भस्म हो जाता है। दीपक के रूप पर मुग्ध होकर आगा-पीछा न सोचने वाला पतगा आखिर पाता क्या है ? खुद भी जल मरता है और दीपक को भी बुझा देता है। काँटे की नोक मे लगे हुए जरा-से आटे के लोभ पर मछली सयम नही कर पाती, और अपने प्राणो से हाथ धो बैठती है। रस का लोलुप भौरा कमल की पखुरियो मे बन्द होकर हाथी का कलेवा बन जाता है। जाल मे बिखरे हुए थोडे-से दानो की उपेक्षा यदि भोली चिडिया कर सकी होती तो फडफडा कर मरने की आपत्ति से वह बच सकती थी।

जिह्वेन्द्रिय, अनेकविध स्वादिष्ट भोजन जल्दी-जल्दी अधिक मात्रा मे खाने को लालायित रहती है। उसकी तृप्ति असयमी लोग करते भी है। पर इस असयम के कारण जब पेट खराब होता है, रक्त दूषित बनता है, नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते है। तब उस देह-दौर्बल्य की समस्या शारीरिक कष्ट ही नही, आर्थिक कठिनाई, कार्यों मे असफलता आदि की अगणित समस्याएँ पैदा कर देती है। जिह्वे-न्द्रिय पर काबू करके जिसने अपने स्वास्थ्य को सँभाल रखा है, उसकी तुलना मे असयमी की समस्याओ मे जमीन-आसमान का अन्तर होता है। इसी प्रकार कामेन्द्रिय की वासना से प्रेरित होकर लोग अपने जीवनरस को इतना निचोड डालते है कि जवानी मे ही बुढापा आ घेरता है। जितने बच्चो का उत्तरदायित्व नही उठा सकता, उतने बच्चे उत्पन्न हो जाते है। फिर उनकी रोटी, बीमारी, पढाई, शादी आदि की समस्याएँ सामने आती है। बच्चा यदि अयोग्य या कुपात्र निकला तो और उलझनें सामने आती है। पत्नी भी यदि गुर्दु णी और कर्कशा निकली तो वह रोज नई समस्या खडी कर देती है। इस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय सयम न रखने का परिणाम कितना विषम होता है, यह समझा जा सकता है।

इस प्रकार इन्द्रियो की वासना सेवन करने के समय बडी प्रिय लगती है, पर उस भोग के जो दूरगामी परिणाम होते है, वे इतनी उलझनें पैदा करते है कि मनुष्य के लिए यह भारी बन्धन बन जाता है।

समभावी साधक किसी भी क्षेत्र विशेप को पाकर घवराता नही, नरक मे भी वह स्वर्ग की सृष्टि कर लेता है, क्षुद्र प्रकृति के लोगो के वीच रहते हुए भी वह अपनी समता नही खोता, अगर उसे ऐसे क्षेत्र मे रहने का काम पडता है, जहाँ के लोग क्रूर

- - -

—यदि कोई मेरे विपय मे शुभ या अशुभ नाम या शब्दो का प्रयोग करे तो मुझे उसमे मोहवश रति या द्वेपवश अरति नही करनी चाहिए, क्योकि शब्द मेरा लक्षण या स्वरूप नही है।—(नामसामायिक)

यदिद स्मरयत्यर्चा न तदप्यस्मि किं पुन ।
इद तदस्या सुस्थेति धीर सुस्थेति वा न मे ॥२२॥

—यह जो सामने वाली मूर्ति (प्रतिमा) अर्हन्तादि रूप का स्मरण करा रही है, मैं उस मूर्तिरूप नही हूँ, क्योकि मेरा साम्यानुभव न तो मूर्ति मे ठहरा हुआ है और न इसके विपरीत है। (स्थापनासामायिक)

साम्यागमज्ञ—तद्देहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ ।
तादृशौ स्ता परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद्ग्रह ? ॥२३॥

—सामायिकशास्त्रज्ञाता अनुपयुक्त आत्मा और उसका शरीर तथा इनसे विपक्ष (आगम—नो आगम—भावि नोआगम—तद्व्यतिरिक्त आदि) जैसे कुछ भी द्रव्य शुभ है या अशुभ है, रहे, मुझे इनसे क्या ? क्योकि ये परद्रव्य हैं। इनमे मुझे स्वद्रव्य की तरह कैसे अभिनिवेश हो सकता है ? (द्रव्यसामायिक)

राजधानीति नो प्रीये, नारण्यानीति चोद्विजे ।
देशो हि रम्योऽरम्यो वा नात्मारामस्य कोऽपि मे ॥२४॥

—यह राजधानी है, इससे मुझे प्रेम हो, यह अरण्य है, इससे मुझे उद्वेग हो, ऐसा नही है, मेरा रमणीय स्थान तो आत्मस्वरूप है। इसलिए मुझे कोई भी बाह्य स्थान रमणीय (मनोज्ञ) या अरमणीय (अमनोज्ञ) नही हो सकता।

—(क्षेत्रसामायिक)

नामूर्तत्वाद्धिमाद्यात्मा काल किं तर्हि पुद्गल ।
क्षयोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहम् ॥२८॥

—काल द्रव्य तो अमूर्त है। इसलिए हेमन्तादि ऋतुएँ काल नही हो सकती। वल्कि पुद्गल की उन-उन पर्यायो मे काल का उपचार किया जाता है। मैं कदापि उसका स्पर्श्य नही हो सकता, क्योकि मैं अमूर्त व चित्स्वरूप हूँ।

—(कालसामायिक)

सर्वे वैभाविका भावामत्तोऽन्ये तेष्वत कथम् ?
चिच्चमत्कारमात्रात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम् ॥३०॥

—औदयिक आदि भाव तथा जीवन-मरण आदि ये सब वैभाविक भाव, मेरे नही है। ये मुझसे भिन्न है। अत चित् चमत्कार मात्रस्वरूप वाला मैं इनमे राग-द्वेपादि को कैसे प्राप्त हो सकता हूँ ? —(भावसामायिक)

ोर निष्ठुर हो, वहाँ भी वह अपनी शान्त और सम प्रकृति से उन्हें प्रभावित कर ता है।

महात्मा गांधीजी को एक बार ब्रिटिश सरकार ने अफ्रीका में एक ऐसी जल डाल दिया, जहाँ कोई खास सुविधा नहीं थी, कैदी भी जूलू जाति के अपराधी नोवृत्ति के एवं निष्ठुर थे, जेल के व्यवस्थापक भी कठोरहृदयी थे। महात्मा गांधी ने यह सब देखकर भी अपनी शान्ति नहीं खोई। वे समभाव से सहन करते हुए प्रसन्नता में रहते थे। एक बार एक जुलूजाति के कैदी को बिच्छू ने काट खाया। उसकी पीड़ा के मारे वह कराह रहा था। महात्मा गांधी जी ने नमक के पानी से योग से उसका उपचार किया, जिससे उसकी पीड़ा कम हो गई। धीरे-धीरे जब वह स्वस्थ हो गया तो गांधीजी के चरणों में पड़कर रोता हुआ माफी मांगने लगा कि मैंने आपको बहुत तंग किया, लेकिन आपने सब सह लिया। गांधी जी ने उसे उठाया और आश्वासन दिया। तब से वह गांधीजी का भक्त बन गया और सेवा करने लगा। यह है जेल जैसे विषम क्षेत्र में भी समभाव से रहने का प्रभाव!

कालसामायिक—कैसा भी काल हो, अपना समभाव न छोड़ना। कई जगह दुष्काल पड़ जाता है, उस समय सामायिक का साधक अपनी समता का परित्याग नहीं करता, समभाव से सब कुछ सहता है। वह दुष्काल निवारण के लिए हर सम्भव प्रयत्न जरूर करता है, परन्तु अभाव से पीड़ित होकर भी रोता-कलपता नहीं, अपने आपको उस परिस्थिति में एडजस्ट कर लेता है। वह काल का गुलाम भी नहीं होता कि हाय, अब तो सर्दी का खराब मौसम आ गया। गर्मी का मौसम अच्छा था। अथवा वर्षा का समय सुहावना था, वह सदैव बना रहता तो कितना अच्छा था। कालासक्त मनुष्य सर्दी, गर्मी या वर्षा में हाय-तोबा मचा देता है। इसी प्रकार अपनी बचपन या यौवन की अवस्था को याद कर-करके काल समभावी मन में व्यथित नहीं होता। वह सोचता है कि समय परिवर्तनशील है। मेरे चाहने से वह थोड़े ही रुक जायगा। अथवा किसी समय अपनी आर्थिक स्थिति तंग होने पर भी कालसमभावी उसके दुःख से विक्षुब्ध नहीं हो जाता, बल्कि वह समभाव से सहन करता है, सोचता है—'यह समय कोई हमेशा थोड़े ही रहने वाला है। यह भी चला जायगा।' इसी प्रकार किसी समय अपनी आर्थिक स्थिति बहुत अधिक सुदृढ हो जाने पर भी वह मन में फूलता नहीं, गर्व नहीं करता, वह समझता है कि ऐसी स्थिति में मुझे गर्व करने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि ऐसी स्थिति भी अस्थायी है। बल्कि यह स्थिति मुझे अपने कर्तव्य का भान कराती है, कि 'मैं अपने दीन-हीन दुःखी बन्धुओं की सेवा करूँ, उनको सहायता दूं।' किसी समय उच्चपद मिलने पर भी अभिमान करके वह दूसरों का तिरस्कार नहीं करता, बल्कि यही सोचता है कि 'यह पद तो मुझे सेवा करने के लिए मिला है।'

कालसमभाव का एक अर्थ परिस्थिति समभाव भी है। व्यक्ति के जीवन में किसी समय सुख, शान्ति, आनन्द और उल्लास आता है, तो दूसरे समय में दुःख,

शोक, अशान्ति, सघर्ष और सक्लेश भी आ सकता है। कोई भी जीव इससे वच नही सकता। सुख के वाद दुख और दुख के वाद सुख आते ही रहते हैं। सुख और दुख क्या है ? परिस्थितियो का परिवर्तनमात्र ही है। यदि कोई इतना साधन-सम्पन्न भी हो कि उसके जीवन मे किसी प्रकार का दुख, अभाव या सघर्ष की सम्भावना को अवसर न मिले, तो वह निरन्तर अनुकूल परिस्थितियो मे रहकर ऊव जायगा। उसके लिए पश्चिम के समृद्ध देशो की तरह एकरस सुख ही दुख का कारण बन जाएगा। वह एकरसता से थक जाएगा। अप्रिय नीरसता उसे घेर लेगी। मानव-जीवन मे दुख-सुख का आवागमन चलता रहता है। जो सुखी है, उसे दुख की कटुता का अनुभव करना होगा, और जो दुखी है, उसे भी कभी न कभी किसी न किसी कारण से सुख की शीतलता को अनुभव करने का अवसर मिलेगा ही।

वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाए तो ये अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी सुख-दुख का वास्तविक हेतु नही है। वास्तविक हेतु तो मनुष्य की अपनी मन-स्थिति ही है, जो किसी परिस्थिति विशेष मे सुख-दुख का आरोपण कर लिया करती है। सामायिक के साधक को अमुक परिस्थिति किसी समय पुलकित या हर्षविभोर बना दे, तथा किसी समय वही या दूसरी उसी प्रकार की परिस्थिति पीडादायक बन जाए, ऐसा नही होता। यदि सुख-दुख का निवास किसी परिस्थिति विशेष मे निहित होता तो तदनुकूल मनुष्य को हर बार सुखी या दुखी ही होना चाहिए। एक जैसी परिस्थिति मे यह सुख-दुख की अनुभूति का परिवर्तन क्यो ? वह इसीलिए कि सुख-दुख वास्तव मे परिस्थितिजन्य न होकर मनोऽनुभूतिजन्य होते है। इस सत्य के अनुसार सामायिक का साधक अपने सुखी या दुखी होने का कारण अपने अन्त करण मे खोजता है, परिस्थितियो को श्रेय या दोष नही देता। जो मनुष्य अपने दुख के लिए परिस्थितियो को कोसा करता है तथा सुख के लिए उन्हे धन्यवाद देता है, वह सामायिक विज्ञान से अनभिज्ञ है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कोई भी मनुष्य दुख की कामना कदापि नही करता, वह सदैव सुख ही चाह करता है, इसलिए उसे अपनी सुख की कामना पूरी करने के लिए परिस्थितियो पर नही, अपने मनोयन्त्र पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उसे अपने मन को ईर्ष्या, द्वेष, क्षोभ, चिन्ता या असन्तोष से अभिभूत न होने देना चाहिए। इस प्रकार का निरभिभूत समभावी मन गोमुखी गगाजल की तरह निर्मल एव प्रसन्न होता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम के समक्ष पहले दिन अयोध्या की राजगद्दी मिलने की प्रसन्नता की परिस्थिति थी, लेकिन दूसरे ही दिन वनवास जाने की अप्रसन्नता की प्रतिकूल परिस्थिति आ गई है, लेकिन दोनो ही परिस्थितियो मे श्रीराम का मन समरस रहा। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

प्रसन्नताया न गताभिषेकत,
तथा न मम्लौ वनवासदुखत.।

मुखाम्बुजश्रीरंघुनन्दनस्य मे,
सदाऽस्तु सा मजुलमगलप्रदा ॥

अर्थात्—'राज्याभिषेक की अनुकूल परिस्थिति के चले जाने पर भी जिनका चेहरा प्रसन्न रहा, तथा वनवास के दुख की प्रतिकूल परिस्थिति के आ पडने पर जिनका चेहरा नही मुरझाया। ऐसी श्री रघुनन्दन की मुखकमलश्री मेरे लिए सदा मजुलमगल प्रदान करने वाली हो।'

हाँ तो, यदि मन प्रसन्न है तो ससार मे सर्वत्र प्रसन्नता ही प्रसन्नता दृष्टिगोचर होगी, सुख ही सुख का अनुभव होगा। तव उस समत्व से ओतप्रोत मन को ऐसी सहज प्रसन्नता की दशा मे परिस्थितियो के अनुकूल होने की अपेक्षा नही रहती। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, मनभावनी हैं तो बहुत अच्छा, परिस्थितियाँ प्रतिकूल हे, तब भी कोई अन्तर नही पडता। प्रसन्नचित्त समभावी साधक उन्हे अनुकूल बनाने के लिए अथक प्रयत्न करेगा, सघर्ष करेगा, पसीना वहाएगा, मूल्य चुकाएगा, कष्ट उठाएगा, कठिनाइयो का स्वागत करेगा, लेकिन दुखी नही होगा। वह यह सब हँसते-हँसते प्रसन्न मन से शान्त मुखमुद्रा मे ही करता रहेगा, उसे ऐसे कष्टसाध्य पुरुषार्थ करने मे आनन्द आएगा। समभाव-पालन (धर्मपालन) के लिए सघर्ष करने, दुख सहने और प्रयत्न करने मे उसे सुख मिलेगा। जीवन की विभिन्न अटपटी परिस्थितियाँ तथा विविध उपलब्धियाँ उसकी प्रसन्नता को घटा नही सकती, बढा ही सकती है।

जो मनुष्य इस सामायिकविज्ञान का अभ्यासी नही है, वह सदैव एकमात्र सुख की स्वार्थकामना करता है, दुख बिलकुल नही चाहता। वह दुख या क्लेश आ जाने पर हाय-हाय करते हुए हाथ-पैर छोडकर निराश, निरुत्साह एव निरुद्यमी होकर बैठा रहता हे, और दुर्भाग्य अथवा नियति को कोसता रहता है। सामायिक के साधक को इस प्रकार की सुख की स्वार्थजन्य कामना तथा निरुत्साहवृत्ति शोभा नही देती।

सामायिक का अभ्यासी साधक प्रतिकूल परिस्थिति के आने पर चिन्तन करता है—ससार मे आज तक अतीत मे कोई भी व्यक्ति ऐसा नही हुआ और न ही भविष्य मे होगा, जिसके जीवन मे कभी दुख की परिस्थिति न आई हो, सदैव सुख के मनभावने सावन की ही सदावहार रही हो, कभी दुख और क्लेश के तप्त झोके न सहने पडे हो प्रतिकूल परिस्थिति न आई हो। राजा से लेकर रक तक तथा बलवान से लेकर निर्बल तक प्रत्येक प्राणी को अपनी-अपनी परिस्थिति मे अपनी तरह के दुख और क्लेश उठाने ही पडते हैं। कभी शारीरिक कष्ट, कभी मानसिक क्लेश, कभी सामाजिक कठिनाई, कभी आर्थिक अभाव तो कभी आध्यात्मिक अन्धकार मनुष्य को सताते ही रहते हैं। सदा-सर्वदा कोई भी व्यक्ति कष्ट एव कठिनाइयो से सर्वथा मुक्त नही रह सकता। ऐसी अनिवार्य स्थिति मे किसी प्रकार की कठिनाई आ जाने पर मुझे क्यो निराश, चिन्तित एव क्षुब्ध हो उठना चाहिए? इस प्रकार वह अनुकूल परिस्थिति पाकर हर्षोन्मत्त नही हो उठता, तथैव प्रतिकूल परिस्थिति

देखते ही तडफता नही। क्योकि वह जानता है कि यह मानसिक हीनता का लक्षण है। मानसिक दृष्टि से दुर्बल मनुष्य ससार मे कुछ भी करने लायक नही होता। वह सघर्षों, मुसीवतो एव आपत्तियो से डरता है, उनके आने पर निराश या निरुत्साहित हो जाता है, वह कोई बडा काम करना तो दूर, साधारण मनुष्यो की तरह साधारण जीवनयापन भी नही कर सकता। जिसका हृदय वात-वात मे विषाद से आक्रान्त हो जाता है, चिन्ताओ और निराशाओ से अभिभूत हो जाता है, उसका जीना जीना नही माना जाता। जिसमे आपत्तियो से सघर्ष करने की हिम्मत नही, कठिनाइयो से जूझने का साहस नही, उच्च आदर्श के साथ जीने की उत्साहपूर्ण सक्रियता नही, वह ससार पर ही नही, अपने पर भी वोझ बना हुआ श्वासो का भार ढोया करता है। चिन्तित और निराश व्यक्ति की मन स्थिति किसी पुरुषार्थ के योग्य नही रहती। उसके जीवन-वृक्ष के मूल मे दीमक लग चुकी है।

सामायिक साधक यही समझता है कि दु ख, कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ हमारे समभाव की परीक्षा लेने आती हैं। वे आते ही हमारी मानसिक प्रसन्नता, हमारी आशा या हमारे उत्साह पर आवरण डाल कर हमारे समक्ष एक कठिन प्रश्न प्रस्तुत कर देती हैं, कि अव कैसे समता रख सकोगे ? यदि हमने उन कठिनाइयो आदि को अपनी आत्म-किरणो पर पर्दा डालने दिया तो हमारे मनोमन्दिर मे अन्धकार हो जाएगा, तव तमोजन्य निराशा, क्षोभ, दु ख, भय एव असन्तोष की अशिव भावनाएँ हमे तरह-तरह से त्रस्त करने लगेंगी, हम अकारण ही पीडित रहने लगेंगे। अत उनके द्वारा हमारी आत्म-किरणो को आवृत्त करने से पहले ही हम अपनी मन प्रसन्नता या मन-स्थिति को समता से सबल बना लें, ताकि वे हमे त्रस्त न कर सकें। समतापरायण मनुष्य अपनी प्रसन्नता को किसी भी परिस्थिति मे मन्द नही होने देता। दु ख, कष्ट, तथा प्रतिकूलताएँ उन पर प्रभाव नही डाल सकती। हानि के धक्के या असफलता के क्षोभ से वह निराश नही होता। कभी-कभी जीवन मे ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती है, जिनसे जीवन का हर क्षेत्र निराशा, कठिनाइयो तथा आफतो से भरा दिखाई पडता है, जीवन नि सार प्रतीत होने लगता है, फिर भी सामायिक का साधक क्षुब्ध एव किंकर्त्तव्यविमूढ होकर नही बैठता, अपितु समभाव के कवच से सुसज्जित होकर उन कठिनाइयो एव आफतो का सामना करता है, कमर कस कर योद्धा की तरह जीवन सग्राम मे उतर पडता है और निश्चय ही विजय प्राप्त करता है। परिस्थिति समभाव के साधक को निम्नलिखित स्वर्ण सूत्र सुन्दर प्रेरणा देता है—

"लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविये मरणे तहा।
समो निंदा पससासु, तहा माणावमाणओ॥"

—लाभ की परिस्थिति हो या अलाभ की, सुखमय परिस्थिति हो या दु खमय, जीवन लम्वा और दीर्घकालीन मिले या आज ही मरण उपस्थित हो जाए, कोई निन्दा

करता हो या प्रशसा, या सम्मान करता हो या अपमान, सभी परिस्थितियो मे सामायिक साधक सम रहे, स्वस्थ और मध्यस्थ रहे।[1]

अलाभ और अभाव की[2] परिस्थिति उपस्थित होने पर सामायिकव्रती निराश नही होता। वह यही सोचता है कि प्रतिदिन रात आती है, चारो ओर अधेरा छा जाता है। रात्रि का अन्धकार किसी को अच्छा नही लगता, तब भी लोग उसे सहते है, काटते है, न घबराते है और न हाय-हाय करके रोते-कलपते है, क्यो? क्योकि हर काली रात के पीछे एक प्रकाशमान दिन तैयार रहता है। चिन्ता की बात तो तब हो, जबकि रात का अन्त सम्भव न हो, और प्रभात की सम्भावना न हो। निराशा भी काली अधेरी रात है, इसका भी तो रात्रि की तरह स्थायी अस्तित्व नही होता। शीघ्र ही उसका समाप्त हो जाना निश्चित है।[3] यह अटल नियम है कि निराशा मिटती है, और उसके साथ ही आह्लादकारी आशा अपना नव प्रकाश लेकर आती है।

अत अलाभ या अभाव की परिस्थिति मे समभावी साधक निराशा को अपने पर छाने नही देता। वह आशा, उत्साह एव आत्म-विश्वास तथा साम्य का अवलम्बन लेकर आगे बढता है। जीवन मे निराशा को प्रश्रय देना असफलता के लिए मार्ग प्रशस्त करना है।

व्यापार मे घाटा हो जाने पर सामायिक का अभ्यासी साधक सोचता है—'व्यापार मे घाटा-नफा होता ही रहता है। घाटा कोई अनहोनी बात नही। घाटा हो जाने पर भी मेरा पुरुषार्थ तो कही नहीं चला गया। मैं फिर बाजार में अपना पैर जमाऊँगा। पहले से अधिक सावधान, सदाशयी रहकर न्याय-नीतियुक्त पुरुषार्थ करूँगा। मेरा पुरुषार्थ देखकर सब मेरे साथ सहयोग करेंगे। आज यदि हानि हुई है तो कल लाभ भी होगा। ससार मे ऐसा कौन हुआ है, जिसे सदा लाभ ही लाभ हुआ हो, हानि का मुह न देखना पडा हो। लाभ-हानि दोनो मानव जीवन की दो समान उपलब्धियां है, उन्हे समभाव से ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार लाभ और अलाभ मे सामायिक का साधक अपने समत्व का परिचय देता है वैसे ही सुख और दुख मे भी समत्व का परिचय देगा।

जिसका स्वभाव सन्तोषी है, ममत्व से मुक्त है, वह अभाव की परिस्थितियो

---

1 जीविते मरणे लाभे वियोगे विप्रिये प्रिये।
शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे साम्यं सामायिकं विदु ॥— अमितगति श्रावकाचार ८।३१
2 सद्दृष्टि-ज्ञान-...-गुणानामुपमर्दिनाम् ।
रागद्वेषादीनां ...॥
— चारित्रसार ५६।१

—मूलाचार

भी व्यग्र अथवा दु खी नही होता। सामायिक का साधक यही सोचता है कि इस ससार मे हजारो-लाखो ऐसे व्यक्ति होगे, जिन्हे सामान्यत आर्थिक कष्ट रहता है। मुश्किल से रूखी-सूखी रोटी मिल पाती है, फिर भी वे सन्तुष्ट तथा प्रसन्न देखे जाते ह। अपने आर्थिक कष्ट का रोना रोना या भाग्य को कोसना उन्हे आता ही नही। इसके विपरीत असख्य लोग ऐसे भी मिलते है, जो रात-दिन अपने अभाव का रोना रोते और दुर्भाग्य को कोसते रहते ह। कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके पास अपेक्षाकृत अधिक साधन सुविधाएँ हैं, किन्तु वे उक्त अभावग्रस्त व्यक्ति से भी अधिक असन्तुष्ट एव दु खी प्रतीत होते है। अत सुख का निवास सतोषी एव समभावी मनोवृत्ति मे है, प्राप्ति उपलब्धियो मे नही। कितने ही मनुष्यो का स्वभाव होता है कि वे वर्तमान परिस्थितियो से असन्तुष्ट रहते है। उनका वर्तमान कितना ही अनुकूल क्यो न हो, वे असन्तोष या खिन्नता का कोई न कोई कारण निकाल ही लिया करते है। वे अतीत से लगाव करके वर्तमान मे असन्तोष का कारण सोचा करते है कि वे अपने बीते दिनो मे बहुत अधिक प्रसन्न एव सुखी थे। जबकि वास्तव मे ऐसा बिलकुल होता नही। उनका अतीत जब वर्तमान था, तब भी वे आज की तरह असन्तुष्ट एव अप्रसन्न थे। अत सुखी एव प्रसन्न रहने का एक ही उपाय है कि अपनी वर्तमान स्थिति से सामजस्य रखते हुए सन्तुष्ट रहा जाए।

कभी-कभी दूसरो को अपने से अधिक साधन-सुविधा सम्पन्न देखकर व्यक्ति को असन्तोष होता है, उस सम्पन्न व्यक्ति से अपनी कमी की तुलना करके वह असन्तुष्ट हो जाता है। हमारे पास तो एक छोटा-सा मकान है। दूसरो के पास तो ऊँची-ऊँची कोठियाँ है। तब उसके हृदय मे अपनी स्थिति को हीन समझकर असन्तोष की चिनगारी दहकने लगती है और उसकी सारी सुख-शान्ति भस्म हो जाती है। परन्तु सामायिक का साधक दूसरो की सम्पन्न स्थिति देखकर असन्तोष से खिन्न या अप्रसन्न नही होता। वह अपनी दृष्टि को उन लोगो की ओर मोड देता है, जिनके पास न तो दोनो समय की रोटी है, न तन पर पूरे कपडे है और न ही सिर छिपाने को झोंपडी है, अर्थात् कम से कम सुख-सुविधाएँ उन्हे उपलब्ध है, फिर भी वे हर समय सन्तुष्ट, प्रसन्न एव सुखी रहते है। न तो वे अभाव का अनुभव करते है, न अपने को दु खी एव दुर्भाग्यपूर्ण मानते है। वे ईमानदारी से परिश्रम करते है, प्राप्त पदार्थ मे सन्तोष करते है और प्रसन्नतापूर्वक जीवन जीते है। इस प्रकार सामायिक साधक भी दूसरो की अत्यधिक सम्पन्न स्थिति देखकर अपने समत्व भाव मे लीन रहे। अपने से हीन लोगो को सन्तुष्ट देखकर स्वय भी प्राप्त पदार्थों के लाभ मे सन्तुष्ट रहे। सामायिक का साधक सन्तुष्ट एव समत्वयुक्त होकर जीना सीख जाता है तो उसके लिए ससार मे कोई दु ख शेप नही रह जाता। वह प्रत्येक वस्तु एव परिस्थिति को सुख मे रूपान्तरित कर लेता है।

इसी प्रकार सामायिक का साधक जीवन हो या मरण दोनो मे सम रहता है। प्रत्येक मनुष्य स्वय जीवित रहना चाहता है, अपने प्रिय परिजनो को भी

जीवित देखना चाहता है, न अपनी मृत्यु उसे अभीष्ट है, और न ही अपने प्रिय की। परन्तु यह अटल नियम है, जो उत्पन्न होता है, वह एक दिन अवश्य मरता है। मरण अवश्यम्भावी है। जन्म की भाँति मृत्यु जब एक सुनिश्चित सत्य है, तब अपनी या अपनों की मृत्यु के अवसर पर शोक-सन्ताप या विलाप करना सामायिक के साधक का धर्म नहीं है। किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु हो गई, माना कि उसके जाने से हानि या क्षति होती है, सहसा चित्त को कुछ धक्का भी लगता है, और शोक के कारण स्वाभाविक रूप से आँसू भी उमड़ आते हैं। परन्तु सामायिक साधक को वास्तविकता का चिन्तन करके इससे आगे आर्तध्यान की कोटि में प्रवेश नहीं करना चाहिए। उसे मन को समझा कर मध्यस्थभाव (समत्व) में स्थिर करना चाहिए कि घटित हुई घटना अब लौट नहीं सकती, गया व्यक्ति अब वापिस आ नहीं सकता, अतः शोक सन्ताप न करके मध्यस्थ भाव धारण करके मृतात्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, उसके गुणों का स्मरण करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के प्रियजनों का वियोग होता ही है, और उसे उस वियोग को सहना ही पड़ता है, किन्तु जहाँ साधारण व्यक्ति हायतोबा मचाता है, रुदन या विलाप करता है, शोक या सन्ताप किया करता है, वहाँ सामायिक का साधक सामायिक साधना के दौरान तो अपने किसी प्रियजन की मृत्यु का समाचार जान-सुनकर अथवा अपनी मृत्यु की सन्निकटता देखकर शोक-सन्ताप कतई नहीं करता, अपितु सामायिक साधना के बाद भी वह उपर्युक्त प्रकार से शोक-सन्ताप या रुदन-विलाप न करके समत्वभाव में स्थिर हो जाता है। वह दीर्घदृष्टि से विचार करता है कि मेरे लिए जैसा जीवन है, वैसा ही मरण है। मेरे अपने जीवन की परीक्षा ही मृत्युकाल है। इस परीक्षा के समय मुझे रोते-रोते मृत्यु को स्वीकार करने की अपेक्षा हँसते-हँसते वीरतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि रोते-रोते कायरतापूर्वक मृत्यु का स्वीकार करने में व्यक्ति दुर्गति का भागी बनता है। जो व्यक्ति अपने प्रियजन की मृत्यु पर अत्यधिक शोकसन्ताप करते हैं, रोते रहते हैं, भोजन छोड़ देते हैं, मूर्च्छित होकर पड़े रहते हैं, उसके वियोग का बार-बार स्मरण करते हैं, वे अत्यधिक रुदन-विलाप के कारण अपने स्वास्थ्य का नाश कर बैठते हैं, आँखों की ज्योति से हाथ धो बैठते हैं। दिल की धड़कन, उन्माद, [illegible], अनिद्रा, मूर्च्छा, अपच-उलटी, सिरदर्द आदि अनेक नये रोग उठ खड़े होते हैं, घर की व्यवस्था चौपट हो जाती है, दुकान या व्यवसाय की व्यवस्था भी ठप्प हो जाती है। इस प्रकार मृत्यु-शोक अनेक विपत्तियों का उत्पादक सिद्ध होता है। अतः सामायिक साधक मरण में सम रहता है।

इसी प्रकार जिन्दगी का मोह भी सामायिक साधक को नहीं होता। अगर [illegible] या शीलरक्षण का प्रसंग आ जाए तो वह जीवन का मोह छोड़कर हँसते-हँसते मृत्यु स्वीकार कर लेगा।

निन्दा प्रशंसा में सम—सामायिक साधक [illegible] निन्दा हो या चाहे प्रशंसा दोनों ही

परिस्थितियो को क्षणिक समझकर सम रहता है। प्रशसा सुनकर हर्षोन्मत्त नही होता निन्दा सुनकर तिलमिलाता नही।

सम्मान और अपमान मे सम—इसी प्रकार सामायिक के साधक को सम्मान मिलता हो, चाहे अपमान के कडवे घूंट पीने पडते हो, दोनो अवस्थाओ मे समभाव का त्याग नही करता। वह इन दोनो अवस्थाओ को क्षणिक समझकर दोनो मे सम रहते ह, मन मे विकार या वैपम्य नही आने देते।

समत्वसाधक—चार शुभ भावनाएँ

सामायिक के लक्षणो के अन्तर्गत शुभभावनाएँ भी समत्व की कारण मानी गई हें। सामायिक का साधक जव आर्तध्यान और रौद्रध्यान से दूर रहेगा तो स्वाभाविक है कि उसका मनमस्तिष्क खाली नही रह सकता। उसका मनमस्तिष्क खाली रहेगा तो पुन कुछ न कुछ खुराफात मचाएगा। अत समत्व की साधना को परिपुष्ट करने के लिए आत्मौपम्य की भावना से ओतप्रोत होकर चार भावनाएँ अपनानी चाहिए। ऐसी भावनाएँ समत्वसाधक के हृदय को विशाल बनाकर विश्वप्रेम से आप्लावित कर देती हैं। वे चार मानी गई हैं—मैत्री, करुणा, प्रमोद एव माध्यस्थ।

मनोविज्ञान का यह माना हुआ तथ्य है कि मनुष्य अपने मन मे जिस प्रकार की भावना सजोता रहता है, वह अन्तत वैसा ही वन जाता है। एक पहलवान और एक श्रमिक अपने-अपने ढग से शारीरिक श्रम किया करते है, पसीना बहाना और शरीर मे थकान आना, दोनो क्रियाएँ दोनो जगह समान रूप से होती हैं, परन्तु उनमे से पहलवान हृष्टपुष्ट हो जाता है और मजदूर क्षीण। यह अन्तर सिर्फ भावना का है। पहलवान व्यायाम का श्रम करते समय यही भावना रखता है कि वह जो शारीरिक श्रम कर रहा है या पसीना बहा रहा है, वह स्वास्थ्य-लाभ के लिए कर रहा है और उसे दिनानुदिन स्वास्थ्यलाभ हो रहा है। अपनी इसी भावना के अनुरूप वह हृष्ट-पुष्ट और वलिष्ठ हो जाता है। श्रमिक की भावना श्रम करते समय ऐसी नही होती, वह सोचता है कि वह पेट के लिए मजबूरी से श्रम कर रहा है, पैसे के लिए पसीना बहा रहा है। अपनी इस भावना के कारण वह पहलवान का-सा श्रम करते हुए भी उसके जैसा हृष्ट-पुष्ट नही हो पाता। विवशता एव मजबूरी की भावना से उसका शरीर थक जाता है, उसकी शक्तियो का ह्रास होता जाता है।

भावना का प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र मे देखा जा सकता है। जो विद्यार्थी विद्या प्राप्त करने एव परीक्षा मे सफल होने की भावना से अध्ययन करता है, वह शीघ्र ही योग्यता प्राप्त कर लेता है, इसके विपरीत जो मजबूरी से, तथा अभिभावको एव अध्यापको के त्रास से पढा करता है, वह न तो योग्यता प्राप्त कर पाता है, न परीक्षा मे ही सफल हो पाता है, उसका अधिकाश श्रम बेकार चला जाता है।

भावना मे सजीवनी शक्ति है। जीवन के प्रति निष्ठा रखने वाले एक रोगी ने अपनी भावना को सुदृढ किया, अपना आत्मविश्वास जगाया और प्रतिदिन साय-

प्रात शान्तचित्त से स्वस्थ होने की भावना की, औषधि भी अमृत भावना के साथ सेवन की। नतीजा यह हुआ कि राजयक्ष्मा का वह रोगी एक दिन पूर्ण स्वस्थ हो गया। भावना मे बहुत बडी शक्ति है। वह विष को भी अमृत मे परिणत कर देती है। राजस्थान की प्रसिद्ध भक्त शिरोमणि नारी मीरा को राणाजी ने एक प्याले मे विष घोलकर पीने के लिए भेजा। मीरा की शुभ भावना थी, पुरुषोत्तम श्री कृष्णजी के प्रति उसे अटूट श्रद्धा थी। वह विष का प्याला अमृत समझकर अमृत भावना से गटगटा गई। परिणाम यह हुआ कि वह विप मीरा पर जरा भी प्रभाव न डाल सका। विष भी अमृत बन गया।

आध्यात्मिक जगत् मे भी ससार को आत्मौपम्य दृष्टि से देखने की भावना सामायिक का साधक करता है। पवित्र भावनाओ का आत्मा पर महान् प्रभाव पडता है। आत्मा को परमात्मा तक पहुँचाने के लिए ये चार व्यापक शुभ भावनाएँ है, जो सामायिक-साधक को आध्यात्मिक सुख-शान्ति एव आत्मा को विशुद्ध बनाने मे सहायक है। आचार्य अमतिगति ने चार भावनाओ की सक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार की है—

> सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदम्,
> क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
> माध्यस्थ्यभाव विपरीतवृत्तौ,
> सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

—हे परमात्मन्! मेरी यह भावना है कि मेरी आत्मा सदैव प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव, गुणिजनो के प्रति प्रमोद भाव, दु खित जीवो के प्रति करुणाभाव एव धर्म से विपरीत आचरण करने वाले अधर्मी या विरोधी जीवो के प्रति रागद्वेष रहित माध्यस्थ्य भाव धारण करे।

मैत्री भावना, सामायिक के साधक की प्राणिमात्र के प्रति आत्मौपम्य भाव को सक्रिय रूप देने वाली है। ससार के समस्त जीवो के प्रति जब मैत्रीभाव होता है, तब वह यथाशक्ति दूसरो का हित करने के लिए उत्सुक रहता है, किसी का भी अहित चिन्तन नही करता। अपनी आत्मा के समान सबके दुःख-सुख मे सहानुभूति एव नि स्वार्थ प्रेमभाव रखता है। दूसरी प्रमोद भावना है, जो गुणिजनो, धर्मात्मा पुरुषो, एव सज्जनो को देखकर पैदा होती है।

गुबरीले कीडे और भौरे का उदाहरण स्पष्ट है। गदा कीडा केवल गन्दगी, गोवर और विष्ठा की तलाश मे बगीचा छान डालता है और अपनी अभीष्ट चीज ढूंढकर ही दम लेता है, इसके विपरीत भौरा फूलो पर ही दृष्टि रखता है, उन्ही पर बैठता है और सुगन्धि का लाभ लेता है। बाग मे कही गोवर पडा है या नही, इसका पता भी नही चलता। इस ससार मे मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं। गुबरीले कीडे के समान कुछ लोग ऐसे है, जो अच्छी से अच्छी चीज या व्यक्ति मे से भी दोषो की गन्दगी ढूंढते रहते है, उन्हे किसी के सद्गुणो की सौरभ बिल्कुल नही

सुहाती। परन्तु कुछ लोग भौरो के समान रुचि वाले होते है, जो गुणरूपी सौरभ ही ढूंढते है, दोषो की ओर उनकी दृष्टि जाती ही नही।

जिन्हे दूसरो के गुणो को देखकर आल्हाद उत्पन्न होता है, उनकी उस मनोवृत्ति को शास्त्रीय भाषा मे प्रमोद (मुदिता) भावना कहते हैं। यह भावना जब आती है तो साधक मे छिद्रान्वेषण या दूसरे के गुणो मे दोष निकालने की वृत्ति नही रहती। जो छिद्रान्वेषी या परदोषदर्शी होते है, वे हमेशा शकाशील, वहमी एव अनुदार होते है। उन्हे दुनिया बुराइयो से भरी, दुष्ट, दुर्जन और शत्रुतापूर्ण दिखाई देती है, अपने पर आई हुई विपत्ति या दुःख का सारा दोष वे दूसरो पर मढ देते है। ऐसे लोग अपनी क्षुद्रता के कारण सबके बुरे, अभिन्न, अनादरपात्र एवं घृणा भाजन ही बने रहते है, ससार मे कोई उनका मित्र नही बनना चाहता, कोई उन्हे सम्मान नही देना चाहता। इसके विपरीत जिन्हे दूसरो मे गुण देखने की आदत है, वे बुरे लोगो मे भी साहस, पुरुषार्थ, चातुर्य या कार्य-कुशलता आदि गुण देखते है तो सापेक्ष दृष्टि से उनकी उन विशेषताओ की प्रशसा करते हैं। बुराइयो का प्रतिरोध या सुधार भी वे प्रेम से, मधुर शब्दो मे उक्त व्यक्ति के सद्‌गुणो की प्रशसा के साथ करते हैं। जिससे बुरे आदमी को भी अखरता नही, वह चिढता नही, क्योंकि प्रमोद भावना का साधक जानता है कि किसी को चिढाकर, अपमानित करके या उसकी बुराई को बढ़ा-चढा कर लोगो के सामने उछालने से या उसकी निन्दा करने से उसका सुधार नही हो सकता। इसीलिए सामायिक-साधक प्रमोद भावना के द्वारा गुणो की पूजा करता है, गुणिजनो को अपना बनाकर उनसे कुछ न कुछ सीखता है, प्रेरणा लेता है, लाभ उठाता है तथा अवगुणी व्यक्तियो को भी प्रेम से सुधार कर अपना बना लेता है। गुणो की ओर सतत दृष्टि रखने से उसके मन मस्तिष्क मे गुण छा जाते हैं।

करुणा भावना, तो सामायिक की साधना का प्राण है। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की भावना को चरितार्थ करने के लिए साधक मे दुःखित, पीडित, पददलित, व्यथित, शोषित लोगो के प्रति सहानुभूति, दया, करुणा और सेवा की भावना जागती है, वह उनके दुःखो को निःस्वार्थ भाव से दूर करने मे सहायक होता है। करुणा भाव के द्वारा मनुष्य दूसरो के हृदय को भी जीत लेता है, और उसके जीवन को अच्छाइयो की ओर मोड सकता है।

अब आइए चौथी मध्यस्थ्य भावना की ओर। जो व्यक्ति अपने प्रति विरोधी हैं, असहमत है, द्वेष रखते है, दोषदर्शी है, उन पर भी सामायिक साधक द्वेष न रखे, उनके प्रति माध्यस्थ्यवृत्ति-तटस्थ वृत्ति रखे। न उनसे किसी विषय मे विवाद करे और न ही उनको प्रोत्साहन दे। विपरीत आचरण वालो के प्रति अपशब्द, गाली या निन्दा का प्रयोग करना तो सरासर विषमता फैलाना है। उसको देखकर मन ही मन कुढना, उसे कोसना, उस पर क्रुद्ध होना भी सामायिक-साधक की दुर्बलता है। विरोधी व्यक्ति

को देखकर उससे घृणा करना भी ठीक नही, क्योकि वह भी द्वेष एव दुर्भाव के कारण अशुभ कर्मबन्ध का कारण बन जाता है।

अत सामायिक के साधक को साधनाकाल मे और भावना क्षेत्र के बाहर भी सर्वत्र इन चारो भावनाओ द्वारा आत्मा की शक्तियो तथा निजी गुणो का विकास करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक एव चारित्रसामायिक, ये तीन भेद भी आवश्यकनिर्युक्तिकार ने बताये है। सम्यक्त्व (दृष्टि) मे, शास्त्र अथवा ज्ञान के सम्बन्ध मे तथा चारित्र के सम्बन्ध मे समत्व का अभ्यास करना चाहिए। तभी श्रावक की सामायिक सर्वांगीण, सार्वभौम और उज्ज्वलतम हो सकेगी।

☆

3

सामायिकव्रत : विधि, शुद्धि और सावधानी

सामायिक एक आध्यात्मिक साधना है। यह कोई भौतिक साधना नही है कि इसमे बाह्य वैभव, आडम्बर या प्रदर्शन किया जाय। भौतिक साधना का फल भी यद्यपि झटपट नही मिलता, उसके लिए भी काफी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी पडती है, तब सामायिक जैसी आध्यात्मिक साधना के लिए कितनी सावधानी, कितनी धैर्ययुक्त प्रतीक्षा करनी पडेगी, यह आप सहज ही समझ सकते हे। यही कारण- है कि सामायिक जैसी विराट् एव जीवनव्यापी साधना की विधि तो बहुत ही आसान बताई है, मगर उसके परिपक्व अभ्यास के लिए वर्षो तक निरन्तर नियमित रूप से साधना करना आवश्यक है।

जिस सामायिक को शास्त्रकारो ने मोक्षप्राप्ति का प्रमुख अग बताया है[1] द्वादश अगशास्त्र का सारभूत एव उपनिपद्भूत बताया है, जिस सामायिक अर्थात् आत्मस्थिरता अथवा आत्मभाव मे रमणरूप चारित्र के बिना मुक्ति कदापि सम्भव नही है,[2] जो पचम गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक के समस्त साधको मे होनी अनिवार्य है,[3] जिसका तीर्थंकर भगवान् सर्वप्रथम उपदेश देते हे। जिस पाठ से प्रत्येक तीर्थंकर मुनिदीक्षा लेते हे। उस सामायिक की विधि का परिज्ञान न हो तो सम-भाव मे आरोहण कैसे होगा ? इसलिए सामायिकव्रत के आचरण के लिए अथवा उसके दैनिक अभ्यास के लिए उसकी विधि का ज्ञान अनिवार्य है।

साधु और श्रावक की सामायिक मे अन्तर

जैनधर्म की जितनी भी साधनाएँ है, वे सब मनोविज्ञानसम्मत है। साधको की रुचि, शक्ति और स्थिति के अनुरूप उनमे तारतम्य रखा गया हे। ऐसा नहीं है कि सबको एक ही लाठी से हांकने वाली बात चरितार्थ की गई हो। जैनधर्म मे जैसे

---

१ सकलद्वादशागोपानिपद्भूत सामायिक सूत्रवत् —तत्त्वार्थ टीका

२ 'सामाइयमाइयाइ एकारस अगाइं अहिज्जई, ' —अन्तकृत०

३ सामाइयाइया एसो धम्मो वादो जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो करेमि सामाइय —आवश्यक

साधुओं के लिए पाँच महाव्रतों का विधान है, वैसे ही गृहस्थों के लिए पाँच अणुव्रतों का विधान है। परन्तु साधना का तारतम्य तथा विधिविधान साधु-श्रावक का पृथक्-पृथक् होने पर भी दोनों कोटि के साधकों का अन्तिम लक्ष्य (मोक्षप्राप्ति) एक ही है, दोनों के चलने के लिए पथ भी एक ही है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में बताया गया है—'सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है।' यह बात अवश्य है कि साधु-श्रावक की आध्यात्मिक विकास की भूमिका में अन्तर होने के कारण उनकी धर्म (व्रत) साधना में अन्तर अवश्य रखा गया है। स्थानांगसूत्र में साधु और श्रावक दोनों की सामायिक-साधना के सम्बन्ध में कहा गया है—'आगार सामाइए चेव, अणगार सामाइए चेव' सामायिक दो प्रकार की है—आगार (गृहस्थ) की सामायिक और अनगार (साधु) की सामायिक।

गृहस्थ की सामायिक की मर्यादा

गृहस्थ की सामायिक अल्पकालिक है, जबकि साधु की जीवनपर्यन्त की है। इसीलिए साधु के सामायिक ग्रहण के पाठ में 'जावज्जीवाए' (यावज्जीव) पाठ है, जो उसकी जीवनपर्यन्त साधना को सूचित करता है, जबकि गृहस्थ की सामायिक के पाठ में 'जावनियमं' (यथेष्ट समय-मर्यादा तक) पाठ है, जो अल्पकालिक साधना का द्योतक है। इसी प्रकार साधु की सामायिक के पाठ में 'तिविहं तिविहेणं' (तीन करण तीन योग से) पाठ है, जबकि श्रावक की सामायिक के पाठ में 'दुविहं तिविहेणं' (दो करण तीन योग से) पाठ है। श्रावक के पाठ में 'करन्तंपि अन्नं न समणुजाणामि' पाठ भी बिलकुल नहीं है।

साधक जब-तब हिंसा, झूठ, चोरी आदि करने वाले या हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार आदि की घटनाओ के लिए प्रशसात्मक उद्गार निकालेगा—"बहुत अच्छा हुआ। वाह-वाह बहुत मजेदार घटना घटी।" अथवा उन कार्यों का समर्थन करता रहेगा कि ऐसा होना तो अच्छा ही है। अथवा मन से ऐसे कार्यों को अच्छा मान कर मन ही मन प्रसन्न होगा। किसी को लुटते-पिटते देखकर कहेगा—'अच्छा हुआ इस कजूस का माल ले गए तो!" ऐसी दशा मे सामायिक का महत्त्व क्या रहा ? ऐसी सामायिक जो सावद्य कार्यों के अनुमोदन से युक्त होगी, एक प्रकार का रौद्रध्यान का कारखाना बन जाएगी।

इसके समाधान मे शास्त्रीय दृष्टि यह है कि सामायिक मे अनुमोदन अवश्य खुला रहता है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि सामायिक की साधना मे बैठा हुआ साधक सावद्य प्रवृत्तियो का समर्थन, अनुमोदन या प्रशसा करे। बल्कि सामायिककाल मे तो किसी प्रकार की पापयुक्त प्रवृत्ति, घटना या पापकर्मपरायण व्यक्ति की प्रशसा या अनुमोदना का यत्किंचित् भाव भी मन मे नही रखना चाहिए। सामायिकसाधनाकाल मे तो किसी भी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति न तो स्वय करनी है, न दूसरो से करवानी है और न ही करने वालो का या वैसी सावद्य घटना का अनुमोदन-समर्थन करना है। सामायिक तो आत्म-विकास की अध्यात्म शक्ति के सवर्द्धन की, आत्मभाव मे रमण करने और आत्मगुणो की वृद्धि करने की साधना है, उसमे तो उसे प्राणिमात्र के प्रति आत्मौपम्यभाव रखकर प्राणिमात्र को दु ख या हानि पहुँचाने वाले सावद्य कार्यों का मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करना है। किन्तु उसने जो सावद्य योग का अनुमोदन खुला रखा है, उसके पीछे यही आशय है कि श्रावक गृहस्थ की भूमिका मे है, वह सासारिक प्रपचो का पूर्णत त्यागी नही है। वह सामायिक मे बैठा है, लेकिन उसके नाम से पीछे कारोबार चलता है, घर मे आरम्भ-समारम्भ भी होता है, अत सवासानुमति की दृष्टि से उसे अनुमोदन का पाप लगता है। वह लगे बिना नही रह सकता। वह तभी छूट सकता है, जब गृहस्थ सर्वथा उन सब व्यापार-व्यवसायो से अपना हाथ खीच ले, सर्वथा मोह-ममता का त्याग कर दे। यद्यपि सामायिकस्थ श्रावक, घर पर जो कुछ भी आरम्भ-समारम्भ चलता रहता है, दूकान पर जो भी व्यवसाय चलता है, या कारखाने आदि मे जो कुछ भी प्रपञ्च होता रहता है, उसकी प्रशसा या समर्थन नही कर सकता। यदि वह अपने पीछे होने वाले प्रपचो का समर्थन या अनुमोदन करता है, तो वह सामायिक साधना से भ्रष्ट हो जाता है तथापि ममता का सूक्ष्म तन्तु, जो उसके जीवन से बँधा हुआ है, उसे वह काट नही पाया है, इसलिए सवासानुमतिरूप अनुमोदन से वह छूट नही सकता। भगवतीसूत्र मे इस सम्बन्ध से पर्याप्त स्पष्टीकरण मिलता है।

हाँ, तो सामायिक से पूर्व और सामायिक के पश्चात् भी आरम्भ-समारम्भ करता है, इसलिए सामायिक काल—एक सामायिक का एक मुहूर्त या दो घडी पर्यन्त समय—ही बचता है, जबकि वह आरम्भ-समारम्भ पूर्ण सावद्य प्रवृत्तियो से सर्वथा

चा रहता है। यही कारण है कि वह एक-दो या कुछ अधिक सामायिक ही कर कता है, अधिक नही, साधु की तरह यावज्जीवन के लिए वह सामायिक ग्रहण नही र सकता। इतना होने पर भी गृहस्थ श्रावक सामायिक के साधनाकाल मे, चाहे सने एक सामायिक ग्रहण की हो या दो-तीन, पूर्ण साधुता नही, किन्तु साधु के ल्य तो अवश्य हो जाता है।[1] आचार्य जिनभद्रगणि के शब्दो मे—

सामाइयम्मि कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेण बहुसो सामाइय कुज्जा ॥२६९० ॥ —विशेष० भा०

अर्थात्—सामायिक करने पर श्रावक श्रमण-तुल्य हो जाता है, इसलिए मत्वस्थित स्थितप्रज्ञ श्रावक को प्रतिदिन अनेक वार सामायिक करना चाहिए, मताभाव का आचरण करना चाहिए।

गृहस्थ श्रावक सामायिक साधना करता-करता ही एक दिन सासारिक धरातल से ऊपर उठकर अध्यात्म के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है। चाहिए दैनिक एव नियमित रूप से सामायिक का अभ्यास। हा, तो श्रावक की सामायिक मर्यादा इस प्रकार है—

दो करण (कृत और कारितरूप) से एव तीन योग (मन-वचन-काया) से एक मुहूर्त (दो घडी या ४८ मिनिट) के लिए सावद्य-योगो (पापयुक्त प्रवृत्तियो) का त्याग।

सामायिक की विधि

सामायिक की क्रिया धार्मिक क्रिया है। इस क्रिया के पीछे बहुत ही गूढ आशय निहित है। समभाव के सस्कारो को बद्धमूल करने के लिए ही सामायिक की साधना की जाती है। यह साधना अत्यन्त विशुद्ध और समभावप्रेरक है। इसलिए इसकी विधि की जानकारी प्रत्येक सामायिक साधक को होनी चाहिए। अविधि से की हुई कोई भी क्रिया सफल एव उद्देश्यपूरक नही होती। सामायिक की सक्षिप्त और सरल प्रचलित विधि यह है कि सर्वप्रथम एक निरवद्य एकान्त शान्त पवित्र स्थान देखकर, पूजनी से उसका प्रमार्जन (सफाई) करके शुद्ध आसन (दर्भासनादि) बिछाएँ। तत्पश्चात् गृहस्थोचित वस्त्र उतारकर सामायिक साधना के योग्य शुद्ध सादे अनारम्भी वस्त्र तथा एक उत्तरीय (चादर) पहने। फिर मुख पर मुखवस्त्रिका लगा कर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठे। पास मे प्रमार्जन के लिए पूंजनी अथवा रजोहरण रखे। फिर घडी देखकर सामायिक के पाठ बोले, 'करेमि भते सामाइय' का प्रतिज्ञासूत्र बोलकर सामायिक ग्रहण करे। एक सामायिक लेना हो तो 'जाव

---

1 सामायिकश्रिताना समस्त-सावद्ययोग-परिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य ॥१५०॥

—पुरुषार्थ०

नियम एक मुहूर्त बोलना, दो सामायिक लेना हो तो दो मुहूर्त। इस प्रकार जितनी सामायिक एक साथ ग्रहण करना हो, उतने मुहूर्त बोलें। तत्पश्चात् एक सामायिक के लिए एक मुहूर्त यानी दो घडी तक समस्त सावद्य प्रवृत्तियो का त्याग करके सासारिक झझटो से पृथक होकर रहे। सामायिक मे अपनी योग्यता के अनुसार स्वाध्याय जप, चिन्तन, ध्यान, धर्मकथा आदि करना, अगर कोई साधु-साध्वी विराजमान हो तो उनका प्रवचन सुनना एव धर्मचर्चा करनी चाहिए।

सामायिक मे स्वाध्याय या पठन-पाठन अथवा चिन्तन-मनन उसी विषय का हो, जो समभाव की वृद्धि करे, आत्मिक विकास की प्रेरण दे। सामायिक मे अश्लील साहित्य या व्यर्थ का मनोरजन करने वाला साहित्य न पढें, न सुनें। और न ही किसी सासारिक या घरेलू प्रपचो या झगडो की चर्चा-वार्ता करे। अन्यथा, सामायिक ही प्रपचमय या कलहमय बन जाएगी।

सामायिक का समय पूरा हो जाने पर सामायिक पारने के पाठ से सामायिक पार ले।

सामायिक ग्रहण करने और पारने की वर्तमान मे प्रचलित विधि यह है—

सामायिक ग्रहण करते समय नमस्कार मन्त्र तीन बार, सम्यक्त्वसूत्र (अरिहतो मह देवो०) तीन बार, गुरुगुणस्मरणसूत्र (पचेदिय सवरण०) एक बार, बोलकर फिर गुरुवन्दन सूत्र (तिक्खुत्तो०) से तीन बार वन्दना करके इरियावहिय (आलोचनासूत्र) से ईर्यापथ-आलोचन इच्छाकारेण० के पाठ से क्षेत्रशुद्धि करना। फिर तस्सउत्तरी० से कायोत्सर्गसूत्र बोलना। और 'अप्पाण वोसिरामि, कहने के साथ ही पद्मासन से बैठकर या जिनमुद्रा से खडे होकर कायोत्सर्ग (ध्यान) करना। कायोत्सर्ग मे चतुर्विशति स्तव (लोगस्स) का पाठ बोलना, 'नमो अरिहताण' पढकर ध्यान खोलना। तत्पश्चात् प्रकटरूप मे एक बार लोगस्स० बोलना। फिर तिक्खुत्तो० के पाठ से गुरुवन्दन करके गुरु से या वे न हो तो भगवान् की साक्षी से सामायिक की आज्ञा लेना। फिर 'करेमि भते सामाइय' का पाठ बोलना। उसके बाद दाहिना घुटना भूमि पर टेक कर, बांया खडा करके उस पर अजलिवद्ध दोनो हाथ रखकर प्रणिपातसूत्र (नमोत्थुण०) दो बार बोलना। यह सामायिक ग्रहण करने की विधि हुई।

सामायिक लेकर ४८ मिनट (एक मुहूर्त) तक स्वाध्याय, धर्मचर्चा, आत्मचिन्तन आदि मे समय बिताना।

सामायिक पारते समय भी कायोत्सर्ग तक इसी प्रकार पाठ बोलना चाहिए। फिर 'करेमि भते सामाइय' के बदले 'एयस्स नवमस्स' आदि पाठ एक बार बोलकर दो नमोत्थुण (प्रणिपातसूत्र) के विधिपूर्वक उच्चारण से अरिहन्त सिद्धो की स्तुति करके तत्पश्चात् तीन बार नवकारमन्त्र बोलना। इस प्रकार सामायिक पारने की विधि सम्पूर्ण होती है।

सामायिक कब, कितनी देर, कैसे, कहाँ ?

सामायिक की विधि बता दी जाने पर भी कुछ प्रश्न और शेप रह जाते ह, जो समाधान चाहते हे। सामायिक की विधि तो हमने बतादी, पर आपके मनमस्तिष्क मे यह बात घूम रही होगी कि सामायिक कब करनी चाहिए ? कितने समय तक करनी चाहिए ? सामायिक में कैसे बैठना-उठना चाहिए ? सामायिक कहाँ करनी चाहिए ? सामायिक मे क्या-क्या प्रवृत्ति करनी चाहिए ? आदि। वास्तव मे सामायिक साधक के मनमस्तिष्क मे ये प्रश्न उठने ही चाहिए, क्योकि सामायिक केवल वेश बदल लेने एव कुछ पाठ बोल लेने मात्र की ही क्रिया नही है, वह जीवन बदलने की क्रिया है, आध्यात्मिक विकास के पाठो को जीवन मे उतारने की क्रिया है। इसलिए सामायिक के विधि-विधान भी उतने ही रहस्यपूर्ण हैं और पाठ भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सामायिक की एक-एक विधि के पीछे आचार्यो का गहन चिन्तन है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य मे सामायिक पर बहुत ही विस्तृत चिन्तन दिया है। मैं यहाँ सक्षेप मे कुछ बातें आपके सामने प्रस्तुत करूँगा।

सामायिक कब करनी चाहिए ? इस प्रश्न के साथ ही एक प्रश्न और सम्बद्ध है कि कौन-सा समय समभाव को जगाने के लिए उपयुक्त रहेगा ? जैनशास्त्रो मे 'काले काल समायरे' कहकर जिस धार्मिक क्रिया का जो समय हो, उसी समय मे उस धार्मिक क्रिया को सम्पन्न करने का विधान किया गया है। जब शास्त्रो के स्वाध्याय के लिए समय नियत किया गया है, प्रतिक्रमण के लिए, प्रत्याख्यान के लिए समय निश्चित किया गया है, तब सामायिक की साधना और उपासना के लिए समय निश्चित न हो, यह कैसे सम्भव है ? समय की नियमितता का मन पर भी जादू-सा प्रभाव होता है। बीमार को समय पर दवा देने की चिकित्सक हिदायत करता है, अध्ययन के लिए विद्यार्थी को समय पर विद्यालय मे पहुँचना होता है, क्योकि वहाँ अध्यापन का समय निश्चित होता है। आरोग्य के नियमो के ज्ञाता समय पर ही भोजन, शयन आदि करते हैं। इस्लामधर्म मे नमाज का समय निश्चित होता है, ईसाई धर्म मे प्रार्थना का समय निश्चित होता है, मन्दिरो मे पूजा-अर्चा का समय निश्चित

होता है, तब सामायिक जैसी महत्वपूर्ण साधना के लिए समय निश्चित न हो, ऐसा हो नही सकता। श्रावक को इतना अभ्यस्त हो जाना चाहिए कि वह अन्य समस्त कार्यो को छोडकर सामायिक जैसी आवश्यक धर्मक्रिया करे। किन्तु वर्तमान मे सामायिक के समय के सम्बन्ध मे बहुत अनियमितता चलती है। कभी सुबह कर ली तो कभी दोपहर को आसन लगा कर सामायिक मे जम गए, कभी शाम को सामायिक ग्रहण करली। समय का कोई प्रतिबन्ध नही!

सामायिक के लिए सबसे अच्छा समय प्रभातकाल ही हो सकता है, क्योकि उस समय प्रकृति बडी ही रमणीय, शान्त और मधुर होती है, न अधिक गर्मी, न अधिक सर्दी, ऐसे समय मे, जबकि प्राय लोग दैनिक कर्म मे प्रवृत्त नही होते थे, तब साधक का मन समता एव धर्मजागरण के विचारो मे तन्मय हुए बिना नही रह सकता। प्रभात का समय जप, ध्यान एव आत्मचिन्तन के लिए भी अत्यन्त उपयुक्त माना जाता है। स्वर्णिम प्रभातकाल शान्ति और प्रसन्नता का प्रतीक है। आसपास का वातावरण शुद्ध विचारो से परिपूर्ण रहता है। अत सामायिक जैसी पुनीत क्रिया के लिए प्रभातकाल बहुत ही उपयुक्त है। अगर प्रभातकाल मे न हो सके तो सायकाल का समय भी कई अपेक्षा से दूसरे समयो के बजाय शान्त समझा गया है, उस समय भी सामायिक-साधना की जा सकती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इस विषय मे स्पष्ट चिन्तन दिया है।[1]

दूसरा प्रश्न है—सामायिक कितने समय तक करनी चाहिए?

काल-मर्यादा

सामायिक की समय मर्यादा के सम्बन्ध मे भी आजकल कई बुद्धिवादी आक्षेप करते है कि सामायिक के लिए समय की मर्यादा क्यो बाँधी जाए? जितनी देर उचित समझे, उतनी देर के लिए श्रावक सामायिक करले, झटपट सामायिक करके और अपने काम-धन्धे मे लग जाए। इतना समय कहाँ है, किसी को? आजकल के व्यक्ति शॉर्ट-कट चाहते है, शीघ्रता से किसी भी क्रिया को सम्पन्न कर लेना चाहिए। परन्तु जैनाचार्यो ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचकर सामायिक की कालमर्यादा निश्चित कर दी है। अगर धार्मिक क्रिया के साथ समय की अवधि निश्चित न की जाए तो साधक के जीवन मे शिथिलता, उपेक्षाभाव एव आलस्य आ जाता है। लौकिक कर्तव्यो, व्यवसायो, दूकानो, कारखानो आदि मे भी इसलिए कार्यकाल निश्चित किया जाता है कि कर्तव्य मे शैथिल्य, उपेक्षाभाव एव आलस्य न आ जाय। इसी प्रकार आचार्यो ने सामायिक का काल एक मुहूर्त (४८ मिनट) या घडी निश्चित कर दिया। योगशास्त्र के पचम प्रकाश मे आचार्य हेमचन्द्र कहते है—

---

१ रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यभावनीयम् विचलितम्।
 इतरत्र पुन समये न कृत दोषाय, तद्गुणाय कृतम् ॥१५४॥
 —पुरुषार्थ०

'त्यक्तार्तरौद्रध्यानस्य त्यक्तसावद्यकर्मण ।
मुहूर्तं समताया ता विदुः सामायिकव्रतम् ॥'

एक सामायिक की काल-मर्यादा मुहूर्त भर की शास्त्रकारो ने निश्चित की है। जैनागमो मे प्रत्येक त्याग, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान के लिए कुछ न कुछ काल-मर्यादा निश्चित की गई है। साधु-साध्वियो की सामायिक तथा चारित्र यावज्जीवन के लिए है श्रावक का पौषधव्रत एक अहोरात्र और व्रत आदि के लिए भी यावज्जीवन या एक अहोरात्रि का विधान है। दस प्रकार के प्रत्याख्यानो मे नवकारसी का प्रत्याख्यान भी परम्परा से एक मुहूर्तभर का माना गया है। इसी प्रकार सावद्ययोग प्रत्याख्यानरूप श्रावक की सामायिक के लिए भी एक मुहूर्त (४८ मिनट) भर का परिमाण मूलशास्त्रो मे न बताए जाने पर भी समझ लेना चाहिए, क्योकि प्रत्याख्यान-काल नवकारसी के प्रत्याख्यान की तरह कम से कम एक मुहूर्त का माना जाता है।[1] सामायिक का परिमाण मुहूर्तभर का तो इसलिए निश्चित किया गया है कि कोई भी विचार, ध्यान, सकल्प या भाव एक बार मे लगातार अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक टिक सकता है। ध्यान के लिए तत्वार्थसूत्र मे अन्तर्मुहूर्त (मुहूर्त मे से [illegible] क्षण भी कम अन्तर्मुहूर्त माना जाता है) की अवधि मानी गई है। अन्तर्मुहूर्त के बाद अवश्य ही उक्त सकल्प या ध्यान मे परिवर्तन आ जाता है। इस दृष्टि से सामायिक का नियम भी अन्तर्मुहूर्त तक एक सरीखी गति से जारी रह सकने के कारण एक मुहूर्त (दो घडी) का माना गया है।

दिशाबोध और आसन

सामायिक मे बैठते समय साधक का मुख पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए, अथवा उत्तर दिशा की ओर। क्योकि ये दोनो दिशाएँ भारतीय संस्कृति में मान्य, जप, ध्यान, साधना आदि के लिए उत्तम मानी गई है। स्थानांगसूत्र में पूर्व और उत्तर ये दो दिशाएँ श्रेष्ठ मानी गई है। विशेषावश्यकभाष्य मे भी शास्त्र ग्रहण, दीक्षा प्रदान एव सामायिक-प्रतिक्रमण आदि धर्म-क्रियाओ के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की ओर बैठकर करने का विधान है। शास्त्रीय-परम्परा के अतिरिक्त प्राकृतिक दृष्टि से भी इन दोनो दिशाओ का काफी महत्त्व भारतीय सस्कृति में माना गया है। पूर्व दिशा उदय पथ की सूचना देती है। वह अपनी तेजस्विता बढाने, प्रगति करने एव उन्नति करने की सूचक है। उत्तर दिशा ध्रुव दिशा है। जैसे ध्रुवतारा अपने केन्द्र पर ही स्थिर रहता है, इधर-उधर चलायमान नही होता, वैसे ही साधक का

---

१ इह सावद्ययोगप्रत्याख्यानरूपस्य सामायिकस्य मुहूर्तमानता सिद्धान्तेऽनुक्ताऽपि ज्ञातव्या, प्रत्याख्यानकालस्य जघन्यतोऽपि मुहूर्तमात्रत्वात्, नमस्कारसहित प्रत्याख्यानवदिति। —जिनलाभसूरि, आत्मप्रबोध

अपनी साधना मे अपने ध्येय मे स्थिर होना चाहिए, इधर-उधर भयो और प्रलोभनो मे आकर भटकना नही चाहिए ।

पूर्व दिशा जहाँ प्रगति एव क्रान्ति की सूचक है, वहाँ उत्तर दिशा दृढता एव स्थिरता की सूचक है । साधना मे दोनो ही अपेक्षित है । गति के साथ दृढता और शान्ति भी चाहिए ।

समस्त जहाजो (जलयानो) मे कुतुबनुमा (दिशादर्शक यन्त्र) लगा होता है, जिसकी सुई हमेशा उत्तर की ओर ही रहती है, इसलिए मानना होगा कि उत्तर दिशा मे कोई विशेष आकर्षण है । वैदिक सस्कृति के मान्य ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण मे पूर्व दिशा देवो की और उत्तर दिशा मनुष्यो की मानी गई है ।[1] दक्षिण को वैदिक सस्कृति मे यम की और पश्चिम को वरुण की दिशा मानी गई है । कुछ भी हो, पूर्व और उत्तर दिशा का साधना के लिए माहात्म्य तो है ही ।

सामायिक मे बैठते समय आसन कौन-सा होना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे भी विचार कर लेना आवश्यक है । सामायिक मे गलत आसन से या चचलतापूर्वक ऊट-पटाग ढग से बैठने को कायिक दोषो मे माना गया है । इसलिए सामायिक साधना के प्रति आदर भाव रहे, मन मे उत्साह और दृढता रहे, इसके लिए सामायिक मे सिद्धासन, पद्मासन या पर्यंकासन इन तीनो मे से किसी एक आसन पर बैठने का अभ्यास करना चाहिए ।

इन तीनो आसनो मे से किसी एक आसन पर सीधे बैठने से मेरुदण्ड सीधा तना हुआ रहेगा, इससे रक्त का सचार भी ठीक होगा और शरीर मे स्फूर्ति भी रहेगी । शरीर की स्फूर्ति का मन पर अचूक प्रभाव होता है । सामायिक मे सिर झुकाए, उकडू बैठना स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक है, विधि की दृष्टि से भी दोष है । इसी प्रकार टाग पर टाग रखकर बैठना, टाग पसार कर बैठना, अथवा इधर से उधर घूमते रहना, यह सब दोष हैं । साधना मे इनसे स्थिरता नही आती ।

अब रहा प्रश्न यह कि सामायिक के पाठ प्राकृत भाषा मे ही क्यो ? साधक को तो भावो से मतलब है, भाषा से क्या लेना-देना है ? प्राकृत भाषा मे बोले जाने वाले पाठो का अर्थ भी झटपट समझ मे नही आता । फिर यह एक ही भाषा का आग्रह क्यो, जबकि सामायिक तो विश्वभर के सभी भाषा-भाषी कर सकते है ? ऊपर-ऊपर से सोचने वाले को यह विचार ठीक मालूम देता है, लेकिन दूरदर्शितापूर्वक गम्भीर विचार करने के बाद इसी निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं कि एकवाक्यता, एकरूपता, एकधर्मिता, एक सस्कृति की दृष्टि से तथा अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से प्राकृत भाषा मे रचित सामायिक पाठ ही उपयुक्त जँचते हैं । प्राकृत मे रचित पाठ वीतराग

---

१ 'प्राची हि देवाना दिक, योदीची दिक् सा मनुष्याणाम् ।'

—शतपथ, दिशावर्णन

महापुरुषो या समभावी आचार्यों के अन्तर की गहराई से उद्भूत है, जबकि उसका अनुवाद या उसके भावो को लेकर नये ढग का पाठ विविध भाषाओ मे होगा, वह जन-साधारण के द्वारा रचित होगा, उसमे भावो की गहराई कहाँ से आ सकती है ? महापुरुषो के अन्तर् से नि सृत वचन सीधे अन्तर को छू जाते हैं, जिससे भयकर से भयकर पापी का भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है, जबकि साधारण-जन की वाणी चाहे जितनी अलकारिक हो, प्राय· प्रभावित नही कर पाती। एक भाषा का दूसरी भाषा मे कितना ही अच्छा अनुवाद कर लिया जाए, फिर भी जो मौलिकता प्राकृत भाषा मे है, वह दूसरी भाषा मे नही आ सकती। आपने देखा होगा कि बौद्ध धर्म जावा, सुमात्रा, लका, थाईलैंड, चीन, तिब्बत, वर्मा आदि अनेक देशो मे पहुँचा है, लेकिन प्रत्येक बौद्धधर्मी पाली भाषा मे बने हुए मौलिक पाठो का उच्चारण करेगा। यही वात मुस्लिम धर्मानुयायियो मे देखी जा सकती है। वे अरबी भाषा मे बनी हुई कुराने शरीफ की आयतें पढ़ेगे, नमाज के समय उसी एक ही भाषा का पाठ सबकी जबान पर होगा, चाहे वे बगाली हो, मराठी हो, पजाबी हो, ईरानी हो या अफगानी हो।" एक ही भाषा मे पढने से सबमे एकरूपता रहती है, और उससे परस्पर आत्मीयता एव बन्धुता बढती है। अत सामायिक के समय प्राकृत भाषा मे बने हुए पाठो का ही उच्चारण होना चाहिए, वही सभी दृष्टियो से उचित है। कुछ ध्यानपूर्वक प्रयत्न किया जाए तो उन पाठो का अर्थ और भाव भी समझ मे आ सकता है।

अत प्रत्येक श्रावक-श्राविका को श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन सामायिक करना चाहिए। आपका बहुत बडा सौभाग्य है कि तीर्थंकरो को, साधु-साध्वियो को जो सामायिक प्राप्त होती है, वही सामायिक साधना आपको भी प्राप्त हुई है। देवता भी अपने मन मे अपने देव जन्म की सफलता के लिए सामायिक व्रत स्वीकार करने की अभिलाषा रखते है, परन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण वे इसे अपना नही सकते।

विधिपूर्वक किया गया अनुष्ठान ही सफल

सामायिक दो प्रकार की बताई है—देशसामायिक और सर्वसामायिक। सर्व-सामायिक यावज्जीवन के लिए साधु-साध्वी ग्रहण करते हैं, जबकि देशसामायिक गृहस्थ श्रावक अल्पकाल के लिए ग्रहण करते हैं। किन्तु सामायिक का उद्देश्य यही है कि जो आत्मा अनादिकाल से विषय-कषाय मे ग्रस्त होकर पापमय कार्य करने के कारण कर्मों के लेप के कारण भारी हो रहा है, उसे सामायिक के माध्यम से समभाव प्राप्त करके सावद्यकार्यों (पापमय प्रवृत्तियो) का त्याग करके हलका किया जाय। लेकिन सामायिक की क्रिया तभी सफल हो सकती है, जब उसे विधिपूर्वक एकाग्रचित्त होकर किया जाए।

वास्तव मे सामायिक क्रिया तब तक सिद्ध नही हो सकती, जब तक चित्त मे एकाग्रता न हो। चित्त की एकाग्रता या स्थिरता के लिए इन्द्रियो मे चपलता का त्याग करना आवश्यक है। अत सामायिक की शुद्धता और सफलता तभी मानी जाएगी,

जबकि सामायिक मे इन्द्रियाँ विषयो की ओर न दौडें, मन चचल न हो। कैसा भी सुन्दर या भयकर रूप सामने आए, सामायिक का साधक न उस रूप को देख कर मोहित हो, न व्यथित या भयभीत। इसी प्रकार कैसा भी मनमोहक या कर्णकटु शब्द हो उन्हे सुनकर कान न तो आसक्त हो, न व्याकुल हो। इसी प्रकार जब पाँचो इन्द्रियाँ अपने अनुकूल या प्रतिकूल विषयो मे राग या द्वेष न करें, मन मे भी ऐसे प्रसगो पर रागद्वेष न आए, अपितु समभाव मे स्थित हो। ऐसा करने पर ही सामायिक-क्रिया शुद्ध रह सकती है, वह सफलता के शिखर पर पहुँचा सकती है। इसलिए सामायिक मे विषयो मे समत्व और समाधि भाव रखने से अभ्यास करने से एक दिन पूर्ण समभाव भी प्राप्त किया जा सकता है। पूर्ण समभाव ही पूर्णता या वीतरागता है। पूर्ण समभाव होने पर आत्मा-परमात्मा बन सकता है।

अभ्यास से शुद्ध और पूर्ण सामायिक सभव

कई लोगो का कहना है कि सामायिक का शुद्ध रूप से तो पालन तभी समझा जा सकता है, जब तृण और स्वर्ण, शत्रु और मित्र, भवन और वन पर रागद्वेष रहित होकर समभाव प्राप्त हो जाए। किन्तु इस प्रकार का पूर्ण समभाव तो तभी प्राप्त हो होता है, जब रागद्वेष का सर्वथा नाश हो जाए। रागद्वेष का सर्वथा नाश तेरहवें गुणस्थान मे ही हो सकता है, और तभी वीतरागदशा प्रकट हो सकती है। राग-द्वेष का सर्वथा नाश और वीतरागदशा की अभिव्यक्ति इन दोनो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। आत्मा को शुक्लध्यान मे सलग्न करके मोहकर्म की प्रकृतियो का क्षय करने पर ही वह क्रमश ग्यारहवे, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान तक पहुँच सकती है। तभी पूर्ण समभाव या भाव सामायिक का पूर्णतया पालन होता है, पहले नही। उससे पहले तो रागद्वेष की तरगें हृदय-सागर मे उठती रहती है, क्रोधमान-माया-लोभ का प्रवाह बहता रहता है। अत पूर्ण वीतरागदशा प्राप्त किए बिना व्यक्ति भावसामायिक के शिखर पर पहुँच नही सकता।

अत जब तक हम भाव सामायिक की इस उच्च स्थिति—वीतरागदशा—तक पहुँच नही सकते, तब तक द्रव्यसामायिक भी क्यो करें इस प्रश्न के समाधान के लिए जैन सिद्धान्त कहता है कि वीतराग-अवस्था को ध्येय बनाकर उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए द्रव्यसामायिक के सहारे भावसामायिक की ओर चल पडो। 'कडे माणे कड' ही भगवान् महावीर का सिद्धान्त है। जो व्यक्ति द्रव्यसामायिक लेकर ही भावसामायिक का लक्ष्य सामने रखकर, वीतरागता को ध्येय बनाकर सामायिक साधना के क्षेत्र मे चल पडता है, भले ही वह धीमी गति से, थोडा ही चले, एक दिन वह समता यात्री अपनी पूर्णता की मजिल पर पहुँच सकता है। इसलिए साधक को उस अवस्था के प्राप्त करने के लिए सामायिक क्रिया करते रहना चाहिए। दो हजार मील लम्बी यात्रा करने का सकल्प लेकर चला हुआ यात्री यात्रा के लिए अभी रवाना ही हुआ है, अभी वह गाँव के बाहर ही पहुँचा है फिर भी उसकी लम्बी

याना मे इतना पथ तो कम हुआ है ? इसी प्रकार पूर्ण सामायिक करने की दृष्टि से यदि थोडा-सा भी पुरुषार्थ किया जाए, तब भी वह सामायिक के छोटे से छोटे हिस्से को वह अवश्य प्राप्त कर लेता है । बूंद-बूंद से समुद्र भरता है । ऐसा न करके यही रोना रोता रहे कि हम क्या करें ? हमारे पास इतने साधन, या ऐसा वातावरण, इतना पुण्य, इतना उन्नत मन-मस्तिष्क नही है कि हम शुद्ध और पूर्ण सामायिक कर सकें । यदि किसी के पास मनचाहे साधन, अनुकूल वातावरण, उन्नत मन, प्रबल पुण्य आदि नही है तो उसे निराश होकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने अथवा ज्ञानी पुरुषो ने ज्ञान मे जैसा देखा होगा, वैसा हो जाएगा, अथवा जब हमारे कषाय मन्द होकर चित्त शान्त होगा, तब करेंगे, ऐसा कहने की कोई आवश्यकता नही । उसके पास जो भी साधन है, जैसा भी मन है, जितना भी पुण्य है, उसी की सहायता से सामायिक की अपनी कला का आरम्भ कर देना चाहिए । जब चारो ओर अन्धकार छाया हुआ होता है, तो वह दीपक जिसमे छदाम की मिट्टी, पैसे का तेल, और आधे पैसे की बत्ती—कुल मिलाकर दो पैसे की भी पूंजी नही हैं और अपने प्रकाश से लोगो के रुके हुए काम चालू कर देता है । हजारो पैसो के मूल्य वाली वस्तुएँ यो ही चुपचाप पडी रहती हैं, किन्तु दो पैसे की पूंजी वाला दीपक प्रकाशमान होता है, अपनी महत्ता प्रगट करता है, लोगो का प्यारा बनता है, प्रशसित होता है और अपने अस्तित्व को धन्य बनाता है । क्या दीपक ने कभी ऐसा रोना रोया है कि मेरे पास इतने टन तेल होता, इतने किलो रूई होती, इतना बडा मेरा आकार होता तभी मैं ऐसा बडा प्रकाश करता ? दीपक को निकम्मे एव बेकार शेखचिल्लियो के-से मनसूबे बांधने की फुरसत नही है । वह अपनी वर्तमान परिस्थिति, हैसियत और शक्ति को देखकर उसका ही आदर करता है, और आत्मविश्वास के साथ सिर्फ दो पैसे की पूंजी से कार्य प्रारम्भ कर देता है । नि सन्देह उसका कार्य छोटा है, पर उस छोटेपन मे भी सफलता का उतना ही महत्त्व है, जितना कि चन्द्र और सूर्य के चमकने की सफलता का है । अत आपने आपको तुच्छ समझकर अपना मूल्य कम न आंको । जैसा भी, जो भी साधन आपके पास है, जितना भी पुण्य, जैसा भी मन है, उसकी सहायता से ही सामायिक की क्रिया प्रारम्भ कर दो । सामायिक तो शिक्षाव्रत है । बार-बार अभ्यास करने से सामायिक मे पूर्णता आएगी । अभ्यास चालू रखना चाहिए । चाहे आज का आज ही साधक द्रव्य सामायिक के साथ-साथ भावसामायिक का तालमेल पूरा न बिठा सके, परन्तु प्रतिदिन के अभ्यास से सामायिक मे प्रगति होगी, तो एक दिन पूर्णता भी आ सकेगी । परन्तु कर्म या भाग्य को कोस कर चुपचाप बैठ जाना तो अपनी कायरता को ढांकने का प्रयत्न करता है । अत उचित यही है कि आत्मा को साक्षी रखकर सावधानीपूर्वक सामायिक क्रिया प्रारम्भ की जाए । आज अशुद्ध करने वाला किसी दिन शुद्ध सामायिक भी करने योग्य हो जाएगा । परन्तु जो सर्वथा नही करने वाले हैं, वे क्योकर आगे बढ सकेंगे । वे तो कोरे ही रह जाएंगे । जो बालक आज अस्पष्ट बोलता है, वह कभी न कभी स्पष्ट

बोल सकता है। पर चुपचाप बैठा रहने वाला क्या करेगा ? एक दिन जो साधना-भ्रष्ट तपस्वी था, वही मरीचि तपस्वी कुछ जन्मो के पश्चात् भगवान महावीर के रूप में हिमाचल-सा अचल-अटल महान साधक बन जाता है। अत सामायिक की क्रिया को कठिन समझकर साहसहीन न बनो, अभ्यास करते जाओ, एक दिन अवश्य ही सफलता आपके चरण चूमेगी।

सामायिक की प्रतिज्ञा का पाठ · विश्लेषण

समभाव प्राप्त करने के लिए अभ्यास रूप जो क्रिया की जाती है उसी का नाम सामायिक है। यही व्याख्या सामायिक की प्रतिज्ञा (सकल्प) करने के पाठ से ध्वनित होती है। श्रावक के लिए सामायिक का प्रतिज्ञा-पाठ इस प्रकार है—

"करेमि भंते ! सामाइय, सावज्ज जोग पच्चक्खामि, जाव नियम पज्जुवासामि, दुविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निन्दामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।"

अर्थात्—(सामायिक ग्रहणकर्ता कहता है) हे भगवन् ! आपकी साक्षी से मैं सामायिक करता हूँ (कैसी सामायिक ?) सावद्य (पाप युक्त) व्यापारो (कार्यों) का त्याग करता हूँ। (कब तक के लिए ?) जब तक मैं नियम की उपासना करू। (किस रूप मे सावद्य का त्याग ?) दो करण और तीन योग से, मन से, वचन से और काया से (सावद्य व्यापार) न स्वय करूगा और न दूसरो से कराऊगा। इतना ही नही, हे भगवन् ! अतीत मे जो भी सावद्य कार्य किए हो, उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ, उन सबकी आत्म-साक्षी से, वचन से निन्दा (पश्चात्ताप) करता हूँ, आपकी या गुरुदेव की, साक्षी से गर्हा करता हूँ (मन से घृणा करता हूँ) तथा पापकर्मकर्ता भूतपूर्व मलिन आत्मा का त्याग करता हूँ, कषायादि दुष्प्रवृत्तियो से अपनी आत्मा को हटाता हूँ। नया जीवन ग्रहण करता हूँ।

इस प्रतिज्ञा-पाठ से सामायिक का असली रूप आपके सामने आ जाता है। सामायिक एक प्रत्याख्यान रूप है, सवर रूप भी है, सकल्प रूप भी। अत कम से कम एक मुहूर्त के लिए उन समस्त प्रवृत्तियो का मन वचन-काया से त्याग किया जाता है, जिनके करने से पापकर्म का वन्ध होता है, आत्मा मे पापकर्म का स्रोत आता है। अठारह पापस्थानो की व्याख्या मैं कर चुका हूँ। उनमे से किसी भी कार्य को करने से आत्मा पापकर्म मे भारी होता है, अन्तर्हृदय मलिन हो जाता है, आत्म-शुद्धि का नाश हो जाता है, उन मन वचन-काया रूप तीनो योगो की सावद्य प्रवृत्तियो का स्वीकृत नियमपर्यन्त त्याग करता हूँ। अर्थात् मन से दुश्चिन्तन न करूँगा, वचन से असत्य या दुष्ट वचन नही बोलूँगा, काया से दुष्ट आचरण न करूँगा।

कितनी महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञा है ! इस प्रतिज्ञा को निभाने के लिए सामायिक के साधक को प्रमाद, रागद्वेष या सासारिक प्रपचो मे नही उलझना चाहिए। सामायिक करना विषम मन के साथ युद्ध करना है। विषम मन को सतत समभाव मे रखने के

लिए उसे प्रशस्त कार्यों मे लगाना चाहिए, ताकि वह इन्द्रिय-विषयो की ओर न दौडे, न इन्द्रियाँ ही विपयासक्त हो। इसके लिए उचित यही है कि सामायिक का साधक सामायिक ग्रहण करके निकम्मा न बैठे, न सासारिक प्रपचो मे ग्रस्त हो। निकम्मा बैठना, इधर-उधर की गप्पें हाँकना, विषयोत्तेजक या कामोत्तेजक बाते करना, रागद्वेषवर्द्धक प्रपच करना, सामायिक के उद्देश्य को भुलाना है। अत सामायिक के समय ऐसे सब सावद्य कार्य छोडकर सूत्र सिद्धान्त का अध्ययन, मनन, चिन्तन तत्त्व विचार करना चाहिए। अथवा जिन महापुरुषो का ध्यान या स्मरण करने से परम पद की प्राप्ति हो सके, उन आत्मपुरुषो की भक्ति, उपासना व गुणगान मे मन को नियोजित कर देना चहिए। ऐसा करने पर ही आत्मा समत्व की उपासना कर सकेगा। सामायिक मे चित्त की स्थिरता एव निरवद्य कार्यों मे प्रवृत्त रहने के लिए शास्त्रो मे ५ प्रशस्त साधन बताए है—वाचना, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। आत्मविकास एव धर्मध्यान की प्रेरणा देने वाले प्रशस्त साहित्य का पठन-पाठन वाचना है। उक्त साहित्य से उत्पन्न तर्क-वितर्क का समाधान किसी आप्त या ज्ञानी से करना पृच्छना है। जो ज्ञान प्राप्त किया है, बार-बार उस पर चिन्तन-मनन करना पर्यटना है। चौथा साधन है—अनुप्रेक्षा, अर्थात् प्राप्त ज्ञान (या वस्तु स्वरूप वोध) से मुझे क्या प्रेरणा मिल सकती है ? इसे दृष्टिगत रखकर प्राप्त ज्ञान की गहराई मे जाना, अनुभव बढाना। बाह्य ज्ञान के वजाय अनुभूत ज्ञान महानिर्जरा और समभाव का सामीप्य प्राप्त कराने वाला है।

सामायिक के प्रतिज्ञा पाठ मे 'भते' एव 'पज्जुवासामि' ये दो शब्द ऐसे ह, जो सामायिक की प्रगति और सुदृढता के पूर्णसमभावी वीतराग प्रभु की समीपता या सान्निध्य सूचित करते है। इसी प्रकार 'सावज्ज जोग पच्चक्खामि' तथा 'तस्स भते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि' ये शब्द सामायिक की शुद्धता और पूर्णता के लिए आत्म-शुद्धि रूप साधना को सूचित करते हैं।

सामायिक · उपासना और साधना

भौतिक प्रगति के लिए बलिष्ठ शरीर, प्रशिक्षित मस्तिष्क, आकर्पक व्यक्तित्व अभीष्ट उपार्जन, परिपूर्ण परिवार, आवश्यक वातावरण एव अनुकूल अवसर की अपेक्षा रहती है। ये साधन जिसको जितने मिल जाते हैं, वह उतनी ही लौकिक सफलता प्राप्त कर लेता है, लेकिन लोकोत्तर सफलता के लिए इनसे भिन्न महत्त्वपूर्ण साधनो को जुटाना अनिवार्य है। क्योकि आत्मिक प्रगति का मूल्य, महत्त्व एव प्रतिफल भौतिक सफलताओ की अपेक्षा कई गुना अधिक है। इतने पर भी उसके लिए दो ही साधन पर्याप्त हैं—एक भावनापूर्ण उपासना और दूसरा जीवन को उत्कृष्ट एव अनुकरणीय बनाने की साधना। इन दोनो के लिए यदि स्थिरबुद्धि और प्रगाढ निष्ठा के साथ प्रयत्न किया जाय तो नि सन्देह आत्मिक प्रगति भी भौतिक प्रगति की तरह शीघ्र ही हो सकती है।

जीवन की महत्ता और सफलता आत्मिक प्रगति पर निर्भर है। केवल भौतिक सफलता उतनी ही देर आनन्द देती है, जब तक वह प्राप्त नही होती। ज्यों ही वह मिलती है, त्यों ही आनन्द समाप्त हो जाता है। सच्चा और चिरस्थायी लाभ एव सुख तो आत्मिक प्रगति पर ही निर्भर है। जो साधक मानव-जीवन का श्रेष्ठ उपयोग करके वास्तविक आनन्द प्राप्त करना चाहते है, उन्हे आत्मिक प्रगति के लिए तत्पर होना चाहिए और इन दोनो आधारो—उपासना और साधना का अवलम्बन ग्रहण करना चाहिए।

सामायिक की उपासना और साधना आत्मिक प्रगति का सर्वोत्तम साधन है, इससे लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार की सफलता प्राप्त होती है।

प्राय देखा जाता है, कि लोग उपासना की इति समाप्ति कुछ कर्मकाण्ड कर लेने, थोडा-सा जप या पाठ कर लेने या कुछ पूजा-पत्री कर लेने मे ही समझ लेते है। किन्तु उपासना मे इन कर्मकाण्डो के साथ भावना और साधना का भी समन्वय होना चाहिए। विधि-विधान की कोरी लकीरें पीट लेने से काम नही चलता। शारीरिक क्रियाओ के साथ-साथ आत्मिक उद्‌गार का समन्वय भी अभीष्ट है। अन्यथा, उपासना प्राणवान न होकर, केवल क्रियाकाण्डो का शुष्क ढाँचा मात्र रह जाएगा। उपासना मे जितना ध्यान कर्मकाण्डो पर रखा जाता है, उससे भी अधिक ध्यान भावना एव साधना पर दिया जाना चाहिए। उपासना के साथ भावना और साधना का जितना समन्वय होगा, उतना ही श्रम सार्थक होगा।

उपासना की भाँति साधना भी आत्मिक प्रगति का अनिवार्य अग है। जीवन शोधन और परमार्थ प्रक्रिया का समन्वय करने से ही साधना का उद्देश्य पूर्ण होता है। उपासना मे भगवान का स्मरण प्रधान होता है, जबकि साधना मे जीवन शोधन। जो व्यक्ति अपने जीवन को शुद्ध बनाकर वीतराग परमात्मा के सम्मुख उपस्थित होते है, वे ही प्रभु की वास्तविक अर्चना और भक्ति करने मे समर्थ होते है। अत साधक के जीवन मे उपासना और साधना दोनो ही आवश्यक है। साधना (आत्मशोधन एव परमार्थ का पुरुपार्थ) उपासना की सफलता का पथ प्रशस्त करती है। साधना भूमि का निर्माण करने की तरह है, जबकि उपासना उसमे बीज बोना है। जमीन अच्छी हो तो बीज के उगने मे सरलता होती है। भूमि को उर्वरा बनाने मे बहुत परिश्रम होता है। जमीन तभी उर्वरा बनती है, जब उसमे उ[illegible] मात्रा मे खाद, पानी, जुताई और मेडबदी आदि की व्यवस्था की जाती है। [illegible] हो तभी उसमे बीज बोया जाता है, तथा फसल उगाई जाती है। [illegible] समय मे, कम खर्च मे हो जाता है, जबकि भूमि को उर्वरा, नरम [illegible] बहुत समय, श्रम एव खर्च लगता है। इसी प्रका[illegible] यिक की [illegible] मुहूर्त= ४८ मिनट) मे हो जाती है, लेकिन [illegible] रहना पडता है। प्रतिक्षण यह ध्या[illegible]

अनुचित सावद्य कार्य, या विचार अपने से न हो जाए। अधिक पुरुषार्थ साधना मे ही करना होता है। उपासना मे भावना का और साधना मे विवेक का समावेश होता है। भावना उपासना को, और विवेकशीलता साधना को परिपूर्ण बनाती है। इसलिए सामायिक की क्रिया मे उपासना और साधना दोनो का जुड़े रहना आवश्यक है। सामायिक क्रिया मे साधना (जीवन शोधन) के साथ चलता हुआ उपासना का कार्यक्रम आशाजनक परिणाम एव चमत्कार लाता है। इसलिए वीतराग, तत्त्वदर्शी आत्मवेत्ताओ ने सामायिक क्रिया मे उपासना को नित्यधर्म माना है, जो इस सन्दर्भ मे उपेक्षा करते है, आलस्य एव प्रमाद करते है, वे एक प्रकार से आत्मिक प्रगति के शत्रु है।

उपासना का अर्थ है—समीपता, पास बैठना। जैन दृष्टि से कहे तो आत्मा-अन्तरात्मा का परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के समीप बैठना ही उपासना है। समीपता का लाभ और आनन्द सर्वविदित है। सगे-सम्बन्धी दूर-दूर रहते है तो चित्त अनमना-सा रहता है, पर जब वे साथ रहते है तो आनन्दित एव प्रमुदित रहते है। पति-पत्नी, भाई-भाई, मित्र-मित्र जब साथ-साथ रहने का अवसर प्राप्त करते है, तब उन्हे अतीव सन्तोष होता है, बल मिलता है। विछोह मे उदासीनता आ घेरती है, एकाकीपन, शैथिल्य एव दौर्बल्य का अनुभव होता है। प्रियजनो के शरीर और अन्त करण एक दूसरे को बल, उत्साह, उचित प्रेरणा और आनन्द देते है। इसी कारण प्रियजनो का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्नशील रहता है।

अग्नि की समीपता से ही आप लोग गर्मी प्राप्त कर सकते है, उससे दूर रहने पर शरद् ऋतु मे उष्णता से मिलने वाले लाभ आप प्राप्त नही कर सकते। ठण्ड लग रही हो तो आप जलती हुई आग के निकट जाकर अपना कष्ट दूर कर लेते है, भोजन पकाना हो या पानी गर्म करना हो तो आप अग्नि के समीप उन्हे ले जाते है। चूल्हा कही और पदार्थ कही रखा जाए तो भोजन पकाने का उद्देश्य पूर्ण नही हो सकता। इसी प्रकार सामायिक जैसी आध्यात्मिक क्रिया मे भी अनन्त शक्ति सम्पन्न, आत्मा के सर्वोच्च गुणसम्पन्न एव समता के शिरोमणि वीतराग परमात्मा से दूर रहा जाए, उनके पास न बैठा जाए तो समता के तत्त्व, आत्मा के वे गुण आपको प्राप्त नही हो सकेंगे, जिनकी प्राप्ति के लिए आप सामायिक करते है। वीतराग परमात्मा की समीपता (सान्निध्य) साधक के लिए वैसी ही आवश्यक है, जैसी शीत के कष्ट से काँपते हुए साधारण गृहस्थ के लिए अग्नि की समीपता। अण्डे के लिए पक्षी की समीपता कितनी आवश्यक होती है? अगर पक्षी अण्डे के समीप न हो तो उसकी छाती की गर्मी अण्डे को न मिलने पर अण्डे पक्षी के रूप मे कुछ ही दिनो मे विकसित नही होते बल्कि अण्ड गन्दी-सी गोली बनकर गल-सड़कर नष्ट हो जाते है। इसी प्रकार श्रावक या श्रमणोपासक को श्रमण—समत्व के पूर्ण आराधक वीतराग परमात्मा का सान्निध्य परम आवश्यक है। वीतराग परमात्मा की समीपता से सामायिक साधक को उनकी अनन्त शक्तिमत्ता की गर्मी मिलती है, जिससे उसकी आत्मा का आश्चर्यजनक विकास होता है। अर्जुनमाली जैसे पापात्मा को जब वीतराग श्रमण शिरोमणि प्रभु महावीर

अन्दर और बाहर सर्वत्र मोह-माया एव अज्ञान व मिथ्यात्व का गाढ अन्धकार ही छाया रहता है।

किन्तु यह बात निश्चित है कि परमात्मा के साधक का सान्निध्य भावनात्मक दृष्टि से न हो तो मखलीपुत्र गोशालक की तरह अभीष्ट आनन्द नही मिल सकता। दो प्रियजन एक ही किले मे कैद रहे, दोनो की कोठरियो के बीच सिर्फ एक दीवार का फासला रहे तो उतना व्यवधान भी दोनो को हजारो मील की दूरी जैसा कष्ट-दायक प्रतीत होता है। जहाँ ऊपरी समीपता, हार्दिक सामीप्य नही है, भावात्मक दृष्टि से सान्निध्य नही है, वहा साधक परमात्मा के चाहे जितना निकट हो, प्रत्यक्ष भी हो, फिर भी उसे कोई लाभ या आनन्द प्राप्त नही होता। जिस घर मे आप रहते है या जिस भूमि पर आप बैठे है, उसके नीचे न जाने कितने लाखो टन चाँदी, सोना, तांबा, हीरा आदि बहुमूल्य पदार्थ होगे। परन्तु उसके साथ सीधा सान्निध्य या सामीप्य न होने से, बीच मे जमीन का व्यवधान होने से आप उससे लाभान्वित या आनन्दित नही होते। बैको के खजाची अपने हाथो से लाखो रुपयो को उलट-पुलट करते है, परन्तु उन्हे उससे क्या सुख मिलता है? टकसाल मे सिक्के ढालने वाले कारीगर प्रतिदिन लाखो रुपये इधर से उधर उठाते-धरते है, पर उन्हे उस सम्पत्ति से कोई प्रसन्नता नही होती। करण एक ही है—भावात्मक समीपता का न होना। मेले-ठेलो मे हजारो आदमी एक-दूसरे के अत्यन्त निकट से सटकर चलते है, किन्तु उनमे कोई हार्दिक मेल या परस्पर सहानुभूति पैदा नही होती, वे एक-दूसरे से अत्यन्त अपरिचित एव असम्बद्ध रहते हैं, क्योकि उनकी निकटता हार्दिक नही होती।

परमात्मा के साथ भी सामायिक मे भावात्मक समीपता-एकता का सूत्र जुड जाता है, तभी आनन्द आता है, लाभ मिलता है। परमात्मा के समीप बैठने—उनके साथ हार्दिक एकता का तार जोडने से ही सामायिक साधक आत्मगुणो से प्रकाशित हो सकता है, आत्मशक्तियो मे सम्पन्न हो सकता है। उपासना वटवृक्ष का बीज है, जिसकी छाया, पत्र, पुष्प, फल एव विशालता से सबका सभी प्रकार से हित ही होता है।

अत प्रत्येक गृहस्थ-साधक को प्रतिदिन कम से कम एक मुहूर्त का अवकाश सामायिक क्रिया मे उपासना के लिए निकालना ही चाहिए। लगभग २३ घण्टे शरीर की आवश्यकताओं और समस्याओं को सुलझाने मे जब लगाए जा सकते है, तब क्या एक घण्टा भी आत्मा की प्रगति और आवश्यकता की पूर्ति के लिए नही लगाया जा सकता? माना कि गृहस्थ श्रावक के लिए शरीर महत्त्वपूर्ण है, उसके तथा उससे सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थो के हित साधनार्थ काफी समय और शक्ति लगानी पडती है, पर इसका अर्थ यह नही कि आत्मा सर्वथा उपेक्षणीय है। उसकी आवश्यकताओं को समझा ही न जाए। आत्मगुणो एव आत्मशक्तियो की प्राप्ति एव आत्मतृप्ति के लिए कुछ किया

ही न जाए। शरीर-पोषण के लिए जैसे भोजन की आवश्यकता होती है, वैसे ही आत्मा के पोषण के लिए भाव-भोजन की आवश्यकता है। अगर शरीर की सुरक्षा के लिए योग्य आहार न मिले तो शरीर दुर्बल एव तेजोहीन हो जाता है, वैसे ही आत्मा को भाव-आहार न मिले तो वह भी तेजोहीन एव निर्बल हो जाती है। निर्बल आत्मा किसी भी आत्मिक गुण के विकास या प्रकट करने मे निरुत्साही, निराश एव पुरुषार्थ-हीन हो जाती है। आजकल के लोगो मे जो आत्मबल का अभाव मालूम होता है, उसका मूल कारण है—आत्मा को भाव-आहार का न मिलना। शरीर का भोजन अनाज है, जबकि आत्मा का भोजन—सामायिक है। सामायिक आत्मा को भोजन देने और उसे तृप्त करने के लिए है। सामायिक से ही आत्मदेव की या परमात्मा की उपासना हो सकती है। शुद्ध आत्मा या परमात्मा का सान्निध्य सामायिक से ही प्राप्त हो सकता है।

जिसमे लाभ को परखने की जरा भी बुद्धि होगी, उसके लिए यह अनुमान लगाना कठिन नही होगा कि जितना श्रम शरीर को सुखी बनाने मे किया जाता है, अगर उसका एक अश भी आत्मकल्याण, आत्मा या परमात्मा की उपासना के मूल स्रोत सामायिकव्रत मे लगाया जाए तो अत्यन्त उत्साहवर्द्धक परिणाम निकल सकता है। जिन दूरदर्शी महामानवो ने अपना समय सामायिक के माध्यम शुद्ध आत्मा या परमात्मा की उपासना मे लगाया, उनके चरित्र एव वृत्तान्त पढने पर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि वे घाटे मे नही रहे। शरीर के सुखोपभोग मे अहर्निश फँसे रहने या तृष्णा एव वासना की चक्की मे पिसते रहने वाले मनुष्यो की तुलना मे सामायिक साधक अधिक ही लाभान्वित रहे, जिन्होने शुद्ध आत्मा या परमात्मा का आश्रय लेकर मनोयोगपूर्वक उपासना मे समय बिताया।

अनेक श्रमणो और श्रमणोपासको, सतो एव सतियो, श्रावक एव श्राविकाओ के जीवन इसके प्रमाण है। उन्होने सामायिक से अपार आत्मशक्ति पाई, अपने मगल-मय वचन एव मगल पाठ से असख्य लोगो के भौतिक कष्ट मिटाए, अन्धकार मे भटकते हुए लोगो को ज्ञानज्योति दी। दिव्यलब्धियो एव सिद्धियो के स्वामी बने।

जो लोग शरीर की ही सेवा-शुश्रूषा मे सारी शक्ति लगा देते है, आत्मा की बिलकुल ही उपेक्षा करते है, उनका कार्य कौरव-पाण्डवो के बीच चलने वाले अनौचित्य जैसा है। व्यक्ति का अज्ञान और मोह दुर्योधन एव दु शासन की तरह सारे सामर्थ्य को शरीर सुख मे ही खर्च करना चाहता है, आत्मा रूपी अर्जुन के लिए एक मुहूर्त (४८ मिनट) का समय भी नही देना चाहता। यह अन्याय, अनीति अन्तत महाभारत की तरह अनिष्ट परिणाम ही उत्पन्न करेगी, और उस समय जिसके लिए आज शरीर ही एकमात्र साध्य बना हुआ है, वह भी चैन से न रह सकेगा।

परन्तु आजकल एक प्रकार की नास्तिकता फैल रही है कि लोग यह कहते है

प्रेरक है तथा आप्तपुरुष हैं। उनकी साक्षी से समसाधना करना हमें समभाव की वलवती प्रेरणा देता है, सतत जागृत एव सावधान रखता है, धर्मक्रिया में सुषुप्त दम्भ को निकालने और नम्रभाव से साधना करने के लिए उनका साक्षित्व महामन्त्रवत् है। अन्त मे 'अप्पाण वोसिरामि' पाठ अपने आपको वीतरागपुरुष के चरणो मे समर्पित करने की द्योतक भी है। आशय यह है कि साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि "प्रभो! मैं अपनी कलुषित आत्मा के प्रति ममत्व छोड़कर आपकी चरण-शरण स्वीकार करता हूँ, ताकि यह आत्मा आपका पवित्र सान्निध्य ग्रहण करने से कषाय, विषयासक्ति, सावद्य कर्म आदि से मलिन न हो। यह समर्पण उपासना का उत्कृष्टरूप है। अब लीजिए, सामायिक पाठ मे साधना के तत्त्व को।

साधना मे आत्मशुद्धि तथा आत्मवृद्धि का तत्त्व ही अधिक होता है। सर्वप्रथम 'करेमि सामाइय' मे सामायिक की क्रिया करने की साधक द्वारा की गई प्रतिज्ञा है। समभाव की यह विधेयात्मक साधना है, जिसमे सयम, समत्व, शुभ भावनाएँ आदि का समावेश हो जाता है। उसके पश्चात् है—'सावज्ज जोग पच्चक्खामि' जिसका अर्थ है, मैं अपनी आत्मशुद्धि मे विघातक सावद्य योगो (मन-वचन-काया की पापयुक्त प्रवृत्तियो) का त्याग करता हूँ। 'सावज्ज' शब्द का एक रूप सावर्ज्य भी होता है, जिसका अर्थ होता है—निन्दनीय, वर्जनीय, निन्दा के योग्य। जो कार्य निन्द्य, आप्त पुरुषो द्वारा वर्ज्य या त्याज्य हो, उनका सामायिक मे त्याग किया जाता है। सामायिक एक विशुद्ध व पवित्र साधना है। निन्दनीय या निषिद्ध कर्म समभाव के विघातक हैं, जो आत्मा को मलिन बनाते है। निन्दनीय कर्म भी कषायभाव या रागद्वेष भाव है। जिन कार्यों के मूल मे राग-द्वेष हो या क्रोध, मान, माया, लोभ (कषाय) हो, वे सब कार्य सावर्ज्यकर्म हैं। जिन कार्यों की पृष्ठभूमि मे कषायभाव हो, वे सब निन्दनीय एव त्याज्य हैं। परन्तु जो कार्य समभाव के साधक कषायभाव के नाशक हो, जैसे ज्ञानाभ्यास, गुरुजनविनय, ध्यान, अहिंसादि का आचरण, वे कार्य सावर्ज्य या त्याज्य नही है।

इसके पश्चात् सामायिक मे साधना का तत्त्व आत्मशुद्धि के सन्दर्भ मे आता है—'पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।' ये चारो आत्मा के अतीत, वर्तमान और अनागत दोषो के परिमार्जन एव परिशोधन के प्रतीक है।

आत्मा ही सामायिक और सामायिक का प्रयोजन

'प्रतिक्रमण करता हूँ' मे साधक सामायिक करते समय विभाव परिणति से स्वभाव परिणति मे लौटता है। वाहर से हटकर अन्तर् मे प्रविष्ट होता है। जब आत्मा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य एव तप आदि की परिणति मे ढलता है, तब स्वभाव परिणति मे आता है, अपने घर मे प्रवेश करता है। ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के स्वभाव है। आत्मा ज्ञानादि रूप है, इसलिए ज्ञानादि की साधना आत्मसाधना है। जब आत्मा पूर्णरूप से स्वभाव मे आ जाएगा, तब अपने आप मे समा जाएगा। यही कारण है कि

भगवतीसूत्र मे आत्मा को ही सामायिक एव 'सामायिक का अर्थ' कहा है।[1] आत्मा को सामायिक इसलिए कहा हे कि समभाव का नाम ही सामायिक है। समभाव का अर्थ है—बाह्य विपय-भोगो की चचलता (परभाव) से हटकर स्वभाव=आत्मस्वरूप मे स्थिर होना। कपायादि विकारो से दूर किया हुआ आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप ही सामायिक है, और उस शुद्ध आत्म-स्वरूप को पा लेना ही सामायिक का अर्थ=फल है।

आत्मस्वरूप मे स्थिरता तो निश्चय सामायिक का रूप हे। ऐसी विशुद्ध सामायिक, जो शुद्ध आत्मपरिणति रूप हो, वह तो तेरहवे गुणस्थान मे होती हे, वह उससे नीचे के गुणस्थान वाले साधु-श्रावक मे होती नही। अत इसका मतलब यह नही हे कि निश्चयसामायिक न प्राप्त हो तो व्यवहारसामायिक को छोड दिया जाए। वस्तुत निश्चय सामायिक तो साध्य हे। उसकी प्राप्ति तो व्यवहार सामायिक करते-करते कभी न कभी होगी ही। मोक्षमार्ग पर चलने वाला दुर्बल यात्री भी एक दिन मजिल पर पहुँच जाएगा। व्यवहारसामायिक का जीवन भी स्थूल पापाचारो स बचा हुआ है। वह भी महान् है, उच्च हे। अत उसे छोडने की जरूरत नही।

प्रतिक्रमण के बाद 'निन्दा करता हूँ' का सकल्प है। यहाँ न तो अपनी निन्दा ही अभीष्ट हे, न परनिन्दा। परनिन्दा तो सरासर पाप है ही। आत्मनिन्दा भी हीनता, अनुत्साह, चिन्ता और शोक की प्रतीक हे। अत वह भी अनुचित है। यहाँ निन्दा से अभिप्राय है—पाप की, पापाचरण की और दूषित जीवन की निन्दा। अपने दोपो, भूलो, त्रुटियो को साधक पहिचाने और उनके लिए मन मे पश्चात्ताप करे।

निन्दा के पश्चात् 'गर्हा करता हूँ' सकल्प है। निन्दा की अपेक्षा गर्हा मे अधिक आत्मवल अपेक्षित है। मनुष्य अपने आपको धिक्कार सकता है, लेकिन दूसरो के सामने अपने आपको आवरणहीन, दोषी और पापी बताना अत्यन्त दुष्कर कार्य हे। अप्रतिष्ठा वहुत भयकर वस्तु है। अप्रतिष्ठा के डर से मनुष्य अपने पापो को छिपाता है, नाना पाप करता हे, आत्महत्या तक कर बैठता हे। परन्तु सामायिक का तेजस्वी साधक अपने दोपो एव पापो को अन्दर से झाड-पोछकर बाहर निकालता है। गर्हा मे गुरुदेव या अपने से महान् के सामने वह हृदय खोलकर अपने दोपो को प्रकट कर देता है। अपनी गन्दगी धो डालता है। अत गर्हा भी आत्मा पर लगे दोपो को साफ करने के लिए है।

आत्मा के व्युत्सर्ग का रहस्य

अन्तिम प्रतिज्ञासूत्र हे—'अप्पाण वोसिरामि' अर्थात् मैं अपनी आत्मा का त्याग करता हूँ। परन्तु आत्मा का त्याग तो असम्भव है, अत यहाँ लक्षणा से अर्थ लगाया जाता है—पापकर्मो से दूपित, पुराने सडे-गडे अपने जीवन का त्याग करना ही

---

१ 'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे' —भगवती० श० १ उ० ९

आत्म व्युत्सर्जन है। अतीतकाल की सावद्ययोगकारी अप्रशस्त आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ, यही इस पद का तात्पर्य है।

त्रियोग शुद्धि की विधि

सामायिक के पवित्र सिंहासन पर पहुँचने से पहले साधक को पहले अपने मन, वचन और काया की शुद्धि कर लेनी आवश्यक है।

मन शुद्धि के लिए मन को सासारिक वासनाओं से रिक्त कर लेना आवश्यक है। पूर्वकालिक दुष्ट सस्कारो, दुर्विचारो, दुष्कामनाओ, आसक्तियो एव पुराने काम-क्रोध-लोभ-मोहजन्य विकारो का त्याग किये विना मन में सुन्दर विचारो और सुसंस्कारो का प्रवेश नही हो सकेगा।

मन का कार्य है—मनन करना। मनन दो प्रकार का होता है—एक कल्पना-मूलक, दूसरा तर्कमूलक। कल्पनामूलक मनन जिस समय होता है, अगर उस समय मन पर कण्ट्रोल न रहे तो वह अनियन्त्रित एव चचल होकर राग, द्वेष, मोह, शोक, क्रोध, अहकार आदि को अन्धाधुन्ध अपनाने लगता है। इससे कर्मों का प्रवाह चारो ओर से अन्तरात्मा की ओर उमड कर मन को मलिन बना देता है, इसकी विचार-शक्ति को कुण्ठित कर देता है। तर्कमूलक मनन के द्वारा कल्पनामूलक मनन पर नियन्त्रण तभी किया जा सकता है, जब आत्मा अन्तराभिमुखी होकर मन को शुभ सकल्पो की ओर मोडे, विचारो को व्यवस्थित बनाकर दु सकल्पो के पथ को छोडे और सत्सकल्पो का पथ अपनाए। तकमूलक मनन के द्वारा ही अहिंसा, दया, शील, सत्य, सयम आदि के प्रबल विचारो का उदय होते ही दुर्विकल्पो का अँधेरा मिट जाता है। इसके लिए स्वाध्याय, जप, ध्यान, चिन्तन आदि आवश्यक है।

इसके बाद वचनशुद्धि भी आवश्यक है। वचन शक्ति प्रकट है, इसलिए उस पर नियन्त्रण करना मन की अपेक्षा आसान है। सामायिक के समय वचन समिति का पालन तो अवश्य होना चाहिए। हो सके तो मौन रखे, वचनगुप्ति का पालन करे। सामायिक मे कर्कश, कठोर, निश्चयकारी, हिंसाकारी, छेद-भेदकारी, चाटुकारी, सावद्य वचन न बोले। दीनवचन, अपमानजनक वचन, या क्लेशवर्द्धक वचन सामायिक मे निषिद्ध है। बोलना ही हो तो हिताहित परिणाम को सोचकर विवेकपूर्वक बोले।

वचनशुद्धि के बाद कायाशुद्धि का नम्बर आता है। कायाशुद्धि का अर्थ यह नही है कि आप दिनभर शरीर को रगडते रहे, शरीर को सुगन्धित पदार्थों से सुवासित करते रहे, वस्त्रादि से सुसज्जित करते रहे। यह ठीक है कि गन्दा शरीर लेकर सामायिक मे न बैठा जाए, क्योकि इससे मन पर भी बुरा असर पडता है, धर्म की भी अवहीलना होती है। किन्तु यहाँ कायशुद्धि का अर्थ—शरीर की चेष्टाओ को नियन्त्रित, सयमित रखने से है। जो मनुष्य चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते शरीर की हरकत करते यतना (विवेक) से काम लेता है, असभ्यता नही दिखलाता, हाथ-पैरो से मारने-पीटने-सताने आदि की हिंसा नही करता, किसी जीव को कष्ट नही

देता, वह कायशुद्धि का आराधक है। शरीर द्वारा शुभाशुभ बाह्य आचरण से ही व्यक्ति की आन्तरिक शुद्धि का पता लगता है।

सामायिक मे त्रियोग शुद्धि के लिए दोष निवारण

इसीलिए हमारे पूर्वाचार्यों ने मन, वचन और काया की शुद्धि के हेतु तीनो के कुल ३२ दोप बताकर सामायिक मे उनसे बचने का निर्देश किया है। इन ३२ दोषो मे से १० मन के है, १० वचन के है और १२ काया के दोष है। मन के दस दोपो का निरूपण इस प्रकार है—

अविवेक जसोकित्ती लाभत्थी, गव्व-भय-नियाणत्थी।
ससय-रोस-अविणओ, अबहुमाणए दोसा भाणियव्वा ॥

(१) **अविवेक**—(सामायिक मे किसी प्रकार के कार्याकार्य, औचित्य-अनौचित्य, समय-असमय का विचार न रखना, या सामायिक के स्वरूप को भलीभाँति न समझना), (२) **यश कीर्ति**—यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार, सम्मान-बहुमान आदि की लालसा से सामायिक करना), (३) **लाभार्थ**—(धन, पद, भूमि, साधन, व्यापार मे कमाई, नौकरी मे तरक्की आदि के लाभ से प्रेरित होकर सामायिक करना), (४) **गर्व**—(सामायिक मे अपनी जाति, कुल, बल आदि का गर्व करना अथवा सामायिक क्रिया का गर्व करना), (५) **भय**—(लोकभय, परिवार आदि के दबाव, अपराध मे पकडे जाने आदि के भय से सामायिक करना), (६) **निदान**—(सामायिक के बदले इहलौकिक या पारलौकिक सुख की वाछा या अमुक पदार्थ प्राप्ति की इच्छा से सामायिक करना), (७) **सशय**—(फल के बारे मे सन्देह करना), (८) **रोष**—(सामायिक मे क्रोधादि करना, या लडझगडकर या रूठकर सामायिक करना), (९) **अविनय** (सामायिक के प्रति अनादर या देव-गुरु-धर्म का अविनय करना), (१०) **अबहुमान** (हार्दिक भक्ति से प्रेरित होकर सामायिक न करना, बेगार समझकर सामायिक करना)।

वचन के भी १० दोप है। वे इस प्रकार है—

'कुवयण सहसाकारे, सच्छदसखेवकलह च।
विगहा विहासोऽसुद्ध, निरवेक्खो मुणमुणा दोसादस ॥'

(१) **कुवचन**—(सामायिक मे कुत्सित, भद्दे, अपशब्द बोलना मर्मस्पर्शी ताना मारना), (२) **सहसाकार** (बिना विचारे सहसा हानिकर असत्य वचन बोलना), (३) **स्वच्छन्द**—(सामायिक मे कामोत्तेजक, उच्छृखल, अश्लील गीत गाना, गन्दी बातें करना), (४) **सक्षेप**—(सामायिक पाठ सक्षेप मे बोल जाना), (५) **कलह**—(सामायिक मे कलह-क्लेशकारी वचन बोलना), (६) **विकथा**—(निरुद्देश्य व्यर्थ ही स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा और देशकथा करना), (७) **हास्य**—(सामायिक मे हँसी-मजाक करना), (८) **अशुद्ध**—(सामायिक का पाठ अशुद्ध बोलना), (९) **निरपेक्ष**—(सिद्धान्त विरुद्ध एकान्त या निश्चयकारी वचन बोलना), (१०) **मुम्मन**—(सामायिक पाठ आदि का अस्पष्ट गुनगुनाते हुए उच्चारण करना)।

इसी प्रकार आचार्यों ने शरीर से सम्बन्धित १२ दोष बताए हैं—

कुआसण चलासण चलादिट्ठी,
सावज्ज किरिया, लवणाकुचणपसारण।
आलस-मोडन-मल-विमासण,
निद्दा वेयावच्चति बारस कायदोसा॥'

(१) कुआसन—(सामायिक मे पैर पर पैर चढाकर या अविनयपूर्वक बैठना), (२) चलासन (बार-बार आसन बदलते रहना), (३) चलदृष्टि (चचल दृष्टि रखना), (४) सावद्यक्रिया—(शरीर से पापजनक क्रिया करना), (५) आलम्बन—(सामायिक मे बिना किसी कारण के दीवार आदि का सहारा लेना), (६) आकुचन-प्रसारण—(बिना किसी कारण के हाथ-पैर सिकोडना, पसारना), (७) आलस्य, (८) मोडण (सामायिक मे हाथ-पैर की अगुलियाँ चटकाना), (९) मलदोष (शरीर पर से मैल उतारना), (१०) विमासन (कपोल पर हथेली रखकर शोकग्रस्त की तरह बैठना या बिना पूजे शरीर खुजलाना), (११) निद्रा, (१२) वैयावृत्य या कम्पन—(सामायिक मे बैठे हुए अकारण ही दूसरे से वैयावृत्य (सेवा) कराना अथवा स्वाध्याय करते समय सिर हिलाना या काँपना)।

इस प्रकार मन के १० दोष, वचन के १० दोष, और शरीर के १२ दोष हैं, इनसे बचना सामायिक साधक के लिए आवश्यक है। इन तीनो की शुद्धि से सामायिक विशुद्ध होती है।

सामायिक करने से पूर्व शुद्धिचतुष्टय

सामायिक करने से पूर्व भूमिका शुद्धि[1] होनी आवश्यक है। भूमि शुद्ध होती है, तभी उसमे बोया हुआ बीज मधुर व सुन्दर फलदायक होता है। अत सामायिक के लिए चार प्रकार की शुद्धि अनिवार्य है—द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भाव-शुद्धि। इस शुद्धिचतुष्टय के साथ सामायिक की जाती है, वह पर्याप्त फलदायिनी होती है।

द्रव्यशुद्धि—सामायिक समभाव को बढाने के लिए है, जिन द्रव्यो से समभाव को आँच लगती हो, विषमता बढती हो, पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा से निष्पन्न हो, विकारोत्पादक हो, सिर्फ फैशन और सौन्दर्यवर्द्धक हो, सयम विघातक हो, उन उप-करणो का उपयोग सामायिक मे नही करना चाहिए। जैसे कोमल गुदगुदा रग-बिरगा

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे भी कहा है—

सामाइयस्स करणे खेत्त, काल च आसण विलओ।
मण-वयण-कायशुद्धी णायव्वा हुति सत्तेव॥

—सामायिक करते समय क्षेत्र, काल, आसन, विलय (स्थान), मन, वचन और काया इन सातो की शुद्धि जान लेनी चाहिए।

अथवा गदा आसन, श्रृंगारवर्द्धक रेशमी पूंजणी, रजोहरण, गन्दी मलिन मुखवस्त्रिका, अशुद्ध गन्दे वस्त्र, बहुमूल्य अहंकारवर्द्धक गन्दी माला, अश्लील द्वेषवर्द्धक गन्दा साहित्य, व्यर्थ के आभूषण आदि द्रव्य (उपकरण) सामायिक मे त्याज्य है। आसन, वस्त्र, रजोहरण, पूंजणी, माला, मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि सामायिक के उपकरण शुद्ध, अहिंसक (अल्पारम्भी) एव उपयोगी होने चाहिए।

क्षेत्रशुद्धि—सामायिक करने का स्थान शुद्ध होना चाहिए। गन्दा, अशान्त, कोलाहलपूर्ण, आवागमन वाला, विकारवर्द्धक, क्लेशोत्पादक, विषयभाव वर्द्धक, चित्त-चापल्यकर स्थान सामायिक के लिए अच्छा नही। इसीलिए वर्तमान युग मे उपाश्रय या धर्मस्थानक आदि स्थान सामायिक साधना के लिए उपयुक्त है। उसके अभाव मे घर मे भी कोई एकान्त, शान्त स्थान ढूंढ लेना चाहिए।

कालशुद्धि—काल से मतलब समय से है। सामायिक के लिए योग्य समय, उपयुक्त अवसर का विचार करना आवश्यक है। घर मे कोई बीमार हो, स्वय का शरीर अस्वस्थ हो, कोई आवश्यक कार्य हो, उस समय उसकी उपेक्षा करके सहसा सामायिक मे बैठ जाना काल की अशुद्धि है। अपने दायित्व से छुटकारा पाने के लिए सामायिक मे बैठ जाना भी ठीक नही है।

भावशुद्धि—भावशुद्धि का अर्थ है—मन-वचन-काया की शुद्धि करना, मन-वचन-काया के बताए हुए ३२ दोषो से बचना। इन तीनो योगो की शुद्धि का तात्पर्य है—इनकी एकाग्रता, अचचलता। जब तक तन, मन और वचन की एकाग्रता भग करने और मलिनता पैदा करने वाले दोषो का त्याग श्रावक नही करता, तब तक भावशुद्धि नही हो सकती। भावशुद्धि हुए बिना सामायिक शुद्ध नही हो सकती। अत भावशुद्धि के लिए उन ३२ दोषो को जानना तथा उनसे बचना आवश्यक है।

सामायिक पापरहित होने की एव आत्मविशुद्धि की साधना है। इसी कारण मूलपाठ मे अतीत मे हुई आत्म-अशुद्धि, वर्तमान मे हो रही अशुद्धि तथा भविष्य मे होने वाली अशुद्धि से सावधान रहने का निर्देश है, उसी का सकल्प है।

सामायिक के अतिचारो से सावधान

सामायिकव्रत मे श्रावक के सामने अनेक खतरे पैदा हो सकते हैं। उनसे उसे सावधान रहना चाहिए। वे अतिचार, जो सामायिक को दूपित करने वाले हैं, वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—मनदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, कायादुष्प्रणिधान, सामायिक मति-भ्रंश, और सामायिकानवस्थिति।

मनदुष्प्रणिधान का अर्थ है—सामायिक के भावो से बाहर मन का दौड़ना, सासारिक प्रपचो एव कार्यों का दुर्विकल्प मन मे करना।

एक श्रावक सामायिक मे बैठा था, किन्तु मन मे मोची के यहाँ से जूते लाने का दुर्विकल्प चल रहा था। उस समय एक आदमी ने आकर उसकी पुत्रवधू से पूछा "सेठ कहाँ है?" पुत्रवधू ने श्वसुर के रग-ढग देखकर कहा—'वे इस समय मोची के

यहाँ गए ह।' सेठ ने जब सुना तो मन ही मन क्रुद्ध हो उठा। ज्योंही सामायिक पूर्ण हुई, त्यो ही सेठ ने पुत्रवधू को आडे हाथो लिया तो उसने सविनय कहा—"पिताजी! आपका मन तो मोचीबाजार मे घूम रहा था, सामायिक मे न था। इसलिए मैंने आगन्तुक को सच-सच कह दिया था।" पुत्रवधू का उत्तर सुनकर श्रावक ने अपनी भूल स्वीकार कर ली। भविष्य मे सावधान रहने का वचन दिया। दूसरे दिन फिर वही भाई सेठजी को पूछने आया तो पुत्रवधू ने कहा—"अभी वे सामायिक मे हैं।" सचमुच श्रावक का मन सामायिक मे था।

इस प्रकार सामायिक मे मन की एकाग्रता को भग करने वाले प्रसगो से बचना चाहिए।

वचनदुष्प्रणिधान का अर्थ है—सामायिक के दौरान कटु, कर्कश, निष्ठुर, असभ्य अपशब्द बोलना।

कायादुष्प्रणिधान का मतलब है—सामायिक मे काया को बार-बार हिलाना, आसन बदलना, काया से कुचेष्टा करना, अकारण शरीर को सिकोडना-पसारना।

सामायिकमतिभ्र श का अर्थ है—सामायिक ग्रहण की है, इस बात को विस्मृत हो जाना, या सामायिक करना ही भूल जाना।

और पाँचवाँ अतिचार है—**सामायिकानवस्थिति**। सामायिक को बेगार समझ कर, जैसे-तैसे अनादरपूर्वक करना, सामायिक का समय पूरा होने से पहले ही अनजाने मे सामायिक पार लेना, बार-बार घडी देखना या विचार करना कि सामायिक पूर्ण हुई या नही ? यह पचम अतिचार का तात्पर्य है।

इन पाँच अतिचारो से दूर रहकर शुद्ध सामायिक करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अपनी सन्तानो मे भी शुद्ध सामायिक के सस्कार पडते हैं। सामायिक केवल परलोक के लिए ही नही, इस लोक के लिए भी हितकारी है, यह समझकर अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के साथ उत्साहपूर्वक सामायिक की साधना करिए। ✡

4

देशावकाशिकव्रत : स्वरूप और विश्लेषण

☆

देशावकाशिकव्रत की आवश्यकता

यह विश्व इतना विशाल है कि साधारण मनुष्य इसकी सीमाओ को पूरी तरह आक नही सकता। यह एक अनुभूत तथ्य है कि कोई भी मनुष्य सब जगह फैल कर वहाँ की परिस्थितियो से लाभ नही उठा सकता। फिर भी मानव-मन मे व्यक्त या अव्यक्त रूप से ऐसी लालसा बनी रहती है कि मैं दूर-दूर देश, प्रान्त या नगर मे जा कर वहाँ की बढिया-बढिया चीजो का उपभोग करू। इच्छापूर्ति की धुन मे मनुष्य यह नही सोचता कि उस मनोवाछित सुख सामग्री को पाने के लिए दूर-सुदूर प्रदेश मे जाने मे कितनी हिंसा होगी? सम्भव है, उस चीज को पाने के लिए सूक्ष्म झूठ भी बोलना पडे, सूक्ष्म चोरी भी करनी पडे, तथा किसी सुदूर-देशस्थ सुन्दरी को पत्नी के रूप मे प्राप्त करने मे कितना मानसिक सघर्ष होगा, तथा तृष्णा एव लोभ के वश कितनी परिग्रहवृत्ति बढ़ेगी? वह अपनी उन-उन इच्छाओ की पूर्ति के लिए व्याकुल, क्षुब्ध, अशान्त और सतप्त रहता है। इस दु स्थिति से बचने के लिए पहले मैंने छठे दिशापरिमाणव्रत) पर प्रकाश डाला था, जिसमे विभिन्न दिशाओ मे जाने-आने, व्यापार करने आदि की जिंदगीभर के लिए एक सीमा निर्धारित कर ली जाती है। परन्तु उस निर्धारित सीमा मे प्रतिदिन जाना-आना नही होता। अत श्रावक एक दिन रात, एक दिन, प्रहर, घटा आदि तक उस सीमा का सकोच कर लेता है। इसी अल्प-कालिक क्षेत्र सीमा निर्धारण का नाम देशावकाशिक व्रत है।[1] श्रावक के १२ व्रतो मे यह दशवाँ व्रत है और चार शिक्षाव्रतो मे दूसरा व्रत है।

देशावकाशिक व्रत . आत्म-शक्ति बढाने मे सहायक

यह शिक्षाव्रत है। इसलिए इसका बार-बार अभ्यास करना होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य किसी एक ही चीज का बार-बार अभ्यास

१ आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

दिग्व्रते परिमाण यत्तस्य सक्षेपण पुन।
दिने रात्रौ च देशावकाशिकव्रतमुच्यते॥ —योगशास्त्र ३।८४

करता है, तो वह चीज मन मे सस्कारो के रूप मे जम जाती है, वह उस व्यक्ति के जीवन का एक अग बन जाती है। और यह भी देखा जाता है कि मनुष्य अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित करके जिस ओर अधिक झुकता है, जिस चीज का बार-बार मनन-चिन्तन करता है, जिस साधना का सकल्प करके उसे क्रियान्वित करता है, वह उसकी आदत बन जाती है, आदतें ही धीरे-धीरे उसके स्वभाव मे परिणत हो जाती हैं और वह स्वभाव ही जीवन के ताने-बाने की तरह सस्कारो मे घुलमिल जाता है। इस प्रकार सकल्प, आदत, स्वभाव और सस्कार के क्रम मे मानव जीवन को ध्येय की ओर ले जाने मे देशावकाशिकव्रत बहुत ही सहायक बनता है।

आशिक अवकाश के रूप मे देशावकाशिक

देशावकाशिक व्रत साधना की अपेक्षा रखता है। इस साधना मे व्यक्ति को अपने शरीर और शरीर सम्बन्धी कार्यों (व्यापार, नौकरी, शरीर शृ गार, ऐश-आराम, आलस्य, विलासिता, इन्द्रिय विषयो की भोगासक्ति आदि दैनिक कृत्यो) से छुट्टी (अव-काश) लेना पडता है। देश शब्द अश अर्थ का वाचक है, और अवकाश शब्द वर्तमान काल मे प्रचलित 'छुट्टी' शब्द का वाचक है। इस प्रकार दोनो शब्दो का मिल कर यह भावार्थ हुआ कि शरीर सम्बन्धित कार्यों से आशिक (एक दिन्-रात की, एक दिन की,एक प्रहर या उससे ज्यादा की, अथवा एक घटा या उससे ज्यादा की) छुट्टी लेकर आत्म-चिन्तन, आत्मगुणो के मनन, स्वभावरमण, स्वरूपचिन्तन, पाँच आस्रवो का निरोध करके सवँर मे सलग्न होना देशावकाशिक व्रत है।

राज्यशासन का अवकाश मानोगे या आत्मशासन का ?

आजकल कई देशो या प्रान्तो मे वहाँ की सरकारो ने आजीविका सम्बन्धी काम के घटे बाध दिये है। कारखानो, मिलो या दूकानो मे, अथवा सरकारी दफ्तरो मे कार्य करने के घटे बधे हुए होते हैं। उसके बाद उन कर्मचारियो को छुट्टी दे देनी पडती है, अन्यथा उस कारखाने, मिल, दूकान आदि के मालिक पर जुर्माना हो जाता है। उसे सरकार की ओर से इस अपराध के बदले मे दण्ड मिलता है। दूकानदारो के लिए भी बडे-बडे शहरो मे दूकानें खोलने और बन्द करने का नियम है। उस नियम को तोडने वाला दण्ड का भागी होता है। इन सब सरकारी नियमो का उद्देश्य तो शायद इतना ही है कि मनुष्य देर तक अपने बूते से अधिक काम करेगा तो बीमार पड जाएगा, थक जाएगा, उसका स्वास्थ्य खराब हो जाने पर दूसरे दिन या कई दिनो तक कार्य नही कर सकेगा, यह उसके अपने तथा देश के लिए हानिकारक होगा। वह भी घाटे मे रहेगा, और देश भी। किन्तु भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रावक के लिए बताया कि आशिक अवकाश (छुट्टी) की घोषणा करके शारीरिक विषयो से सम्बन्धित कृत्यो से निवृत्त होकर आत्मा के लिए चिन्तन-मनन करें। सदैव माया (धन-सम्पत्ति) का मजदूर बन कर न रहे, वह आध्यात्मिक जीवन मे भी अपना अव-काश का समय लगावे। आप सरकारी छुट्टी या सरकार द्वारा बताए हुए कार्य के

समय के लिए अगर कोई श्रावक पाँच आस्रव का त्याग करता है तो उस त्याग की गणना इस अल्पावकाशरूप सवर (देशावकाशव्रत) मे ही होगी। जब कभी श्रावक को अवकाश न हो, उसे दूसरे किसी अनिवार्य कार्यवश कही जाना है, परन्तु नित्यनियम के रूप मे यत्किञ्चित् समय तो निकालना ही है, तब किन्ही कारणवश सामायिक करने का अवसर न हो, तब यत्किञ्चित् समय के लिए स्वेच्छा से समय नियत करके उतनी देर के लिए पाँच आस्रवो से निवृत्त होने के रूप मे जो सवर किया जाता है, उसे भी देशावकाशिक कहते ह। जैसे स्कूलो या सरकारी दफ्तरो मे बीच मे आधा या पौन घटे की छुट्टी होती है, उसी प्रकार की यह आध्यात्मिक जीवन के लिए थोडे से समय (अवकाश) तक की छुट्टी हे। इस थोडे-से नियत समय के लिए पाँच आस्रवो को छुट्टी दे दी जाती है, उनका स्मरण, चिन्तन, उच्चारण या चेष्टारूप कार्य नही किया जाता।

श्रीमद् राजचन्दजी एक आध्यात्मिक पुरुप थे। वे जवाहरात का व्यवसाय करते थे। वे जब अपनी दूकान पर बैठते थे, तब इस प्रकार का सवर (देशावकाशिक) किया करते थे। उस दौरान वे आत्मिक चिन्तन किया करते थे। जब ग्राहक आ जाता तो उसे माल दिखाते, बातचीत करते, माल देते, लेकिन ग्राहक के चले जाने के बाद जब-जब खाली होते, अवकाश मिलता पुन आत्म-चिन्तन-मनन मे डूब जाते या किसी आध्यात्मिक सद्ग्रन्थ का स्वाध्याय करते, अथवा जप किया करते।

इसी प्रकार सवर के रूप मे देशावकाशिकव्रत ग्रहण करने वाले साधक को उतने सक्षिप्त समय के लिए आहार-विहार की आवश्यकता नही रहती, और न ही वह उतनी देर तक व्यापार धधा या शरीर शृ गारादि शरीर से सम्बन्धित कार्य करता। अत देशावकाशिकव्रत (संवर) लेकर वह इतने अल्प समय मे आत्मा के विषय मे कुछ चिन्तन-मनन करे, स्वाध्याय करे, जाप करे या ध्यान करे। अपने मन को, वचन को और कायिक व्यापार को विपय-वासनाओ, कपायो और आस्रवो मे न जाने दे।

देशावकाशिकव्रत आत्मशक्तिवर्द्धक १४ नियम-चिन्तन

जो देशावकाशिक, सवर के रूप मे अल्पकाल के लिए ग्रहण किया जाता है, उसमे उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ से सम्बन्धित १४ नियमो का चिन्तन करने की भी प्रथा है।

आप शरीर की शक्ति बढाने के लिए ऐसा भोजन लेते हैं, जो आपके शरीर मे हुई छीजन (शक्तिक्षय) की पूर्ति कर सके, नई शक्ति और स्फूर्ति दे सके। भोजन के अतिरिक्त आप कई बार शारीरिक दौर्बल्य को मिटाने के लिए टॉनिक भी लेते होगे। परन्तु क्या कभी आपने यह सोचा है कि आत्मा की शक्ति को बढाने के लिए कौन-सी खुराक (भोजन) और कौन-सी टॉनिक आवश्यक है ? आत्मा भी शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण विपय-कपायो मे भटक जाती है, शरीर के अत्यधिक पोपण के चक्कर मे पडकर विविध भोगोपभोग्य वस्तुओ के रसास्वादन मे पड जाती

है, शरीर-प्रसाधन मे पडकर आत्म-प्रसाधन को भूल गई। तात्पर्य यह है कि आत्मा अपनी खुराक छोडकर शरीर को खुराक देने मे लग जाती है। चौदह नियमो का चिन्तन—आत्मा की खुराक है, आत्मशक्तिवर्द्धक टॉनिक है, आत्म-शक्ति मे जो छीजन हो गई है, उसकी पूर्ति करने वाला है। नई शक्ति और स्फूर्ति देने वाला है।

तात्पर्य यह है कि उपभोग-परिभोगपरिमाण (सातवे) व्रत मे जीवनभर के लिए भोगोपभोग के लिए जो पदार्थ रखे है, उन सबका उपभोग वह प्रतिदिन नही करता है, इसलिए वह एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को घटा देता है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय मे इस सम्बन्ध मे सुन्दर चिन्तन दिया है—

सातवे उपभोग परिभोगपरिमाणव्रत मे जिन उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ को अत्याज्य समझ कर रखा है, उन भोग्योपभोग्य वस्तु के सम्बन्ध मे पहले की हुई सीमा मे एक दिन-रात के लिए अपनी शक्ति देखकर पुन सीमा करनी चाहिए। अर्थात् पूर्वकृत सीमा मे भी प्रतिदिन कमी करनी चाहिए। इस प्रकार जो परिमित भोगो से सन्तुष्ट हो जाता है, वह सहज स्वाभाविकरूप से बहुत-से भोगो को (जो प्रतिदिन उपभोग मे नही आते) छोड देता है।[1] बहुत-से भोग्योपभोग्य वस्तुओ को प्रतिदिन के नियम-चिन्तनपूर्वक छोडने से आत्मा उन भोगोपभोग्य वस्तुओ की पराधीनता एव गुलामी से छूट जाता है, आत्मा मे स्वतंत्र जीने की शक्ति स्फुरित होती है। इस प्रकार की शक्ति स्फुरित करने एव आत्मशक्ति प्रगट करने मे प्रतिदिन चौदह नियमो के चिन्तनपूर्वक सीमा निर्धारित करने की पद्धति—जो देशावकाशिकव्रत से उद्भूत होती है, बहुत ही सहायक है।

देशावकाशिकव्रत मे उपभोग्यपरिभोग्य पदार्थों की मर्यादा घटाने का आवश्यकसूत्र की वृत्ति मे स्पष्ट उल्लेख है कि "देशावकाशिकव्रत मे दिग्व्रत की मर्यादा का सक्षेप करना मुख्य है, लेकिन उपलक्षण से अन्य अणुव्रतो को भी अवश्य सक्षेप करना चाहिए।"[2]

इस कथन से स्पष्ट है कि जिस व्रत मे जो मर्यादा रखी गयी है, उन सभी मर्यादाओ को कम करना, आवश्यकता से अधिक रखी हुई मर्यादा को एक दिन-रात के लिए परिमित कर डालना भी देशावकाशिक व्रत है। उदाहरणार्थ—चौथे अणुव्रत

---

१ अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया।
पुनरपि पूर्वकृताया समीक्ष्य तात्कालिकी निजशक्तिम् ॥१७१॥
सीमन्यन्तरा सीमा प्रतिदिवस भवति कर्तव्या।
इति य परिमित भोगैस्सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ॥१७२॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

२ दिग्व्रत सक्षेपकरणमणुव्रतादिसक्षेपकरणस्याऽप्युपलक्षण द्रष्टव्य, तेषामपि सक्षेपस्यावश्य कर्तव्यत्वात्।

—आवश्यक वृत्ति

5

पौषधव्रत : आत्मनिर्माण का पुण्यपथ

आज हम पौषधव्रत के निकट पहुँच गए है। पौषधव्रत श्रावक के बारह व्रतो मे से ग्यारहवाँ व्रत है और चार शिक्षाव्रतो मे तीसरा शिक्षाव्रत है। पौषधव्रत को जीवन मे रमा लेने के लिए बार-बार अभ्यास करना पडता है। जीवन मे पौषधव्रत का अभ्यास हो जाने पर मनुष्य की आत्मा को परम शान्ति, समाधि, तृप्ति एव रमणता प्राप्त होती है। किसी भी श्रमिक को आपने देखा होगा, जब वह अत्यन्त थक जाता है, तो उस थकान को मिटाने और फिर से तरोताजा होकर कार्य मे प्रवृत्त होने के लिए विश्रान्ति लेता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रवृत्त होने एव तरोताजा होकर आत्म-चिन्तन के लिए सद्गृहस्थ श्रावक को भी विश्रान्ति की आवश्यकता रहती है। उसे अपने गार्हस्थ्य प्रपच एव आजीविका के कार्य मे दिन और रात मे अधिकाश समय तक जुटे रहने के कारण थकान आ जाती है, कई बार उसके सामने अनेक उलझनें, अडचनें एव विपदाएँ आकर मडराने लगती हैं, तब वह किंकर्तव्यविमूढ होकर निराश-हताश हो जाता है, कई बार वह जिंदगी से ऊब जाता है, कई बार अनेक झंझटो और परेशानियो से सतप्त हो जाता है। ऐसे समय मे उसके मन, बुद्धि, चित्त और मस्तिष्क को विश्रान्ति की अपेक्षा रहती है। ताकि वह तरोताजा होकर वास्तविक रूप से आत्मचिन्तन कर सके, अपने कर्तव्य का निर्धारण कर सके, हिताहित व कर्तव्याकर्तव्य का विवेक कर सके।

पौषध तीसरा विश्रान्तिस्थान

भगवान महावीर ने स्थानागसूत्र मे गृहस्थ श्रावक को भारवाहक श्रमिक की उपमा दी है। और बताया है कि जैसे भारवाहक श्रमिक को थकान मिटाने के लिए चार विश्रान्ति स्थल होते हैं, जहाँ वह विश्रान्ति लेकर तरोताजा होकर पुन अपने कार्य मे द्विगुणित शक्ति से प्रवृत्त होता है, वैसे ही गृहस्थ श्रमणोपासक के सिर पर भी गृहस्थकर्तव्यो का बहुत बडा भार है, जिसे वह भी चार विश्रान्तिस्थलो पर उतार कर विश्राम पाता है, थकान उतारता है।

स्थानागसूत्र मे इस प्रकार की एक चतुर्भंगी बताई गई है।

भारवाहक (श्रमिक) के लिए विश्रान्ति के चार स्थान है—

(१) भार को एक कधे से दूसरे कधे पर रखते समय, भार खिसकाया जाता है, तब थोडी-सी देर के लिए विश्रान्ति मिलती है।

(२) भारवाहक जब मलमूत्र-विसर्जन के लिए या भोजन करने के लिए कुछ अधिक देर के लिए अपने कधे पर से भार उतार कर नीचे रखता है, तब विश्रान्ति मिलती है।

(३) जब रात पड जाती है तो भारवाहक किसी धर्मशाला, विश्रामगृह आदि स्थान मे रात भर के लिए भार उतार कर रखता है, तब उसे विश्रान्ति मिलती है।

(४) भारवाहक चलते-चलते जब निर्धारित स्थान पर पहुँच जाता है, तब भार उतार देता है और विश्रान्ति पाता है।

इस भारवाहक की तरह गृहस्थ श्रावक भी गार्हस्थ्य-जीवन का भार वहन कर रहा है। वह चार स्थानो पर विश्रान्ति पाता है। वे चार स्थान इस प्रकार हैं—

(१) भारवाहक के कधा बदलने की तरह श्रावक के लिए पहला विश्रान्ति स्थान तब होता है, जब वह यह भावना करे कि मैं अणुव्रत, गुणव्रत आदि व्रत अगीकार करके पौपधोपवास करता हुआ विचरण करूँ।

(२) भारवाहक द्वारा कधे पर रखे हुए भार को कुछ समय के लिए उतारने की तरह श्रावक के लिए दूसरा विश्रान्तिस्थान तब होता है, जब वह सावद्य-योग के त्याग और निरवद्ययोग के स्वीकार रूप सामायिक लेकर चित्त को समाधिभाव मे प्रवृत्त करता है। अथवा देशावकाशिक व्रत स्वीकार करके अपने पर आ पडे भार को कुछ समय के लिए कम करता है।

(३) भारवाहक द्वारा किसी सराय आदि मे भार उतार कर रात्रि विश्राम की तरह श्रावक भी तब विश्रान्तिस्थान पाता है, जब वह अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी आदि पर्व के दिन एक दिनरात (अहोरात्रि) के लिए पौषधोपवास करता है।

(४) भारवाहक द्वारा निर्दिष्ट स्थान मे पहुँचने पर विश्राम पाने के समान श्रावक जब अन्तसमय मे समस्त सासारिक कार्यों से निवृत्त होकर सल्लेखना, सथारा आदि करके शेप जीवन को समाधि प्राप्त करने मे लगा देता है, तब चौथा विश्रान्ति-स्थान प्राप्त करता है।

इन चारो प्रकार के विश्रान्तिस्थलो मे से भारवाहक के लिए रात्रि निवास रूप तीसरे विश्रान्तिस्थान की तरह श्रावक के लिए भी पौषधोपवास तीसरा विश्रान्ति-स्थान रूप है।

सचमुच गृहस्थ श्रावक के लिए पूरे एक दिन-रात भर और गार्हस्थ्य प्रपच एव शारीरिक खटपट से दूर रहकर निराहार निर्जल रहकर धर्माराधन एव आत्म-चिन्तन के रूप मे पौपधोपवास करना तीसरा अद्भुत विश्रामस्थल है।

ही भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रावक के आध्यात्मिक विकास के लिए सामायिक एव देशावकाशिक की तरह् पौपधोपवासव्रत का विधान किया। बल्कि पौपधोपवास की साधना मे शारीरिक प्रपच से बिलकुल निश्चिन्त, आजीविका के क्षेत्र से भी निवृत्त होकर एकमात्र आत्मा की उपासना मे ही गृहस्थ साधक एक रात-दिन बिताता है। इसलिए उसका आध्यात्मिक उत्कर्ष से सीधा सम्बन्ध है। इस साधना से गृहस्थश्रावक के अन्त प्रदेश का ऐसा शोधन, परिष्कार एव अभिवर्धन होता है, जिसके फलस्वरूप सर्वतोमुखी आत्मिक उन्नति का द्वार खुल जाता है, जो विघ्नबाधाएँ आत्मिक प्रगति का मार्ग रोके खडी रहती है, उन्हे स्वय साधक इस व्रत मे पुरुषार्थ से आत्मबली बन कर हटा सकता है।

मनुष्य, विशेपत सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्रतधारी श्रावक वीतराग परमात्मा का लघुपुत्र है। वह अपने अन्दर अनन्त शक्तियो की योग्यता को छिपाए हुए है। अपरिमित आध्यात्मिक सम्पदाएँ उसमे सुपुप्त है। उसका दीन-हीन और निर्बल होकर आत्मविस्मरण करना उचित नही।' पौषध मे अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का चिन्तन करने से साधक अपने आपको वीतराग परमात्मा का उत्तराधिकारी अनुभव करने लगेगा।

पौषध · आत्मचिन्तन से आत्मनिर्माण का कारण

पौषध मे आत्मचिन्तन, आत्मशोधन और आत्मनिर्माण का ही पुरुपार्थ मुख्यतया होता है। मनुष्य के लिए, खासतौर से मुमुक्षु साधक के लिए आत्मचिन्तन, आत्मशोधन एव आत्मनिर्माण का कार्य उतना ही सरल है, जितना शरीर को सर्वांगासन, मयूरासन, शीर्पासन आदि आसनो के लिए अभ्यस्त कर लेना। प्रारम्भ मे साधक का मन इस झझट मे पडने से आनाकानी करता है। पुराने या गृहस्थाश्रमजन्य अभ्यास को छोडकर नया अभ्यास डालना अखरता है, गृहस्थाश्रम के लोभवृत्ति, अभिमान, राग, मोह आदि के पूर्वाभ्यस्त सस्कारो का व्युत्सर्ग (वोसिरे, वोसिरे) करके नये सतोष, स्वाध्याय, शान्ति, समता, क्षमा, आत्मस्वरूपरमणता आदि के सुसस्कारो मे मन को ढालने मे कुछ परेशानी एव कठिनाई भी होती है। यदि पौषधोपवास का अभ्यासी साधक इन बातो से डरकर या घबराकर अभ्यास न करे या सिर्फ बाह्य क्रियाकाण्डो मे पडकर ही छुट्टी मान ले या इस आत्मविकास की साधना के अभ्यास से मुख मोड ले, इसे छोड बैठे तो इसके सत्परिणामो से लाभान्वित होना सम्भव न होगा। कहने का मतलब यह है कि पौपधोपवासव्रत अगीकार करके गृहस्थ साधक यदि अपना आत्मालोचन, आत्मनिरीक्षण, (स्वगुण-दोप-निरीक्षण) आत्मप्रतिक्रमण, आत्मनिन्दन (पश्चात्ताप), आत्मगर्हा, आत्मशुद्धि (प्रायश्चित्त, तप आदि के द्वारा) या आत्मरमणता करके अपनी आत्मशक्तियाँ प्रगट नही करता है, उसको इन बातो मे रुचि या उत्साह नही है तो वह पौषधोपवास करके भी उससे यथेप्ट आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नही कर सकेगा।

सके। इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करते गमय अपने दोषो, त्रुटियो, बुरी आदतो, भूलों गलतियो या अपराधो को ढूंढने मे उनका उत्साह नही होता, न ही उन्हे वे गलतियाँ सूझती है और न ही वे उन्हे छोडने को उत्साहित होते है। जैसे अपनी आँख मे लगा हुआ काजल स्वय को नही दिखाई देता, वैसे अपनी बुराइयाँ भी उन दुराग्रही श्रावको को नही सूझती। अधिकाश मनुष्यो की मानसिक रचना ही ऐसी होती है कि वे हर बात मे अपने आपको निर्दोष मानते है। उन्हे कोई दूसरा व्यक्ति उनकी गलती सुझाए तो भी उनका मन उसे स्वीकार करने को प्राय तैयार नही होता। प्राय हर आदमी दूसरे के दोष ढूंढने मे बडा चतुर और सूक्ष्मदर्शी होता है। उसकी तीक्ष्ण पर-आलोचना शक्ति देखते ही बनती है। पर जब अपना नम्बर आता है तो वह सारी चतुरता, समस्त आलोचना शक्ति न जाने कहाँ छूमतर हो जाती है। जैसे खोटा व्यापारी खरीदने और बेचने के बाँट तौल मे बढे-घटे बना कर अलग-अलग रखता है, और खरीदने के समय बढे बाँटो को तथा बेचने के समय घटे बाटो को काम मे लाता है, उसी प्रकार दूसरो की बुराइयाँ ढूंढने मे हमारी दृष्टि अलग तरीके से और अपनी बात आने पर और तरीके से काम करती है। यदि श्रावक अपने पद पर ध्यान देकर पौषध के दौरान दूसरो की बुराइयाँ खोजने के बजाय अपनी बुराइयाँ देखने लग जायें, दूसरो को सुधारने की चिन्ता करने की तरह यदि अपने सुधारने की चिन्ता करने लगें, तो बहुत बडा काम हो सकता है। मेवाड के महाराणा स्वरूपसिहजी के चाचा योगी श्री चतुरसिहजी ने मेवाडी भाषा मे एक भजन मे साधक को बहुत ही अनूठा परामर्श दिया है—

> कर कर वृथा थथ दूजा रो, वेंडा वखत गमायो सारो ॥ध्रुव॥
> वी यू कीधो, वी यू कीधो, थे काई कीधो थारो।
> तेल नट्यो दीवा रो ॥

कितना सुन्दर मार्गदर्शन है, आत्मसाधक के लिए। वे कहते है—तू दूसरो की पचायत करता रहा, दूसरो की दूकान सभालता रहा, कि उसने यो किया, उसने यो किया, पर मैं पूछता हूँ—तूने अपना क्या किया ? दूसरो की ही निन्दा की। पुराण पढकर तूने अपनी आत्मसाधना का जो अमूल्य समय था, उसे व्यर्थ खो दिया। जब आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण एव आत्मस्वरूपरमण का समय था, तब तो दूसरो के दोषदर्शन मे लगा रहा, और जब जीवनरूपी दीपक मे आयुष्यरूपी तेल समाप्त होने को आया, तब तुझे अपनी बात सूझी, परन्तु अब क्या हो सकता है जबकि जिंदगी की गाडी एकदम यहाँ से चलने की तैयारी मे है।

मनुष्य की यह सबसे बडी निर्बलता है कि वह हर गलती या दोष औरो मे ढूंढता है, स्वय निर्दोष होने का कोई न कोई मार्ग तलाश लेता है। दोषदृष्टि या दूषित मनोभाव रखकर ससार को बुरा देखते रहने से उसका तो कुछ नही बिगडता, अपनी ही मन शान्ति और सन्तुष्टि नष्ट हो जाती है। सर्वत्र बुरा ही बुरा देखते रहने से जीवन बडा ही अशान्त एव प्रतिगामी बनकर रह जाता है। इस दोषदृष्टि के

पौषध से आत्म-चिन्तन द्वारा आत्म-शक्ति

मनुष्य की आत्मा मे अद्भुत शक्तियाँ छिपी पडी है। उनका चिन्तन करने से वे जागृत हो जाती हैं और मनुष्य के चरित्र या मानसिक सस्कारो मे प्रविष्ट होकर अपना चमत्कार दिखलाने लगती है।

आत्म-चिन्तन एक अद्भुत कला है इससे जहाँ आपको अपने गुणो का आभास होगा, वहाँ उन न्यूनताओ का भी पता चलेगा, जो आपको दीनता, हीनता एव अकर्मण्यता की ओर ले जाती है। आत्म-चिन्तन करने पर आप अपने मे जिस गुण की कमी पाएँ, उसे अपनी आत्मशक्तियो के चिन्तन द्वारा दूर करने का पुरुषार्थ कर सकते है। यदि अज्ञान के कारण आप मे हीन-भावना घर की हुई है तो आप स्वाध्याय, मनन, और सत्सग का कार्यक्रम चलाकर उसे खदेड सकते है। अगर आप अपने मे निर्बलता का अनुभव करते हैं तो अपनी विशिष्ट शक्तियो के चिन्तन द्वारा अपने मे आत्म-विश्वास, साहस एव उत्साह की अभिवृद्धि कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो अभाव, दौर्बल्य, या त्रुटि आपको दीनता की ओर धकेलती हो, उसे उस प्रकार की विशिष्ट शक्तियो के चिन्तन द्वारा दूर किया जा सकता है।

ससार मे कोई भी व्यक्ति जन्म से ही महान् या शक्तिमान पैदा नही होता। सभी प्राय एक-सी क्षमताओ और विशिष्टताओ को लेकर पैदा होते है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि जो अपनी आत्मा मे निहित शक्तियो मे विश्वास करके उन्हे पौषधव्रत के माध्यम से आत्म-चिन्तन द्वारा जगाते है और उपयोग मे लाते हैं, वे आगे बढ जाते है, और जो अपने प्रति हीन-भावना के शिकार बने रहते है, वे अपनी दीन-हीन मनोवृत्ति का आश्रय लेकर अपने कायरता और क्लीवता के विचारो, भावो और कल्पनाओ से अपनी आत्मा का तेज और श्रेष्ठता नष्ट करते रहते है। वह शस्त्र से अपना ही घात करने जैसा वैचारिक आत्महनन है। अपने मे ऐसी दीनवृत्ति का आभास होते ही साधक को अपना उपचार पौषधव्रत के द्वारा करने मे तत्पर हो जाना चाहिए।

निश्चय ही मनुष्य और उसमे भी गृहस्थ श्रावक महान् है। उसमे भी पर-मात्म ज्योति छिपी हुई है, जिसे वह आत्म-विश्वास के द्वारा प्रगट कर सकता है। आत्मचिन्तन द्वारा अपनी महानताओ, विशेषताओ और क्षमताओ का द्वार खोलिए और देखिए कि आपके अन्दर सोया हुआ महापुरुषत्व जाग पडा है।

पर-दोष-चिन्तन मे समय मत खोओ

बहुत से लोग, जिनमे अधिकाश श्रावक भी है, पौषधोपवासव्रत मे भी आत्म-चिन्तन करने की अपेक्षा दूसरो के दोषो का या अपने घर की समस्याओ का चिन्तन करने लग जाते है। साधारण व्यक्तियो की तरह अपनी बुरी आदतो का समर्थन करने के लिए कुछ श्रावकगण अपना दिमाग कुछ पर-छिद्र, कुतर्क और कारण ढूंढने मे लगाए रखते हैं, ताकि वे स्वय दोषग्रस्त होते हुए भी अपनी निर्दोषिता प्रमाणित कर

परन्तु सेठ कहता—"मैं बुद्धू नहीं हूँ कि अपना व्यापार धन्धा छोड़कर व्यर्थ ही मन्दिरों में मारा-मारा फिरूँ। साधु-सन्तों का सत्संग करने में अपना कमाई का समय खोऊँ और धर्माचरण करने में अपनी शक्ति लगाऊँ। जब बिलकुल अशक्त और पराश्रित हो जाऊँगा, तब बैठा-बैठा भगवान् का भजन करूँगा, धर्मकरणी करूँगा और अपनी आत्मा का चिन्तन भी तब निश्चिन्तता से कर सकूँगा। अभी तो धन कमाने की धुन लगी है, इस चिन्ता को लेकर धर्माचरण भी निश्चिन्तता से नहीं हो सकेगा। फिर न तो धन कमाने में ही चित्त लगेगा और न ही परमात्मभजन या धर्माचरण में लगेगा। अतः अभी मुझे धन कमाना छोड़ना अच्छा नहीं लगता।"

लड़के बोले—"पिताजी! यह काम तो हम सम्भाल लेंगे। आप निश्चिन्तता से धर्माचरण करें, प्रभुभजन भी करें।"

बूढ़ा पिता बोला—"हूँ! कैसी बात कहते हो? तुममें अभी कुछ सूझबूझ नहीं है। मैं अगर अभी तुम्हारे भरोसे दूकान छोड़ दूँ तो तुम एक दिन में ही सब चौपट कर दोगे। मेरी की-कराई सारी कमाई धूल में मिला दोगे। अतः भविष्य में मुझे कभी दूकान छोड़ने की बात मत कहना।"

लड़के लोभी पिता की बात सुनकर चुप हो गए। एक वर्ष बीता। दूसरे वर्ष ही सर्दियों में लालाजी को ठण्ड लग गई। न्युमोनिया हो गया। अब तो रोग ने जबरन दूकान छुड़वा दी। रुग्णशय्या पर पड़े-पड़े भी सेठ उसी दूकानदारी और दुनियादारी की उधेड़-बुन में लगे रहते थे। उन्हें अपने भविष्य की कोई कल्पना ही स्फुरित नहीं होती थी। न कभी धर्माचरण की बात सूझती और न ही परमात्मनाम स्मरण की, आत्मचिन्तन की बात ही कहाँ से सूझती? इस बीमारी ने लाला को इतना जोर से धर दबोचा कि वे मरणासन्न हो गए। लड़के बहुत चिन्तित थे। वे चिकित्सा के लिए कई वैद्यों को लाए। उन्होंने लाला की नब्ज देखकर रोग का निदान करके दवा भी दी, पर रोग मिटने का नाम ही नहीं लेता था। लड़कों को चिन्ता हुई कि पिताजी की हालत बहुत ही गम्भीर है और इसी हालत में ये भगवान् का नाम लिये बिना तथा कुछ धर्मपुण्य किये बिना ही चल बसे तो इनकी गति बिगड़ जाएगी। कहावत है—'अन्त मति सो गति'। अन्तिम समय में जैसी बुद्धि, लेश्या या मन के परिणाम होते हैं, तदनुसार ही मनुष्य की गति होती है, आयुष्यबन्ध होता है। अतः हमें पिताजी को कम से कम भगवान का नाम तो याद दिलाना चाहिए ताकि ये भगवान का नाम भी मुँह से ले लेंगे तो इनकी गति सुधर जाएगी। यों विचार करके बड़े लड़के ने कहा—"पिताजी! अब तो राम-राम कहिए, जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है।"

बूढ़े लाला ने यह सुनते ही मन में कुछ सोचा और तपाक् से बोले—"अरे! उस रामसिंह चौधरी से दो सौ रुपये लेने हैं, वसूल करना।"

लड़के सुनकर आश्चर्य में पड़ गए, कि पिताजी को राम का नाम लेने …

बात सुझाई तो उन्हे अपनी दूकान के ग्राहक रामसिंह का नाम याद आ गया। अब क्या करे ? इतने मे उससे छोटे लडके को स्फुरणा आई कि इन्हे कुछ न कुछ धर्म-पुण्य करने की बात सुझाई जाए। अत उसने कहा—"पिताजी, अब तो जिन्दगी किनारे पर है, कुछ धर्मकरणी कर लीजिए।"

बूढे लाला को धर्मकरणी शब्द सुनते ही कुछ स्मरण हो आया, और वह सहसा बोल उठे—"अरे, उस धर्मचन्द छीपे से कपडे के थानो के ३००) रुपये लेने है, तकाजा करना।"

लडको ने सुनकर निराशा से सिर पीट लिया। इतने मे तीसरे लडके को सूझा कि इन्हे सीधा ही अपने आत्म-निरीक्षण का क्यो न कह दिया जाय, ताकि अन्तिम समय मे आत्म-सुधार करने से जिन्दगी सफल हो जाएगी। अत उसने सेठ से कहा—"पिताजी ! अब तो आप मोहमाया का सब विचार छोडकर सिर्फ भगवान् की साक्षी से अपना आत्म-निरीक्षण करें और आत्मा को शुद्ध बनाकर पधारें।"

लाला ने अपना सिर हिलाते हुए कहा—"अच्छा याद दिलाया तुमने। मैं तो भूल ही जाता। अरे उस कम्बख्त आत्माराम से मिलकर उसके पिता भगवानदास के हाथ के कर्ज लिए हुए पाँच सौ रुपयो को अदा करने का कहना। तुम बही देखकर उससे ब्याज सहित रुपये वसूल करने का ध्यान रखना।"

तीनो लडके तथा घरवाले सभी बूढे की मनोवृत्ति देखकर आश्चर्य और खेद मे पडे हुए थे। तभी सबसे छोटे लडके ने सोचा—'भगवान् के तो अनेक नाम है, कोई और नाम सुझाऊँ, शायद पिताजी उस नाम को जबान से बोल लें।' अत. उसने कहा—"पिताजी ! अब तो श्रीकृष्ण के नाम का रटन कीजिए, जिन्दगी का कोई भरोसा नही है।" इतना कहना था कि लाला झटपट बोल उठे—"अरे, वह किसना धोबी दो धोती जोडे ले गया था, उसके दाम उसने अभी तक नही दिये, उससे तकाजा करके वसूल करना।" इस प्रकार पुत्रवधुओ, पुत्रो की माता ने जितने भी नाम लिये, बूढे लाला ने उन पर कोई ध्यान नही दिया और उन नामो के बहाने लाला को किसी न किसी ग्राहक की याद आ जाती थी, क्योकि ग्राहको के नाम ही सारी जिन्दगीभर उसने अपने दिमाग मे भरे थे, जबान पर भी ग्राहको के नाम ही चढे हुए थे, जिसने जिन्दगी मे कभी एक बार भी भगवान् का नाम न लिया हो, अथवा कभी ले भी लिया हो भूले भटके, तो भी बिना मन से लिया हो, धर्माचरण की बात जिसने कभी कानो से न सुनी हो, आँखो से कभी धर्ममूर्ति साधु-साध्वियो के दर्शन न किये हो, चित्त मे कभी आत्मचिन्तन की धारा न बही हो, भला उस विचार-दरिद्र को बुढापे मे और वह भी रुग्णावस्था मे कभी ये सब बातें सुहावनी लग सकती है ? जिसने कभी इन बातो अभ्यास भी नही किया जो इन बातो को सदा ही ठुकराता रहा और आत्मनिर्माण की इन बातो मे समय बिताना, व्यर्थ समय गँवाना समझता रहा, वह अचानक, एकदम कैसे आत्मनिर्माण के इस पुण्यपथ को स्वीकार कर सकता है ?'

देना। आत्मवैभव को खोकर यदि दुनिया भर का बाह्य वैभव मिल भी जाए तो उसका कोई मूल्य नही है। उससे तो लाभ के बदले प्राय. हानि ही अधिक होने की सम्भावना है।

वर्तमान युग का मनुष्य जड वैभव की तरफ आकर्षित होता जा रहा है, उसे आत्मिक-वैभव को खोने की कोई चिन्ता नही है।

आत्मवैभव को बढाने के लिए तीन मनोरथ

आत्मवैभव को बढाने के लिए पौपधव्रत की साधना मे तीन मनोरथो का चिन्तन किया जाता है। प्रथम मनोरथ मे आरम्भ-परिग्रह को घटाने का चिन्तन है। जब तक आरम्भ-परिग्रह के प्रति आसक्ति बनी रहेगी, तब तक किसी भी व्यक्ति का धर्माराधना करना तो दूर रहा, धर्म के सम्मुख होना भी कठिन है। आज ऐसा चिन्तन करने वाले इने-गिने ही मिलेगे। अधिकाश भौतिक वैभव प्रधान दृष्टि वाले लोग, जब भी समय मिलता है, प्राय आरम्भ-परिग्रह को बढाने का ही चिन्तन करते है—"कौन सा व्यवसाय किया जाय, जिससे मालामाल हो जाऊँ और कार एव बगला भी हो जाय ? कौन-सा उद्योग-धधा खोला जाये, जिसमे वारे-न्यारे हो जायें ?" ये और इस प्रकार के मनोरथ ही प्राय आत्मचिन्तन के समय दिमाग मे घूमते रहते है। तब भला ऐसे लोगो का आत्मवैभव कैसे बढे ? कैसे उनकी आत्मशक्ति प्रगट हो ?

इस प्रकार के बाह्य वैभव बढाने के आत्म-हानिकारक मनोरथ से धनवृद्धि होने के साथ-साथ धर्मवृद्धि नही होती, बल्कि आडम्बर, विलास और फैशन मे वृद्धि होती देखी जाती है। विवाह-शादियो, उत्सवो एव प्रीतिभोजो मे हजारो रुपये स्वाहा हो जाते है, बैण्डबाजो मे, बिजली की रोशनी मे, नाचगानो मे हजारो रुपये फूँक दिये जाते है ? बरातियो को सोने-चाँदी की वस्तुएँ भेंट दी, खूब मेवा-मिष्ठान्न खिलाए, उनके स्वागत मे बहुत खर्च किया, यह सब किसलिए ? प्राय झूठी वाहवाही और वैभव के प्रदर्शन के लिए। इसके बजाय अगर आरम्भ-परिग्रह को घटाने का मनोरथ होता तो सादगी से, कम से कम खर्च मे ये सब कार्य निपटाए जाते। आत्मिक वैभव भी बढता, लोगो पर भी सादगी और धर्माचरण का प्रभाव पडता। पौपधव्रत मे तीन मनोरथो के चिन्तन का अभ्यास करने पर ही आत्मिक वैभव बढ सकता है।

दूसरा मनोरथ है—सर्वस्व छोडकर निर्ग्रन्थ मुनि बनने का। उसी का पूर्वाभ्यास करने के लिए श्रावक पौपधोपवासव्रत की साधना करता है। आत्मभावो मे रमण करने का अभ्यास करता है। शारीरिक एव सासारिक खटपटो से मुक्त होकर पूरे दिन-रात के लिए समय निकाल कर आत्मचिन्तन करता है। किन्तु वर्तमान युग का मानव बाह्य सृष्टि के निरीक्षण के लिए सैर-सपाटे करने की दृष्टि से काफी समय भी निकाल लेता है, इधर से उधर हजारो मीलो की भागदौड भी कर

पौषधव्रताभ्यासी आध्यात्मिक व्यक्ति न तो किसी के प्रति द्वेष रखता है, न प्रतिशोध की भावना। इसी कारण पीडादायक परिस्थितियाँ आने पर वह घबराता नहीं, धैर्य और शान्ति से सामना करता है, वह कष्टदायक परिस्थितियो को अपने आध्यात्मिक जीवन की परीक्षा समझता है। वह मन-वचन-काया से अध्यात्म के आदर्शों के प्रति वफादार रहता है।

पौषधव्रती उपसर्गों से विचलित नहीं होता

आध्यात्मिक जीवन के आदर्शो मे विश्वस्त एव अभ्यस्त व्यक्ति सबसे पहले बुराइयो की खोज अपने अन्दर करता है। वह निमित्तो को दोष न देकर अपने उपादान को ही देखता है। यदि कोई उसके साथ बुराई करता है तो आध्यात्मिक व्यक्ति उसका दोष बुराई करने वाले को प्राय नही देता, वह उसका कारण अपने अन्दर खोजता है कि अवश्य ही मुझ मे कोई न कोई त्रुटि, बुराई या कमी है, मेरे अन्दर ही कोई न कोई निर्बलता है, तभी अमुक व्यक्ति का साहस मेरे साथ ऐसा करने का हुआ। इसी खोज या आत्म-निरीक्षण करने के फलस्वरूप वह उसके कारण को ढूँढ निकालता है और उसका निवारण करके निष्कटक हो जाता है। अपने अन्दर क्या और कौनसी दुर्बलता है? इस बात को बहुत ही कम साधक जान पाते हैं। इसलिए आत्मा के प्रतिलेखन और प्रमार्जन के लिए प्रत्येक गृहस्थ श्रावक को प्रति-दिन और विशेषत चार पर्व तिथियो को तो पौषधव्रत स्वीकार करके आत्म-निरीक्षण—आत्मालोचन करते रहना चाहिए।

महात्मा गाँधीजी इस प्रकार के आत्मा के प्रतिलेखन (निरीक्षण) एव प्रमार्जन (आत्मशुद्धि) से अभ्यस्त थे। इसी कारण उन्होने अपनी मनोभूमि को क्रोधादि आवेशरहित बना लिया था। दक्षिण अफ्रीका मे उन पर बडे-बडे अत्याचार किए गए। उन्हे मारा-पीटा और धकेला गया, उन पर गालियो और अपशब्दो की बौछार हुई, उन्हे रेल और जहाज पर से बलपूर्वक नीचे उतार कर अपमानित किया गया, पर उन्होने न तो कभी किसी पर क्रोध किया और न ही किसी को भला-बुरा कहा, बल्कि अपना आत्मनिरीक्षण आत्मस्वरूप चिन्तनपूर्वक करते रहे। इस प्रकार की आत्मशक्ति उन्होने प्राप्त कर ली थी, आत्मचिन्तन की साधना से। इस प्रकार का आध्यात्मिक व्यक्ति मन-वचन-काया से किसी का भी अहित नही करता, न किसी के प्रति द्वेष-दुर्भाव रखता है।

आत्मा के पोषक इस पौषधव्रत को स्वीकार किये हुए गृहस्थ साधक के सामने भी चाहे जितनी भौतिक विपत्तियाँ, कष्ट, सकट या शास्त्रीय भाषा मे उपसर्ग क्यो न आएँ, वह उनसे विचलित नही होता। उसकी आत्म-शक्ति इतनी प्रबुद्ध एव समृद्ध होती है कि वह मन-वचन-काया से कभी किसी पर द्वेष, दुर्भाव, आवेश या रोष नही करता, न किसी का अहित करता है। उपासकदशागसूत्र मे कामदेव श्रावक का वर्णन आता है। जब कामदेव श्रावक अपनी पौषधशाला मे पौषधव्रत

धारण करके इसी प्रकार की विशिष्ट साधना मे लीन थे, तभी एक देव उन्हे आत्मभाव मे विचलित करने आया। उसने कामदेव के शरीर पर दैवी उपसर्ग (कष्ट) भी दिये, उनके मन मे क्षोभ पैदा करने के लिए कुछ अनिष्टतम करतब भी दिखाए, परन्तु वे आत्मभाव से विचलित न हुए। घोरतम सकटो के समय भी मन को अखण्ड शान्ति मे स्थिर रखना पौषधव्रत की सिद्धि है। ऐसी आत्म-शक्ति पौषधव्रत से प्राप्त हो जाती है।

वर्तमान युग के मनुष्यो मे आत्मशक्ति का ह्रास होता जा रहा है, जरा-सा भी भय या प्रलोभन का प्रसग उपस्थित होते ही वे डगमगा जाते है, उसका कारण है—पौषधव्रत के अभ्यास का अभाव।

उस समय के पौषधव्रतधारियो के आत्मबल के प्रभाव के अनेक उदाहरण शास्त्रो मे मिलते है। और तो और, तीन उपवास से युक्त पौषधव्रत श्रीकृष्णजी जैसे महापुरुषो ने लौकिक कार्य के लिए किया, उसका भी प्रभाव दिव्य शक्तियो पर पड गया था। यह पौषधव्रत से प्राप्त अलौकिक आत्मबल का ही प्रभाव था? वर्तमान युग के मानव, विशेषत श्रावक इस आत्मबल के अभाव मे आत्महीनता एव दीनता के शिकार हो रहे है। यदि वे पौषधव्रत की आराधना नियमित रूप से करते रहे तो इस प्रकार की प्रचण्ड आत्मशक्ति उनमे भी प्रकट हो सकती है। दियासलाई मे आग प्रच्छन्नरूप से पडी होती है, लेकिन उसे रगडे बिना वह आग प्रकट नही हो पाती, वैसे ही मनुष्य की आत्मा मे आत्मशक्ति तो प्रचुर मात्रा मे भरी पडी है, लेकिन उसे प्रकट करने के लिए पौषधव्रत ग्रहण करके बार-बार आत्म-चिन्तन की रगड लगाने की जरूरत है।

बाह्यस्वरूप प्रकार और विधि

पौषधव्रत के अन्तरगस्वरूप पर तो काफी प्रकाश डाला जा चुका है, अब मैं उसके बाह्यस्वरूप पर प्रकाश डालूंगा।

आवश्यकसूत्र के वृत्तिकार पौषधोपवास का लक्षण इस प्रकार बताते है—'धर्म एव अध्यात्म को पुष्ट करने वाले विशेष नियम धारण करके उपवास सहित पौषध मे रहना।'[1] कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य इसे विशेष स्पष्ट करते हुए कहते है—

> चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि कुव्यापारनिषेधनम्।
> ब्रह्मचर्यक्रियास्नानादित्याग पौषधव्रतम् ॥८५॥

—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या, ये चार पर्व दिवस है। इनमे उपवास आदि तप करना, पापमय कार्यों का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नान आदि शरीर शृ गार-प्रसाधन का त्याग करना पौषधव्रत कहलाता है।

---

1 पौषधे उपवसन पौषधोपवास, नियमविशेषाभिधान चेद पौषधोपवास।

पौपधव्रत के इस बाह्य लक्षण मे पौपध कब करना चाहिए ? वह कितने प्रकार का है ? उसमे क्या करना चाहिए ? वह मोटे तौर पर बता दिया है। वैसे तो पौपध की साधना के लिए काल का प्रतिबन्ध नही है, परन्तु कम से कम चार पर्वों मे तो पौषध अवश्य करना चाहिए। पौपध मुख्यतया चार प्रकार का है—आहारपौषध, शरीरपौपध, ब्रह्मचर्यपौपध और अव्यापारपौपध।[1]

आहार को त्याग करके धर्म का पोषण करना आहारपौपध है। यह देखा जाता है कि प्रतिदिन आहार करने से शरीर विकारो का घर बन जाता है, कई प्रकार के रोग अड्डा जमाने लगते है, जिनसे धर्मकार्य मे अडचनें आती है। आहार करने पर नीहार भी करना पडता है, आहार की सामग्री लाने, पकाने, खाने, पचाने आदि मे काफी समय का व्यय होता है। प्राय आहार करने पर पेट भर जाने से इतना अच्छा आत्मचिन्तन नही हो सकता, जितना कि निराहार एव खाली पेट रहने से हो सकता है। फिर आहार से उत्पन्न रोगादि विकारो को शमन करने एव आहारादि मे लगने वाले समय को बचाकर धर्मपोपण मे लगाने हेतु चारो प्रकार का आहार त्याग (उपवास) करना आवश्यक है। अत **आहारत्याग-पौषध** करने से धर्मध्यान मे आठ प्रहर लगाये जा सकते हैं।

स्नान, विलेपन, उबटन, पुष्प, तेल, गन्ध, आभूपण आदि से शरीर को सजाने सवारने का त्याग करके धर्माचरण मे लगाना **शरीरपौषध** है। यह पौपध भी आंशिक एव पूर्ण दो प्रकार का है।

सब प्रकार के मैथुन और मैथुनाग का त्याग करके ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) मे रमण (विचरण) करना, आत्मचिन्तन करना **ब्रह्मचर्य-पौषध** है।

पौषध का चौथा प्रकार है—**अव्यापारपौषध**। अव्यापारपौषध से मतलब है—आजीविका के लिए जो व्यवसाय, कारखाना नौकरी आदि है, उनका तथा अन्य सावद्य प्रवृत्तियो का त्याग करना अव्यापारपौषध कहलाता है।

ग्यारहवाँ व्रत प्रतिपूर्ण पौपध कहलाता है। प्रात काल सूर्योदय के बाद जिस समय पौपध स्वीकार किया जाय, दूसरे दिन सूर्योदय के बाद उसी समय तक पौपध-वृत्ति मे रहना प्रतिपूर्ण पौपध कहलाता है। अर्थात् आठ प्रहर का पौपध ही प्रतिपूर्ण पौपध कहलाता है।

पौपधव्रत का स्वीकार करने के लिए श्रावक-श्राविका को सर्वप्रथम धर्मस्थानक मे पौपध के योग्य वस्त्र, धर्मोपकरण आदि लेकर उपस्थित होना चाहिए। तदनन्तर धर्मस्थानक मे साधु या साध्वीजी हो तो उनसे पौपधव्रत स्वीकार करना चाहिए।

---

१ पोसहोववासे चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा—आहारपोसहे, सरीरपोसहे, बभचेरपोसहे, अव्वावारपोसहे।

पूर्वोक्त दृष्टिकोण के अनुसार पौषधव्रत स्वीकार करने वाले गृहस्थसाधक का जीवन पौषधकाल तक साधु-सदृश हो जाता है। इसलिए उसे वैसे ही कार्य करने चाहिए, जो पौषधव्रत की मर्यादा मे हो, जिन्हे करने से पौषधव्रत का उद्देश्य पूरा हो। पौषधव्रतधारी को कोई भी ऐसी सावद्य प्रवृत्ति नही करनी चाहिए, जो व्रतभग करने वाली हो। यही कारण है कि शास्त्रो मे पौषधव्रत ग्रहण करने के वर्तमान पाठ मे त्याज्य बातो का उल्लेख भी मिलता है—

"ग्यारहवां पडिपुण्ण पोसहवय, सव्व असणं पाण खाइम साइम चउव्विहंपि आहार पच्चक्खामि, अबम्भसेवणं पच्चक्खामि, अमुकमणिहिरण्ण-सुवण्ण-माला-वण्णग-विलेवण पच्चक्खामि, सत्थमुसलाई सव्वसावज्ज जोग पच्चक्खामि, जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि, दुविह तिविहेण, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, तस्स भते पडिक्कमामि, निदामि, गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।"

अर्थात्—"भते! मैं ग्यारहवां प्रतिपूर्ण पौषधव्रत अगीकार करता हूँ। समस्त अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य रूप चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ, अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग करता हूँ, अमुक मणि, सोना, चाँदी, माला, वर्णक (चूर्ण-पाउडर) विलेपन का त्याग करता हूँ, शस्त्रमूसल आदि समस्त सावद्य योगो का त्याग करता हूँ। ये सब प्रत्याख्यान (त्याग) एक अहोरात्रि तक के लिए मन-वचन-काया से करता हूँ। इन्हे मैं स्वय नही करूँगा, न दूसरे से कराऊँगा। भगवन्! मैं पूर्वकृत पापो का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा और गर्हा करता हूँ, अपनी आत्मा को उनसे अलग करता हूँ।"

आचार्य समन्तभद्र ने पौपधोपवासव्रत को प्रोषधोपवास कहकर उसकी विधि बताई है—'चार प्रकार के आहार का स्वेच्छा से त्याग करके शरीर का अलकार, आरम्भ, सुगन्धितपुष्प, स्नान, विलेपन, सुगन्धित पदार्थों का सेवन, तथा पाँच पापो का उपवास मे त्याग (परिहार) करे। रुचिपूर्वक कानो से धर्मामृत का स्वय पान करे, दूसरो को पान कराए। उपवास मे आलस्यरहित होकर ज्ञान-ध्यान परायण रहे।'

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रोपधोपवासव्रत के सम्बन्ध मे एक नया चिन्तन दिया है—समस्त आरम्भो से मुक्त होकर देह आदि के प्रति ममत्व का त्याग करके पहले आधे दिन से उपवास ग्रहण करे, फिर एकान्त वसति (निवासस्थान) मे जाकर, समस्त सावद्ययोगो का परित्याग करके, समस्त इन्द्रिय विपयो से विरत होकर, मन-वचन-काया की गुप्तियो से युक्त होकर दिन को धर्म-ध्यान परायण होकर व्यतीत करे। फिर सान्ध्यविधि करके पवित्र सस्तारक (बिछौने) पर स्वाध्यायरत होकर निद्रा को जीतता हुआ रात्रि व्यतीत करे। प्रात उठकर तात्कालिक क्रियाकलाप करके यथोक्त प्रासुक द्रव्यो से वीतराग उपासना करके यत्नपूर्वक तृतीय दिन का आधा भाग व्यतीत करे। इस प्रकार जो साधक १६ प्रहर तक समस्त सावद्य व्यापार से मुक्त होकर बिताता है, निश्चय ही उसकी अहिंसा परिपूर्ण हो जाती है। इसी प्रकार

समिति) से युक्त निस्पृह साधु-साध्वियो को कल्पनीय एव ग्राह्य आहार आदि दान देने के लिए विभाग करना यथासविभाग है ।[1]

जो नि स्पृह त्यागी श्रमण-श्रमणी स्वपरकल्याणसाधना के लिए सासारिक खटपट का त्याग करके अपने जीवननिर्वाह के लिए यथालाभ सन्तोपपूर्वक महाव्रत-तप-सयम-पालनार्थ गृहस्थो के यहाँ अपने लिए बने हुए या प्राप्त किये हुए साधन—आहार-वस्त्र आदि मे से अपने कल्पानुसार एषणासमितिपूर्वक ग्रहण करते है । ऐसे साधुओ को अपने कल्प, नियमानुसार उनके जीवननिर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुएँ देता है, मुनि-महात्माओ को उन उपकरणो या साधनो (आहारादि) से प्रतिलाभित करता है, तथा प्रतिलाभित करना अपना कर्तव्य समझकर व्रत (सकल्प) ग्रहण करता है, उसी का नाम अतिथिसविभागव्रत है ।

बारहवें व्रत के चार अग

अतिथिसविभागव्रत के माध्यम से दान देते समय चार अगो का ध्यान रखना अनिवार्य बताया है—(१) विधि, (२) द्रव्य, (३) दाता और (४) पात्र ।[2] इन चारो विशेपताओ से युक्त दान ही उत्कृष्ट सुपात्रदान हो सकता है । दान देने से पूर्व दाता के हृदय की भावना को टटोला जाता है कि वह किसी लोभ, भय, स्वार्थ या अन्ध-विश्वास से प्रेरित न हो, अनादर या अवज्ञापूर्वक न दिया जाय, अथवा ४२ दोषो से रहित निर्दोप, कल्पनीय आहार अभ्युत्थान सत्कार आदि विधिपूर्वक दिया जाय तथा जो द्रव्य आधाकर्म आदि १६ दोषो से रहित, मुनियो के तप-सयम का सहायक व वर्द्धक हो, वही द्रव्य शुद्ध माना जाता है ।

दाता वह शुद्ध कहलाता है, जिसमें किसी स्वार्थ, लोभ, प्रसिद्धि या प्रतिफल की भावना न हो, जिसके हृदय मे साधु-सन्तो के प्रति भक्ति-श्रद्धा हो । पात्र वही शुद्ध है, जो घरबार, कुटुम्ब, जमीन-जायदाद आदि समस्त छोडकर तप त्यागमय सयमपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हो, तथा सयम पालन करने हेतु ही दान लेते हो ।[3]

इस प्रकार चार अगो सहित विचारपूर्वक सयमी पुरुषो को दान देना उत्कृष्ट सुपात्रदान है । इस प्रकार के उत्कृष्ट सुपात्रदान का महत्व जैनागमो मे कई जगह बताया गया है । ऐसे सयमी पुरुपो का योग मिलने पर उन्हे शुद्ध भाव से दान देना उत्कृष्ट सुपात्रदान है ।

---

१ 'यथासिद्धस्य—स्वार्थे निर्वर्तितस्येत्यर्थ अशनादि समितिसगतत्वेन पश्चात्कर्मादि दोपपरिहारेण विभजन साधवे दानद्वारेण विभागकरण यथासविभाग ।'

—आवश्यकवृत्ति

२ 'विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेपात् तद्विशेप '। —तत्त्वार्थसूत्र

३ दव्वसुद्धेण दायगसुद्धेण, पत्तसुद्धेण । —विपाकसूत्र १-१

सुपात्रदान का फल

सुखविपाकसूत्र मे सुबाहुकुमार के द्वारा ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र दान देने का उल्लेख है। गौतमस्वामी भगवान महावीर से पूछते है—"भगवन् ! यह सुबाहुकुमार मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय, सौम्य, वल्लभ और सुन्दर प्रतीत होता है। दूसरे मनुष्यो को भी ऐसा ही लगता है। अत प्रभो ! सुबाहुकुमार को ऐसी ऋद्धि-सिद्धि, मानव सम्पत्ति कैसे प्राप्त हुई ?"

भगवान् महावीर ने सुबाहुकुमार के पूर्वजन्म का वर्णन करते हुए कहा—"गौतम ! सुबाहुकुमार ने अपने पूर्वजन्म मे सुदत्त नामक अनगार को मासक्षमण (मासिक उपवास) के पारणे मे शुद्ध भाव से भक्ति बहुमानपूर्वक दान दिया था। उसी कारण मे सुबाहुकुमार को ऐसी आश्चर्यजनक मानवीय सम्पत्ति प्राप्त हुई है।"

वास्तव मे ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र मुनि का योग मिलने पर उत्कट भावो से दान देना या दान देने की भावना रखने का शुभ फल शास्त्रो मे बताया है । ऐसे निस्पृह-दाता और निस्पृह पात्र दोनो सुगति प्राप्त करते है।[1]

अपने उत्कृष्ट रूप पर नगर निवासिनी स्त्रियो को मुग्ध होते तथा उससे अनर्थ होते देखकर बलभद्र मुनि ने यह सकल्प कर लिया कि मुझे ग्राम या नगर मे नही रहकर अपनी सयम यात्रा जगल मे एकान्त मे बितानी है। जिस दिन मासक्षमणव्रत का पारणा होता, उस दिन वे भिक्षापात्र लेकर भिक्षा के लिए निकलते। एक मृग, जो मुनि की यह चर्या देखकर बहुत प्रभावित हो गया था, मुनि को निर्दोष भिक्षा दिलाने के लिए शुद्ध आहार की तलाश मे वह उत्साहपूर्वक चल पडा। उसने जगल मे लकडी चीरते हुए एक बढई तथा उसके साथियो के लिए बनता हुआ भोजन देखा। वह दौडता हुआ मुनि के पास आया और अपनी चेष्टा से मुनि को अपने पीछे चलने का सकेत करने लगा।

मुनि उसके सकेत को समझकर उसके पीछे-पीछे चल पडे। जहाँ बढई के लिए रसोई बन रही थी, वही वह मृग मुनि को ले गया। मुनि को आते देखकर बढई के अन्तर् मे भी श्रद्धाभक्ति उमडी। उसने मुनिवर को निर्दोष आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की। मुनि ने निर्दोष शुद्ध आहार समझकर अपने भिक्षापात्र रखे। बढई मुनि के भिक्षापात्र मे बडी उमग से आहार दे रहा था, मृग भी उत्कृष्ट भावना से उस निर्दोष भिक्षा का अनुमोदन कर रहा था, मुनि भी शुद्ध भाव से वह आहार ले रहे थे। तभी अचानक जोर की आँधी आई। वह पेड, जिसके नीचे मुनि खडे भिक्षा ले रहे थे, टूटकर एकदम गिर पडा। उससे मुनि, बढई और मृग तीनो दब गए और वही मर गए। तीनो की मृत्यु उच्च भावो मे हुई, इस कारण तीनो पचम देवलोक मे गए।

---

१ मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छति सुग्गइ। —दशवै० ५।१०।१००

साथ परलोक मे आने वाली नही है तथा परिवार मे मेरे पुत्र कमाने लायक हो गए है, तब भी उस सम्पत्ति के प्रति ममत्व रखकर वह सारी की सारी सम्पत्ति अपने लिए या अपने परिवार के लिए सचित करके न रखे, अपितु परिवार निर्वाह के लिए अमुक हिस्सा रखकर वाकी की समस्त सम्पत्ति के यथायोग्य हिस्से करके उचित सार्वजनिक सर्वहितकारी कार्यों मे लगा दे ।

अमेरिका के धनकुवेर कार्नेगी ने सचित धन को अपने पीछे छोड जाने को अपराध बताते हुए कहा है—"कोई आदमी धन कमा कर मर जाय और हरामखोरो के लिए लडने और खाने को छोड जाय—इससे वडा गुनाह और कोई नही । मैं कसम खाकर कहता हूँ कि अपनी जिन्दगी मे ही मैं अपने सारे धन को परोपकार मे लुटा दूँगा ।"

आनन्द आदि यथासविभागव्रती श्रमणोपासको ने जब देखा कि अब हमारी उम्र पक गई है, वृद्धावस्था आ पहुँची है, पुत्र सयाने और गृहभार सँभालने मे कुशल हो गए हे तो अपने समाज के एव कुटुम्ब के सभी प्रतिष्ठित व्यक्तियो को बुलाकर उनकी उपस्थिति मे अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंपकर तथा अपनी सम्पत्ति का यथोचित वितरण करके निश्चिन्त हो गए और श्रावक प्रतिमा अगीकार कर ली, अपने आजीविकादि कार्यों से निवृत्त हो गए, एकमात्र धर्माराधना एव परोपकार के कार्यो—जनसेवा कार्यो मे ही अपना जीवन विताने लगे ।

कितना अनूठा और उच्च आदर्श था श्रावको के जीवन का वह ! इस उच्च आदर्श की परम्परा जब गृहस्थ श्रावक अपने जीवितकाल मे डाल देते थे, तब उनके पुत्र-पौत्र भी उसी आदर्श का अनुकरण करते थे । कितनी सुन्दर प्रेरणा वे श्रावक अपने पीछे आने वाली पीढी के लिए छोड जाते थे । वे जीवन के सन्ध्याकाल मे भोगो के कीडे बनकर आरम्भ और परिग्रह मे डूबे नही रहते थे, बल्कि गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी यथासविभाग करके जल-कमलवत् निर्लेप रहते थे । और धर्माराधना एव आत्मसाधना करते हुए अपना शरीर हँसते-हँसते पण्डितमरणपूर्वक छोड देते थे ।

निष्कर्ष यह है कि यथासविभागव्रती को अपने जीवन के सन्ध्याकाल मे अपने गार्हस्थ्य एव व्यवसायादि का समस्त भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौपकर तथा अपनी समस्त सम्पत्ति का परिवार एव समाज आदि के लिए यथायोग्य सविभाजन कर देना चाहिए । यही इस बारहवें व्रत का आदर्श है ।

राजप्रश्नीय सूत्र मे वर्णन है कि राजा प्रदेशी ने केशीकुमार श्रमण से प्रतिबोध पाकर श्रावकव्रत अगीकार करने के बाद यह सकल्प किया था कि "मैं अपने राज्य की समस्त आय के अनुसार अपनी सम्पत्ति के चार विभाग करूँगा । एक भाग राज्य-सचालन कार्य में, एक भाग परिवार निर्वाह के लिए, एक भाग कोष मे और एक भाग दानशाला मे व्यय किया करूँगा, जिससे श्रमण, माहण आदि पथिको और अतिथियो को उनके जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुएँ मिला करें ।" इसके बाद प्रदेशी

राजा ने अपने अन्तिम जीवन मे सम्पत्ति के इस प्रकार चार विभाग करके धर्माराधना मे अपना शेष जीवन लगा दिया। आनन्द, कामदेव, राजा प्रदेशी आदि के जीवन यथासविभागव्रत के आदर्श उदाहरण हैं।

भारतीय धर्म एव सस्कृति मे पहले से बहुत-से मनीषी अपने जीवन के सन्ध्या-काल मे अपनी सम्पत्ति का यथायोग्य विभाजन कर देते थे। कई लोग अपनी सम्पत्ति के उचित वितरण के लिए एक वसीयतनामा समाज के नाम लिख जाते थे।

प्रसिद्ध साहित्यकार एव दैनिक 'मराठा' के सम्पादक आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे अपने पीछे एक उदार वसीयतनामा लिख गये हैं। अपनी लाखो रुपयो की सम्पत्ति का उचित उपयोग हो, इस इच्छा से प्रेरित होकर अत्रे ने काफी दिनो से विचार कर लिया कि मेरे परिवार के उत्तराधिकारी सदस्यो को तो अपनी सम्पत्ति का वही भाग देना चाहिए, जो उनके लिए आवश्यक हो। जो सम्पत्ति बिना परिश्रम के प्राप्त हो जाती है, जिसमे पसीना नही बहाना पडता, उसके व्यय के समय भी प्राय विवेकशीलता से काम नही लिया जाता और थोडे ही समय मे लाखो की सम्पत्ति चौपट कर दी जाती है। आचार्य अत्रे के विशाल हृदय एव व्यापक दृष्टिकोण के कारण उनका परिवार अपने भाई-भतीजे और पत्नी तक ही सीमित न था। वह सम्पूर्ण वसुधा को एक कुटुम्ब मानते थे। अत उस कुटुम्ब के सदस्यो की सहायता करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य होना चाहिए, इसी भावना ने उन्हे विवश कर दिया कि जीवनभर की सचित पूँजी केवल अपने ही कहे जाने वाले पारिवारिक सदस्यो पर खर्च न की जाय, वरन् उसका बहुत बडा भाग उन लोगो पर खर्च किया जाय, जिन्हे सचमुच आवश्यकता है।

आचार्य अत्रे ने अपने वसीयतनामे मे स्पष्ट लिखा है—"मुझे कोई भी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त नही हुई थी। मैंने अपने परिश्रम से ही सारी सम्पत्ति अर्जित की हे, जिस पर मेरा अधिकार है। मैंने जो प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी बनाई है, उसमे भी किसी का नाम नही है। अत मैं अपनी सम्पत्ति महाराष्ट्र की जनता को सौंपता हूँ।"

इस प्रकार आचार्य अत्रे ने महाराष्ट्र की जनता हेतु लगभग ५० लाख रुपये का दान दे दिया। श्री एस ए डागे, डी एम देसाई, बैंकिंग विशेषज्ञ श्री बी पी वरदे तथा अपने निजी मित्र रावसाहब कलके को ट्रस्टी बना दिया। वसीयतनामे मे उन्होने यह इच्छा भी प्रगट की है कि 'मराठा' और 'साज मराठा' का एक कर्मचारी भी ट्रस्टी रखा जाए, जिसका सेवाकाल दश वर्ष से कम न हो।'

शिक्षा प्रेमी अत्रे ने अपने गाँव के स्कूल के लिए ५ हजार रुपये के दान की तथा पूना विश्वविद्यालय मे मराठी लेकर बी ए मे उच्च अक प्राप्त करने वाले छात्रो को पाँच हजार रुपये के पुरस्कार की व्यवस्था की है। लाखो रुपयो की सम्पत्ति की देखभाल के लिए प्रत्येक ट्रस्टी को काफी समय देना होगा, यह सोचकर उन्होंने दो ट्रस्टियो को पाँच-पाँच सौ रुपये प्रतिमास वेतन लेने का वसीयत मे लिखा है, तथा

एकदम जागृति आती है। धर्म के पूर्व-सस्कारो के कारण उसे अपने जीवन की आलोचना, प्रतिक्रमण, आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप), गर्हा आदि करके आत्मशुद्धिपूर्वक आमरण अनशन (सथारा) करने की सुन्दर स्फुरणा उत्पन्न होती है और वह जिंदगी की बिगडी हुई बाजी को अन्तिम समय मे सुधार लेता है।

चण्डकौशिक सर्प का यही तो हुआ था। वह जिंदगीभर क्रोध, अभिमान और उग्र विष के कारण दूसरो को पीडित करता रहा, सताता रहा, स्वय भी जीवन के खेल को बिगाडता रहा, जीवन के खेल मे बार-बार हारता रहा, किन्तु जब भगवान् महावीर जैसे क्षमामूर्ति विश्ववत्सल तीर्थंकर का समागम हुआ। चण्डकौशिक ने पहले तो अपनी क्रूरवृत्ति के अनुसार पूर्ववत् उनके अगूठे मे दश दिया। परन्तु उन्हे अविचल, दृढ और निर्भय पाया तो वह विस्मय-विमुग्ध होकर उन्हे टकटकी लगा कर देखने लगा। भगवान महावीर ने उपयुक्त समय जानकर उसे बोध दिया, वह एकदम मोहनिद्रा से जाग उठा। पूर्वजन्म के सस्मरण उसके समक्ष आने लगे, और उसने उसी समय दृढसकल्प कर लिया कि "मैं अब कषायो और शरीर को कृश करने की सलेखना क्रिया करके अपनी बाँबी मे मुँह डाल लूँगा, किसी को काटूँगा नहीं, बल्कि जो जीव मुझे सताएँगे, काटेंगे, उन्हे भी क्षमा कर दूँगा। समस्त जीवो का मैं अपराधी बना, अब उनसे क्षमा मांगूगा, पुन अपराध नहीं करूँगा।" बस, सर्प के चोले मे, चण्डकौशिक परमक्षमाधारी समभावी साधु-सा बन गया। सलेखना के प्रभाव से समाधिमरणपूर्वक उसने अपना शरीर ममत्वरहित होकर छोडा। जिंदगी की हारी हुई बाजी अन्तिम समय मे जीत ली।

और यही बात मखलीपुत्र गोशालक के जीवन मे चरितार्थ हुई। वह जीवनभर भगवान महावीर का विरोधी बनकर, साम्प्रदायिक व्यामोह, नाम और प्रतिष्ठा की आसक्ति के चक्र मे फँस कर अपनी जिंदगी की बाजी को हारता रहा, हारता रहा, किन्तु अन्तिम समय मे उसे हार्दिक स्फुरणा हुई—"तूने यह क्या और किसलिए इतना उखाड-छाड किया ? शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ के लिए ही तो ? आत्मा से इनमे से किसी भी वस्तु का सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को तो इनसे कोई लाभ नहीं है, बल्कि शरीर से सम्बद्ध होने के कारण हानि ही हानि है। अत मुझे अपने जीवन की अन्तिम बाजी को अब हारना नहीं चाहिए।" यह सोचकर गोशालक के मन मे भगवान् महावीर के प्रति सद्भावना और श्रद्धा जागी। उसने मन ही मन घोर पश्चात्ताप किया और आत्म-निन्दा करके ही न रह गया, उसने अपने तथाकथित समाज के सामने अपने अपराधो और दोषो को प्रगट (गर्हा) किया, शारीरिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि चलकर उन-उन व्यक्तियो से अपने अपराध के लिए क्षमा मांगता, किन्तु पश्चात्तापपूर्वक हृदय से क्षमायाचना की, और अपने अनुयायियो से कहा कि "मेरा शरीर छूट जाने के बाद इसे बाँध कर इस पर कोडो मे प्रहार करना, ताकि जनता को मेरे अपराधो और दम्भो का पता लग जाय।" इस प्रकार मखलीपुत्र गोशालक अन्तिम समय मे समाधिमरणपूर्वक इस लोक से विदा हुआ। निष्कर्ष यह

है, गोशालक ने पहले निष्फल हुई जिंदगी अन्तिम समय मे सफल बना ली, अपनी बिगडी हुई बाजी को सुधार लिया।

एक ओर ज्ञातासूत्र के पृष्ठो पर अकित नन्दन मणिहार का जीवन हमारे समक्ष है। उसका पूर्वजीवन बहुत ही सुन्दर रहा, श्रावकव्रत धारण करके वह व्रताराधना करता रहा, किन्तु बीच मे ही मिथ्यात्व का प्रबल अधड उसके जीवन मे आया, और उसी दौरान जब उसने अट्ठम पौषध किया, उसमें उस सुन्दर जीवन को पौषध मे अकरणीय सकल्प करके असुन्दर बना दिया। तत्पश्चात् विशाल बावडी बनाकर अपने नाम और प्रतिष्ठा के व्यामोह मे तथा रुग्ण शरीर के प्रति मोहममत्व मे ऐसा फँसा कि अन्तिम समय मे अपनी बनाई हुई बावडी एव उसके कारण मिलने वाली गाढ प्रतिष्ठा मे आसक्त मूर्च्छित होकर जीवन की बाजी हार गया। इतने दान और परोपकार के साथ प्रशसा की भूलभुलैया मे पडकर तथा शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों के प्रति मोह-ममत्व मे फँसकर नन्दन अपना अन्तिम समय न सुधार सका, सलेखना-सथारा करके समस्त मोहमाया से रहित होकर समाधिपूर्वक मृत्यु को अगीकार न कर सका। इसीलिए तो जीवन की बाजी खो दी।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि सारे जीवन का लेखा-जोखा, या आँकडा मृत्यु के समय मनुष्य के सामने आ जाता है। वही मनुष्य के जीवन की हार या जीत की अन्तिम बाजी है, वही मानव की सफलता असफलता की अन्तिम कसौटी है, अपने जीवन मे पढे हुए अच्छे-बुरे पाठ की अन्तिम परीक्षा मृत्यु के समय हो जाती है।

यो तो प्रत्येक मनुष्य की परीक्षाएँ जीवन मे कई बार होती है। एक ही जन्म मे मनुष्य के सामने कई बार नाना प्रकार की विपत्तियाँ आती है, कई बार जीवन मे निराशा का घोर अन्धकार छा जाता है, सकट के काले बादल उमड-घुमड कर आते है, आधि-व्याधि-उपाधि के रूप मे कई बार कष्टो का समूह आता है, कभी व्यवसाय-सम्बन्धी चिन्तायुक्त स्थिति के, आर्थिक तगी के या इष्टजन या प्रिय पदार्थ के वियोगजन्य प्रसग उपस्थित होते है। कभी कोई आकस्मिक दुर्घटना हो जाती है, वृद्धावस्था मे शरीर एकदम अशक्त या शिथिल हो जाता है, अथवा किसी भयकर रोग का शिकार हो जाना है। ये सब वेदनाएँ, आपत्तियाँ, सकट, दुख या निराशाएँ मनुष्य के जीवन की बार-बार परीक्षा लेने के लिए आती है। इन सब परीक्षाओ मे ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक, वास्तविक स्थिति का समभावपूर्वक सामना करने या परीक्षा मे नकल करने वाले विद्यार्थी की तरह असल या बहाना बनाकर औपचारिक रूप मे उत्तीर्ण पास हो जाने पर ही आगे की कक्षा मे वह प्रविष्ट हो पाता है। किन्तु मृत्यु रूपी परीक्षा तो अन्तिम परीक्षा है। इन परीक्षा मे अगर पिछला पाठ कच्चा हो, पहले की परीक्षा मे नकल करके पास हुआ हो, या अज्ञानपूर्वक उस कष्ट या आफत को सहकर आगे बढा हो, तो वह परीक्षार्थी फेल हो जाता

का फैसला करके ही जाती है। जीवनकाल में आने वाली कसौटी विपत्ति आदि के रूप में आती है, उसका असर किसी समय अल्पकाल तक तो किसी समय दीर्घकाल तक जीवन में रहता है। किन्तु आराधक पुरुष यदि जीवितकाल में आने वाली विपत्ति और आपत्ति का परम रहस्य समझ ले तो वह उनसे धर्मसम्पत्ति का लाभ प्राप्त कर सकता है और मृत्यु आने से पहले ही धर्मशिक्षा पाकर पूर्व-तैयारी के रूप में अपनी आध्यात्मिक स्थिति सुदृढ़ बना सकता है। इस अपेक्षा से देखें तो संसार में जितनी भी विडम्बनाएँ, मुसीबतें और आफतें हैं, वे सब साधक की परीक्षा करने आती हैं कि वह ऐसे मौके पर क्या करता है? कौन-सा कदम उठाता है? आराधक के लिए ये सब कसौटियाँ बोधदायक हैं, और वह उनसे बोध प्राप्त कर संसार-सागर पार कर जाता है। बाकी के समस्त विराधक जीव तो देह के प्रति ममत्वबुद्धि रखकर, अपने शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं पर मूर्च्छित-आसक्त होते हुए ही इस लोक से विदा होते हैं।

मृत्यु साधक के लिए जबर्दस्त कसौटी है, इसका अर्थ यह नहीं है कि मृत्यु के समय ही असातावेदनीय कर्म के उदयवश भयंकर दुःख, वेदना पीड़ा सहन करनी पड़ती है, वैसे भयंकर दुःख आदि तो जीवितकाल में भी असातावेदनीयकर्म के उदय में भोगने पड़ते हैं। परन्तु मृत्यु की घड़ियों में आत्मा कितनी शान्ति और समता रख सकता है? समभावना का कितना सहारा लेता है? परमात्मा अथवा शुद्ध आत्म देव को कैसा और कितना स्मरण रखता है? देहत्याग की कसौटी की वेला में देहात्म-बुद्धि कितनी कम है? इस कसौटी को ही ज्ञानी पुरुष जबर्दस्त कसौटी कहते हैं। यही सफलता और असफलता का मूलाधार है। जीवन की अन्तिम घड़ियों में जब आत्मा शरीर से विदाई ले रहा हो, तब शरीर से आत्मा का उपयोग छूट जाय, समता और शान्ति सुरक्षित रहे तो समझना चाहिए कि इस (मृत्यु की) कठोर परीक्षा में साधक सफल हुआ है, यदि शरीर छूटते समय आत्मा का उपयोग देह-मोहवश देह में चिपटा रहे तो समझ लो इस परीक्षा में साधक निष्फल हुआ है। ऐसे मरण तो अनेकानेक बार हुए हैं, परन्तु उस समय आत्मा का उपयोग 'पर' में ही लीन रहा, इस कारण जन्म-मरण के अनेक चक्कर लगाने पड़े हैं।

यही कारण है कि इस कठोर अग्निपरीक्षा के समय सच्चा साधक तो नहीं मरता, वह प्रतिक्षण सावधान और जागरूक रहता है। यों तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो जिस रात्रि को जीव माता के गर्भ में आता है, उस दिन से वह ... प्रति-... रात्रि में मृत्यु की ओर प्रयाण करता जाता है।[1] जैनशास्त्रों में ... बताये गए हैं। उनमें से एक आवीचिमरण है, जिसमें प्रतिक्षण आयुष्य ...

पड़ा-पड़ा वर्षा तक सड़ता रहे, पीड़ित होता रहे, तो रोगी दशा में दुःख या पीड़ा का अनुभव अत्यधिक होता है, जबकि अकस्मात् मृत्यु आ जाने पर दुःख या पीड़ा का अनुभव नहीं होता, या अत्यन्त कम हो जाता है।

परन्तु अज्ञानी जीव मृत्यु के कल्पित भय से काँपता है, वह मृत्यु के समय अपने शरीर और शरीर से सम्बद्ध परिवार, धन, जमीन-जायदाद, मकान, दूकान, व्यवसाय आदि के प्रति मोह-ममत्व के कारण अत्यन्त दुःखी होता है, विलाप करता है, रोता है, आँसू बहाता है। साथ ही उसकी उस मोहदशाजनित वेदना को हवा देने के लिए उसके सम्बन्धीजन बार-बार मोह में प्रेरित करने वाली बातें याद दिलाते हैं।

इसीलिए ज्ञानी सम्यग्दृष्टि साधक मृत्यु को भयंकर या दुःखदायक न मान कर परम सखा, सुखद एवं उपकारी मानते हैं। और मृत्यु के कल्पित भय से भयभीत नहीं होते या अपने शरीर एवं शरीरसम्बद्ध पदार्थों के प्रति मोहजनित व्यथा से प्रेरित होकर चिन्तित या व्यथित नहीं होते। मृत्यु किसी तरह हावी होकर बाजी न बिगाड़ दे, पराजित न कर दे, इसलिए वे अत्यन्त सावधान एवं सतर्क रहते हैं। जीवन भर की साधना को वे मृत्यु के समय अप्रमत्त होकर सफल बना लेते हैं।

ज्ञानी साधक यही समझते हैं कि अगर शरीर की मृत्यु न होती तो वे कभी आगे नहीं बढ़ सकते थे। ज्ञानी साधक मृत्यु का काला पर्दा चीर कर उसके पीछे आत्मप्रकाश को देखते है, इससे वे निर्भय बन जाते हैं। मृत्युकाल की मध्य दशा अन्धकारतुल्य लगती है, परन्तु ज्ञानी के लिए वह दशा प्रकाश वाली है। पक्षी जैसे अपने पंख फड़फड़ाकर शरीर पर जमी हुई धूल झाड़ देता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष मृत्यु के समय जीवन पर लगी हुई सभी प्रकार की वासना की धूल को झाड़ कर शुद्ध एवं निर्भय हो जाता है।

ज्ञानी साधक शरीर का उपयोग घोड़े की तरह एक वाहन के रूप में करता है। वह देह आदि में आसक्ति से बँधता नहीं। मृत्यु के समय चाहे उसकी आँखें, कान, वगैरह बन्द हो जाते है, बाह्य इन्द्रियों का भान नहीं रहता, परन्तु वह अन्तर् में जागृत रहता है और मृत्युकाल में आत्मा की अनन्तगुनी शुद्धि करता है।

एक विवेकी और मृत्यु के अनुभवी व्यक्ति का उदाहरण लीजिए—

एक बार अकस्मात् उसे डबल न्युमोनिया हो गया। डॉक्टरों का इलाज शुरू किया गया। किन्तु जितना-जितना इलाज किया गया, रोग उतना ही अधिक उग्र-स्वरूप में आगे बढ़ता गया। अन्त में एक दिन सन्ध्या समय बाद देह की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। शीघ्र ही डाक्टर को बुलाया गया। डॉक्टर आये। उन्होंने हृदय, फेफड़े और नब्ज आदि की बारीकी से जाँच की और अन्त में धीमे से उसके पिताजी से कहा—"केस अत्यन्त गम्भीर है, रोगी के बचने की आशा कम है। आधे घंटे में शरीर छूट जाएगा।" रोगी डॉक्टर के शब्दों पर कान लगाए बैठा था। ये अफसोस भरे शब्द सुनकर उसे आश्चर्य हुआ, किन्तु मृत्यु का कोई भय न था।

हृदय मे शान्ति और स्वस्थता थी। थोडी देर बाद कमजोरी अत्यन्त बढ गई। हाथ-पैरो मे सचालन करने की शक्ति भी न रही। आंख खोलने जितनी भी ताकत न रही। इसके पश्चात् उक्त रोगी को ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह एक गहरे कुंए मे उतरकर, सारे जगत को विस्मृत करके चैतन्यमय आत्मदेव से सुखद मिलन के लिए प्रयाण कर रहा है। उस समय लेशमात्र भी दु ख, वेदना या घबराहट न थी। सौभाग्य से वह रोगी मृत्यु-पाश से तो बच गया। बाद मे एक दिन बातचीत के सिलसिले मे उसके पिताजी ने कहा—"बेटा! तूने तो नया ही जन्म लिया है। तुम्हे जमीन पर उतार लेने की तैयारी हो चुकी थी, क्योकि नब्ज या हृदय की धडकन बन्द हो गई थी। प्रभु की असीम कृपा से ही तू बच गया।" यह सुन कर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वह अन्तर्मन मे तो जागृत और शान्त था। उसे रह-रह कर यही विचार आता था कि क्या मृत्यु ऐसे ही होती होगी ?

ऐसी मृतप्राय स्थिति से बचे हुए या व्याधिमुक्त हुए व्यक्तियो से बाद मे उस समय का अनुभव पूछा जाता है तो उनका उत्तर लगभग मिलता-जुलता ही होता है कि ऐसे मृत्युसकटापन्न समय मे हमे किसी प्रकार की पीडा, वेदना या दु ख नही होता था।

किसी व्यक्ति के मस्तिष्क की नस टूट जाती है तो वह सहसा बेहोश हो जाता है, और उसी बेहोशी हालत मे वह कई घटो अथवा कई दिनो तक रह कर फिर शरीर छोडता है, उस दशा मे अन्तकाल का दु ख हो तो भी उसका वेदन उसे नही होता। जैसे ऑपरेशन करने से पहले बेहोश करने पर रोगी को दु ख या पीडा का भान नही होता।

यद्यपि मृत्यु के समय बेभान दशा मे मृत्यु हो जाय तो उसे एकान्तत समाधि-मरण नही कहा जा सकता। समाधिमरण तो तब कहा जा सकता है, जब अन्तिम समय मे बाहर से भान न होते हुए भी अन्तर्मन मे जागृत होता है। उसे प्रतीति-या लक्ष अथवा अनुभव होता है।

सकाममरण एव अकाममरण

मृत्यु तो सभी जीवो की अवश्यम्भावी है। चाहे वह ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी। परन्तु ज्ञानी मृत्यु की कला जानकर उसे सफल बना लेता है, जबकि अज्ञानी मृत्यु कला से अनभिज्ञ होने के कारण जीवन और मरण दोनो को असफल बना लेता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे अकाममरण और सकाममरण का बहुत ही सुन्दर विश्लेपण भगवान् महावीर ने किया है। उसी को बालमरण और पण्डितमरण कहते है। जो व्यक्ति मृत्यु का कोई विचार ही नही करता, यही सोचता है कि मैं अभी बहुत जीऊँगा, मृत्यु इतनी शीघ्र कहाँ आने वाली है ? अभी तो कामभोगो का खूब आस्वादन कर लूं, मृत्यु आएगी, तब देखा जायगा। किसने परलोक देखा है ? कोई कहने भी तो नही आया। अत हस्तगत काम-भोगो को छोड कर परलोक के कामसुखो की आशा करना

व्यर्थ है। इस प्रकार अज्ञानी जीव नि ... हिंसा, झूठ, चोरी, माया, पैशुन्य, दुर्जनता, ठगी, मद्य-मांस सेवन, स्त्रियों में आसक्ति, अनीति-अन्याय से धन कमाने की वृत्ति आदि में अहर्निश रत रहता है, जब उन अशुभ कर्मों के फलस्वरूप शरीर में व्याधि या कोई विपत्ति उपस्थित होती है तो वह अत्यन्त हायतोबा मचाता है, मरता है। मृत्यु जब सामने आकर खड़ी होती है, तब वह अज्ञानी भयभीत होकर रोता-कलपता है, पर अब क्या हो सकता है? क्योंकि पहले उस अज्ञानी ने मृत्यु विषय में कोई परवाह ही नहीं की। फिर वह पापी जीव एक बार नहीं, बार-जन्म-मरण करता रहता है और दुःख पाता रहता है। मृत्यु से पहले किसी प्रकार तैयारी न करने का यह दुष्परिणाम है।

अब सुनिए सकाममरण वाले व्यक्तियों का हाल। ऐसे महानुभाव पहले से ही अपनी तैयारी कर लेते हैं। वे जानते हैं कि मृत्यु का आना निश्चित इसलिए ऐसे कार्य न करें, जिनसे मृत्यु के समय पछताना पड़े, साथ ही वे स्वीकृत गृहस्थधर्म या मुनिधर्म के आचार-विचार का भलीभाँति पालन कर व्रतविरुद्ध कोई भी आचरण नहीं करते, क्रमशः शरीर के प्रति मोह ममत्व कम हैं। मरणान्त समय में ऐसे शीलवान एवं बहुश्रुत जन जीवन और मृत्यु रहते हैं। इस कारण मृत्यु से संत्रस्त नहीं होते।

शास्त्र में १७ प्रकार के मरण बताए हैं। वे इस प्रकार हैं[1] आवीचिम उत्पन्न होने के बाद से प्रतिक्षण आयुष्य का घटते जाना, (२) तद्भवमरण— काल में जो शरीर रूप पर्याय प्राप्त हुई है, उसका अभाव होना, (३) अव —पिछले भव में आयुष्य बन्ध करके यहाँ उत्पन्न हुआ, उस आयुष्य का हो जाना। (४) आद्यन्तमरण—सर्वतः और देशतः आयु क्षीण हो तथा दोने एक ही प्रकार की मृत्यु हो, वह। (५) बालमरण—विष, शस्त्र, अग्नि, ज पर्वत से अतिपात इत्यादि प्रकार से आत्महत्या करके मरना, अथवा र आराधनारहित अज्ञानतापूर्वक मृत्यु पाना। (६) पण्डितमरण—सम्यग्द चारित्र सहित समाधिभाव से मृत्यु पाना (७) बालपण्डितमरण—सम्यग् श्रावकव्रतों का आचरण करते हुए समाधिभाव से आयुष्य पूर्ण होना। (८ मरण—संयम व्रत से भ्रष्ट होकर मृत्यु पाना। (९) सशल्यमरण—मा और मिथ्यादर्शन इन तीनों शल्यों में से किसी भी एक अथवा तीनों शल्यों पाना, (१०) वशार्तमरण—इन्द्रियों के वश होकर कषाय, वेदना, या ह होकर मृत्यु पाना। (११) पमाय (प्रमाद) मरण—प्रमादवश होकर अ विकल्प युक्त परिणामों से प्राणों का वियोग होना। (१२) विप्रणम शील व्रतादि का निर्वाह न होने से आत्महत्या करके मरना, (१३) गृद्ध

जिसे निर्यायक (सल्लेखनासथारा कराने वाले) और दुर्भिक्ष, रोग आदि का कोई भय नही है, वह साधक भक्तप्रत्याख्यान (सलेखनासथारा) के अयोग्य है।[1]

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सलेखना मे अन्तिम समय की प्रधानता क्यो रखी गई है? इसका समाधान यह है कि भगवतीसूत्र मे तथा भगवतीआराधना आदि मे मृत्यु से सम्बद्ध यह सिद्धान्त बताया गया है कि 'जल्लेसे मरइ, तल्लेसे उववज्जइ' अर्थात् जो जीव जिस लेश्या से परिणत होकर मरण को प्राप्त होता है, वह उत्तरभव मे उसी लेश्या का धारक होकर स्वर्गादि मे उत्पन्न होता है।[2] जिस साधक ने जीवन भर अपनी आत्मा को (व्रत, चारित्र आदि की) आराधनाओ से सुसस्कृत किया था, वह अगर मरण के समय सक्लिष्ट परिणाम उत्पन्न होने से सथारे (भक्त-प्रत्याख्यान=आमरण अनशन) पर आरूढ होने पर भी वह क्षपक या श्रावक सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।[3] अथवा पूर्व जीवनकाल मे न आराधी हुई रत्नत्रय की आराधना को यदि कोई अन्तिम समय मे भी अपना ले तो वह जीव भी उसी प्रकार रत्नत्रय को अकस्मात् प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार अन्धे को खम्भे से टकराने पर नेत्र खुल जाने से भाग्यवश वहाँ से रत्नप्राप्ति हो जाती है। अन्तिम समय मे सलेखना मे एक लाभ और भी है चिरकाल से आराधन किया हुआ धर्म भी यदि मृत्यु के समय छोड दिया जाय या उसकी विराधना की जाय तो वह निष्फल हो जाता है। अत यदि मृत्यु के समय उस धर्म की आराधना कर ली जाए तो वह चिरकाल से उपार्जित पापो का भी नाश कर देता है।

सलेखना की विधि और अवधि

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार आगमोक्तविधि से शरीर और कपाय आदि को कृश करने (सलेखना) की विधि इस प्रकार है। सलेखना तीन प्रकार की है—जघन्या, मध्यमा और उत्कृष्टा। जघन्या सल्लेखना ६ महीने की होती है, मध्यमा एक वर्ष की और उत्कृष्टा होती है १२ वर्ष की। जो उत्कृष्टा सलेखना[4] है, उसमे चार वर्ष तक उपवास, वेला, तेला, चौला, पचोला आदि विभिन्न तप करे, तप के

---

१ सुचिरमविणिरदिचार विहरित्ता णाणदसणचरित्ते।
मरणे विराधयित्ता अणत ससारिओ दिट्ठो ॥१६२४॥ —भगवती आराधना

२ जो जाए परिणमित्ता लेसाए सजुदो कुणइ काल।
तल्लेसो उववज्जई तल्लेसे चेव सो सग्गे ॥१६२२॥

३ आराद्धोऽपि चिर धर्मो, विराद्धो मरणे मुधा।
सत्वाराद्धस्तत्क्षणेऽह क्षिपत्यपि चिरार्जितम् ॥१६॥ —सागारधर्मामृत

४ चत्तारि विचित्ताइ विगइ निज्जूहियाइ चत्तारि।
सवच्छरे य दोन्नि, एगतरिय च आयाम ॥९८२॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमिय च आयाय।
अवरे वि य छम्मासे होइ विगिट्ठ तवोकम्म ॥९८३॥

उत्पन्न होता है और उस भावना की सिद्धि के कारण ही यह पूर्ण बनता है। इसलिए यह स्व-हिंसा नही है।

आत्महत्या तो किसी कषायावेश का परिणाम होता है, जबकि सलेखना त्याग और दया का परिणाम है। जहाँ अपने जीवन की कोई उपयोगिता न रह गई हो, दूसरो को व्यर्थ कष्ट उठाना पडता हो, दूसरो से सेवा लेनी पडती हो, उस समय उपवास आदि द्वारा शरीर छोडना दूसरो पर दया है।

अत सलेखना-सथारा करने मे आत्मघात का दोष सम्भव नही है। यदि मरणान्त अनशन (सथारा) भी किसी ऐहिक-पारलौकिक सम्पत्ति या पदार्थ की इच्छा से, कामिनी की कामना से या अन्य लौकिक अभ्युदय की इच्छा से आसक्तिपूर्वक किया जाए या भय अथवा लोभ से किया जाए तो वह भी हिंसा हो सकता है। परन्तु जैनधर्म राग-द्वेष मोहादि से युक्त होकर मरने की आज्ञा नही देता। अत जो पुरुष विष, शस्त्र, गलपाश, अग्निप्रवेश, कूपपतन आदि प्रयोगो द्वारा प्राणनाश करता है, वह आत्महत्या करता है। ईशोपनिषद् मे स्पष्ट कहा है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता. ।
तास्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जना ॥

—जो आत्मघातीजन है, वे अत्यन्त अन्धकार से तमसाच्छन्न असूर्य लोक मे जाकर अनेक दु ख भोगते हैं।

सलेखना-सथारा दोनो मे थोडा-सा अन्तर है, कार्यकारण भाव का। सलेखना की परिणति सथारे मे होती है। जब सलेखना के द्वारा शरीर एव कषायादि कृश कर लिए जाते है, तब सहज ही सथारा ग्रहण करने मे कोई दिक्कत नही होती। सथारा समाधिमरण की अन्तिम-प्रक्रिया है। यह कभी-कभी सलेखना किये बिना ही अकस्मात् मृत्यु का अवसर प्राप्त होने पर कर लिया जाता है। समाधिपूर्वकमरण दोनो ही प्रकार की प्रक्रिया मे अभीष्ट है। जब देह और आध्यात्मिक सद्‌गुण सयम (व्रतादि)— इनमे से एक की ही पसन्दगी करने का विषम समय उपस्थित हो, तब धर्मप्राण व्यक्ति देहरक्षा की परवाह नही करता। वह सिर्फ देह की समाधिपूर्वक बलि देकर भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति की रक्षा कर लेगा। जैसे कोई सती शील रक्षा का अन्य उपाय न देखकर प्राणत्याग के द्वारा भी सतीत्व (शील) रक्षा कर लेती है, परन्तु उस अवस्था मे वह व्यक्ति समत्व रखेगा, न किसी पर रुष्ट या भयभीत होगा, न किसी सुविधा पर तुष्ट। देह और चारित्र दोनो मे से किसी एक की रक्षा का सवाल आए, वहाँ वह चारित्र को बचाएगा, देह को नही। जहाँ तक बस चलेगा, वह दोनो की रक्षा करने का प्रयत्न करेगा। शास्त्र मे एक उपमा देते हुए बताया है कि जैसे कोई व्यक्ति अपना सारा घर जलता देखकर कोशिश करने पर भी उसे बचा न सके तो वह क्या करता है ? आखिर वह सबको जलता छोडकर अपने को बचा लेगा। यही स्थिति आराधक साधक की है। वह प्राणान्त अनशन से देहरूप

घर का नाश करके भी दिव्य जीवनरूप अपनी आत्मा को रागादि मे जलने से बचा लेता है। वह व्यर्थ ही देहनाश कदापि न करेगा। बल्कि देहरक्षा सयम के निमित्त कर्तव्य मानी गयी है।

मरण किसी को भी इष्ट नही है। जैसे नाना प्रकार की विक्रय वस्तुओ के लेन-देन एव सचय मे लगे हुए किसी व्यापारी को अपने घर का नाश इष्ट नही है, फिर भी परिस्थितिवश उसके विनाश का कारण उपस्थित होने पर वह यथाशक्ति उन्हे टालता है, यदि इतने पर भी वे दूर न हो सके तो जिसमे विक्रय-वस्तुओ का नाश न हो ऐसा प्रयत्न करता है, उसी प्रकार पण्य (माल) स्थानीय व्रत और शील के सचय मे जुटा हुआ गृहस्थ श्रावक भी उनके आधारभूत आयु आदि प्राणो का पतन नही चाहता। परन्तु यदि उनके विनाश के कारण उपस्थित हो जाएँ तो, जिस प्रकार अपने गुणो मे बाधा न आए, इस प्रकार से उन्हे दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी वे दूर न हो तो, जिससे अपने गुणो का नाश न हो, इस प्रकार प्रयत्न करता है। अत सलेखना-सस्तारक से आत्मघात नामक दोष कैसे हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि सलेखनापूर्वक समाधिमरण (सथारा) मे आध्यात्मिक वीरता है। यदि कृत सत्प्रतिज्ञाओ के भग करने का अवसर आता है तो वह सयम वीर श्रावक या साधु उस प्रतिज्ञा भग को सह नही सकता। वह प्रतिज्ञा भग की अपेक्षा प्रतिज्ञा पालन (धर्म-पालन) करते हुए प्रसन्नतापूर्वक मरण का स्वीकार करता है। इसमे स्थूल जीवन के लोभ से आध्यात्मिक गुणो से च्युत होकर मृत्यु से पलायन करने की कायरता नही है, और न स्थूल जीवन की निराशा से ऊबकर मृत्युमुख मे पडने की आत्मवध कहलाने वाली मूढता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु से जितना निर्भय रहता है, उतना ही उसके लिए तत्पर रहता है। वह जीवन-प्रिय होता है, जीवन-मोही नही। सलेखना मरण को आमन्त्रित करने की विधि नही है, पर अपने आप आने वाली मृत्यु के स्वागत के लिए निर्भयतापूर्वक तैयारी है। उसी के बाद सथारे का भी अवसर आ सकता है। जैनाचार्य स्पष्ट कहते हैं—

"मरणपडियारभूया, एसा एव च ण मरणणिमित्ता।
जह गडच्छेयकिरिया, णो आय विराहणारूपा॥"

—समाधिमरण की यह क्रिया मरण के निमित्त मे नही, किन्तु मरण के प्रतिकार के लिए है। जैसे फोडे के नश्तर लगाना आत्म विराधना-रूप नही होता।

इसी प्रकार सलेखना के द्वारा समाधिमरण प्राप्त करने मे न किसी भय को स्थान है, न दबाव और प्रलोभन को। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र मे कहा गया है—

"मारणान्तिक सलेखना जोषिता"

श्रावक देह एव विषम कषायो के प्रति मोह-ममत्व के त्याग (सन्यास) मे प्रीति होने पर सलेखना का सेवन करता है। प्रीति के बिना बलपूर्वक सलेखना नही

कराई जाती। अत श्रावक मरण के अन्त समय मे होने वाली सलेखना को प्रीति-पूर्वक सेवन करने वाला होता है।

गृहस्थ श्रावक या गृहत्यागी साधु जो प्रीतिपूर्वक सलेखना को स्वीकार करता है, वह अपने को कृतकृत्य समझता है, अपने जन्म को सफल मानता है, उस शुभ (समाधि) मरण से अपने को धन्य मानता है।

सलेखनामरण (सथारा) के प्रकार

सलेखना द्वारा समाधिपूर्वक मरण के तीन प्रकार हैं—भक्तप्रत्याख्यान, इगिनीमरण एव प्रायोपगमन (पादपोपगमन)।

इन तीनो मे सारा अन्तर समझ लेना चाहिए। भोजन का क्रमश त्याग करके शरीर को कृश करने की अपेक्षा तीनो समान है। अन्तर है—शरीर के प्रति उपेक्षा भाव मे। जिस समाधिमरण मे अपने और दूसरे दोनो के द्वारा किए गए उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान (सन्यास) समाधिमरण कहते है। जिसमे अपने द्वारा किये गए उपकार की अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरे के द्वारा किये गए वैयावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा नही रहती, वह इगिनी समाधिमरण है, तथा जो अपने और पर के उपकार की अपेक्षा से रहित समाधिमरण है, उसे प्रायोपगमन कहते है।

इस काल मे भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण ही उपयुक्त है। अन्य दोनो मरण वज्रऋषभ आदि उत्कृष्ट सहननो की अपेक्षा रखते हैं, जो इस काल और इस क्षेत्र मे दुष्कर है।

भक्तप्रत्याख्यान (सथारा) की विधि

गृहस्थ श्रावक के लिए सलेखना-सथारा की विधि श्वेताम्बर शास्त्रो मे सक्षेप मे इस प्रकार बताई गई है—

सर्वप्रथम एक निरवद्य शुद्ध स्थान मे अपना आसन जमाए। तत्पश्चात् वह दर्भ, घास, पराल आदि मे से किसी एक का सथारा (बिछौना) बिछाए। फिर उस पर पूर्व या उत्तर दिशा मे मुंह करके बैठे। उसके पश्चात्—"अह भते! अपच्छिम मारणतियसलेहणा-झूसणा आराहणाए आरोहेमि"—"हे भगवन! अब मैं अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन एव आराधना करता हूं।"[1] उसके बाद

---

१ सलेखना सथारा का प्रचलित पाठ—

अह भते! अपच्छिम मारणातिय सलेहणा-झूसणा आराहणाए आरोहेमि।
—पौषधशाला का प्रमार्जन करके उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन करके, गमनागमन का प्रतिक्रमण करके दर्भादि का सथारा (बिछौना) बिछाकर, उस सथारे पर आरोहण कर पूर्व तथा उत्तर दिशा मे मुख करके पल्यकादि आसन